एम० हिरियन्ना

भारतीय दर्शन की रूपरेखा

अनुवादक
डॉ० गोवर्धन भट्ट
श्रीमती मंजु गुप्त
श्री सुखवीर चौधरी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-११०००६ पटना-८०००६

आमुख

यह ग्रन्थ उन व्याख्यानों पर आधारित है जो मैंने अनेक वर्षों तक मैसूर विश्वविद्यालय में दिए। इसको इस उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है कि यह उन कॉलिजों में, जहां भारतीय दर्शन पढ़ाया जाता है, एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त हो सके। यद्यपि यह मुख्यत: विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, तथापि आशा की जाती है कि यह उन लोगों के लिए भी उपयोगी हो सकेगी जो जानी-पहचानी दार्शनिक समस्याओं के भारतीय विचारकों द्वारा प्रस्तुत समाधानों में रुचि रखते हैं। लेखक का प्रधान उद्देश्य यथासम्भव एक ही जिल्द के अन्दर भारतीय दर्शन का सम्बन्ध और सांगोपांग विवरण देना रहा है; फिर भी पाठक देखेगा कि व्याख्या और आलोचना भी छूटी नहीं है। भूमिका में भारतीय विचारधारा की प्रमुख विशेषताओं को सक्षेप में बताने के बाद उसका विस्तार के साथ तीन भागों में विवेचन किया गया है। ये तीन भाग हैं : (१) वैदिक युग, (२) प्रारम्भिक वेदोत्तर युग, और (३) दर्शनों का युग। प्रत्येक भाग में अनेक सिद्धान्तों का जो विवरण दिया गया है, उसमें सम्बन्धित युग की ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा और व्यावहारिक शिक्षा के वर्णन के अतिरिक्त प्राय: संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण भी समाविष्ट है। इनमें से एक ज्ञान के मनोवैज्ञानिक पक्ष से सम्बन्धित है और दूसरा उसके तार्किक पक्ष से। इस ग्रन्थ को लिखने में मैंने हाल में प्रकाशित भारतीय दर्शन-विषयक प्रामाणिक पुस्तकों का उपयोग किया है। किन्तु दो या तीन अध्यायों (जिनमें से एक प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म का अध्याय है) को छोड़कर शेष अध्यायों में जो मत व्यक्त किये गए हैं, वे प्राय: पूर्णतया मूल ग्रन्थों के स्वतन्त्र अध्ययन पर आधारित हैं। जिन ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उनके प्रति आभार-प्रदर्शन, मैं समझता हूँ, मैंने पाद-टिप्पणियों में समुचित रूप से कर दिया है। इस ग्रन्थ के पाठ से संस्कृत शब्दों को बिलकुल ही निकाल देना सम्भव नहीं हो पाया है; फिर भी, उनका कम ही प्रयोग किया गया है और यदि ग्रन्थ को आदि से पढ़ा जाए और जहां उनकी व्याख्याएं दी गई हैं वहां उन्हें हृदयंगम कर लिया जाए, तो वे कोई कठिनाई पैदा नहीं करेंगे। सुविधा के लिए, किसी पारिभाषिक शब्द

या नये प्रत्यय का पुस्तक में पहली बार जहां उल्लेख हुआ है, उसकी पृष्ठ-संख्या बाद के भाग मे, जहां वह फिर आया हो, वहां कोष्ठक के अन्दर दे दी गई है।

भ्रान्ति से बचने के लिए दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इस पुस्तक में बौद्ध-धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय के विषय में यह मत व्यक्त किया गया है कि वह विशुद्ध शून्यवाद है, परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि उसमें तत्त्व के बारे में एक भावात्मक धारणा गर्भित है। बौद्ध ग्रन्थों से इस बात का निर्णय होना कठिन है, और इस कारण तो और भी कठिन हो गया है कि दार्शनिक मत ऐतिहासिक बातों के साथ उलझे हुए हैं। सचाई जो भी हो, माध्यमिक दर्शन का निषेधवादी होना उस काल में लिखे जानेवाले सम्पूर्ण हिन्दू और जैन ग्रन्थों से प्रमाणित होता है जिस काल में बौद्ध-धर्म जन्मभूमि में विरोध के बावजूद भी शक्तिशाली बना हुआ था। इन ग्रन्थों के इस बारे में एकमत होने से सम्भवतः यह निष्कर्ष निकलता है कि माध्यमिक दर्शन भारत में अपने विकास की कम-से-कम एक महत्वपूर्ण अवस्था मे शून्यवादी था; और भारतीय दर्शन-सम्बन्धी किसी पुस्तक मे इसके इस पक्ष को प्रधानता देना अनुचित नहीं समझा जाता था। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वेदान्त दर्शन के द्वैत सम्प्रदाय का कहीं वर्णन नही मिलता। वेदान्त दो प्रकार का है: एक निर्गुण ब्रह्म को मानता है और दूसरा सगुण ब्रह्म या ईश्वर को। इनमें से प्रत्येक के अनेक रूप है। वेदान्त के बहुपक्षीय सिद्धान्त का पूरा विवरण देना यहां सम्भव नही है, इसलिए केवल दो उदाहरण चुने गए—एक है शंकर का अद्वैत, जो वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के सिद्धान्त का उदाहरण है, और दूसरा है रामानुज का विशिष्टाद्वैत, जो वेदान्त के ईश्वरवाद का उदाहरण है।

अन्त मे मैं आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर एस० राधाकृष्णन् के प्रति अत्यधिक आभार प्रगट करता हूं, जिन्होंने इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक रुचि लेकर मेरे ऊपर अत्यधिक कृपा की और मेरी सहायता की। बंगलौर के श्री डी० वेंकटरमैया का भी मैं अत्यधिक आभारी हूं, जिन्होंने पूरी पुस्तक पढ़ी और इसके सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए।

अगस्त 1932 —एम० एच०

आमुख

यह ग्रन्थ उन व्याख्यानों पर आधारित है जो मैंने अनेक वर्षों तक मैसूर विश्वविद्यालय में दिए। इसको इस उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है कि यह उन कॉलेजों में, जहाँ भारतीय दर्शन पढ़ाया जाता है, एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त हो सके। यद्यपि यह मुख्यतः विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, तथापि आशा की जाती है कि यह उन लोगों के लिए भी उपयोगी हो सकेगी जो जानी-पहचानी दार्शनिक समस्याओं के भारतीय विचारकों द्वारा प्रस्तुत समाधानों में रुचि रखते हैं। लेखक का प्रधान उद्देश्य यथासम्भव एक ही जिल्द के अन्दर भारतीय दर्शन का सम्बन्ध और सांगोपांग विवरण देना रहा है; फिर भी पाठक देखेगा कि व्याख्या और आलोचना भी छूटी नहीं है। भूमिका में भारतीय विचारधारा की प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में बताने के बाद उसका विस्तार के साथ तीन भागों में विवेचन किया गया है। ये तीन भाग हैं : (१) वैदिक युग, (२) प्रारम्भिक वेदोत्तर युग, और (३) दर्शनों का युग। प्रत्येक भाग में अनेक सिद्धान्तों का जो विवरण दिया गया है, उसमें सम्बन्धित युग की ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा और व्यावहारिक शिक्षा के वर्णन के अतिरिक्त प्रायः संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण भी समाविष्ट है। इनमें से एक ज्ञान के मनोवैज्ञानिक पक्ष से सम्बन्धित है और दूसरा उसके तार्किक पक्ष से। इस ग्रन्थ को लिखने में मैंने हाल में प्रकाशित भारतीय दर्शन-विषयक प्रामाणिक पुस्तकों का उपयोग किया है। किन्तु दो या तीन अध्यायों (जिनमें से एक प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म का अध्याय है) को छोड़कर शेष अध्यायों में जो मत व्यक्त किये गए हैं, वे प्रायः पूर्णतया मूल ग्रन्थों के स्वतन्त्र अध्ययन पर आधारित हैं। जिन ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उनके प्रति आभार-प्रदर्शन, मैं समझता हूँ, मैंने पाद-टिप्पणियों में समुचित रूप से कर दिया है। इस ग्रन्थ के पाठ से संस्कृत शब्दों को बिलकुल ही निकाल देना सम्भव नहीं हो पाया है; फिर भी, उनका कम ही प्रयोग किया गया है और यदि ग्रन्थ को आदि से पढ़ा जाए और जहाँ उनकी व्याख्याएँ दी गई हैं वहाँ उन्हें हृदयंगम कर लिया जाए, तो वे कोई कठिनाई पैदा नहीं करेंगे। सुविधा के लिए, किसी पारिभाषिक शब्द या नये

प्रत्यय का पुस्तक में पहली बार जहाँ उल्लेख हुआ है, उसकी पृष्ठ-संख्या बाद के भाग में, जहाँ वह फिर आया हो, वहाँ कोष्ठक के अन्दर दे दी गई है।

भ्रान्ति से बचने के लिए दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इस पुस्तक मे बौद्ध-धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय के विषय में यह मत व्यक्त किया गया है कि वह विशुद्ध शून्यवाद है, परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि उसमें तत्त्व के बारे में एक भावात्मक धारणा गर्भित है। बौद्ध ग्रन्थों से इस बात का निर्णय होना कठिन है, और इस कारण तो और भी कठिन हो गया है कि दार्शनिक मत ऐतिहासिक बातों के साथ उलझे हुए हैं। सचाई जो भी हो, माध्यमिक दर्शन का निषेधवादी होना उस काल में लिखे जानेवाले सम्पूर्ण हिन्दू और जैन ग्रन्थों से प्रमाणित होता है जिस काल में बौद्ध-धर्म जन्मभूमि में विरोध के बावजूद भी शक्तिशाली बना हुआ था। इन ग्रन्थों के इस बारे में एकमत होने से सम्भवतः यह निष्कर्ष निकलता है कि माध्यमिक दर्शन भारत में अपने विकास की कम-से-कम एक महत्त्वपूर्ण अवस्था में शून्यवादी था; और भारतीय दर्शन-सम्बन्धी किसी पुस्तक में इसके इस पक्ष को प्रधानता देना अनुचित नहीं समझा जाता था। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वेदान्त-दर्शन के द्वैत सम्प्रदाय का कहीं वर्णन नहीं मिलता। वेदान्त दो प्रकार का है: एक निर्गुण ब्रह्म को मानता है और दूसरा सगुण ब्रह्म या ईश्वर को। इनमें से प्रत्येक के अनेक रूप हैं। वेदान्त के बहुपक्षीय सिद्धान्त का पूरा विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है, इसलिए केवल दो उदाहरण चुने गए—एक है शंकर का अद्वैत, जो वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के सिद्धान्त का उदाहरण है, और दूसरा है रामानुज का विशिष्टाद्वैत, जो वेदान्त के ईश्वरवाद का उदाहरण है।

अन्त में मैं आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर एस० राधाकृष्णन् के प्रति अत्यधिक आभार प्रगट करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक रुचि लेकर मेरे ऊपर अत्यधिक कृपा की और मेरी सहायता की। बंगलौर के श्री डी० वेंकटरमैया का भी मैं अत्यधिक आभारी हूँ, जिन्होंने पूरी पुस्तक पढ़ी और इसके सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए।

अगस्त 1932 —एम० एच०

विषय-सूची

भूमिका

भारतीय दर्शन के प्रारम्भ की खोज हमे बहुत पीछे अतीत में पहुँचा देती है, क्योंकि ईसा से पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य के आस-पास अपने नये आवास मे बस जाने के बाद आर्यों ने शीघ्र ही ऋग्वेद के जिन सूक्तो की रचना की, उनमें हम उसे स्पष्टतः देख सकते हैं। इतने पहले जो चिन्तन-प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह एक या दो शताब्दी पूर्व तक अबाध गति से चलती रही, और इस प्रकार आगे के पृष्ठों में हमें जो इतिहास बताना है, वह तीस से अधिक शताब्दियो का इतिहास है। इस दीर्घ अवधि मे भारतीय विचारधारा का जो विकास हुआ, वह बाह्य प्रभावो से लगभग अछूता रहा; और इसकी निष्पत्तियों के विस्तार तथा महत्त्व का पता इस बात से चल जाता है कि एक महान् राष्ट्रीय धर्म—ब्राह्मण धर्म, और एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय धर्म—बौद्ध धर्म, को जन्म देने के अतिरिक्त इसने अनेक दार्शनिक तन्त्रो को भी विकसित किया। यदि इतने अनुपम विकास का सांगोपांग इतिहास लिखा जा सकता, तो उसका अत्यधिक महत्त्व होता; परन्तु आधुनिक खोज-कार्य से प्राप्त उल्लेखनीय परिणामों के बावजूद प्राचीन भारत के बारे में हमारी जानकारी अभी इतनी अल्प और अपूर्ण है कि यह सम्भव नहीं है। हम अलग-अलग दार्शनिक विचारो के क्रमिक विकास के विभिन्न चरणो को नही ढूंढ पाते, और कभी-कभी तो दार्शनिक तन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धो का निश्चय करने मे भी हम असफल रहते हैं। उदाहरण के लिए, अभी तक यह प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है कि सांख्य एक मौलिक सिद्धान्त है अथवा किसी अन्य सिद्धान्त से व्युत्पन्न है। इस त्रुटि का कारण विस्तार की महत्त्वपूर्ण बातो का हमारा अज्ञान भी उतना ही है जितना प्राचीन भारतीय इतिहास की तिथियों की सही जानकारी का अभाव। इसकी प्रथम सहस्राब्दी में एकमात्र तिथि, जिसे निश्चित माना जा सकता है, बुद्ध के निर्वाण की तिथि है, जो 487 ई० पू० में हुआ था। इसके बाद के इतिहास की जिन तिथियों की हमें जानकारी है, वे भी अधिकांशतः अनुमान पर आधारित हैं, और इस प्रकार जिन युगों के विचारों का हम विवरण देंगे, उनकी सीमाओं को अनन्तिम ही मानना चाहिए। फलतः पाठक देखेगा कि हमारे विवरण मे काल-

बोध का कुछ शैथिल्य आ गया है। इस सिलसिले में इसकी एक अन्य त्रुटि का उल्लेख कर देना भी उचित होगा, जिसकी ओर यूरोपीय दर्शन के इतिहासों से परिचय रखने वाले विद्यार्थी का ध्यान जाना अवश्यम्भावी है। हमारे अधिकांश विवरण में उन महान् विचारकों की जीवनी या चरित्र का कोई उल्लेख नहीं होगा, जिनके सिद्धान्तों को हमने प्रस्तुत किया है, क्योंकि उनके बारे मे इस समय बहुत ही थोड़ी बातें ज्ञात हैं। कॉवेल (Cowell) ने, एक प्रसिद्ध नैयायिक, उदयन, के बारे मे लिखा है :[1] "वह भारत के साहित्य-गगन में एक स्थिर तारे के समान देदीप्यमान है, किन्तु कोई दूरवीक्षण-यन्त्र ऐसा नही है जो उसके व्यास की थोड़ी भी जानकारी दे सके; उसका नाम एक प्रकाश-बिन्दु है, परन्तु उसमे हम कोई भी पार्थिव या लौकिक चीज़ नही देख पाते।" यह कथन वास्तव में उन सभी महान् चिन्तकों पर लागू होता है जिनके कारण भारतीय विचारधारा का विकास हुआ है। शंकर-जैसा महान् आचार्य तक हमारे लिए अब मात्र एक नाम रह गया है। यह कहा गया है[2] कि प्राचीन काल के भारतीयों ने अपने महान् पुरुषों के जीवनवृत्तों के प्रति जो उपेक्षा-भाव अपनाया है, उसका कारण उनका यह समझ लेना था कि व्यक्ति तो अपने समय की उपज होता है—"कि व्यक्ति ऐसी भूमि से उपजता है जो उसके लिए पहले से बनी-बनाई होती है और ऐसे बौद्धिक वातावरण में साँस लेता है जिसका उसने स्वयं निर्माण नही किया।" इसका कारण शायद यह भी कम नही था कि वे महान् पुरुष विनयपूर्वक अपने कृतित्व को अति तुच्छ समझते थे। परन्तु कारण चाहे जो रहा हो, इस ग्रन्थ में जीवनवृत्त की पृष्ठभूमि का अभाव रहेगा और उस अतिरिक्त रोचकता का भी जो उसके होने से इसमे आ गई होती।

यदि ऊपर दी हुई तिथि को हम एक सीमाचिह्न मान लें, तो हम भारतीय विचारधारा के इतिहास को दो चरणों मे विभक्त कर सकते हैं। इस तिथि मे वैदिक युग[3] की समाप्ति होती है और उस युग का प्रारम्भ होता है जो संस्कृत-युग या वरेण्य-युग कहलाता है। वे बहुसंख्यक कृतियाँ, जिन्हें हिन्दू 'श्रुति' मानते है, वैदिक युग की हैं। विस्तार की दृष्टि से इनकी तुलना प्राचीन यूनान

1. कुसुमांजलि (अंग्रेज़ी अनुवाद) की भूमिका, पृ० v, vi.
2. Max Muller : Six Systems of Indian Philosophy, p. 2.
3. प्रायः 200 ई० पू० को वैदिक युग की निम्न सीमा माना जाता है और इसमें उन कृतियों को भी शामिल कर दिया जाता है जो 'श्रुति' तो नहीं मानी जातीं, लेकिन केवल श्रुति की ही व्याख्या करती हैं। यहाँ हम 'वैदिक युग' केवल उस काल को कहेंगे जिसमें वैदिक ग्रन्थों की रचना हुई।

की इन कृतियों में की गई है जो काल-कवलित होने से बच गई है। इनका वैदिक युग के उत्तरकाल मे सकलन किया गया था। यदि हम उन परिवर्तनो की उपेक्षा कर दें जो सकलन से पूर्व उनके अन्दर आ गए होगे, तो उनके अत्यधिक प्रामाणिक रूप में सुरक्षित रहने का प्रधान कारण यह तथ्य है कि उन्हे अपौरुषेय माना जाता था, जिसका फल यह हुआ कि इतनी प्राचीन किसी कृति में जितनी प्रामाणिकता की आशा की जा सकती है उससे कही अधिक प्रामाणिकता इनमे है। परन्तु जैसा कि हम देखेंगे, क्योकि इनका संकलन मुख्यतः यज्ञ-यागादि का विधिवत् अनुष्ठान करने के उद्देश्य से किया गया था, इसलिए सकलन मे अपूर्णता आ गई। फलतः यह सकलन हमें तत्कालीन विचारों और विश्वासों के स्वरूप की पूरी जानकारी कराने मे असफल रहता है। कृतियाँ इसमें एक क्रमबद्ध रूप मे दिखाई तो देती हैं, किन्तु यह क्रम ऐसा नही है जो हमारे *वर्तमान उद्देश्य के लिए उपयोगी हो सके, और* इसलिए अपने *वर्तमान* दृष्टिकोण से इसे हम क्रमहीन ही कहेंगे। अब हम दूसरे युग की बात लेते है। इस युग का उपलब्ध साहित्य अधिक विशाल है, और चूँकि नई-नई पाडुलिपियाँ मिलती जा रही हैं, इसलिए इसके साहित्य में अब भी वृद्धि हो रही है। फलतः इसके बारे मे जो जानकारी मिलती है वह अधिक पूर्ण और विविध है। इस युग की सामग्री अधिकांशतः व्यवस्थित रूप मे भी दिखाई देती है। किन्तु यह साहित्य सामान्यतः उतना प्रामाणिक नही कहा जा सकता जितना पिछले युग का साहित्य है, क्योकि पहले कभी ज्ञान को आगे पहुँचाने का सर्वमान्य तरीका गुरु के द्वारा उसे अपने शिष्यो को कंठस्थ कराना था और इस दीर्घ परम्परा मे अनेक प्राचीन ग्रन्थो के नाम तो वही बने रहे, लेकिन उनमे बहुत-कुछ परिवर्तन-परिवर्धन हो गए। इनमे से जो अनेक तन्त्रबद्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप में सुरक्षित हैं भी, उनसे हमे इस युग की प्रारम्भिक बातो की जानकारी नहीं मिलती। इनमे से कुछ निश्चय ही बहुत प्राचीन हैं, लेकिन वे भी 500 ई० पू० जितने प्राचीन नही हैं, जो कि मोटे तौर से इस युग की ऊपरी सीमा है। इसका अर्थ यह हुआ कि वेदोत्तर युग को दो चरणों में विभक्त करना पड़ेगा। यदि इस पुस्तक के प्रयोजन के लिए हम इन दो चरणों में से बाद वाले को 'दर्शनों का युग' कहें, तो इसके और वैदिक युग के बीच का जो समय बचता है उसे हम अधिक अच्छे नाम के अभाव मे 'प्रारम्भिक वेदोत्तर युग' कह सकते हैं। इसकी अवधि को ठीक-ठीक निर्धारित नही किया जा सकता, लेकिन यह रहा इतना काफी लम्बा—यानी 500 ई० पू० से लेकर ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास तक—कि इसे भारतीय विचारधारा के विकास में एक पृथक्

अवस्था माना जा सकता है। यह संक्रान्ति-काल था और इसके साहित्य में आशा के अनुसार ही पूर्ववर्ती और अनुवर्ती युगों के साहित्यों की विशेषताएँ हैं। इसका साहित्य अनुवर्ती युग के साहित्य के समान बहुमुखी और कम प्रामाणिक है तथा पूर्ववर्ती युग के साहित्य के समान क्रमहीन है।

अब हम भारतीय दर्शन का सामान्य सर्वेक्षण करेंगे और उसका विस्तृत विवरण आगामी अध्यायो के लिए छोड़ देंगे। भारतीय दर्शन की एक आकर्षक विशेषता है उसका विचार-प्राचुर्य और वैविध्य। चिन्तन का प्राय: कोई भी क्षेत्र ऐसा नही है जिसे उसने न छुआ हो। आधुनिक आलोचक इस बात की प्राय: उपेक्षा कर देते हैं और समूचे भारतीय दर्शन को 'निषेधवादी' और 'निराशा-वादी' करार देते हैं। यह आलोचना उसके कुछ अंशों के बारे में तो गलत नहीं है, लेकिन समूची भारतीय विचारधारा के लिए इन विशेषणों का प्रयोग कर देना एकदम भ्रामक है। जैसा कि विषय के विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन करते समय स्पष्ट हो जाएगा, बाह्य जगत् की वास्तविकता पर जोर देने वाले सिद्धान्तों का हमें अभाव नही मिलेगा और न ऐसे सिद्धान्तो का जो जीवन को अधिक विस्तृत अर्थ मे ग्रहण करते हुए उसके प्रति आशावादी दृष्टि-कोण रखने पर बल देते हैं। आलोचकों की यह भ्रान्त धारणा अधिकांशत: इसलिए *बन गई है कि अब तक भारतीय विचारधारा का ज्ञान अधूरा रहा है*, क्योकि उसका सांगोपांग विवेचन करने वाले ग्रन्थो का प्रकाशन अभी हाल में ही हुआ है। इससे पहले भारतीय चिन्तन के केवल थोड़े ही सम्प्रदायों की अच्छी जानकारी थी और उनके सम्बन्ध में भी यह बात भुला दी जाती थी कि वे अपने पूरे विकास के दौरान एक ही अपरिवर्तित सिद्धान्त से नही चिपके रहे, बल्कि उसमे महत्त्वपूर्ण संशोधन करते गए, जिससे उन्हें सामूहिक रूप से उपर्युक्त प्रकार के विशेषणों से विभूषित कर देना अनुचित हो जाता है। तथ्य यह है कि भारतीय विचारधारा का विकास जितना वैविध्यपूर्ण है, उसे देखते हुए उस पर गढे-गढ़ाए आरोप लगाना निराधार हो जाता है। इस वैविध्यपूर्ण विकास की गहराई मे दो भिन्न धाराएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—एक का स्रोत वेद है और दूसरी का वेदेतर। इन्हें क्रमश. आस्तिक और नास्तिक कहा जा सकता है; लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ये शब्द सापेक्ष मात्र हैं और कोई भी सम्प्रदाय आस्तिकता का दम भरता हुआ दूसरे पर नास्तिक होने का आरोप लगा सकता है। इनमें से दूसरी धारा बाद की है, क्योंकि इसका जन्म पहली की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था; किन्तु यह बहुत बाद की नही है, ...कि यह काफी पहले प्रकट हो चुकी थी, जैसा कि वेद-मन्त्रों तक मे आये

हुए इसके उल्लेखों से सिद्ध होता है। प्रारम्भ मे इसका स्वरूप आलोचनापरक और निषेधात्मक था; लेकिन शीघ्र ही इसके रचनात्मक पक्ष का विकास शुरू हो गया था, जिसका भारतीय दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योग रहा। मोटे तौर से यह निराशावादी और वास्तववादी है। आस्तिक सिद्धान्त को इतने संक्षेप मे नही बताया जा सकता, क्योंकि प्राचीनतम ज्ञात अवस्था मे भी इसका स्वरूप बहुत जटिल प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद की ऋचाओं में अभिव्यक्त भावना प्रधान रूप से तो आशावादी है, लेकिन कहीं-कहीं उनमें दुःख की छाया भी दिखाई देती है। उषा की स्तुतियाँ, जिनमें उसके द्वारा मानव के अल्प जीवन को समाप्त किए जाने का चुभते हुए शब्दों मे उल्लेख हुआ है, इसी कोटि की हैं। "देवताओ के आदेश का पालन करने वाली, लेकिन मर्त्यों के जीवन को क्षीण करने वाली उषा का आगमन हो गया है—उस उषा का जो अतीत की असंख्य उषाओ मे से अन्तिम है और भविष्य की उषाओ में से प्रथम है।"[1] किन्तु इन दो विचारधाराओं का एक दीर्घ कालावधि तक एक-दूसरी से सम्पर्क रहा और एक ने दूसरी के सिद्धान्तो को आत्मसात् कर लिया, जिसके फलस्वरूप इनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ अब अधिकांशतः मिट चुकी हैं। फिर भी इनका भेद लुप्त नही हुआ है और वेदान्त तथा जैन-दर्शन मे, जो दोनों अभी तक जीवित हैं, देखा जा सकता है।

यद्यपि ये दो प्रकार की विचारधाराएँ मूल स्रोत और सामान्य प्रवृत्ति की दृष्टि से परस्पर पृथक् हैं, तथापि इनमें कुछ बातें समान हैं। इन समानताओं को हम कुछ विस्तार से बताएँगे, क्योंकि ये सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं :

(1) इनमें से पहली समानता को लेकर आजकल यह कहना एक साधारण-सी बात हो गई है कि भारत मे धर्म और दर्शन एक-दूसरे से पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। निश्चय ही प्रारम्भ में ये सर्वत्र एक होते है, क्योंकि इनका प्रयोजन अन्ततोगत्वा एक ही है और वह है सत्ता के मुख्य अर्थ की खोज। लेकिन शीघ्र ही ये अलग हो जाते हैं और न्यूनाधिक रूप से भिन्न दिशाओं मे विकास करते हैं। भारत में भी इनका पृथक्करण हुआ है। किन्तु विशेषता यह है कि यहाँ इनका परस्पर विच्छेद नही हुआ है। सम्भवतः इस परिणाम की प्राप्ति में भारतीय विचारधारा का बाह्य प्रभावों से मुक्त होकर विकास करना सहायक हुआ है, जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है।[2] और इसे

1. ऋग्वेद, I. 124, 2.
2. इसके विपरीत दृष्टान्त के रूप में यूरोप की विचारधारा के विकास को लिया जा सकता

सामान्यतः भारतीय विचारधारा की एक बहुत बड़ी अच्छाई माना जाता है। लेकिन 'धर्म' शब्द की अस्पष्टता के कारण उपर्युक्त 'साधारण-सी बात' का सही अर्थ न पकड़ पाना शायद बहुत आसान है। सभी जानते हैं कि इस शब्द का प्रयोग उस चीज से लेकर, जिसे 'हमारी शक्तियों के स्वच्छन्द उपयोग में बाधा डालने वाली शकाओं का योग' कहा गया है, मनुष्य के आत्मा की ईश्वर से एक होने की चाह तक किसी भी चीज के लिए किया जा सकता है। किसी भी दर्शन के लिए पहले अर्थ में धर्म से मेल-जोल रखना प्रशसा की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त, कुछ भारतीय सिद्धान्त सामान्य रूप से गृहीत दूसरे अर्थ मे धर्म बिलकुल हैं हो नही। उदाहरणार्थ, प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म खुलेआम निरीश्वरवादी था और आत्मा को स्थायी नही मानता था। फिर भी, यह कथन कि धर्म और दर्शन भारत में एक रहे, ऊपरी तौर से सभी भारतीय सिद्धान्तों को ध्यान मे रखते हुए किया गया है। अतः यह पता लगाना जरूरी है कि 'धर्म' शब्द के किस अर्थ मे यह कथन सही है। धर्म और कुछ हो या न हो, विश्वास या बाह्य आचार मात्र से सन्तुष्ट न होकर किसी आदर्श की ओर अग्रसर होना तो आवश्यक रूप से है ही। धर्म का विशिष्ट लक्षण यह है कि वह सम्यक् जीवन की प्रगति में सहायक होता है; और यही वह अर्थ है जिसमे हम भारत मे धर्म को दर्शन से एक कह सकते हैं।[1] प्राचीन भारत के लोग सत्य की खोज करके रुक नही जाते थे, बल्कि अपने अनुभव में उसे उतारने का भी प्रयत्न करते थे। वे मोक्ष-प्राप्ति के हेतु कठोर परिश्रम से तत्त्वज्ञान प्राप्त करते थे।[2] इसलिए यही उनकी दृष्टि मे दर्शन का वास्तविक लक्ष्य था, न कि बौद्धिक आस्था की प्राप्ति मात्र। मैक्स मूलर ने कहा है कि भारत मे तत्त्व-चिन्तन ज्ञान की उपलब्धि के लिए नही, बल्कि उस परम उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता था, जिसके लिए मनुष्य का इस लोक में प्रयत्न करना सम्भव है।[3] मोक्ष की धारणा अलग-अलग तन्त्रों में अलग-अलग है; लेकिन सभी के अनुसार वह दार्शनिक चिन्तन की चरम परिणति है। दूसरे शब्दो में, भारतीय दर्शन का लक्ष्य

है, जहाँ लैटिन और यूनानी संस्कृति की परम्परा, जो कि मौलिक रूप से यूरोपीय है, सेमिटिक धर्म के साथ घुल-मिल गई है। मिसेज रीस डेविड्स (Rhys Davids) ने विज्ञान, दर्शन और धर्म के पश्चिम में 'सशस्त्र सन्धिबद्ध' होने की बात कही है। देखिए Buddhism (Home University Library), पृ० 100.

1. हो सकता है कि भारतीय दर्शन की अन्य अर्थों में भी धर्म से मैत्री दिखाई देती हो, लेकिन ऐसी मैत्री सभी भारतीय सिद्धान्तों की समान विशेषता नहीं है।
2. गौतम का न्यायसूत्र, 1. 1. 1.
3. Six Systems of Indian Philosophy, p. 370.

बर्क से परे पहुँचना है। दृष्टिकोण की यह विलक्षणता इस तथ्य से आई है कि भारत में दर्शन उस प्रकार कुतूहल या जिज्ञासा से उत्पन्न नहीं हुआ जिस प्रकार पश्चिम में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। उसके विपरीत यहाँ उसका उद्भव जीवन में नैतिक और भौतिक बुराई की उपस्थिति मे पैदा होने वाली व्यावहारिक आवश्यकता से हुआ। प्राचीन भारतीय विचारक को सबसे अधिक अशान्ति जिससे हुई, वह थी इस बुराई को दूर करने की समस्या, और सभी तन्त्रों मे मोक्ष उस अवस्था का नाम है जिसमे यह समस्या एक या दूसरे अर्थ मे हल हो गई हो। दार्शनिक चिन्तन का मुख्य लक्ष्य जीवन के क्लेशों को दूर करने का उपाय ढूंढना था, और तात्त्विक प्रश्नों का विचार एक आनुषंगिक बात मात्र था। इसका स्पष्ट आभास 'तीर्थंकर' या 'तीर्थंकर' शब्द से मिलता है, जिसका प्रयोग कहीं-कहीं विभिन्न सम्प्रदायों के संस्थापकों के लिए किया गया है। व्युत्पत्ति से इस शब्द का अर्थ है तीर्थ अर्थात् पार करने की जगह बनाने वाला, और लक्षणा से अर्थ है वह जिसने संसाररूपी महासागर के पार जाने का उपाय ढूंढ लिया हो।

यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मोक्ष तो परलोक की चीज है, इसलिए कल्पना की उपज मात्र है, और फलतः इसे दर्शन का लक्ष्य मुश्किल से ही माना जा सकेगा, भले ही धर्म का लक्ष्य इसे माना जा सकता हो। फिर भी, वास्तव में ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि भारतीयों की बुद्धि में इस लोक और इस जीवन में साध्य आदर्श का विचार निरन्तर बना रहा और जिन सम्प्रदायों में प्रारम्भ में यह विचार नहीं था वे भी शीघ्र ही मोक्ष के आदर्श को इसी जीवन में प्राप्त हो सकने वाला मानने लगे तथा इसे 'जीवन्मुक्ति' के रूप में देखने लगे। इसके बावजूद भी निरसन्देह यह आदर्श दूर की ही चीज है; लेकिन महत्त्व की बात यह है कि इसे ऐसी चीज मानने की बात समाप्त हो गई जिसे परलोक में ही प्राप्त किया जा सकता हो। अब मनुष्य का लक्ष्य किसी काल्पनिक लोक में पूर्णता की प्राप्ति करना नहीं रह गया, बल्कि इसी जीवन में निरन्तर उसकी ओर बढ़ते रहना हो गया। जीवन्मुक्ति के आदर्श को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार न करने वाले न्याय-वैशेषिक[1] और विशिष्टाद्वैत[2] जैसे दर्शनों में भी इहलोक मे ही मनुष्य के ज्ञान की ऐसी अवस्था को प्राप्त होने की सम्भावना को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, जो संसार के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को पूर्णतः बदलकर बाद के

1. वात्स्यायन-कृत न्यायसूत्र-भाष्य, 4.2.2; उद्द्योतकर-कृत न्यायवार्तिक, 1.1.1, अन्त तक।
2. रामानुज-कृत श्रीभाष्य, 4.1.13.

उसके जीवन को एक बिलकुल ही नया अर्थ प्रदान कर देती है और इसलिए जिसे जीवन्मुक्ति कहना उचित माना जा सकता है। इस तरह का आदर्श पहले ही वैदिक युग के उत्तरकाल में प्रचलित एक अत्यन्त व्यापक प्रभाव वाले सिद्धान्त का अभिन्न अंग बन चुका था, जो उपनिषदों में पाया जाता है। एक उपनिषद् में कहा गया है: "जब हृदय की सभी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और इस लोक मे ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।"[1] यहाँ जिस चीज की ओर संकेत किया गया है वह बौद्धिक सन्तोष से, जिसे प्रायः भ्रमवश दर्शन का लक्ष्य मान लिया जाता है, कहीं ऊँची है, तथा इसके बावजूद मनुष्य को हो सकने वाले अनुभव की सीमाओं के अन्दर ही स्वयं को रखने से परलोक में ही प्राप्त हो सकने वाले मोक्ष के सिद्धान्त की छाया से मुक्त है। पारलौकिक मोक्ष 'विदेहमुक्ति' कहलाता है और यह सिद्धान्त भी अभी जीवित है, किन्तु यह पहले के उस काल का अवशेष है जब यह विश्वास किया जाता था कि इस लोक के अच्छे या बुरे जीवन के फल मृत्यु के बाद परलोक मे भुगतने पड़ते है। इसलिए किसी सम्प्रदाय का इस सिद्धान्त से चिपके रहना उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को वस्तुतः प्रभावित नही करता।

(2) दर्शन के लक्ष्य के बारे मे इस प्रकार का मत रखने का अर्थ आवश्यक रूप से यह है कि उस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु नियमित आचरण के एक उपयुक्त साधना-क्रम की व्यवस्था करनी पड़ेगी। ऐसा करने से दर्शन एक विचार-प्रणाली मात्र न रहकर एक जीवन-प्रणाली बन जाता है। जैन-दर्शन के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि उसका मूलमन्त्र है: 'ज्ञान के लिए जीवन नही, बल्कि जीवन के लिए ज्ञान है।'[2] अन्य भारतीय दर्शनों के बारे मे भी यही कहना उचित है।[3] आस्तिक और नास्तिक परम्पराओं में यह साधना-क्रम स्वभावतः अलग-अलग है; लेकिन दोनो ही में इसके पीछे वैराग्य की एक भावना है, जिसे मन मे बसा लेना सभी भारतीय मतों की दूसरी समान विशेषता है।[4] शंकर के एक प्रसिद्ध शिष्य, सुरेश्वर, ने कहा है[5] कि दार्शनिक तन्त्र,

1. कठोपनिषद्, 2.3.14.
2. J. Jaini : Outlines of Jainism, p. 112.
3. इस सम्बन्ध में प्रो० व्हाइटहेड का बौद्ध धर्म के बारे में यह कहना ध्यान देने योग्य है कि 'वह इतिहास में अनुप्रयुक्त तत्त्वमीमांसा का सबसे महान् दृष्टान्त है' (Religion in the Making, p. 39)।
4. चार्वाक मत इसका अपवाद है, लेकिन जिस रूप में यह सम्प्रति ज्ञात है उस रूप में इसे मुश्किल से ही एक दार्शनिक तन्त्र कहा जाएगा। देखिए अध्याय 8।
5. बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, पृ० 513-15, वाक्य 405-411.

जिनमें बौद्ध इत्यादि नास्तिक तन्त्र भी शामिल हैं, अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से मतभेद रख सकते हैं, लेकिन वैराग्य की शिक्षा देने में वे सारे एकमत हैं। इसका अर्थ यह है कि वे वैराग्य की आवश्यकता को तो एकमत होकर स्वीकार करते हैं, लेकिन इसके कारण उनके अपने अलग-अलग हैं। यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि नास्तिक तन्त्रों ने, जो सामान्यतः निराशावादी थे, पूर्ण वैराग्य का समर्थन क्यों किया। इसलिए किया कि उनमें जीवन की व्यर्थता और तुच्छता का विश्वास भरा हुआ था। ध्यान तो विशेष रूप से इस ओर जाता है कि आस्तिक तन्त्रों ने भी, जिनमें से कम-से-कम कुछ आशावादी थे, ऐसा ही किया। किन्तु दोनों प्रकार के तन्त्रों के वैराग्य के उपदेशों में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है। नास्तिक तन्त्रों का मत यह था कि परिस्थितियाँ जो भी हों, मनुष्य को सदा के लिए संसार से विरक्त हो जाना चाहिए। लेकिन आस्तिक तन्त्रों ने वैराग्य के आदर्श की क्रमिक प्राप्ति पर बल दिया। जैसा कि डॉ॰ विण्टरनिट्ज़ ने कहा है[1], आस्तिक तन्त्रों के मत से "केवल आश्रमों की व्यवस्था के अनुसार ही चलना चाहिए, जिसमें आर्य को वानप्रस्थी या संन्यासी होकर संसार से विरक्त होने का विधान केवल तभी है जब पहले वह ब्रह्मचारी होकर वेदाध्ययन कर चुका हो और गृहस्थ बनकर सन्तानोत्पत्ति, यज्ञ-याग तथा ब्राह्मणों की सेवा कर चुका हो।" इन दो आदर्शों का वैषम्य महाभारत के 'पिता-पुत्र-संवाद'[2] के नाम से प्रसिद्ध अध्याय में रोचक ढंग से दिखाया गया है। उसमें पिता, जो आस्तिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है, कहता है कि संन्यास आश्रम-व्यवस्था के अन्त में आना चाहिए। लेकिन वह अपने पुत्र से हार जाता है, जो कहता है कि जीवन की अनेक अनिश्चितताओं को देखते हुए ऐसी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था में फँसना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है और इसलिए जो सारे सांसारिक बन्धनों को तत्काल तोड़ फेंकने का पक्षपाती है।[3] मतलब यह है कि पहले के मतानुसार समाज के अन्दर रहते हुए उपयुक्त प्रारम्भिक प्रशिक्षण प्राप्त किए बिना वैराग्य नहीं लिया जा सकता; जबकि दूसरे के अनुसार वैराग्य किसी भी क्षण लिया जा सकता है और इसके लिए संसार के बारे में भ्रम का

---

1. 'Ascetic Literature in Ancient India', Calcutta University Review, Oct. 1923, p. 3.
2. 12. 277.
3. इसका अर्थ यह नहीं है कि नास्तिक तन्त्रवालों के समाज में गृहस्थ-वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं है, बल्कि केवल यह है कि संन्यासी बनने से पहले गृहस्थ की चर्या आवश्यक नहीं है।

दूर हो जाना पर्याप्त है। पहला चरित्र के चरम उत्कर्ष के लिए सामाजिक प्रशिक्षण को अपरिहार्य[1] मानता है; दूसरा इसे साधक से बाधक ही अधिक मानता है। लेकिन इतना और कह देना ठीक होगा कि नास्तिक सम्प्रदाय सामाजिकता की उपेक्षा केवल आत्मशुद्धि के साधन के रूप में करते हैं और इसके प्रति उनका भाव न विद्वेष का है, न अवहेलना का। हम जानते हैं कि वास्तव में वे समाज को सर्वाधिक महत्त्व देते थे और अन्य मनुष्यों के प्रति सहानुभूति और दया का भाव रखने की आवश्यकता पर विशेष रूप से बल देते थे। इसके अतिरिक्त अन्य अन्तर भी है, जैसे नास्तिक दार्शनिकों का व्यावहारिक साधना की एकमात्र प्रणाली के रूप मे और आस्तिक दार्शनिकों का एक नई साधना-प्रणाली के लिए प्रारम्भिक तैयारी मात्र के रूप मे तपश्चर्या का आश्रय लेना। यह साधना-प्रणाली भी अलग-अलग दर्शनों मे अलग-अलग हो सकती है। लेकिन विस्तार की बातों में चाहे जो अन्तर हो, वैराग्य की वृत्ति दोनों ही परम्पराओं को जोड़नेवाली कड़ी का काम करती है। जो तन्त्र प्रथम दृष्टि में इसके पक्ष मे प्रतीत नही होते, वे भी थोड़े विचार के पश्चात् वस्तुतः इसके पक्ष मे दिखाई देते है। उदाहरणार्थ, यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान, जो पारलौकिक अभ्युदय का साधन है, वास्तव मे, जहाँ तक इस लोक का सम्बन्ध है, पूर्ण आत्मत्याग की भावना उत्पन्न करता है, क्योंकि इसमे जिन कर्मों का विधान है उनका फल इस लोक मे नही बल्कि परलोक में प्राप्त होगा, जहाँ की परिस्थितियाँ इस लोक की परिस्थितियों से बिलकुल भिन्न होंगी। ऐसे सिद्धान्तों मे छिपा हुआ विरक्ति का भाव, जैसा कि हम आगे देखेंगे, भगवद्गीता के निष्काम कर्म के उपदेश में स्पष्ट हो गया था और परलोक मे सुफल भोगने के लिए कर्म करने में छिपी हुई स्वार्थपरायणता भी निकाल बाहर कर दी गई थी।

भारतीय सिद्धान्तो में ओत-प्रोत वैराग्य की भावना के कारण यह कहा जा सकता है कि वे जिस जीवन-प्रणाली का विधान करते हैं उसका लक्ष्य साधारण नैतिकता से ऊपर उठ जाना है। दूसरे शब्दो में, भारतीय दर्शन का

---

1. जैसा कि हम किसी आगामी अध्याय मे देखेंगे, बाद के काल मे आस्तिकों ने आश्रम-व्यवस्था मे सम्बन्धित नियम को बहुत ढीला कर दिया था; फिर भी वानप्रस्थी बनने का विकल्प केवल उसी के लिए था जो ब्रह्मचर्य के प्रथम आश्रम को पूरा कर चुका हो। इतना और भी कह देना चाहिए कि, जैसा कि प्रचलित प्रथा मे ज्ञात होता है, यह विकल्प अधिकांशतः सिद्धान्त मे ही है और जल्दी वैराग्य ले लेना नियम नहीं बल्कि अपवाद है।

लक्ष्य नीति से परे पहुँचना भी उतना ही है जितना तर्क से परे पहुँचना। फिर भी, चूंकि वैराग्य के आदर्श का विवरण भारतीय विचारकों के द्वारा दो भिन्न तरीकों से दिया गया है, इसलिए यह अधिनैतिक दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में कुछ भिन्न अर्थ रखता है। लेकिन पिछले अन्तर की तरह यह अन्तर आस्तिक और नास्तिक परम्पराओं के भेद का अनुसरण नहीं करता। कुछ सम्प्रदाय जीवात्मा को शाश्वत मानते हैं, लेकिन अन्य एक या दूसरे रूप में इसका निषेध करते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्ध धर्म जीवात्मा को एक नित्य वस्तु मानने का पूर्णतः विरोध करता है, जबकि अद्वैत वेदान्त मानता है कि जीवात्मा अन्त में ब्रह्म में लीन हो जाता है और उसकी पृथक्ता अस्थायी मात्र है। इसके विपरीत, ईश्वरवाद, जैसा रामानुज का है, और बहुवादी दर्शन, जैसा जैन धर्म का और न्याय-वैशेषिक का है, जीवात्मा की सत्ता को नित्य मानते हैं, लेकिन साथ ही मोक्ष का एकमात्र उपाय अहंकार के उच्छेद को बताते हैं। जो दर्शन जीवात्मा का एक या दूसरे रूप में निषेध करते हैं, उनके अनुसार कर्तव्य की धारणा का परमार्थतः कोई महत्त्व नहीं रह जाता, क्योंकि व्यक्ति और समाज के जिस भेद पर यह धारणा आधारित है उसका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार का अतिवैयक्तिक दृष्टिकोण जिस व्यक्ति का बन गया है, उसके विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् (2 1) में कहा गया है : "वह इस प्रकार के विचारों से तप्त नहीं रहता : क्या मैंने साधुकर्म नहीं किया ? क्या मैंने पाप किया ?" इसके विपरीत जो दर्शन जीवात्मा की पारमार्थिक सत्ता मानते हैं, लेकिन साथ ही पूर्ण आत्मसंयम को भी आवश्यक बताते हैं, उनमें कर्तव्य की चेतना बनी रहती है, किन्तु साधक अपने अधिकारों का बिलकुल भी विचार न करता हुआ स्वयं को कर्तव्य-पालन में लगाए रखता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि उनमें व्यक्ति और समाज का भेद माना जाता है, तथापि अधिकार और कर्तव्य का भेद लुप्त हो जाता है; और इस प्रकार यहाँ अभिप्रेरणा साधारण नैतिकता में पाई जानेवाली अभिप्रेरणा से ऊपर उठ जाती है। दोनों ही मतों के अनुसार व्यक्तिगत स्वार्थ के पूर्णतया त्याग के कारण सांसारिक नैतिकता में आवश्यक रूप से व्याप्त द्वैतभाव तिरोहित हो जाता है; किसी में भी व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग व्यक्ति और उसके सामाजिक पर्यावरण के मध्य अधिकारों और कर्तव्यों का समजन मात्र, चाहे वह कितना ही कठिन या नाजुक हो, नहीं है।

इतना और कहा जा सकता है कि एक दृष्टि से व्यावहारिक अभ्यास का लक्ष्य अपने प्रारम्भिक चरणों तक में नैतिकता की साधारण धारणा से ऊपर

उठ जाता है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति के कर्तव्य मानव-समाज तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि वास्तव में सम्पूर्ण चेतन-सृष्टि के अन्दर फैले हुए हैं। 'अपने पड़ोसी से आत्मवत् प्रेम करो,' इस सामान्य उपदेश के साथ वह 'और प्रत्येक प्राणी तुम्हारा पड़ोसी है,' यह भी जोड़ देता है, जैसा कि एक ऐसे आदमी ने कहा है, जिससे अधिक योग्य जीवन के भारतीय आदर्श को समझने के लिए कोई दूसरा नहीं है।[1] नैतिक कर्म के क्षेत्र का इस प्रकार विस्तार कर देना भारतीय नीतिशास्त्र की, जिसका आदर्श अधिकारों की माँग न होकर कर्तव्यों के प्रति निष्ठा है, अन्तरात्मा के अनुरूप ही है। जिन प्राणियों के अन्दर नैतिक चेतना का अभाव है, उनके चाहे कोई कर्तव्य न हो, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रति भी किसी का कोई कर्तव्य नहीं है। सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव रखने का यह आदर्श अहिंसा के सिद्धान्त में सबसे अच्छी तरह व्यक्त होता है। यह सिद्धान्त प्रत्येक ऊँचे भारतीय धर्म ने अपने आवश्यक अंग के रूप में अपनाया है और इसका अभ्यास न केवल ऋषियों और मुनियों ने किया बल्कि अशोक-जैसे सम्राटों ने भी किया। शायद इससे मानव-समाज का महत्त्व घट जाता है। लेकिन ऐसा इसलिए नहीं है कि यह आदर्श मानव-समाज का कम सम्मान करता है, बल्कि इसलिए है कि यह उस अधिक व्यापक समष्टि का अधिक सम्मान करता है जिसमें सारे जीव समाविष्ट हैं। ऐसा करते हुए यह मानवीय एकता की भावना की उपेक्षा नहीं करता। यह केवल उस भावना का मनुष्यों के कल्याण के लिए प्रयत्न करने के अतिरिक्त यह भी अर्थ लेता है कि विश्व की योजना में मनुष्य-जाति को जो विशेषाधिकार-पूर्ण स्थिति प्राप्त है, उसके अनुरूप ही सारे जीवों के प्रति कर्तव्य का पालन भी किया जाए। समाजनिष्ठ नैतिकता भले ही हमारे दृष्टिकोण को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण से अधिक व्यापक बना दे, पर वास्तव में वह हमें शेष सृष्टि से पृथक् ही रखती है। व्यक्ति की स्वार्थपरायणता के अतिरिक्त एक ऐसी भी चीज है जिसे जाति की स्वार्थपरायणता कहा जा सकता है और जो अनिवार्यतः इस विश्वास को जन्म देती है कि अवमानवीय सृष्टि का मनुष्य के हित के लिए दोहन किया जा सकता है। यदि मनुष्य को सचमुच मुक्त होना है, तो इसका भी त्याग करना होगा; और वह ऐसा केवल तभी कर सकेगा जब वह मानवकेन्द्रिक दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाएगा तथा, गीता के शब्दों में, 'विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान तथा श्वान का मांस खानेवाला चाण्डाल,

1. Romain Rolland : Mahatma Gandhi, p. 33.

सबके प्रति समदर्शी हो सकेगा ।'[1]

सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा में दो सामान्य बातें है—मोक्ष के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण और उसके लिए जो साधना बताई गई है उसमें व्याप्त वैराग्य की भावना । इन बातो से सिद्ध होता है कि भारतीयों के लिए दर्शन न तो मात्र बौद्धिक चिन्तन है और न मात्र नैतिकता, बल्कि वह चीज़ है जो इन दोनों को अपने अन्दर समाविष्ट भी करती है और इनसे ऊपर भी है। दूसरे शब्दो मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यहाँ दर्शन का लक्ष्य उससे भी अधिक प्राप्त करना है जो तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह नही भुला देना चाहिए कि तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र यद्यपि स्वयं साध्य नही हैं, तथापि दर्शन के लक्ष्य के ये ही एकमात्र साधन हैं। इन्हें ऐसे दो पंख माना गया है जो आध्यात्मिक उडान में आत्मा की सहायता करते है। इनकी सहायता से जो लक्ष्य प्राप्त होता है, उसका स्वरूप एक ओर तो ज्ञान का है—ऐसे ज्ञान का जिसमे बौद्धिक आस्था की अपरोक्षानुभव में परिणति हो गई हो, और दूसरी ओर वैराग्य का है—ऐसे वैराग्य का जो उसके तात्त्विक आधार की जानकारी से अविचल हो गया हो । वह प्रधानतः शान्ति की मानसिक स्थिति है, जिसमे निष्क्रियता का होना अनिवार्य नही है। लेकिन बल मानसिक स्थिति या उस आन्तरिक अनुभव पर है, जो उसे उत्पन्न करता है, न कि बाह्य व्यवहार पर, जो उसकी अभिव्यक्ति के रूप मे देखा जाता है और इसलिए न्यूनाधिक रूप से गौण है । दार्शनिक साधना का महत्त्व जितना कम किसी व्यक्ति को अज्ञात का ज्ञान कराने में है, उतना ही कम उसे वह करने को प्रेरित करने में भी है, जो अन्यथा उसने न किया होता; उसका महत्त्व तो तत्त्वतः उसे वह बनाने में है जो वह पहले नही था । कहा गया है कि स्वर्ग पहले एक मनोवृत्ति है और तब कुछ और ।

अब तक हमने भारतीय विचार-परम्परा के मुख्य विभागो के बारे मे कहा है, जिनमे कुछ समान बातों के बावजूद मौलिक भिन्नता है । भारतीय दर्शन का इतिहास इस बात का इतिहास है कि उक्त दो परम्पराओं ने किस प्रकार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करके विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों को जन्म दिया है। उनका पारस्परिक प्रभाव चिन्तन के आधार को विस्तृत करने के साधन के रूप में चाहे जितना अधिक वांछनीय हो, उसके कारण सिद्धान्तों के दो भिन्न वर्गों में अत्यधिक मात्रा में परस्पर व्याप्ति आ गई है, जिससे यह मालूम करना कठिन हो गया है कि प्रत्येक ने दूसरे के कौन-कौन तत्त्व आत्मसात् किए हैं । उदाहरणार्थ,

1. अध्याय 5, श्लोक 18 ।

यह निश्चय के साथ कहना असम्भव हो गया है कि जीवन्मुक्ति का आदर्श, जिसका महत्त्व ऊपर दिखाया गया है, इन दो परम्पराओं में से किसने हमें दिया है। भारतीय विचारधारा के विकासक्रम में कभी एक सम्प्रदाय अभिभावी रहा और कभी दूसरा। एक समय बौद्ध धर्म का स्पष्टतः जोर रहा और ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्थायी रूप से अन्यों पर हावी हो गया है। किन्तु अन्त में वेदान्त की विजय हुई। वेदान्त अपने विकास-क्रम में आशा के अनुसार ही बहुत बदल गया, यद्यपि उसका आन्तरिक स्वरूप वही बना रहा जो उपनिषदों में था। अवश्य ही हम नास्तिक परम्परा के इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को इस अन्तिम रूप में पहुँचाने वाले विभिन्न चरणों के रूप में देख सकते हैं। इस प्रकार वेदान्त को भारतीय विचारधारा की चरम परिणति के रूप में देखा जा सकता है, और भारतीय आदर्श के सर्वोच्च रूप की खोज हम उचित रूप से इसमें कर सकते हैं। वेदान्त का सैद्धान्तिक पक्ष ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद की विजय का सूचक है। वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में जो भी अन्तर हों, इन्हें इन दो शीर्षकों के नीचे रखा गया है। ब्रह्मवाद एकवादी है और ईश्वरवाद प्रकट रूप से बहुवादी होते हुए भी एकवाद की भावना से ओतप्रोत है, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को पूर्णतः ईश्वर के अधीन मानने पर बल देता है। व्यावहारिक पक्ष में वेदान्त की विजय का अर्थ जीवन के भावात्मक आदर्श की विजय रहा है। यह न केवल एक आस्तिक दर्शन के रूप में वेदान्त के द्वारा अनुमोदित नैतिक चर्या के सामाजिक आधार से प्रकट होता है, अपितु, जैसा कि हम विविध दर्शनों का विस्तृत विवरण देते समय देखेंगे, उसकी निःश्रेयस की धारणा से भी प्रकट होता है, जिसके अनुसार आत्मा और उसके पर्यावरण के विरोध को आत्मा के हितों का विश्व के हितों से तादात्म्य करके दूर करना है, न कि जैसा कि नास्तिक दर्शनों में माना गया है, आत्मा को उसके पर्यावरण से पृथक् करके। दोनों ही आदर्शों में पूर्ण वैराग्य का उदय समान रूप से अपेक्षित है; लेकिन वेदान्त का वैराग्य अधिक ऊँचे और सूक्ष्म प्रकार का है। सबसे महान् भारतीय कवि कालिदास ने, जिनकी कृतियों में व्यावहारिक जीवन के भारतवासियों को ज्ञात आदर्श की सबसे सच्ची अभिव्यक्ति दिखाई देने की आशा की जा सकती है, इस आदर्श को 'स्वामित्व का अभिमान न करते हुए सम्पूर्ण जगत् का स्वामी होना'[1] बताया है। निःश्रेयस की वेदान्त की धारणा में विश्व के प्रयोजन की स्वीकृति भी गर्भित है—ऐसे प्रयोजन की जो चाहे ईश्वर के द्वारा निश्चित माना जाए चाहे विश्व की प्रकृति में सहज रूप से विद्यमान माना

1. मालविकाग्निमित्रम्, 1.1.

जाए, लेकिन जिसकी सिद्धि की दिशा में प्रत्येक वस्तु चेतन या अचेतन रूप से अग्रसर हो रही है। नास्तिक दर्शन जहाँ तक इस धारणा के प्रभाव से अछूते रहे, वहाँ तक वे सम्पूर्ण विश्व में कोई प्रयोजन व्याप्त नहीं देखते, यद्यपि वे व्यक्ति की पाप से अपने को मुक्त करने की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

भाग 1

वैदिक युग

अध्याय 1

उपनिषत्पूर्व विचारधारा

इस अध्याय की सामग्री हमें इन दो स्रोतों से मिलती है : (1) भारत में आकर बस जाने के बाद आर्यों ने जिन मन्त्रों की रचना की थी वे और (2) ब्राह्मण, जो सामान्यतः मन्त्रों के काल के बाद की रचनाएँ माने जाते हैं और जिन्हें मोटे तौर से कर्मकाण्ड-विषयक कहा जा सकता है। मन्त्र प्रधानतः ऋग्वेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता के रूप में सुरक्षित होकर हम तक पहुँचे हैं। ऋग्वेद-संहिता अपने वर्तमान रूप में 600 ई० पू० से चली आई है और अथर्ववेद-संहिता उसके कुछ बाद से। ये एक या अधिक देवताओं की स्तुति में गाये हुए धार्मिक गीत हैं और सामान्यतः उस समय गाने के लिए रचे गए थे जब देवताओं की उपासना की जाती थी। ये गीत, विशेष रूप से इनमें से वे, जो अधिक पहले के हैं, बहुत प्राचीन संस्कृत में लिखे हुए हैं; और इस कारण प्रायः इनका सही अर्थ निश्चित करना कठिन है। भाषा की प्राचीनता से अर्थ समझने की यह कठिनाई परम्परा के उस विच्छेद के कारण और भी बढ़ गई है जो उसमें बहुत पहले, शायद ब्राह्मणों की रचना से भी पहले, आ गया था।[1] एक सीधा-सादा उदाहरण यह है : कवि के लिए सूर्य को 'स्वर्णिम करों वाला' कहना बहुत ही स्वाभाविक है; पर एक मन्त्र में आया हुआ यह कवि-सुलभ विशेषण एक ब्राह्मण ने अक्षरशः सत्य मान लिया है और इसकी व्याख्या करने के लिए यह कथा गढ़ ली है कि सूर्य का हाथ गिर गया था और उसके स्थान पर बाद में सोने का हाथ लगाया गया था। वैदिक युग के विचारों को सही तरीके से समझने में कठिनाई उत्पन्न करनेवाली इन बातों के साथ हमें मन्त्र-सामग्री के खण्डित रूप में हम तक पहुँचने की बात भी जोड़ देनी चाहिए। यह तथ्य कि संहिताबद्ध होने से पहले अनेक पीढ़ियों तक मन्त्र अनिबन्ध अवस्था में रहे, यह प्रकट करता है कि उनमें से कुछ अवश्य ही लुप्त हो गए होंगे। जब अन्त में उन्हें संहिताबद्ध किया गया, तब वे सब-के सब शामिल नहीं किये गए, बल्कि केवल उन्हें शामिल किया गया जो कर्मकाण्ड से, जो कि उस समय तक

1. Max Muller: Ancient Sanskrit Grammar, पृ० 432-34.

वास्तविक रुचि का केन्द्र बन गया था, न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते थे। इसके परिणामस्वरूप उनसे जो जानकारी प्राप्त होती है वह अपूर्ण और एकांगी है। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं, लेकिन ब्राह्मण गद्य के रूप में हैं। वे प्राचीन मन्त्र-साहित्य की व्याख्या का दावा करते हैं, लेकिन, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वे कभी-कभी उनकी ग़लत व्याख्या कर देते हैं। उनके वर्तमान रूप से अनुमान होता है कि उनका प्रधान लक्ष्य उनके संकलन के काल में उपलब्ध यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य का संग्रह करके यज्ञानुष्ठान में व्यावहारिक सहायता पहुँचाना था। वे यह प्रकट करते हैं कि जटिल कर्मकाण्ड का उस काल में कितना अधिक प्रचार था, और उनकी आडम्बरपूर्ण रचना का दर्शन से प्रायः कम ही सम्बन्ध है। परन्तु कभी-कभी कर्मकाण्ड का स्वरूप बताते हुए ब्राह्मणों के रचयिता प्रसंगतः दार्शनिक चिन्तन में भी प्रवृत्त हो जाते हैं, जिससे हमें तत्कालीन दार्शनिक विचारों की कुछ झलक मिल जाती है। ब्राह्मण-ग्रन्थ परम्परा से जिस रूप में हमें प्राप्त हुए हैं, उसमें उनके साथ उपनिषद् भी शामिल हैं और उनके अन्तिम भागों के रूप में हैं। किन्तु विचारों और प्रवृत्तियों की दृष्टि से वे उनसे मूलतः भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त, उपनिषद् अत्यधिक महत्त्व के हैं, यहाँ तक कि कुछ लोगों ने उन्हें सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का मूल स्रोत माना है। इन कारणों से उन पर पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है। अतः वे अगले अध्याय के विषय बनाये गए हैं और इस अध्याय में केवल मन्त्रों पर और सही अर्थ में जो ब्राह्मण हैं उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित किया जाएगा।

: 1 :

धर्म का मूल रूप रहस्य के आवरण से आच्छादित है और उसके सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद है। हम इस बात को मान सकते हैं कि उसका प्राचीनतम रूप प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का था। मनुष्य जब विशुद्ध पाशविक चेतना की स्थिति से पहले-पहल बाहर आता है, तब वह देखता है कि वह प्रकृति की जिन विशाल शक्तियों से घिरा हुआ है उनके लगभग पूरी तरह अधीन है। और चूँकि वह अपने अनुभव से शक्ति का ऐच्छिक प्रयत्न से सम्बन्ध जोड़ने का अभ्यस्त होता है, इसलिए वह इन शक्तियों के पीछे अदृश्य रूप से काम करनेवाली चेतन सत्ताओं की कल्पना कर लेता है। दूसरे शब्दों में, प्राचीन काल का मनुष्य प्रकृति की शक्तियों में व्यक्तित्व का आरोप कर देता है और ये अपनी विशालता के कारण उसके देवता बन जाते हैं। वह उनके प्रति भय, आश्चर्य और पूजा का मिला-जुला भाव अपना लेता है, उनकी स्तुति में गीत

गाता है और उन्हे प्रसन्न करने या उनका अनुग्रह प्राप्त करने के हेतु उनकी उपासना करता है या उन्हें वलि देता है। लेकिन ये देवता केवल सीमित अर्थ में ही देवता हैं, क्योंकि 'देवता' कहलाने के बावजूद इन्हें मनुष्य की आकृति में कल्पित किया जाता है और उन्हीं अभिप्रेरकों और मनोवेगों से संचालित माना जाता है जिनसे उनकी कल्पना करनेवाला मनुष्य संचालित होता है। ये वास्तव में महिमा-मण्डित मनुष्य हैं और इसलिए न पूर्णतः लौकिक हैं और न पूर्णतः अलौकिक। इस प्रकार का विश्वास यद्यपि सरल और यालोचित लगता है, तथापि ऐसी बात नहीं है कि इसका दार्शनिक आधार बिलकुल हो ही नहीं। यह इस आस्था का सूचक है कि दृश्य जगत् स्वयं अन्तिम वस्तु नहीं है और सत्य उसके अन्दर छिपा हुआ पड़ा है। साथ ही यह मूलतः अनुभव के तथ्यों की व्याख्या करने का प्रयास भी है, जिसमें यह विश्वास गर्भित है कि प्रत्येक घटना का एक कारण होता है। और कारणता की सार्वभौमता में विश्वास करने का मतलब निश्चय ही प्रकृति की एकरूपता में विश्वास करना है। यदि आदिम मानव ने, प्राकृतिक घटनाएँ जिस नियमितता के साथ बार-बार होती हैं, उसे न देखा होता और यदि उसे इस बात में दृढ़ विश्वास न हुआ होता कि प्रत्येक घटना का एक कारण होता है, तो वह उनकी व्याख्या के लिए ऐसे देवताओं की कल्पना का सहारा न लेता। यह सही है कि वह उन घटनाओं के पीछे सक्रिय मानी जानेवाली कुछ शक्तियों पर उनका अध्यारोप मात्र कर देता है और इसलिए उसकी दी हुई व्याख्या सच्चे अर्थ में व्याख्या नहीं है। इसके अतिरिक्त, अधिकांशतः उसे इस बात की बिलकुल भी चेतना नहीं थी कि वह व्याख्या कर रहा है। फिर भी, देखे हुए तथ्यों के कारणों की खोज का प्रयत्न यहाँ स्पष्टतः मालूम पड़ता है, भले ही वह असफल या अचेतन हो। किसी तरह के यदृच्छावाद से सन्तोष कर लेना इस प्रकार की परिकल्पना की वृत्ति से मेल नहीं खाता। लेकिन यहाँ हमारा धार्मिक विश्वास के प्राचीन रूप से सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भारत में धर्म का जो रूप आर्य-जाति में दिखाई दिया उसके पीछे एक इतिहास रहा। जैसा कि एक अमरीकी विद्वान ने विरोधाभास-युक्त शब्दों में कहा है, "भारतीय धर्म का प्रारम्भ भारत में उसके आने से पहले हो चुका था।"[1] यह उन भारोपीय लोगों के धर्म का अनुवर्ती रूप है जिनकी भारत में पहुँचनेवाली आर्य-जाति एक शाखा थी। संस्कृत में अब भी कुछ प्राचीन शब्द पाए जाते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट सूचक हैं। उदाहरणार्थ, 'देव' शब्द (दिव्, चमकना) लैटिन के 'deus' का सजातीय है और उस युग की ओर

1. Maurice Bloomfield : Religion of the Veda, पृ० 16

संकेत करता है जब भारोपीय मनुष्य ने अपने मूल निवास-स्थान में देवत्व की अपनी धारणा को प्रकृति की प्रकाश देनेवाली शक्तियों से सम्बद्ध किया था। पूजा की जिस भावना से उसने इन देवताओं के रूप में कल्पित शक्तियों को देखा, वह 'यज्' धातु (पूजा करना) से भी इतनी ही अच्छी तरह प्रकट होती है, जो कि एक से अधिक भारोपीय भाषाओं में समान है। एक और उदाहरण वैदिक देवता 'मित्र' का है, जो ईरानी भाषा में 'मिथ्र' था और जिसकी उपासना का कभी पश्चिमी एशिया और यूरोप में बहुत प्रचार था। इन उदाहरणों से समुचित रूप से पता चल जाता है कि प्राचीन भारतीय धर्म की पूर्ववर्ती अवस्थाएँ क्या थीं। यह भारोपीय अवस्था में से गुजर चुका था और फिर भारत-ईरानी अवस्था में से भी, जिसमें बाद के भारतीयों और पारसियों के पूर्वज साथ-साथ रहे और उनके विश्वास एक रहे। वैदिक देवताओं के समूह में न केवल उक्त दो प्राग्भारतीय युगों के प्राचीन देवता शामिल हैं, बल्कि और भी अनेक ऐसे देवता शामिल हैं जिनकी कल्पना भारत में बसने वाले आर्यों ने अपने नये आवास में की थी, जैसे सरस्वती इत्यादि नदी-देवता। इन नये-पुराने सारे देवताओं की संख्या अनिश्चित है। कभी-कभी उन्हें तेंतीस माना जाता है और निवास-स्थान के अनुसार ग्यारह-ग्यारह के तीन वर्गों में रखा जाता है, जैसे; (1) मित्र और वरुण इत्यादि आकाशस्थ देवता, (2) इन्द्र और मरुत् इत्यादि अन्तरिक्षस्थ देवता, तथा (3) अग्नि और सोम इत्यादि पृथिवीस्थ देवता। अनुषंगतः, यह वर्गीकरण देवताओं के पारस्परिक सम्बन्धों को खोजने और उन्हें व्यवस्था देने की इच्छा भी प्रदर्शित करता है। ये सब समान शक्तिवाले देवता हैं और कोई सर्वोच्च देवता या ईश्वर नहीं माना गया है, यद्यपि इनमें से कुछ विशेष रूप से योद्धा का देवता इन्द्र और भक्त का देवता वरुण, अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं।

यहाँ वैदिक देवताओं के विस्तृत वर्णन में जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उनकी ऐसी बातों पर ध्यान देना पर्याप्त है जिनका दार्शनिक महत्व है। सबसे पहली बात, जिसकी ओर ध्यान जाता है, यह है कि वैदिक देवताओं की प्रकृति से कितनी आश्चर्यजनक निकटता है। उदाहरण के लिए, अग्नि और पर्जन्य का प्रकृति में जो आधार है उसके बारे में बिलकुल भी सन्देह नहीं है। वे देवता हैं और साथ ही हमारी जानी-पहचानी प्राकृतिक चीजें, आग और बादल, भी हैं। यह सच है कि अश्विन और इन्द्र-जैसे कुछ अन्य देवता भी हैं, जिनकी पहचान करना इतना आसान नहीं है; लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है कि यूनानी देवताओं के विपरीत वैदिक देवता प्रधानतः ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में व्यक्तित्वारोपण की क्रिया अपूर्ण रह गई है। यह एक उल्लेखनीय

बात है, क्योंकि इससे दिखाई देता है कि अन्य धर्मों की तुलना में वैदिक धर्म अपने स्रोत से कितनी अधिक दूर पड़ गया था। उसे सामान्यतः 'रुद्ध मानवत्वारोपण' कहा गया है; लेकिन इस प्रयोग से कुछ ऐसा लगता है जैसे कि देवत्व की वैदिक धारणा में एक इष्ट वस्तु, अर्थात् पूर्ण व्यक्तित्वारोपण का अभाव हो, जबकि वास्तव में इससे एक अच्छाई का संकेत मिलता है, और वह थी वैदिक आर्य की दार्शनिक चिन्तन के अत्यधिक अनुकूल मनोवृत्ति। हो सकता है कि भारत मे प्रकृति के जो विशेष आकर्षण हैं, उनके कारण आर्यों के अन्दर प्रकृति के प्रति यह 'अविस्मरणशील आसक्ति' आई हो, जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है।[1] लेकिन यह वैदिक आर्य की दार्शनिक मनोवृत्ति का परिणाम भी कम-से-कम उतना ही है। असल बात यह है कि वैदिक युग का भारतवासी अपनी धारणाओं में स्थिरता बहुत शीघ्र नहीं आने देता था। चिन्तन में उसकी रुचि इतनी गहरी थी और तत्त्व को अपने गर्भ में छिपाए रखनेवाले रहस्य के प्रति उसकी संवेदनशीलता इतनी तीव्र थी कि किसी सन्तोषजनक समाधान में जब तक वह नही पहुँचा तब तक उसने उन प्राकृतिक घटनाओ को, जिन्हें वह समझना चाहता था, अपने सामने खुले रूप में रखा।[2] यह विशेषता सत्य के प्रति आसक्ति प्रकट करती है और न केवल भारतीय दार्शनिक अन्वेषण की गहनता का कारण है बल्कि दार्शनिक समस्याओं के उन समाधानों की अत्यधिक विविधता का भी कारण है जो भारतीय विचारधारा ने प्रस्तुत किए हैं।

प्राचीन भारतीय धर्म की एक अन्य विशेषता भी इतनी ही उल्लेखनीय है और ऋत की धारणा में दिखाई देती है, जिसे मन्त्रों में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ है।[3] देवताओं के वर्णन में 'गोपा-ऋतस्य' (ऋत के परिरक्षक) और 'ऋतायु' (ऋत का अभ्यास करनेवाले) का प्रयोग बार-बार हुआ है। 'ऋत' शब्द प्राग्भारतीय मूल का है और प्रारम्भ मे इसका अर्थ था प्रकृति की एकरूपता अथवा घटनाओं का व्यवस्थित क्रम, जैसे कि दिन-रात इत्यादि के नियमित रूप से होने में व्यक्त होता है। लेकिन मन्त्रो मे इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ के अतिरिक्त 'नैतिक व्यवस्था' के अर्थ मे भी हुआ है।[4] तदनुसार वैदिक देवताओ को न केवल विश्व-व्यवस्था को बनाए रखने वालो के रूप में बल्कि नैतिक

1. Bloomfield : Religion of the Veda, पृ० 82.
2. वही, पृ० 85, 151.
3. वही, पृ० 12.
4. 'अनृत' शब्द से तुलना कीजिए, जिसका अर्थ 'असत्य' या 'मिथ्या है। यह अर्थ-विस्तार भारत-ईरानी युग में हुआ था।

व्यवस्था के रक्षकों के रूप में भी देखना चाहिए। वे पुण्यात्माओं के मित्र हैं और पापियों के शत्रु हैं। इसलिए यदि मनुष्य उनके कोप का भाजन नहीं बनना चाहता, तो उसे धर्मपरायण बनने का प्रयत्न करना चाहिए। विश्व-व्यवस्था और नैतिक-व्यवस्था दोनों ही को बनाए रखने का देवताओं का समान दायित्व वरुण की धारणा में विशेष रूप से [illegible] आकाशस्थ प्रकाश का देवता है। [illegible] उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता, बनानेवाला कहा गया है। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि उसकी शक्ति से ही नदियाँ महासागर में निरन्तर गिर रही हैं, फिर भी उसका जल मर्यादा के अन्दर रहता है। लेकिन उसका प्रभाव भौतिक जगत् तक ही सीमित नहीं है। वह उसके बाहर नैतिक जगत् तक व्याप्त है और वहाँ भी उसके बनाये हुए नियम उतने ही शाश्वत और दुरतिक्राम्य हैं। वह सर्वज्ञ है, जिससे पाप की अल्पतम मात्रा भी उसके लिए अगम्य नहीं है। उसकी सतर्क दृष्टि की सर्वगामिता को बताने के लिए कहीं-कहीं सूर्य की उसके चक्षु के रूप में काव्योचित कल्पना की गई है। लेकिन शीघ्र ही वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में इन्द्र ने ले लिया था, जोकि, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, सदाचार का देवता न होकर युद्ध का देवता है। इस बात से कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीयों के नैतिक आदर्श में इस परिवर्तन के साथ गिरावट आ गई थी।[1] लेकिन वे उन असाधारण परिस्थितियों को भूल जाते हैं जिनमें इन्द्र को प्रमुखता प्राप्त हुई। बाहर से भारत में आनेवाले आर्यों को यहाँ की बहुसंख्यक आदिम जातियों को पराजित करना था; और क्योंकि इस कार्य के लिए वरुण का, जोकि वस्तुतः शान्ति का देवता था, आवाहन करना उचित नहीं था, इसलिए इस युद्ध-देवता की ऋग्वेदीय धारणा का विकास हुआ। कहा गया है कि[2] 'राष्ट्र कभी उतने अधिक असंस्कृत नहीं होते जितने तब होते हैं जब वे अन्य राष्ट्र के साथ युद्धरत होते हैं।' यह माना जा सकता है कि इन्द्र की प्रधानता के काल में उसके विशेष गुण, अहंकार और हिंसा, उसके उपासकों के चरित्र में भी झलकने लगे थे। किन्तु यह तो एक अल्पस्थायी बात थी। इन्द्र सदा के लिए भारतीयों का सर्वोच्च देवता नहीं बन गया, बल्कि उसे गौण स्थान प्राप्त हुआ और प्राधान्य नैतिक दृष्टि से अधिक उच्च देवताओं को मिला। अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि भारतीयों की दृष्टि में शक्ति ने सदा के लिए सत्य का स्थान ले लिया। इसके

1. देखिए, Cambridge History of India, जि० 1, पृ० 103; 108.
2. Religion of the Veda, पृ० 175।

अतिरिक्त, इन्द्र नैतिक गुणों से नितान्त शून्य है भी नहीं, और न वरुण ऋत का एकमात्र आश्रय है, क्योंकि सभी सूर्य-देवता, जिनमें से वह एक है, समान रूप से ऋत के आश्रय हैं।[1] फिर, वरुण केवल एक विशेष प्रकार की ईश्वर-प्रक धारणा का, जिसे इब्रानी धारणा कहा गया है, प्रतिनिधि है। किन्तु वैदिक-कालीन भारत में धर्म-सम्बन्धी विचारधारा का विकास, जैसा कि हम अभी आगे देखेंगे, बिलकुल ही भिन्न दिशाओं में हुआ और उसमें देवत्व का विचार सामान्यतः अधिकाधिक अपुरुषपरक होता गया। अतः इस युग में आगे वरुण का आदर्श जिस उपेक्षा का भाजन बना, उसे उस समय की ईश्वर-विषयक धारणा के धीरे-धीरे त्याग दिए जाने का सूचक माना जा सकता है और उससे अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि आर्यों के मन से स्वयं नैतिक विचार ही लुप्त हो गया था। इस प्रश्न का निर्णय तो स्वतन्त्र प्रमाणों का विचार करके करना होगा। अतः इस वादविवाद के विस्तार में न जाकर हम रुडोल्फ रॉथ (Rudolph Roth) के मत को उद्धृत करेंगे, जो आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञों में से एक थे। उक्त प्रश्न[2] पर विचार करते हुए रॉथ ने इस तरह की आधारभूत वैदिक धारणाओं पर पुनर्विचार किया है, जैसे मनुष्य और देवता के सम्बन्ध की और मृतात्माओं के भविष्य की धारणाएँ। उनका निष्कर्ष यह रहा कि उन्हें असन्दिग्ध नैतिक महत्त्व न प्रदान करना और जिस साहित्य में ऐसे विचार व्यक्त किये गए हों उसका आदर न करना असम्भव है।

: 2 :

प्राचीन वैदिक कर्मकाण्ड का स्वरूप और प्रयोजन दोनों ही बिलकुल सरल थे। जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे प्रकृति की जानी-पहचानी शक्तियाँ थीं और उन्हें जो हवि दी जाती थी उसमें दुग्ध, अन्न और घृत रहता था। प्रयोजन साधारण कामनाओं की प्राप्ति करना था, जैसे सन्तान, पशु इत्यादि की, अथवा शत्रुओं के नाश की। कभी-कभी यज्ञ का प्रयोजन देवताओं की कृपा के लिए उन्हें धन्यवाद देना मात्र होता था। किसी मात्रा में शायद सत्कार का भाव भी मौजूद रहता था और उपासक यह विश्वास करता

1. देखिए, Macdonell : Vedic Mythology, पृ० 16, 65.
2. Journal of the American Oriental Society, जिल्द 3, पृ० 331-47; Prof. E. W. Hopkins का Ethics of India, पृ० 41, 61-62 भी द्रष्टव्य है।

था कि यज्ञ-भोग ग्रहण करते समय उनमें दिव्य प्रभाव आ जाता है या उसका दिव्य शक्ति से समागम हो जाता है। यह सरलता शीघ्र ही लुप्त हो गई; और हम कुछ प्राचीन मन्त्रों तक में इस बालसुलभ उपासना के बजाय एक संगठित यज्ञ-पद्धति पाते हैं, जिसमें पहले से ही पौरोहित्य की प्रधानता है। फिर भी प्राचीन वैदिक युग के कर्मकाण्ड को उचित अनुपात से अधिक बढ़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। लेकिन उत्तरकालीन मन्त्रों और ब्राह्मणों के युग में ऐसा हो गया था और कर्मकाण्ड बहुत जटिल बन गया था। फिर भी, क्योंकि इस परिवर्तन का भारतीय दर्शन पर सीधा प्रभाव अधिक नहीं पड़ा, इसलिए यहाँ इस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसकी सामान्य विशेषताओं में से केवल कुछ ही का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा—एक ऐसी विशेषता है हवि प्राप्त करनेवाले देवताओं के स्वरूप का काफ़ी बदल जाना। अब हम देखते हैं कि मुख्यत. प्राकृतिक घटनाओं के एक या दूसरे क्षेत्र से लिये हुए प्राचीन देवताओं के अतिरिक्त अनेक कृत्रिम देवता भी यज्ञ में आदर पाने लगते हैं। उदाहरणार्थ, एक अनुष्ठान में प्रयुक्त मिट्टी का पात्र 'इतना अधिक पूजार्ह बना दिया जाता है कि मानो वह काफ़ी ऊँची शक्ति रखनेवाला कोई वास्तविक देवता हो।'[1] हम कभी-कभी देखते हैं कि कवि-याजक किसी भी तुच्छ वस्तु की, यदि वह किसी रूप में यज्ञ से सम्बन्धित है तो, स्तुति करने लगेगा। उदाहरणार्थ, यज्ञ-स्तम्भ की स्तुति में एक पूरी कविता रच डाली गई है,[2] और एक अन्य कविता में शोभा के लिए उस पर लगाये गए रंग-लेप की उषा-देवता की आभा से गम्भीरतापूर्वक तुलना की गई है।[3] प्रतीक-प्रयोग भी एक बड़े पैमाने पर होने लगा। एक पुराने आख्यान में अग्नि को जल का पुत्र बताया गया है। अतः कमल-पत्र को जल का सूचक मानकर वेदी के तल में रखा जाता है और ऊपर अग्नि स्थापित की जाती है।[4] इससे भी अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ उस भावना में जिससे यज्ञ किया जाता था। पहले देवताओं को प्रसन्न करना और उनसे समागम स्थापित करना यज्ञ का प्रयोजन होता था, लेकिन अब यज्ञ देवताओं को मनाने का साधन न रहकर यजमान को इष्ट वस्तु प्रदान करने के लिए उन्हें बाध्य करने का साधन हो गया। अब यजमान देवताओं को

1. Eggeling : शतपथब्राह्मण (Sacred Books of the East), भाग 5, पृ० xlvi.
2. ऋग्वेद, 3.8.
3. ऋग्वेद, 1. 92.5.
4. Eggeling : पीछे उद्धृत ग्रन्थ, भाग 4, पृ० xix-xxi.

न केवल अपना इष्ट-कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता था, बल्कि यह भी माना जाने लगा था कि उन्हें यज्ञ में जो हवि दी जाती है उससे ही उनका देवत्व बना हुआ है और वे विश्व-व्यवस्था को बनाए रखने के अपने कार्य की सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, अब यज्ञ का स्थान देवताओं से श्रेष्ठ हो गया, और इसी बात का तार्किक परिणाम बाद में पूर्वमीमांसा-दर्शन में देवताओं का बिलकुल ही निषेध कर दिए जाने में प्रकट हुआ। आजकल यह सामान्यतः माना जाता है कि वैदिककालीन भारतवासी के अपनी इच्छा की पूर्ति के प्रयास में यह जो नया मोड़ आया, उससे कर्मकाण्ड में स्पष्टतः अभिचार (जादू) का तत्त्व प्रविष्ट हो गया और आगे पुरोहित अभिचारी बन गया तथा प्रार्थना अभिचार में रूपान्तरित हो गई। यह विवाद का विषय है कि धर्म का अभिचार से क्या सम्बन्ध है और कहाँ तक अभिचार के तत्त्व वैदिक कर्मकाण्ड में प्रविष्ट हुए। लेकिन यहाँ हम इस विवाद में नहीं पड़ेंगे, क्योंकि हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए उसकी कम ही उपयोगिता है।

यह नहीं सोचना चाहिए कि कर्मकाण्ड का यह चरम रूप किसी भी अर्थ में सामान्य जनता ने धर्म के तौर पर अपना लिया था। यहाँ तक हमारे निष्कर्ष ऋग्वेद के जिन मन्त्रों और जिन ब्राह्मण-ग्रन्थों पर आधारित रहे हैं, वे कवि-पुरोहितों ने रचे थे, जो अपनी एक अलग ही उपासना-पद्धति विकसित कर चुके थे। अतः उनमें केवल एक अभिजातवर्गीय धर्म ही व्यक्त होता है।[1] चलते-चलते हम यह भी कह दें कि अभिजात-वर्ग में भी कर्मकाण्ड के अत्यधिक विकास से वह पुरानी धारणा, जिसके अनुसार यज्ञ करना मनुष्य का देवताओं के प्रति कर्त्तव्य था, बिलकुल हट नहीं गई, क्योंकि उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में हम जटिल कर्मकाण्ड के साथ-साथ इस धारणा को भी जीवित देखते हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों में यज्ञ को कहीं-कहीं देवताओं का ऋण कहा गया है।[2] साधारण जनता का धर्म पहले की तरह सरल बना रहा और उसमें प्रकृति-पूजा के पूर्वोक्त आदिम रूपों के साथ-साथ इस तरह के नाना प्रकार के अनुष्ठान भी शामिल रहे, जैसे अनिष्ट को दूर करने और पृथिवी और अन्तरिक्ष की दुष्ट आत्माओं को प्रसन्न करने के लिए तन्त्र-मन्त्र और झाड़-फूंक का प्रयोग। जनता में प्रचलित इन अनुष्ठानों की जानकारी हमें अथर्ववेद से मिलती है, जो ऋग्वेद के कुछ बाद की रचना है, लेकिन इसके बावजूद जिसमें धार्मिक विश्वास की कुछ बातों में एक उससे भी प्राचीन अवस्था लिपिबद्ध है।

1. Religion of the Veda, पृ० 22, 210.
2. देखिए, तैत्तिरीय-संहिता, 6.3.10.5.

: 3 :

प्राचीन युग से हमारे समय तक चले आनेवाले इस साहित्य में यज्ञ-यागादि का जो महत्त्व हमें दिखाई देता है, उसका कारण, जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, अंशतः उसका चयनात्मक स्वरूप है, और इसलिए यह उस युग की प्रवृत्ति का सूचक कम है जिसमें यह साहित्य रचा गया था, तथा उस युग की प्रवृत्ति का सूचक अधिक है जिसमें इसका चयन किया गया था। फिर भी इनमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन वैदिक धर्म का एक विशेष विकास अतिकर्मकाण्डपरता, जिसमें प्रतीक-प्रयोग गर्भित है, की दिशा में हुआ। उसके अन्य विकास भी हुए और वे भी उसी साहित्य से प्रमाणित होते है, हालाँकि उनकी विशेषताएं उसमें कुछ धुंधले रूप में दिखाई देती हैं। जो लिपिबद्ध सामग्री हमारे पास है उसके आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वे विचाराधीन युग में दीख पड़नेवाली विचार-प्रवृत्तियाँ हैं; इससे अधिक कुछ नहीं। इन प्रवृत्तियों का स्रोत ठीक-ठीक खोज पाना कठिन है, क्योंकि यज्ञ की जिस भावना से उनका मौलिक विरोध प्रतीत होता है, उसी के अति घनिष्ठ साहचर्य में वे दिखाई देती हैं। हो सकता है कि वे पुरोहित-वर्ग के बाहर चलनेवाली चिन्तन-प्रक्रिया के फल हों; अथवा इससे भी अधिक सम्भावना इस बात की है कि स्वयं पुरोहित-वर्ग के अन्दर ही कर्मकाण्ड में कृत्रिमता और अत्यधिक जटिलता आ जाने की प्रतिक्रिया हुई और फलतः ये प्रवृत्तियाँ पनपीं।[1] इनका मूल जो भी रहा हो, ये दर्शन के विद्यार्थी के लिए अत्यधिक महत्त्व रखती हैं, क्योंकि इनमें अधिकांश उत्तरकालीन भारतीय विचारों के अंकुर मिलते हैं। अब हम इन प्रवृत्तियों को संक्षेप में बताएँगे।

(1) एकेश्वरवाद—नाना देवताओं में विश्वास, जो प्राचीन वैदिक धर्म का एक विशिष्ट लक्षण था, धीरे-धीरे अपना आकर्षण खो बैठा; और पुरानी कल्पनाओं से ऊबकर तथा सरल व्याख्या की मनुष्य की स्वाभाविक चाह से प्रेरित होकर वैदिकयुगीन मानव ने प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की नहीं बल्कि उनके प्रथम या आदि कारण की खोज शुरू की। अब वह अनुभूत तथ्यों और घटनाओं का कारण नाना देवों को मानने से सन्तुष्ट न रह सका और उस एक ईश्वर को पाने के लिए प्रयत्नशील हो गया जो इन सबके ऊपर शासन करता है और उन्हें नियन्त्रण में रखता है। जो एक ईश्वर की धारणा अब व्यक्त रूप से दिखाई देने लगी, उसे पहले के युग की विचारधारा में अव्यक्त रूप से विद्यमान माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि

1. Religion of the Veda, पृ० 35, 212-220.

देवताओं के अधूरे पृथक्करण तथा एक प्राकृतिक वस्तु का दूसरी (जैसे सूर्य, अग्नि और उषा) के साथ सहज सम्बन्ध या सादृश्य होने की वजह से वैदिक देवाख्यान में एक बात आ गई, जिसे देवताओं की परस्परव्याप्ति कहा जा सकता है। एक देवता बहुत-कुछ दूसरे के समान है। इस प्रकार विभिन्न देवताओं का वर्णन एक ही तरीके से किया गया; और यदि देवता के नाम का उल्लेख न होता, तो यह बताना प्रायः कठिन होता कि किसी एक सूक्त में किस देवता की स्तुति की गई है। इस सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की इस प्रसिद्ध आदत का भी उल्लेख कर देना चाहिए कि वे जिस विशेष देवता की स्तुति करते होते थे उसके महत्त्व को बहुत बढ़ा देते थे और अन्य देवताओं की उतने समय में बिलकुल उपेक्षा करते हुए उसे सबसे श्रेष्ठ बता देते थे। धार्मिक विश्वास की इस अवस्था को मैक्स म्यूलर ने मोनोथीइज्म अर्थात् एकेश्वरवाद से अलग करने के लिए 'हैनोथीइज्म' (henotheism), अर्थात् एकाधिदेववाद कहा है। इसे एकत्व की दिशा में जाने की सहज प्रवृत्ति की अचेतन अभिव्यक्ति मानते हुए उन्होंने बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के मध्य विकास की एक निश्चित अवस्था कहा।[1] इस मत को अधिक लोगों का अनुमोदन प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा सोचा जाता है कि इस तरह का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन सभी धार्मिक काव्यों में स्वाभाविक होता है और इसलिए यह अनिवार्यतः इस बात का सूचक नहीं है कि जहाँ ऐसा हुआ हो वहाँ अनेक की धारणा से एक की धारणा की दिशा में प्रगति हुई है। फिर भी यह माना जा सकता है कि यह 'अवसरवादी एकेश्वरवाद', जैसा कि मैक्सम्यूलर के 'हैनोथीइज्म' को नामान्तर से कहा गया है, सब मिलाकर पिछले समय के नाना देवताओं के स्थान पर अकेले ईश्वर में विश्वास पैदा करने में सहायक हुआ।

हम मान सकते हैं कि पुरानी कल्पना के नाना देवताओं की संख्या को घटाकर एक करने का सबसे सरल तरीका उनमें से सबसे अधिक प्रभावशाली देवता को ऊपर उठाकर सर्वोच्च पद पर बिठा देना हुआ होता। लेकिन वैदिक युग के भारत में यह तरीका नहीं अपनाया गया। निश्चय ही एक समय वरुण और दूसरे समय इन्द्र इस दृष्टि से एकेश्वरवादी आस्था की शर्तों को पूरा करने की स्थिति के बहुत निकट आ गए थे; लेकिन वस्तुतः दोनों में से कोई भी निश्चित रूप से एक पुरुष के रूप में कल्पित सर्वोच्च ईश्वर न बन सका। अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक युग में साधारण अर्थ में

1. Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 40.

एकेश्वरवाद अविकसित ही रह गया। उस काल में एक ईश्वर की खोज एक भिन्न तरीके से की गई और देवताओं में ही एक सर्वोच्च देवता को ढूंढने के बजाय उनके पीछे काम करनेवाली सामान्य शक्ति को ढूंढने का प्रयत्न किया [illegible] और इसका भी आधार [illegible] वि दो (जैसे मित्र और वरुण) और कभी-कभी इससे भी अधिक देवताओं के नाम संयुक्त कर देते हैं और उन्हें एक-जैसे मानकर उनकी स्तुति करते हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हम अपेक्षाकृत बाद की रचनाओं में इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ देखते हैं, जैसे 'जो केवल एक है उसे विप्र लोग अग्नि, यम और मातरिश्वन् इत्यादि विविध नामों से पुकारते हैं।"[1] निस्सन्देह यही अर्थ ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त के ध्रुवपद 'महत् देवानां असुरत्व एकम्' का भी है।[2] यद्यपि वैदिक युग का भारतवासी इस बात में दृढ़ विश्वास रखता था कि प्रकृति की विविध वस्तुओं और घटनाओं का केवल एक ही मूल कारण है, तथापि बहुत समय तक वह इस बात का निर्णय नहीं कर पाया कि उसका स्वरूप ठीक-ठीक क्या है। इसका समाधान उसने एक के बाद एक कई तरीकों से करने की चेष्टा की, किन्तु किसी से भी उसे सन्तोष न हुआ। ईश्वर की एकात्मक धारणा में, पहुँचने का एक प्राचीनतम उपाय था देवताओं को एक समष्टि के रूप में देखना, उन्हें विश्वेदेवाः (सब देवता) नाम से सम्बोधित करना। एकत्व का यह रूप ऊपर से बिलकुल यान्त्रिक लगेगा; लेकिन ऐसा वस्तुतः वह है नहीं, क्योंकि उसमें प्रकृति के व्यापारों के मूल में रहनेवाली प्रयोजन की एकता का बोध गर्भित है। एकत्व में पहुँचने का इससे अधिक सूक्ष्म एक उपाय था देवत्व के एक विशेष लक्षण—अनेक देवताओं के एक सामान्य विशेषण—को चुनकर उस पर व्यक्तित्व का आरोप कर देना और उसे सर्वोच्च ईश्वर मान लेना। इस प्रकार 'विश्वकर्मा' शब्द, जिसका अर्थ है 'सबको बनानेवाला', प्रारम्भ में इन्द्र और सूर्य के विशेषण के रूप में आता है, किन्तु बाद में इसका विशेषण के रूप में प्रयोग बन्द हो गया और यह सारे देवताओं के ऊपर एक देवता के रूप में बिठा दिया गया।[3] यहाँ हम देखते हैं कि कैसे एक अमूर्त तार्किक विचार ने विकसित होकर एक मूर्त देवता का रूप ले लिया। यही बात कई अन्य विशेषणों के साथ भी हुई। इन सर्वोच्च देवताओं में एक उल्लेखनीय

1. ऋग्वेद, 1.164.46.
2. 3.55. देखिए, J. Muir : Original Sanskrit Texts, जिल्द 5, पृ० 354.
3. ऋग्वेद, 10.81, 82.

बात यह हुई कि इनमें से कोई भी अधिक समय तक अपनी सर्वोच्चता को बनाए नहीं रख सका। 'जो देवता राजदण्ड को धारण करता है वह उसे शीघ्र ही छोड़ देता है।' किसी नई धारणा को भी उतनी ही अपर्याप्त समझा गया जितनी अपर्याप्त पुरानी धारणाएँ थी और इसलिए उसके स्थान पर शीघ्र ही दूसरी आ गई। फलतः हम कह सकते है कि दार्शनिक प्रकार का वैदिक एकेश्वरवाद भी अस्थिर रहा और निरन्तर अपनी आधार-भूमि को बदलता रहा। जैसा कि किसी विद्वान् ने कहा है, इस युग की भग्न प्रतिमाओं के द्वारा ही बाद के पुराणों के युग के मन्दिर को सुशोभित किया गया।

यहाँ उन सब देवताओ का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है जो इस दीर्घ युग में एक के बाद एक प्राधान्य प्राप्त करते गए। केवल उनमें से एक का उल्लेख पर्याप्त होगा। वह 'प्रजापति' देवताओ का पिता, था और उन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। प्रजापति प्रकृति की सर्जनात्मक शक्ति का पुरुषीकृत रूप है। इस देवता का आविर्भाव भी विश्वकर्मा के आविर्भाव-जैसा है। 'प्रजापति' का अर्थ है 'जीवो का स्वामी', और प्रारम्भ में इसका प्रयोग सविता इत्यादि देवताओं के विशेषण के रूप में हुआ। लेकिन बाद में इसने एक पृथक् देवता का रूप ले लिया, जो जगत् की सृष्टि करता है और उस पर शासन करता है। ब्राह्मणों में इस देवता का प्रथम स्थान है। एक ब्राह्मण में कहा गया है कि तैंतीस देवता हैं और प्रजापति को मिलाकर सब चौंतीस हैं।[1] ऋग्वेद तक मे, जहाँ प्रजापति का अधिक बार उल्लेख नहीं हुआ है, उसका बहुत ही उदात्त वर्णन है।[2] ऐसा लगता है कि कोई भी जाति ऐसे देवता से सर्वोच्च ईश्वर की अपनी चाह को पूरा कर सकती और प्रजापति को पाकर भारतीयों की देवताओं में एकता की खोज का लक्ष्य पूरा हो गया होता। किन्तु वह भी दार्शनिक के रूप में दुराराध्य वैदिक आर्य को सन्तुष्ट न कर पाया और कालान्तर में इस तरह के तत्त्वो ने उसका स्थान ले लिया, जैसे प्राण[3], जो शरीरस्थ वायु का देवीकृत रूप या ब्रह्माण्ड में मनुष्य के जीवन का प्रतिरूप है, और काल[4] जो सबका कर्ता और हर्ता है। इनमें से कुछ तत्त्वों की चर्चा हम बाद में करेंगे।

(2) एकवाद—यहाँ तक जिन धारणाओं को एकेश्वरवादी बताया

1. शतपथब्राह्मण, 5. 1. 2. 10 और 13.
2. 10. 121.
3. अथर्ववेद, 11. 4.
4. वही, 29. 53 और 54

गया है, वे प्रायः एकवादी धारणाओं के साथ मिले-जुले रूप में पाई जाती हैं और उन्हें उनसे अलग करना कठिन है। फिर भी स्थल-विशेषों में कहीं एक का प्राधान्य है तो कहीं दूसरी का। इसी आधार पर हमने उनको दो प्रवृत्तियाँ माना है। इनमें से जो विशुद्ध एकेश्वरवादी धारणा है, उसमें द्वैतवाद अवश्य ही आ जाएगा। इस धारणा का लक्ष्य केवल देवताओं में एकता लाना है, अर्थात् नाना देवताओं की संख्या को घटाकर उस एक देवता में ले आना है जो विश्व की सृष्टि करता है, उसको चलाता है और उससे ऊपर तथा पृथक् है। यह धारणा प्रकृति को ईश्वर की बराबरी पर रख देती है और इसलिए एकता की चाह को केवल सीमित अर्थ में ही पूरी कर सकती है। एकता की इससे भी ऊँची धारणा एकवाद में है, जो सम्पूर्ण सत्ता का केवल एक ही मूल स्रोत मानता है। उपनिषदों में यह धारणा पूरी तरह से विकसित रूप में है, लेकिन जिस युग पर हम इस समय विचार कर रहे हैं उसके साहित्य में इसका पूर्वाभास एक से अधिक बार दिया गया है। इस साहित्य में इस एकवादी विचारधारा के दो पृथक् रूप मिलते हैं। पहला रूप सर्वेश्वरवाद का है, जो प्रकृति का ईश्वर से अभेद कर देता है। इसकी एक सबसे अधिक उल्लेखनीय अभिव्यक्ति ऋग्वेद के उस स्थल में दिखाई देती है जहाँ अदिति का सब देवताओं और सब मनुष्यों से, वस्तुतः 'जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होनेवाला है' उस सबसे अभेद स्थापित किया गया है।[1] सर्वेश्वरवादी सिद्धान्त की मुख्य बात है ईश्वर और प्रकृति के उस भेद का निषेध, जिसे हम एकेश्वरवाद में अनिवार्य रूप से निहित बता चुके हैं। उसमें ईश्वर को प्रकृति से अतीत नहीं बल्कि प्रकृति में व्याप्त माना गया है।[2] विश्व ईश्वर से उत्पन्न नहीं है बल्कि स्वयं ईश्वर है। यद्यपि इस सिद्धान्त का उद्देश्य एकत्व का अभ्युपगम करना है तथापि यह प्रकटतः कुछ असंगति के साथ ईश्वर और प्रकृति दोनों ही प्रत्ययों को अपने अन्दर सँजोए रखता है और इसलिए सच्चे एकत्व की खोज में लगी बुद्धि को सन्तुष्ट करने में असफल रहता है। वैदिक युग के साहित्य में हम एकत्व की एक अन्य धारणा पाते

---

1. 1. 89. 10.
2. इस कारण सर्वेश्वरवाद के उदाहरण के रूप में पुरुष-सूक्त (ऋग्वेद, 10.90) को उद्धृत करना उचित नहीं है, हालाँकि ऐसा करना एक आम बात हो गया है। यह सूक्त प्रारम्भ में ही ब्रह्म के लोकातीत स्वरूप पर बल देता है: "पृथ्वी को सब ओर से आवृत करने के बाद वह पुरुष दस अंगुल की लम्बाई तक बाहर की ओर फैला रहा।"

है, जिसके मूल में यही बौद्धिक असन्तोष माना जा सकता है। यह धारणा ऋग्वेद (10.129) के नासदीय सूक्त में अभिव्यक्त हुई है, जिसे प्रशंसासूचक शब्दों में 'भारतीय विचारधारा का पुष्प' कहा गया है। यह कहीं-कहीं दुरूह है और इसका अनुवाद करना अति कठिन है। मूल यह है :

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥
तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्।
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी का अनुवाद ('वैदिक साहित्य,' पृ० 411-13) नीचे दिया जा रहा है :

"उस समय (प्रलय दशा में) असत् (सियार के सींग के समान अस्तित्व-हीन) नहीं था। जो सत् (जीवात्मा आदि) है, वह भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी और आकाश तथा आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी कहाँ था ? किसका कहाँ स्थान था ? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल था ? उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिन का भेद भी नहीं था। वायुशून्य और आत्मावलम्बन से श्वास-प्रश्वासयुक्त केवल एक ब्रह्म थे। उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। सृष्टि के प्रथम अन्धकार (वा मायारूपी अज्ञान) से अन्धकार (वा जगत्कारण) ढका हुआ था। सभी अज्ञात और सब जलमय (या अविभक्त) थे। अविद्यमान् वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से (वा प्रारब्ध कर्म के फलोन्मुख होने से) वह एक तत्त्व (जीव) उत्पन्न हुआ। सर्वप्रथम परमात्मा के मन में काम (सृष्टि की इच्छा) उत्पन्न हुआ। उससे सर्वप्रथम बीज (उत्पत्ति-कारण) निकला।

बुद्धिमान् ने बुद्धि के द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान् वस्तु से विद्यमान् वस्तु का उत्पत्ति-स्थान निरूपित किया। बीजधारक पुरुष (भोक्ता) उत्पन्न हुए। (उन जीवों के लिए) महिमाएँ (भोग्य) उत्पन्न हुईं। उन (भोक्ताओं) का कार्य-कलाप दोनों पार्श्वों में (नीचे और ऊपर) विस्तृत हुआ। नीचे स्वधा (अन्न) रहा और ऊपर प्रयति (भोक्ता) अवस्थित हुआ। प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? यह सृष्टि किस उपादान-कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है? ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ कीं और किसने नहीं कीं, यह सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है कि वे भी यह सब न जानते हों।"

इस सूक्त में, जिसे कि विश्व-साहित्य की वस्तु कहा जा सकता है, हमें एकवादी विचारधारा का सार दिखाई देता है। इसमें सर्वेश्वरवादी के विपरीत कवि-दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त को स्पष्टतः स्वीकार करता है, तथा न केवल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक मूल कारण से मानता है, बल्कि उसके स्वरूप को निर्धारित करने की भी चेष्टा करता है। यहाँ सत्-असत्, जीवन-मृत्यु, पुण्य-पाप इत्यादि सारे द्वन्द्वों का इस आधारभूत तत्त्व के अन्दर ही विकसित होना और फलतः उनके विरोधों का परमार्थतः इस तत्त्व में परिहार माना गया है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ यह मत नहीं अपनाया गया है कि कोई बाह्य कर्ता इसकी सृष्टि करता है, बल्कि यह मत प्रस्तुत किया गया है कि दृश्य जगत् अनुभवातीत प्रथम कारण का स्वतः विस्तार है। यह धारणा नितान्त अपुरुषपरक है और देवताओं की कल्पना से बिलकुल अछूती है। सर्वेश्वरवाद में ईश्वरवाद की जो छाया है, उस तक का इसमें अभाव है। यह इस सूक्त में प्रयुक्त दो अत्यधिक सतर्कता के साथ चुने हुए विशेषणों से सूचित होता है और ये हैं 'तद्' और 'एकम्', जो चरम तत्त्व के भावात्मक और एकात्मक स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी बात का सुझाव नहीं देते। यहाँ हम उपनिषदों के एकवाद के द्वार पर पहुँच जाते हैं।

: 4 :

एक अन्य प्रवृत्ति की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है, जिसे सामान्य रूप से 'वैदिक स्वतन्त्र चिन्तन'[1] कहा जा सकता है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि यह वेद की शिक्षा का अंग नहीं है। वेद में इसकी ओर संकेत-भर

1. देखिए, Religion of the Vedas, पृ० 187.

किये गए हैं, जो कहीं-कहीं हैं लेकिन बिलकुल स्पष्ट हैं। जो इसमें रत रहे, उनको 'ब्रह्मद्विष्' (वेदद्रोही), 'देवनिद्' (देवनिन्दक), और 'अपव्रत' (सिद्धान्त-हीन) कहकर भर्त्सना की गई है। ऐसे रूढ़ि-विरोधी मत प्राचीन भारत में अज्ञात नहीं थे, इस बात का पता जैन-धर्म की परम्परा से भी चलता है। इसमें महावीर से पहले के अनेक जिनों का उल्लेख है। उनमें कम-से-कम एक, पार्श्वनाथ, को अब सामान्यतः एक ऐतिहासिक पुरुष मान लिया गया है और आठवीं शताब्दी ई० पू० का समझा जाता है। इतिहासज्ञों के द्वारा स्वीकृत तिथिक्रम के अनुसार यह वह समय है जब ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई थी।[1] वैदिक स्वतन्त्र चिन्तन कहीं-कहीं संशय के रूप में और कहीं-कहीं अविश्वास के रूप में व्यक्त हुआ है। लेकिन इसकी अभिव्यक्ति का चाहे जो रूप रहा हो, यह वेद की रूढ़ शिक्षा का विरोधी है। ऋग्वेद[2] में एक पूरा सूक्त श्रद्धा को सम्बोधित करके रचा गया है, जो इस प्रार्थना में समाप्त होता है : 'हे श्रद्धा, हमें श्रद्धालु बना।' जैसा कि डॉयसन (Deussen) ने कहा है,[3] ऐसी प्रार्थना यदि सार्थक है, तो हमें मानना पड़ेगा कि जिस काल में यह सूक्त रचा गया था उस काल में अश्रद्धा का कुछ जोर हो गया था। अश्रद्धा के अन्य उदाहरणों के रूप में हम दो अन्य सूक्तों का उल्लेख कर सकते हैं। ये भी ऋग्वेद में पाए जाते हैं। इनमें से एक इन्द्र की सत्ता और श्रेष्ठता में तत्कालीन अविश्वास की ओर चुभते शब्दों में संकेत करता है और अविश्वासियों को उसके प्रताप और बल का दृढ़ विश्वास कराने के लिए उसके महान् कार्यों का वर्णन करता है। दूसरा[5] वेद-भक्तों को 'स्वार्थी, प्रलापी और अपने-आपको भ्रम में डालने वाले पुरोहित' कहकर उनका उपहास करता है। यही वह प्रवृत्ति थी जिसने कालान्तर में नास्तिक दर्शनों को जन्म दिया, जिनका भारतीय दर्शन के इतिहास में महत्त्व पहले ही भूमिका में बताया जा चुका है।

: 5 :

इस अध्याय का उपसंहार हम जीवन और जगत् के प्रति वैदिक काल में जो सामान्य दृष्टिकोण था उसके संक्षिप्त वर्णन के साथ करेंगे। उस काल में

---

1. देखिए, Cambridge History of India, जि० 1, पृ० 153
2. 10, 151.
3. Indian Antiquary, 1900, पृ० 367
4. 2. 12.
5. 10. 82.

प्रकृति और मनुष्य दोनों समान रूप से चिन्तन के विषय बने। बाह्य जगत् की सत्यता में कभी सन्देह नहीं किया गया और उसे एक व्यवस्थाबद्ध समष्टि के रूप में देखा गया, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश—इन तीनों लोकों में विभक्त है, जिनमें से प्रत्येक अपने विशिष्ट देवताओं से शासित और प्रकाशित है। वास्तव में इसके एकत्व को दिखाने के लिए ही अनेक प्रकृति-देवताओं की कल्पना की गई है। देवता अनेक हो सकते हैं, लेकिन जिस विश्व का वे शासन करते हैं, वह एक है। एकत्व का यह बोध स्वभावतः एकेश्वरवादी और एकवादी विश्वासों से जोर पकड़ता है। सृष्टि और क्रम-विकास, दोनों ही के विचार इस युग में दिखाई देते हैं। जहाँ विश्व की सृष्टि होने की बात कही गई है, वहाँ केवल एक सृष्टि का उल्लेख है, और सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि होने का जो विचार बाद के युग में काफी प्रचलित हो गया था, उसमें विश्वास कहीं प्रकट नहीं किया गया है।[1] सृष्टि-क्रम के अनेक वर्णन मिलते हैं, जिनमें से सबसे अधिक आवृत्ति इसकी हुई है कि पहले जल की सृष्टि हुई और फिर प्रत्येक अन्य वस्तु इससे उत्पन्न हुई। कहीं-कहीं यह विचार मिलता है कि ब्रह्माण्ड का निर्माण देवताओं ने बहुत-कुछ उसी प्रकार किया जिस प्रकार एक भवन का किया जाता है। एक कवि वरुण को विश्वकर्मा के रूप में चित्रित करता है और सूर्य को उसका मानदंड बताता है।[2] एक अन्य कवि इस बात से चकित है कि उपादान कहाँ से आया होगा· "काष्ठ क्या था ? और वह कौन-सा वृक्ष था जिससे उन्होंने पृथ्वी और द्यौ का निर्माण किया ?"[3] कहीं-कहीं विश्व को माता-पिता से उत्पन्न सन्तान बताया गया है और द्यौ और पृथ्वी उसके माता-पिता हैं। एक अन्य मत कर्मकाण्ड से प्रभावित होकर विश्व को यज्ञ-कर्म से उत्पन्न मानता है। यह कल्पना वेद में कई स्थलों में और विशेष रूप से पुरुष-सूक्त में पाई जाती है, जहाँ विराट से पुरुष की उत्पत्ति बताई गई है और कहा गया है कि पुरुष की हवि बनाकर किये गए यज्ञ से ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं को रचने की सामग्री प्राप्त हुई। "चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ; उसकी आँख से सूर्य उत्पन्न हुआ; उसके मुख से इन्द्र और अग्नि पैदा

---

1. ऋग्वेद, 10. 190. 3-में 'धाता यथापूर्वम् अकल्पयत' में इस बात की ओर एक भूला-भटका संकेत प्रतीत होता है। लेकिन इसका दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है। देखिए, Deussen : Philosophy of the Upanisads (A. S. Geden का अंग्रेजी अनुवाद), पृ० 221.
2. ऋग्वेद, 5. 85. 5.
3. ऋग्वेद, 10. 31. 7.

हुए; और उसके प्राण से वायु । उसकी नाभि से अन्तरिक्ष, उसके शीर्ष से द्यौ, उसके चरणों से पृथ्वी और उसके श्रोत्र से दिशाएं उत्पन्न हुईं ।" यह वास्तव में दृश्य जगत् का उसके भागों में विश्लेषण है । उपनिषदों[1] में कहीं-कहीं साधारणतया अनुभूत अंगों से सम्पूर्ण के पुनर्निर्माण की जो प्रक्रिया पाई जाती है उसकी उल्टी प्रक्रिया यह है । इससे अधिक दार्शनिक जो क्रम-विकास-सिद्धान्त है उसके बारे में हम पहले ही नासदीय सूक्त के प्रसंग में कह चुके हैं ।

वांछित वस्तुओं की प्राप्ति का अमोघ साधन यज्ञों को माना गया है और इसलिए जीवन की व्यवस्था में यज्ञों को प्रधान स्थान मिलना बिलकुल स्वाभाविक है। अवश्य ही यज्ञ को कहीं-कहीं ऋण कहा गया है, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। 'ऋण-त्रय' में से यह प्रथम है। तीन ऋणों के वर्णन से मालूम होता है कि वैदिक युग में कर्तव्य की धारणा स्पष्ट थी। दूसरा ऋण ऋषि-ऋण है जिसका अर्थ है प्राचीन महापुरुषों के प्रति उस सांस्कृतिक विरासत के लिए आभार जो वे भावी पीढ़ियों के लिए छोड़ गए हैं । इससे उऋण होने के लिए उस परम्परा को ग्रहण करके अगली पीढ़ी को सौंपना चाहिए । तीसरा पितृ-ऋण है और इससे उऋण होने का उपाय है गृहस्थ बनना तथा सन्तानोत्पत्ति करना । इस प्रकार हम देखते हैं कि यज्ञ करते रहना मात्र वैदिक आदर्श नहीं है, बल्कि उसमें मनुष्य-जाति को अक्षुण्ण बनाए रखने तथा उस संस्कृति को, जिसका वह आदर्श है, सुरक्षित रखने का प्रयत्न भी समाविष्ट है । उसमें सत्यनिष्ठा, आत्म-संयम और जीवों के प्रति दया का भाव भी शामिल है । ऋग्वेद में पड़ोसी और मित्र के प्रति उपकार-वृत्ति की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है और कृपणता की निन्दा की गई है ।[2] उदाहरणार्थ, एक स्थल में कहा गया है . केवलाघो भवति केवलादी, अर्थात् 'जो अकेला खाता है वह अपने पाप को अपने ही अन्दर रखता है ।' इस युग में वैराग्य की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है । ऋग्वेद में लम्बे बाल और रंगीन वस्त्रों वाले मुनि का उल्लेख है ।[3] इस युग के प्रारम्भिक काल में नैतिकता का क्या स्थान था, यह हम पहले ही बता चुके हैं । बाद के काल के बारे में कुछ विद्वानों का यह मत है कि उसमें यज्ञ को अत्यधिक महत्त्व मिलने के कारण नैतिक विचारों की उपेक्षा हुई और कर्मकाण्ड की यथार्थता को सदाचार की कसौटी माना जाने लगा । लेकिन हम पहले कह चुके हैं कि कर्मकाण्ड तो प्राचीन वैदिक विचारधारा के विकास की अनेक दिशाओं में से केवल एक

1. देखिए, छान्दोग्य उपनिषद्, 5. 11-18.
2. 10. 117. 6.
3. 10 136. 2.

था और इसलिए यह मानना अधिक उचित होगा कि यद्यपि जिन वर्गों में यज्ञ का प्राधान्य था उनमें नैतिक और कर्मकाण्डीय आदर्श परस्पर कुछ उलझ गए होंगे, तथापि स्वयं नैतिकता के विचार का लोप नहीं हुआ था। उदाहरणार्थ, प्रजापति को, जो कि ब्राह्मण-युग का प्रधान देवता है, न केवल सृष्टि के स्वामी के रूप में दिखाया गया है बल्कि ऋत के अधिपति[1] के रूप में भी दिखाया गया है, जो हमें इससे भी पहले के इस मत की याद दिलाता है कि देवताओं का विश्व-व्यवस्था के साथ नैतिक व्यवस्था को भी बनाए रखने का दायित्व है।

इस प्राचीन विश्वास में इस लोक में मिलने वाले पुरस्कार और दण्ड के अतिरिक्त और भी बातें गर्भित हैं। यह माना जाता था कि पुण्य करने वाले और पापी दोनों परलोक में जाते हैं; लेकिन शायद एक ब्राह्मण के केवल एक स्थल को छोड़कर[2] अन्यत्र कहीं पुनर्जन्म का उल्लेख नहीं है। सदाचार और धर्मनिष्ठा का पुरस्कार स्वर्ग में देवताओं के साथ सुख का उपभोग करना माना जाता था। बाद में पुण्यशील पितरों के लोक में इस आनन्द की स्थिति की प्राप्ति बताई गई है और यम को पितृलोक का अधिपति बताया गया है। अभी तक यम केवल स्वर्ग का ही अधिपति था, नरक का स्वामी नहीं बना था। पाप और दुष्कर्म का दण्ड शाश्वत यातना माना जाता था। नरक का ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख नहीं है, लेकिन अथर्ववेद और ब्राह्मणों में इसका स्पष्ट उल्लेख है। इसे एक नित्य तमसावृत अधोलोक कहा गया है, जबकि स्वर्ग को प्रकाश-युक्त ऊर्ध्वलोक बताया गया है। यह कहा गया है कि जो नरक में जाते हैं वे वहाँ से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। ये सब बातें आत्मा की अमरता में विश्वास प्रकट करती हैं। मृत्यु का अर्थ नाश नहीं है, बल्कि वहाँ चला जाना मात्र है जहाँ अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का भोग करना पड़ता है।

1. देखिए, Hopkins : Ethics of India, पृ० 50.
2. देखिए, Macdonell : *Vedic Mythology*, पृ० 166

अध्याय २

उपनिषद्

अब हम उपनिषदों के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, हालांकि परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मण-ग्रन्थों के भाग हैं। इनमें मुख्य बात यह है कि इनकी प्रवृत्ति कर्मकाण्ड से भिन्न और उसकी विरोधी है और विश्व के बारे में ये जो सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं वह ब्राह्मणों की यज्ञ-प्रधान शिक्षा में निहित सिद्धान्त से बिलकुल अलग है। सभी प्राचीन उपनिषदों में यह विरोध एक या दूसरे रूप में प्रकट हुआ है और कुछ में तो यह विरोध बिलकुल खुले रूप में दिखाई देता है।[1] उदाहरणार्थ, मुण्डक उपनिषद् में यज्ञ-कर्म पर एक बिलकुल खुला आक्रमण किया गया है और कहा गया है कि यज्ञों से श्रेय-लाभ की आशा जो करता है वह मूढ है तथा उसे बार-बार जरा-मृत्यु का दुःख भोगना पड़ता है।[2] लेकिन अधिकतर यह विरोध अप्रत्यक्ष रूप में है और यज्ञों का शाब्दिक अर्थ के बजाय लाक्षणिक अर्थ करने में प्रकट होता है।[3] एक उदाहरण से मालूम हो जाएगा कि यह लाक्षणिक अर्थ कैसे किया गया। अश्वमेध यज्ञ प्रसिद्ध ही है। इसका अनुष्ठान विश्व के अधीश्वरत्व का सूचक है। इसे क्षत्रिय करता है और इसमें बलि दिया जानेवाला मुख्य पशु घोड़ा होता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] इस यज्ञ को एक सूक्ष्म यज्ञ बना देता है और ध्यान की एक क्रिया में रूपान्तरित कर देता है, जिसमें ध्याता अश्व के स्थान पर सम्पूर्ण जगत् को समर्पित करता है और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का त्याग करके सच्चा स्वाराज्य प्राप्त करता है—यह स्वाराज्य स्थूल अश्वमेध के

1. देखिए, Deussen : Philosophy of the Upanisads (A. S. Geden का अंग्रेजी अनुवाद), पृ० 61-2, 396; Macdonell : India's Past, पृ० 46.
2. 1. 2. 7.
3. ऐसा अर्थ आरण्यकों में प्रायः देखा जाता है, जो वेदों में ब्राह्मण-भाग और उपनिषदों को जोड़नेवाली कड़ी का काम करते हैं। आरण्यकों का यह नाम इसलिए पड़ा कि उनकी शिक्षा अरण्य के एकान्त में दी जाती थी। देखिए, Philosophy of the Upanisads, पृ० 2-3.
4. 1. 1 और 2. देखिए, Deussen : System of the Vedanta, पृ० 8.

अनुष्ठान से प्राप्त माने जानेवाले अधीश्वरत्व के तुल्य ही है। इन दो तरह की शिक्षाओं के बीच का विरोध बाद में धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है अथवा कम-से-कम काफी मृदु हो जाता है, जिससे पता चलता है कि जब औपनिषदिक सिद्धान्त अधिकाधिक जोर पकड़ने लगा तब उनके बीच समझौता कराने की चेष्टा की गई। उत्तरकालीन उपनिषदों में इस समझौते के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं। उदाहरणार्थ, श्वेताश्वतर उपनिषद् यज्ञ के दो मुख्य देवताओं, अग्नि और सोम, का सानुमोदन उल्लेख करता है, तथा पुरानी यज्ञोपासना का पुनः आश्रय लेने का समर्थन करता है।[1]

ब्राह्मणों और उपनिषदों के मतों के बीच जो विषमता है उसको कुछ विद्वान् आजकल ब्राह्मणों और क्षत्रियों, अर्थात् प्राचीन भारत के पुरोहितों और राजाओं, के आदर्शों की विषमता का फल बताते हैं। इस मत का कुछ आधार अवश्य है, क्योंकि उपनिषद् अपने एक से अधिक सिद्धान्तों के प्रवर्तक राजर्षियों को बताते हैं और ब्राह्मणों का उन सिद्धान्तों को जानने के लिए उनका शिष्यत्व ग्रहण करने की बात कहते हैं। किन्तु, जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वानों ने स्वयं ही मान लिया है, यह आदर्शों के अन्तर को सामाजिक अन्तर से जोड़ने के लिए पर्याप्त नहीं है। उपनिषदों में क्षत्रियों को जो प्राधान्य दिया गया है उसका अर्थ, सम्भव है, केवल इतना ही हो कि राजा ब्राह्मणों के आश्रयदाता थे और उनके सिद्धान्तों के मूल प्रवर्तक तो वे ही ब्राह्मण थे, लेकिन उनका स्वागत सर्वप्रथम स्वयं ब्राह्मणों के यज्ञनिष्ठ वर्ग के बजाय राजाओं ने किया।[2] इससे यह भी उपलक्षित होता है कि यज्ञविद्या तो अधिकांशतः ब्राह्मणों (पुरोहितों) तक ही सीमित रही, लेकिन ब्रह्मविद्या उन्हीं तक सीमित न रही। इस प्रश्न पर और अधिक विचार करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह मात्र एक ऐतिहासिक प्रश्न है और इसलिए हमसे इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

पुराने भारतीय टीकाकारों ने 'उपनिषद्' शब्द के अनेक अर्थ बताए हैं, लेकिन उनके अर्थ ऐतिहासिक या भाषाशास्त्रीय दृष्टि से सही नहीं माने जा सकते, क्योंकि उन्होंने तो इस शब्द में वही अर्थ पढ़ा है जो दीर्घकालीन प्रयोग के फलस्वरूप उनके समय तक इस शब्द का हो गया था। इसके अतिरिक्त, एक ही टीकाकार इस शब्द की प्राय. विकल्पतः कई व्युत्पत्तियाँ देता है, जिससे प्रकट होता है कि उसे सही अर्थ का निश्चय नहीं था, बल्कि वह सम्भावित अर्थ

1. 6 और 7. देखिए Philosophy of the Upanisads, पृ० 64-5.
2. „ Philosophy of the Upanisads, पृ० 396; Religion of the Veda, पृ० 220 और आगे।

मात्र बतला रहा था।[1] इस प्रकार टीकाकारों से तो हमें कोई सहायता नहीं मिलती, लेकिन सौभाग्य से इस शब्द का प्रयोग स्वयं उपनिषदों के अन्दर ही हुआ है और वहाँ यह सामान्यतः रहस्य का समानार्थक प्रतीत होता है। अतः वही इसका मूल अर्थ रहा होगा। व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है 'निष्ठापूर्वक (नि) निकट (उप) बैठना (सद्)', और कालान्तर में इसका अर्थ हो गया 'वह रहस्योपदेश जो ऐसी गुप्त बैठकों में दिया जाता था।'[2] अनेक उपनिषदों से यह स्पष्टतः मालूम होता है कि इन ग्रन्थों का उपदेश रहस्यात्मक माना जाता था और उसे अपात्र के कान में न पड़ने देने के लिए बहुत सावधानी रखी जाती थी, ताकि उसका गलत अर्थ न लगाया जा सके और अनुचित प्रयोग न हो सके। उदाहरणार्थ, प्रश्नोपनिषद् के अनुसार छः शिष्य एक मुनि के पास ब्रह्म के ज्ञान के लिए पहुँचे, लेकिन मुनि ने उनसे कहा कि वे एक वर्ष पर्यन्त उनके साथ ठहरें। स्पष्ट है कि मुनि का प्रयोजन उन्हें जाँचना और ब्रह्मज्ञान की उनकी पात्रता के बारे में निश्चित होना था। कठोपनिषद् में हम देखते हैं कि जब नचिकेता यम से यह जानना चाहता है कि आत्मा मृत्यु के बाद बना रहता है या नष्ट हो जाता है, तब यम तब तक कोई उत्तर नहीं देता जब तक उसने उसकी निष्ठा और दृढ़ता की परीक्षा नहीं ले ली। अनुषंगतः यह भी कह देना चाहिए कि बिना पात्र-अपात्र का विचार किए परम तत्त्व के ज्ञान का उपदेश हर किसी को देने की अनिच्छा भारत में एक निराली बात नहीं थी, बल्कि सभी प्राचीन लोगों में समान रूप से पाई जाती थी। उदाहरणार्थ, प्राचीन यूनान में हेराक्लिटस ने यह कहा बताते हैं, "यदि लोग स्वर्ण की इच्छा रखते हैं तो उन्हें उसे खोदकर निकालना होगा, अन्यथा उन्हें तिनके से ही सन्तोष करना पड़ेगा।"

जिस रूप में उपनिषद्-साहित्य हम तक पहुँचा है उसका मूल ढूँढ़ पाना कुछ कठिन है। हिन्दू परम्परा के अनुसार इसका दर्जा वैदिक साहित्य के अन्य भागों—मंत्रों और ब्राह्मणों—की बराबरी का है, और ये सब समान रूप से 'श्रुति' अर्थात् अपौरुषेय हैं। इस प्रकार परम्परा से कोई सहायता न मिल पाने से हमें अटकल का ही सहारा लेना पड़ता है। उपनिषदों में हमें कहीं-कहीं छोटी और सारगर्भित उक्तियाँ मिलती हैं, जो नपे-तुले सूत्रों की तरह हैं, और जिस साहित्यिक सामग्री के अन्दर वे दबी पड़ी हैं उसका उद्देश्य केवल उनमें छिपे हुए सत्य की विवृति और व्याख्या करना प्रतीत होता है। इसके अलावा,

1. देखिए, शंकर के कठोपनिषद्-भाष्य की भूमिका।
2. Philosophy of the Upanisads., पृ० 10-15.

इन उक्तियों को वहाँ प्राय 'उपनिषद्' भी कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है, और यह काफी सही भी लगता है, कि प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग केवल उन सूत्रों के लिए ही किया जाता था जिनमें औपनिषदिक दर्शन का कोई महत्त्वपूर्ण सत्य सूक्ष्म रूप में निहित रहता था।[1] ऐसी उक्तियों का एक उदाहरण है 'तत्त्वमसि'[2] जो जीवात्मा और परमात्मा के तात्त्विक अभेद का उपदेश देता है। केवल इन्हीं दार्शनिक सूत्रों का कभी गुरु के द्वारा शिष्य को उपदेश दिया गया था और इनके पहले या पीछे व्याख्यात्मक प्रवचन होता था। ऐसा अनुमान है कि कालान्तर में इन प्रवचनों ने एक निश्चित रूप ले लिया, यद्यपि इन्हें अभी तक लेखबद्ध नहीं किया गया था, और अन्त में ये उपनिषदों की सम्प्रति ज्ञात शक्ल में आ गए। उपनिषदों की वस्तु में जिस प्रकार परिवर्धन होता गया, उससे लगता है कि इनमें एक आचार्य के नहीं बल्कि आचार्यों की एक परम्परा के विचार सगृहीत हैं, और इस प्रकार इनमें एक वृद्धि-प्रक्रिया मूर्तिमती है, जिसमें नये विचार पुरानों से मिल-जुल गए हैं। ऐसा मानने से विचारों की उस विषमता का स्पष्टीकरण हो जाता है जो कभी-कभी एक ही उपनिषद् के उपदेशों में दिखाई दे जाती है। बाद में कभी जब हिन्दुओं के सारे प्राचीन साहित्य को इकट्ठा करके व्यवस्थित किया गया, तब उपनिषदों को वर्तमान रूप में ब्राह्मणों से अनुबद्ध कर दिया गया। उपनिषदों का ब्राह्मणों से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने की सार्थकता यह है कि जब यह एकीकरण हुआ तब दोनों को समान रूप से प्राचीन माना गया—इतना प्राचीन कि किसी का भी कोई निश्चित रचयिता ज्ञात न हो सका। इस प्रकार वेद के अन्त में जुड़े होने के कारण उपनिषद् 'वेदान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह बहुत-कुछ वैसे ही हुआ जैसे अरस्तू का 'मेटाफ़िज़िक्स' उसके ग्रन्थों में 'फ़िज़िक्स के बाद आने के कारण इस नाम से अभिहित हुआ। 'वेदान्त' शब्द ऐसा है जो पहले आर्य ग्रन्थों के सग्रह में उपनिषदों की स्थिति का सूचक था और बाद में वैदिक उपदेश के लक्ष्य का बोधक हो गया। अंग्रेजी के अपने समानार्थक शब्द 'एन्ड' की तरह संस्कृत का 'अन्त' शब्द भी दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

सम्प्रति जो उपनिषद् उपलब्ध हैं उनकी संख्या बहुत बड़ी है, यानी लगभग दो सौ। लेकिन सब समान रूप से प्राचीन नहीं हैं। इनमें बहुत बड़ी संख्या उनकी है जो वास्तव में अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। बारह से कुछ ही अधिक उस युग के हैं जिस पर हम इस समय विचार कर रहे हैं। इन प्राचीन उपनिषदों

1. Philosophy of the Upanisads, पृ० 20।
2. छान्दोग्य उपनिषद्, 6. 8. 7.

में भी तिथि के अन्तर दिखाई देते है; लेकिन सामान्य रूप से इन सबमे विचारो और जिस भाषा के माध्यम से ये विचार व्यक्त किये गए हैं, उसकी दृष्टि से पारिवारिक सादृश्य है। अतः ये सारे भारतीय विचारधारा के क्रम-विकास की करीब-करीब एक ही अवस्था से सम्बन्धित माने जा सकते हैं। यहाँ हम केवल अधिक प्राचीन या प्रामाणिक उपनिषदों की ही चर्चा करेंगे। उनकी तिथि ठीक-ठीक नही बताई जा सकती, पर उन सभी को बुद्ध से पहले का माना जा सकता है। वे जगत् की दार्शनिक व्याख्या देने के मनुष्य के प्राचीनतम प्रयास है और इसलिए मानवीय चिन्तन के इतिहास में अपरिमित महत्त्व रखते है। वे भारतीय दर्शन के कम-से-कम एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय, 'वेदान्त', के सर्वमान्य आधार है, 'जो वर्तमान काल में ब्राह्मण-धर्मावलम्वी भारत की लगभग पूरी उच्च विचारधारा पर नियन्त्रण रखता है।' उनका महत्त्व ऐतिहासिक से कही अधिक है, क्योंकि उनके अन्दर जो निराली आध्यात्मिक शक्ति है, वह और जो [illegible] आकर्षित करनेवाले तत्त्व है, वे भविष्य में होनेवाले विचारों के पुनर्निर्माण [illegible] जीवन के पुनर्व्यवस्थापन पर अत्यधिक प्रभाव डाल सकते है।

अब थोड़ा-सा इन ग्रन्थो की शैली के बारे मे भी कह देना चाहिए। वे, विशेष रूप से आकार मे जो अधिक बड़े हैं वे, प्राय. सवादो के रूप में हैं। उनकी प्रणाली दार्शनिक से अधिक काव्यात्मक है। उन्हे दार्शनिक काव्य कहा गया है और सत्यों को वे प्रायः रूपक और दृष्टान्त के माध्यम से व्यक्त करते हैं। उनकी भाषा यद्यपि उपनिषदो की निराली मोहकता से शून्य कही नहीं हुई है, तथापि कही-कहीं प्रतीकात्मक हो गई है। शैली अत्यधिक गूढ है और उससे प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थो की ऐसे व्यक्ति द्वारा मौखिक व्याख्या करना अपेक्षित था जो इनके विषय-निरूपण की कमी को तुरन्त पूरा कर सकता। ये विशेषताएँ अनेक स्थलों का अर्थ समझने में कम कठिनाई पैदा नहीं करती, और इन्ही के कारण उनकी भूतकाल में नाना प्रकार की व्याख्याएँ दी गई हैं तथा वर्तमान काल मे भी दी जा रही हैं। किन्तु यह अनिश्चितता केवल विस्तार की बातो के बारे में है। उपदेशों का सामान्य तात्पर्य तो बिलकुल असन्दिग्ध है। वैदिक साहित्य मे समाविष्ट ग्रन्थों मे उपनिषदों ने ही सबसे पहले विदेशियो को आकर्षित किया। मुगल-काल में इनमें से कइयों का फारसी मे अनुवाद हुआ और इन फ़ारसी अनुवादों का पिछली शताब्दी के आरम्भ के आस-पास लैटिन में रूपान्तर हुआ। यूरोप में उपनिषदों की जानकारी सर्वप्रथम इस लैटिन रूपान्तर के माध्यम से ही हुई। शॉपेनहावर इस लैटिन रूपान्तर को पढ़कर ही

उपनिषदों का प्रशंसक बना।[1] हाल में सीधे संस्कृत से उनके अनेक अनुवाद पाश्चात्य भाषाओं में निकल चुके है। उपनिषदों के उपदेशों की विषय-वस्तु भी बार-बार विदेशी विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर चुकी है, और उन पर जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें डोयसन का पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ 'फिलासफ़ी ऑफ दि उपनिषद्स' विशेष रूप से अपने सूचना-प्राचुर्य और विश्लेषण की सतर्कता तथा पूर्णता के लिए उल्लेखनीय है।

: 1 :

पहली बात, जिस पर विचार करना जरूरी है, यह है कि सारे उपनिषद् —सारे प्रामाणिक उपनिषद् ही सही—एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं या नहीं। भारतीय टीकाकारों का पहले से ही यह मत रहा है कि उनमें एक-वाक्यता है;[2] और उनका मत इससे भिन्न हो भी नहीं सकता था, क्योंकि वे इन्हें शाब्दिक अर्थ मे श्रुति मानते थे। लेकिन टीकाकारों का मतैक्य उपनिषदों की एकवाक्यता की सामान्य स्वीकृति तक ही सीमित है। उपनिषदों में ठीक क्या-क्या कहा गया है, यह प्रश्न जब पूछा जाता है तब उनके मत परस्पर बहुत भिन्न हो जाते हैं। यह मतभेद बहुत पुराना है, क्योंकि उपनिषदों के सिद्धान्तों को तन्त्रबद्ध करनेवाले और सम्प्रति उपलब्ध सबसे प्राचीन ग्रन्थ, बादरायणकृत 'वेदान्तसूत्र' में इस मतभेद की ओर संकेत किये गए हैं।[3] व्याख्याओं की इतनी अधिक विषमता से स्वभावत. यह सन्देह उत्पन्न होता है कि एकवाक्यता पर परम्परा से ज़ोर दिए जाने के बावजूद उपनिषदो में केवल एक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया गया है; और इन प्राचीन कृतियों के स्वतन्त्र अध्ययन से इस सन्देह की पुष्टि होती है। आज का जिज्ञासु वेदान्त के किसी सम्प्रदाय-विशेष का अनुसरण करने के लिए पहले से वचनबद्ध नहीं है और इसलिए उसे यह मानने को विवश होना पड़ता है कि उपनिषदों में दो या तीन नहीं बल्कि अनेक परस्पर-विरोधी सिद्धान्त हैं। इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है, क्योंकि उनमे जो समस्या उठाई गई है उसके अनेक समाधान सम्भव हैं और इन ग्रन्थो को उनका वर्तमान रूप थोड़ा-बहुत यादृच्छिक ढंग से प्राप्त हुआ

1. "शोपेनहावर 'औपनेखत' को अपनी मेज पर खुला रखा करता था और सोने से पहले उसके पृष्ठों का मनन करने की उसकी आदत बन गई थी"—Religion of the Veda, पृ० 55.
2. वेदान्त सूत्र, 1.1.4.
3. देखिए, वेदान्तसूत्र, 1.2.28-31.

है। लेकिन उनमें जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए हैं वे समान रूप से विकसित अवस्था में नहीं दिखाई देते। कुछ तो विचारों की झलक-मात्र हैं, कुछ अल्प-विकसित हैं, और कुछ और भी प्राचीन युग के अवशेष-मात्र है। जो सिद्धान्त सबसे प्रमुख हैं और सबसे अधिक विकास की अवस्था में हैं, उनकी बारीकियों को यदि फिलहाल छोड़ दिया जाए तो उन्हें एकवादी और प्रत्यय-वादी कहा जा सकता है। इस तरह के वचन जैसे, 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' जो सभी अस्तित्वमान् वस्तुओं की एकता पर बल देते हैं, उपनिषदों में न कम हैं और न कहीं-कहीं है। यह एकवादी मत प्रत्ययवादी कहा जा सकता है, क्योंकि उपनिषदों में ऐसे वचनों की संख्या भी उतनी ही बड़ी है जिनके अनुसार विश्व में कुछ भी ऐसा नहीं है जो आत्मा न हो या आत्मा पर आश्रित न हो। "वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारागण और न ये बिजलियाँ। फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है! उस प्रकाशमान् आत्मा से ही ये सब प्रकाशित होते हैं; उसके प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित हैं।"[1]

इस सिद्धान्त को पूरी तरह से बताने के पहले हमें परम तत्त्व के लिए उपनिषदों में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या कर देनी चाहिए। दो शब्दों का प्रयोग किया गया है—आत्मन् और ब्रह्मन् का। इन्हें ऐसे दो स्तम्भ कहा गया है 'जिनके ऊपर भारतीय दर्शन का प्रायः पूरा भवन खड़ा है।' इन शब्दों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह स्पष्ट नहीं है। 'ब्रह्मन्' शब्द 'बृह्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'बढ़ना' या 'फूट पड़ना', और शायद पहले-पहल इसका अर्थ 'प्रार्थना' था। प्रार्थना के रूप में ब्रह्मन् वह है जो स्वयं को श्रव्य वाणी में व्यक्त करता है। इसी से बाद में वह दार्शनिक अर्थ निकला होगा जो 'ब्रह्मन्' शब्द का उपनिषदों में है, अर्थात् विश्व का मूल कारण—वह जो केवल वाणी के रूप में नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्रकृति के रूप में स्वतः फूट पड़ता है।[2] दूसरे शब्द की व्याख्या इससे भी अधिक सन्दिग्ध है। सबसे अधिक सम्भावना यह है कि 'आत्मन्' का मूल अर्थ 'श्वास' था और बाद में इसका प्रयोग किसी भी वस्तु के, विशेष रूप से मनुष्य के, सार-भाग के लिए होने लगा।[3] इस

1. कठोपनिषद्, 2.2.15.
2. यह व्युत्पत्ति मैक्स म्यूलर के द्वारा भाष्यकारों के अनुसार दी गई है। देखिए, Six Systems of Indian Philosophy, पृष्ठ 52-5। कुछ लोगों ने इस शब्द का मूल अर्थ 'मन्त्र' (जादू) बताया है। देखिए, Encyclopaedia of Religion and Ethics में 'Brahman' के ऊपर लेख।
3. Six Systems of Indian Philosophy, p. 70-2.

प्रकार इन दो शब्दों का अपना अलग-अलग अर्थ है : 'ब्रह्मन्' बाह्य जगत् का चरम स्रोत है और 'आत्मन्' मनुष्य के अन्दर रहने वाला चैतन्य है। इन शब्दों के विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि इनके मूल अर्थ परस्पर बिलकुल भिन्न थे और यद्यपि कभी-कभी उन मूल अर्थों में इनका प्रयोग उपनिषदों में फिर भी चलता था, तथापि प्रधानतः इनका प्रयोग पर्यायों के रूप में होने लगा था—समान रूप से उस चीज के अर्थ में जो प्रकृति और मनुष्य के सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शाश्वत स्रोत है। इन दो पृथक् शब्दों के अर्थों के कालान्तर में एक हो जाने का यह मतलब निकलता है कि भारतीय विचारक ने अपने चिन्तन के दौरान बाह्य तत्त्व का आन्तरिक तत्त्व से ऐकात्म्य कर लिया था; और अन्ततोगत्वा इस सुखद ऐकात्म्य से वह एकता के अपने चिर-अभिलषित लक्ष्य तक पहुँच गया था—उस लक्ष्य तक जो पुरानी देवकल्पना से कहीं आगे था और सचमुच दार्शनिक था।

यह ऐकात्म्य किस तरह स्थापित हो सका और इसका पूरा अर्थ क्या है, इस विषय की चर्चा कुछ विस्तार से करना जरूरी है। हम कह चुके हैं कि कालक्रम से 'आत्मन्' शब्द का अर्थ मनुष्य के अन्दर का चैतन्य हो गया। यह उस खोज का फल था जिसका लक्ष्य मनुष्य के भौतिक ढाँचे से, जिससे वह सम्बद्ध है, पृथक् उसकी आन्तरिक सारवस्तु को पाना था। इसकी प्रणाली आन्तरिक छानबीन की थी और जो प्राप्ति हुई वह अन्तर्दर्शन से हुई। शरीर, प्राण इत्यादि के बजाय, जिन्हें व्यक्ति मानने की भूल आसानी से की जा सकती है, यहां हम देखते हैं कि एक अधिक गूढ़ तत्त्व को, जो चिद्रूप है, अन्त में मनुष्य की सारवस्तु माना गया। उत्तरकालीन मन्त्रों और ब्राह्मणों के समय से आर्यों की व्यक्ति और जगत् के मध्य आनुरूप्य ढूंढने तथा एक के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लक्षण के अनुरूप दूसरे का कोई लक्षण जानने की आदत बन गई थी। इसके पीछे जगत् को व्यक्ति के माध्यम से समझने का प्रयास था। ज्ञात विशेष से अज्ञात सामान्य में पहुँचने का इस तरह का प्रयास पुरुष-सूक्त में स्पष्टतः दिखाई देता है, जिसमें *जगत् के भागों को पुरुष के भाग बताया गया है।* यह एक अन्त्येष्टि-सम्बन्धी सूक्त[1] में भी इतना ही स्पष्ट है, जिसमें प्रेत को सम्बोधित करके कहा गया है, "तेरे चक्षु सूर्य को प्राप्त हों; तेरा प्राण वायु को प्राप्त हो, इत्यादि।" वहां भी यही प्रयास दिखाई देता है जहां व्यक्ति के एक महत्त्वपूर्ण अंश, प्राण, को सार्विकीकरण के द्वारा विश्व-प्राण बनाकर जगत् को जीवित रखनेवाले तत्त्व के रूप में दिखाया गया है। व्यक्ति और विश्व के

1. ऋग्वेद, 10.16.

आनुरूप्य की यह धारणा उत्तरवर्ती वैदिक युग के सम्पूर्ण साहित्य में अनुस्यूत है और उपनिषदों में भी पाई जाती है।[1] सम्पूर्ण जगत् को एक विराट् पुरुष के रूप में देखने की प्रवृत्ति का स्वभावतः आत्मा की धारणा पर प्रभाव पड़ा और इससे एक आन्तरिक तत्त्व एक विश्व-तत्त्व के रूप में परिणत हो गया। आत्मा, जो कि मनुष्य का हृदयस्थ सत्य है, जगत् का हृदयस्थ सत्य बन गया। जब विश्व के बारे में एक बार यह धारणा बन गई, तब उसका आत्मा ही एकमात्र आत्मा रह गया और अन्य आत्मा किसी रूप में उससे अभिन्न मान लिये गए।

यद्यपि इस प्रक्रिया से आत्मा की एकता प्राप्त हो जाती है, तथापि यह हमें सम्पूर्ण सत्ता की एकता तक नहीं पहुँचा पाती, क्योंकि व्यक्ति के अन्दर का आत्मा अनात्मा, जैसे देह, से अलग है और इसी प्रकार विश्व के आत्मा को भी उसके भौतिक शरीर, जड़ जगत्, से अलग होना चाहिए। यहाँ तक जिस चिन्तन-प्रक्रिया की हमने रूपरेखा बताई है उसके साथ-साथ उसके पूरक के रूप में एक अन्य चिन्तन-प्रक्रिया भी चलती रही। इसने दृश्य जगत् का एक मूल स्रोत मालूम किया, जिसे ब्रह्म कहा गया। यहाँ प्रणाली वस्तुनिष्ठ रही, क्योंकि यह उस चिन्तन-प्रक्रिया की तरह, जिसका लक्ष्य आत्मा था, अन्दर की ओर देखकर नहीं बल्कि बाह्य जगत् का विश्लेषण करके आगे बढ़ी। भारतीय चिन्तन-प्रक्रिया की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार ही इस दिशा में भी क्रमशः अनेक धारणाएँ विकसित हुईं,[2] जिनमें से प्रत्येक ने जगत् की अपनी पूर्ववर्ती धारणा की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक व्याख्या की, और सबसे अन्त में ब्रह्म की धारणा विकसित हुई। चिन्तन के क्रम-विकास की एक अवस्था में विश्व के मूल स्रोत, ब्रह्म, का व्यक्ति के अन्दर की सारभूत वस्तु, आत्मा, से अभेद कर दिया गया। इस प्रकार विचार की दो स्वतन्त्र धाराएँ, जिनमें से एक मनुष्य के सच्चे स्वरूप को समझने की इच्छा का फल थी और दूसरी बाह्य जगत् के सच्चे स्वरूप को समझने की इच्छा का फल थी, एक में मिल गईं और इसके फलस्वरूप तुरन्त उस एकता की खोज कर ली गई जिसकी जिज्ञासा दीर्घकाल से बनी हुई थी। भौतिक जगत्, जो कि आत्मा के सिद्धान्त के अनुसार अनात्मा-मात्र है, अब आत्मा में परिणत हो जाता है। इस प्रकार की दो बाह्य रूप में भिन्न किन्तु आन्तरिक रूप में समान धारणाओं का एक में मिल जाना उपनिषदों की शिक्षा की मुख्य बात है, जो 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों या 'ब्रह्म = आत्मा', इस समीकरण में व्यक्त होती है। व्यक्ति और जगत् दोनों एक ही तत्त्व की

1. देखिए, ऐतरेय उपनिषद् 1.
2. देखिए, तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.

अभिव्यक्तियाँ है और इसलिए दोनों मूलत: एक हैं। दूसरे शब्दों में, प्रकृति और मानव के बीच अथवा इन दोनों और ईश्वर के बीच कोई व्यवधान नहीं है।

दो भिन्न धारणाओं का यह मेल तत्त्व का एक होना तो बताता ही है; साथ ही इसमें एक महत्त्वपूर्ण बात भी गर्भित है। ब्रह्म की धारणा वस्तुपरक है और इसलिए अधिक-से-अधिक केवल किसी कल्पित वस्तु का ही निर्देश कर सकती है—उसमें निश्चयात्मकता का होना अनिवार्य नहीं है। इसी कारण वह वस्तु अचित्स्वरूप भी मानी जा सकती है। दूसरी ओर, आत्मा की धारणा इनमें से किसी भी दोष से युक्त नहीं है; परन्तु यदि साधारण अर्थ में देखा जाए तो आत्मा परिच्छिन्न है और सम्पूर्ण सत्ता का प्रतिरूप नहीं हो सकता। विश्वात्मा के रूप में भी वह जड़ प्रकृति से पृथक् बना रहता है और इसलिए उसके द्वारा परिच्छिन्न है। किन्तु जब ब्रह्म और आत्मा की ये दो धारणाएँ एक हो जाती हैं, तब द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से एक तीसरी धारणा प्राप्त होती है, जिसमें इन दो अलग-अलग धारणाओं के दोष नहीं रहते। तब परम तत्त्व आत्मा की तरह चित्स्वरूप हो जाता है और साथ ही उसके विपरीत अपरिच्छिन्न भी। उसका अस्तित्व भी असन्दिग्ध हो जाता है, क्योंकि उसे हमारे अपरोक्षत: ज्ञात आत्मा से मूलत: एक माना जाता है। जब तक हम परम तत्त्व को अपने से भिन्न रूप में देखते हैं—मात्र ब्रह्म के रूप में देखते हैं—तब तक वह न्यूनाधिक रूप से एक कल्पना, एक विश्वास की वस्तु बना रहता है। किन्तु ज्योंही हम उसे अपने आत्मा से अभिन्न समझ लेते हैं, त्योंही वह एक बिलकुल निश्चित चीज बन जाता है, क्योंकि अन्त:प्रज्ञा के आधार पर हमें स्वयं अपने अस्तित्व की सचाई को मानना ही पड़ता है, भले ही हम उसके ठीक स्वरूप के बारे में कितने ही अज्ञान में हों। इसी उच्चतर सत्ता को 'सत्यं ज्ञानं अनंतम्'[1] कहा गया है। इस वर्णन में 'सत्यं' उस सत्ता की अपरोक्ष निश्चयात्मकता का, 'ज्ञान' उसकी चिदात्मक प्रकृति का और 'अनंतम्' उसके सर्वग्राही या अपरिच्छिन्न स्वरूप का बोध कराता है। यही उपनिषदों का परम सत्य है, जो न एक अर्थ में ब्रह्म है, न एक अर्थ में आत्मा, बल्कि दूसरे अर्थ में दोनों ही है। वह स्वयं को मानवीय आत्मा के रूप में अधिक अच्छी तरह व्यक्त करता है, यद्यपि पूरी तरह से उसमें भी व्यक्त नहीं करता, और बाह्य जगत् के रूप में कम अच्छी तरह व्यक्त करता है। बाह्य जगत् तो उसके स्वरूप को और अधिक ढक देता है, क्योंकि उसमें वह मात्र जड़ द्रव्य के रूप में दिखाई देता है।[2]

1. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1.
2. देखिए, ऐतरेय आरण्यक, 2.3.2.

भारतीय विचारधारा के पूरे इतिहास में इस सिद्धान्त की घोषणा से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। इससे उस दृष्टिकोण में क्रान्ति-सी आ गई, जिसके अनुसार चिन्तन अब तक आगे बढ़ रहा था। इस परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए नीचे का दृष्टान्त शायद उपयोगी होगा। मान लीजिए कि शुक्र का कुछ लोग केवल पूर्व में ही उदय होना जानते हैं, और कुछ लोग केवल पश्चिम में ही उदय होना, तथा पहले लोग जिस ग्रह को देखते हैं उसे दूसरे लोगों को देखे हुए ग्रह से पृथक् मानते हैं और इसी तरह दूसरे लोग भी। अब मान लीजिए कि कोई यह खोज कर देता है कि दोनों ग्रह एक हैं तथा जो पूर्व में दिखाई देता है वही पश्चिम में दिखाई देता है। तब शुक्र के स्वरूप के बारे में जो मत-परिवर्तन होगा वह वैसा ही होगा जैसा यहाँ हुआ है। इस परिवर्तन के बाद ही भारत में एकता की सच्ची धारणा प्राप्त हो सकी।[1]

यह सब छांदोग्य उपनिषद् के एक प्रसिद्ध अध्याय में अत्यन्त सुन्दर रूप में बताया गया है।[2] यह अध्याय एक पिता और पुत्र के संवाद के रूप में है। पिता का नाम उद्दालक है और पुत्र का नाम श्वेतकेतु। श्वेतकेतु अपने गुरु के पास से अपनी सामान्य शिक्षा को समाप्त करने के पश्चात् अभी-अभी लौटा है। उसका पिता उसमें विनय का अभाव देखता है और उसे आशंका होती है कि शायद वह अपने गुरु से जीवन का सच्चा अर्थ सीखकर नहीं आया। पूछताछ से उसका यह अनुमान पुष्ट होता है और इसलिए वह स्वयं ही अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिए उद्यत होता है। जैसा कि इन प्रारम्भिक बातों से स्पष्ट है, वह जो शिक्षा देता है उसका उच्चतम मूल्य होना चाहिए। उद्दालक इस प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करता है कि एक परम सत्य है, जो चिद्रूप है, क्योंकि श्रुति में उसके सोचने ('ऐक्षत') की बात कही गई है, और जिसे वह 'सत्' कहता है। इसके पश्चात् विस्तार में बताया गया है कि सम्पूर्ण जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। "पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा: 'मैं अनेक हो जाऊँ'।" फिर उसका नाना रूप ग्रहण करना बताया गया है—

1. यह संश्लिष्ट धारणा उपनिषदों से पहले के साहित्य में बिलकुल अज्ञात रही हो, ऐसी बात नहीं है (देखिए, अथर्ववेद, 10.8.44)। किन्तु वहाँ इसका रूप बहुत धुँधला है और इसलिए इसे औपनिषदिक धारणा ही कहना उचित होगा। इस सम्बन्ध में डॉयसन (System of the Vedanta, p. 18) का यह कथन ध्यान देने योग्य है: "दार्शनिक प्रकाश की चिनगारियाँ ऋग्वेद में प्रकट होती हैं और उत्तरोत्तर अधिक दीप्ति के साथ चमकती हुई अन्त में उपनिषदों में पहुँचकर जिस तीव्र ज्योति के रूप में भड़क उठती हैं वह आज हमें प्रकाश और ताप देने में समर्थ है।"
2. छांदोग्य उपनिषद्, 6.

पहले तेजस्, अप् और पृथिवी, इन तीन महाभूतों की सृष्टि हुई और तब अन्न और फिर अडज, जीवज तथा उद्भिज्ज जीवों की सृष्टि हुई, जिनमें मानव-देह भी शामिल है। इससे यह प्रकट किया गया है कि आरम्भ मे जिस चिद्रूप सत्ता की प्रतिज्ञा की गई है वह सर्वग्राही है और जो कुछ अस्तित्व रखता है वह सब उससे ही उत्पन्न हुआ है। फिर 'एकाएक नाटकीय क्षिप्रता के साथ' आद्य सद् का श्वेतकेतु के आत्मा मे अभेद स्थापित किया गया है: तत् त्वं असि, श्वेतकेतो। इस अभेद-स्थापन का उद्देश्य स्पष्टतः श्वेतकेतु के मन में जगत् के प्रतिज्ञात मूल कारण की असन्दिग्ध सत्यता का विश्वास बैठा देना है। उद्दालक ने पहले सत् और उसके रूपान्तरण का जो वर्णन किया, वह चाहे जितना भव्य रहा हो, फिर भी वस्तुनिष्ठ है और इसलिए उसमें एक आवश्यक बात, निश्चयात्मकता, का अभाव है। वह केवल मान लेने की बात है। उद्दालक उसे एक प्राक्कल्पना के रूप में सामने रखता है और यद्यपि स्वयं उद्दालक के लिए, जो सत्य को प्राप्त कर चुका है, वह असन्दिग्ध है, तथापि श्वेतकेतु के लिए तो वह एक सम्भावना से अधिक कुछ नहीं है। किन्तु जगत् का यह सम्भावित कारण उसके लिए भी उस क्षण एक असंदिग्ध सत्य बन जाता है जब उसे ज्ञात हो जाता है कि वह स्वय उसके आत्मा से अभिन्न है—उस आत्मा से जिसकी सत्यता का उसे बिना सिखाये ही ज्ञान है। निश्चय ही, इस उपदेश से श्वेतकेतु का अपने आत्मा के प्रति दृष्टिकोण भी परिवर्तित हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि वह अपने व्यक्तिगत आत्मा को जगत् का कारण नहीं मान सकता, बल्कि विश्वात्मा को ही मान सकता है, जो उसमें व्याप्त है। यह सत्य है कि जगत् की उत्पत्ति एक से हुई है और वह एक श्वेतकेतु का आत्मा है; पर जगत् की व्याख्या उसके व्यक्तिगत आत्मा से नहीं हो सकती, बल्कि उससे हो सकती है जो उसका आत्मा तो है लेकिन साथ ही सत् या विश्वात्मा से अभिन्न भी है। "मैं जीवित हूँ; फिर भी मैं नहीं बल्कि ईश्वर मेरे अन्दर जीवित है।"

जब हम इस प्रत्ययवादी एकवाद पर विस्तार से विचार करते हैं, तब हम देखते हैं कि इसके दो रूप हैं, जिनके बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। कुछ स्थलों मे ब्रह्म को सप्रपंच (सर्वग्राही) बताया गया है और कुछ स्थलों में निष्प्रपंच (सर्वाग्राही)। उपनिषदों में दोनों ही रूपों का वर्णन करने वाले अनेक स्थल और कहीं-कहीं तो पूरे-के-पूरे खण्ड हैं। इनकी प्रकृति को बताने के लिए हम प्रत्येक से सम्बन्धित एक-एक स्थल लेंगे :

(1) सप्रपंच ब्रह्म—इसके प्रसिद्ध वर्णनों में से एक छान्दोग्य उपनिषद्[1]

1. 3.14.

के 'शाण्डिल्य-विद्या' नामक खण्ड में पाया जाता है। ब्रह्म की 'तज्जलान्', यह गूढ़ परिभाषा देने के पश्चात्—अर्थात् वह (तत्) जो जगत् को जन्म देता है (ज), उसे अपने में लीन (लि) करता है और धारण (अन्) करता है—आगे इस खण्ड में ब्रह्म को "सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापक, अवाकी और अनादर (शान्त)" कहा गया है। इसके बाद उसका आत्मा से अभेद दिखाया गया है: "यह मेरे हृदय के भीतर रहने वाला आत्मा है, जो व्रीहि (चावल), यव (जौ), सर्षप (सरसों), श्यामाक (जुआर), या श्यामाक-तंडुल (जुआर के बीज के सारभाग) से भी छोटा है; यह मेरे हृदय के भीतर रहने वाला आत्मा है, जो पृथ्वी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, द्यौ से बड़ा है, इन सब लोकों से बड़ा है। यह ब्रह्म है। मरने के बाद मैं यह हो जाऊँ।"

(2) निष्प्रपंच ब्रह्म—इसके सम्बन्ध में हम दूसरे उपनिषद्[1] का एक अंश चुनेंगे: इसमें गार्गी नामक एक विदुषी उपनिषद्-युग के सबसे बड़े विचारक और शायद विश्व के प्रथम प्रत्ययवादी, याज्ञवल्क्य, को विश्व का आधार बताने के लिए कहती है। याज्ञवल्क्य क्रमशः विश्व के उपान्त्य कारण तक पहुँचकर कहता है कि वह आधार आकाश है। जब गार्गी आकाश का भी आधार बताने को कहती है, तब याज्ञवल्क्य एक तत्त्व का उल्लेख करता है और उसका वर्णन निषेधात्मक शब्दों में करता है, जिसका मतलब यह है कि परम तत्त्व मानवीय अनुभव की पहुँच के परे है। निषेधात्मक वर्णन इस प्रकार है: "हे गार्गी, यह वह अक्षर (नाश न होने वाला) है जिसकी ज्ञानी लोग उपासना करते हैं—वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, लाल नहीं है, चिपचिपा नहीं है, छायाशून्य है, अन्धकारशून्य है, वायुशून्य है, आकाशशून्य है, असंग है, रसहीन है, गन्धहीन है, चक्षुहीन है, श्रोत्रहीन है, वाणी से हीन है, मन से हीन है, प्रकाश से हीन है, प्राण से हीन है, मुखहीन है, गात्रहीन है, और अन्दर-बाहर से हीन है। वह कुछ नहीं खाता है और न कोई उसे खाता है।" इस वर्णन से कोई यह न समझे कि वह 'असत् मात्र' है, इसलिए याज्ञवल्क्य इसके तुरन्त बाद कहता है कि जो कुछ भी सत् है उसकी सत्ता इस लोकातीत सत्य से ही है। इससे यह प्रकट होता है कि यदि ब्रह्म नितान्त शून्य या असत् होता, तो उससे प्रपंचात्मक जगत् का उद्भव न हुआ होता।

इस द्विविध उपदेश का उपनिषत्पूर्व परम्परा में आधार ढूँढना कठिन नहीं है। प्रथम अर्थात् सप्रपंच ब्रह्म का सिद्धान्त 'नासदीय सक्त' के सिद्धान्त से सादृश्य रखता है। अन्तर केवल यह है कि इस सूक्त में तो 'तदेकं' कहकर

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.8

प्राधान्य होता है ।[1] स्थूल भूत वे हैं जो हम प्रकृति में देखते हैं और असल मे पृथिवी, अप् इत्यादि उन्हीं के नाम है। सूक्ष्म भूतों के नाम पृथ्वीमात्र, आपोमात्र इत्यादि हैं ।[2] सजीव पिण्डों के तीन वर्ग बताये गए हैं : अण्डज (अंडे से उत्पन्न), जीवज (जीवाणु से उत्पन्न), और उद्‌भिज्ज (भूमि से उत्पन्न) ।[3] बाद में इनमें स्वेदज (पसीने से उत्पन्न) को मिलाकर चार वर्ग बना लिये गए ।[4] जब सजीव पिंड नष्ट होते हैं तब वे पांच स्थूल भूतो मे मिल जाते हैं, जिनसे उनकी ही तरह के अन्य पिंडो का निर्माण हो सकता है। उनका मूल सूक्ष्म भूतों में लय तब तक नहीं होता जब तक सम्पूर्ण विश्व के प्रलय की अवस्था नही आ जाती। प्रलय के समय के बारे मे कुछ अस्पष्टता है। अधिक पुराने साहित्य की तरह उपनिषदों में भी कल्प, अर्थात् सृष्टि और प्रलय के शाश्वत क्रम, का सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में नही बताया गया है। लेकिन इसके लिए अधिक प्रतीक्षा भी नही करनी पड़ती। श्वेताश्वतर उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में सबसे बादवालो मे से एक है और प्राचीन विचारधारा का इतिहास ढूंढने मे सहायक सुझावो से भरपूर है। उसमें कल्प-सिद्धान्त की ओर एक से अधिक स्थानो मे संकेत हुआ है। वहाँ कहा गया है कि परमात्मा ने "अन्तकाल में क्रुद्ध होकर सारे भुवनों को अपने में समेट लिया" और वह इस क्रिया को बार-बार करता है ।[5] यह सिद्धान्त कर्मसिद्धान्त से, जिसकी चर्चा हम एक [illegible]नी अनुच्छेद में करेंगे, घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

: 2 :

[illegible]तीय दर्शन मे 'मनोविज्ञान' वास्तव में आत्मविज्ञान है, क्योंकि उसके [illegible] एक या दो अपवादों को छोड़कर, इस मान्यता पर आधारित हैं कि [illegible] अस्तित्व है। यह शास्त्र भारत मे कभी दर्शन से अलग नही हुआ [illegible] दर्शन का अपना अलग ही मनोविज्ञान है। निस्सन्देह यहाँ [illegible]नों मे कुछ सिद्धान्त समान हैं; फिर भी प्रत्येक की अपनी

[illegible] सूक्ष्म भूतों से स्थूल भूतों की उत्पत्ति की प्रक्रिया (त्रिवृत्करण) केवल [illegible] में ही समझाई गई है (देखिए छान्दोग्य, 6.2-3-4)। बाद में [illegible] पांच भूतों पर लागू कर दिया गया (पञ्चीकरण)। देखिए [illegible]

आद्य तत्त्व को वस्तुनिष्ठ रूप में कल्पित किया गया है, जबकि यहाँ उसे इस रूप में नहीं बल्कि ब्रह्मन्-आत्मन् के उस संयुक्त रूप में कल्पित किया गया है जिसे हम इस अनुच्छेद के प्रारम्भ में समझा चुके हैं। द्वितीय अर्थात् निष्प्रपंच ब्रह्म का जहाँ तक सम्बन्ध है, हम पहले ही उत्तरकालीन मन्त्रों और ब्राह्मणों में सर्वेश्वरवादी प्रवृत्ति की प्रधानता की ओर ध्यान आकर्षित कर चुके हैं और कह चुके हैं कि इसमें कुछ असंगति है, *क्योंकि यह एकत्व को अपना लक्ष्य बनाने* के बावजूद ईश्वर और प्रकृति की द्वैध धारणा से चिपकी रहती है। सच्चे एकत्व में पहुँचने के लिए इन दोनों में केवल एक को ही ग्रहण करना पड़ेगा। यदि हम प्रकृति की धारणा को ग्रहण करते हैं, तो ईश्वर जगत् से पृथक् नहीं रह जाएगा। सर्वेश्वरवादी प्रवृत्ति का यह परिणाम, अर्थात् स्वयं जगत् की एकता को ही ब्रह्म के रूप में देखना, उपनिषदों में बहुत अधिक नहीं दिखाई देता। शायद इसका कारण यह है कि इसका झुकाव प्रकृतिवाद की ओर है और प्रकृतिवाद यद्यपि उपनिषदों के लिए नितान्त अज्ञात नहीं है, तथापि उनके मुख्य तात्पर्य से बहुत दूर हटा हुआ है।[1] दूसरी ओर, यदि प्रकृति की धारणा की अपेक्षा ईश्वर की धारणा को ग्रहण किया जाता है, तो साधारण अनुभव के जगत् और उसकी सारी विविधताओं का ईश्वर से अलग कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। ठीक यही निष्प्रपंच ब्रह्म की धारणा है; अन्तर केवल इतना है कि ईश्वर की धार्मिक धारणा के स्थान पर यहाँ ब्रह्म की दार्शनिक धारणा है।

इन दो धारणाओं की आपेक्षिक स्थिति और महत्ता का निर्णय करना उपनिषदों से जुड़ी हुई कठिनतम समस्याओं में से एक है और विचारकों का ध्यान बहुत लम्बे समय तक इसमें लगा रहा। शंकर के अनुसार, बादरायण ने वेदान्त-सूत्र[2] में इस समस्या पर विचार किया है; और यह असम्भाव्य नहीं है कि किसी समय स्वयं उपनिषदों के मुनियों का ही ध्यान इस समस्या को सुलझाने में लगा रहा हो।[3] यहाँ जो दो सिद्धान्त बताये गए हैं उनके बारे में शंकर का यह मत है कि वे वस्तुत. एक ही है और उनमें जो वैषम्य दिखाई देता है वह उन दृष्टिकोणों के कारण है जिनसे ब्रह्म को देखा जाता है—व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर ब्रह्म सप्रपंच है और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर वह निष्प्रपंच है। इस मत की पुष्टि इन धारणाओं के एक ही स्थल में साथ-साथ पाए जाने से भी होती है, जैसे मुण्डक उपनिषद[4] में, जहाँ कहा गया है:

1. इसका एक उदाहरण हम छान्दोग्य उपनिषद्, *5. 11—18* में पाते हैं।
2. 3.2.11 इत्यादि।
3. जैसे देखिए, प्रश्न उपनिषद्, *1.1; 5.2.*
4. 1.1.6

"जो अद्रेश्य (अदृश्य), अग्राह्य, अगोत्र (अनामा), अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद है, वह नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, अव्यय (अविनाशी) और ज्ञानियों के द्वारा भूतयोनि (भूतों का कारण) के रूप में जाना हुआ है।"

अतः सप्रपंच ब्रह्म की धारणा को निषेधात्मक अर्थ में समझना चाहिए—इस अर्थ में कि विश्व ब्रह्म के बाहर नहीं है, और निष्प्रपंच ब्रह्म की धारणा को विधानात्मक अर्थ में—इस अर्थ मे कि ब्रह्म विश्व से बड़ा है। ब्रह्म से पृथक् विश्व का अस्तित्व नहीं है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह मिथ्या है, क्योंकि ब्रह्म उसका आधार जो है। फिर ब्रह्म भी असत् नहीं है, क्योंकि उसी से विश्व की व्याख्या होती है, हालांकि वह विश्व के तुल्य भी नहीं है और उससे निःशेष भी नही होता। पहली धारणा ब्रह्म के अन्तर्यामित्व पर बल देती है और दूसरी धारणा उसके अतीतत्व पर। इस प्रकार औपनिषदिक सिद्धान्त यह होगा कि ब्रह्म अन्तर्यामी और अतीत दोनों ही है। अथवा शायद ऊपर ब्रह्म और आत्मा की धारणाओं के संश्लेषण की जो बात कही गई थी, उसके परिणाम को समझने में भिन्नता पैदा हुई, जिसके फलस्वरूप दो भिन्न मत सामने आए। उपनिषदों का ब्रह्म, जो इस सश्लेषण का परिणाम है, कोई बाहरी चीज नहीं है, जैसा कि हम देख चुके है; न वह साधारण रूप में ज्ञात आत्मा ही है। लेकिन वह इन दोनों से असम्बन्धित भी नहीं है। ऐसे ब्रह्म को दोनों ही समझा जा सकता है। यह सप्रपंच ब्रह्म होगा। इस धारणा के अनुसार अनुभव की विविध वस्तुओं का ब्रह्म के अन्दर वस्तुतः स्थान है। वे वास्तव में उससे उत्पन्न होती हैं और फिर उसी मे लीन हो जाती हैं। यह ब्रह्मपरिणामवाद अर्थात् यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म क्रमशः जगत् के रूप मे परिवर्तित होता है। अथवा, ब्रह्म को आत्मा और अनात्मा दोनों का आधार-मात्र माना जा सकता है। यह निष्प्रपंच की धारणा होगी। इसके अनुसार साधारण अनुभव की वस्तुओं को आभास मात्र मानना होगा और ब्रह्म को सत्य। यह ब्रह्मविवर्तवाद[1] अर्थात् यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म जगत् के रूप में परिवर्तित नहीं होता बल्कि उस रूप में आभासित मात्र होता है। सचाई जो भी हो, इस भेद ने काफी वादविवाद पैदा किया है। वेदान्त-दर्शन पर विचार करते समय हमें इस प्रश्न पर विचार करना होगा। फ़िलहाल हम यह मानते हुए आगे बढ़ेंगे कि यद्यपि प्रत्ययवादी एकवाद उपनिषदों का प्रधान सिद्धान्त है, तथापि यह उनमें दो रूपों में, जो परस्पर कुछ भिन्न हैं, पाया जाता है।

1. 'ब्रह्मपरिणामवाद' और 'ब्रह्मविवर्तवाद' उत्तरकालीन वेदान्त-दर्शन में प्रयुक्त हुए हैं। देखिए अध्याय 13।

इनमें से जो दूसरा रूप है उसमें माया की धारणा अनिवार्यत: आ जाती है, जिसे निष्प्रपंच ब्रह्म को सप्रपंच रूप में दिखानेवाला तत्त्व समझा जाता है। अत: कुछ लोगों का यह मत कि मायावाद उपनिषदों में नहीं है, सही नहीं है। यह वहाँ है तो अवश्य, किन्तु स्वभावत: इसमें वहाँ वे विभिन्न विशेषताएँ नहीं दिखाई देती हैं जो बाद में होनेवाले विस्तार और विकास के फलस्वरूप शंकर के अद्वैत में इसमें जुड़ गई थी। यह भी सही है कि 'माया' शब्द का अधिक पुराने उपनिषदों में बहुत ही कम प्रयोग हुआ है; लेकिन यह उनसे भी पुराने साहित्य में पाया जाता है, हालांकि वहाँ इसका अर्थ सर्वत्र स्पष्ट नहीं है, और उन उपनिषदों में भी यह पाया जाता है जो बहुत बाद के नहीं है।[1] सबसे पुराने उपनिषदों में भी, जहाँ 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, हम इसके समानार्थक 'अविद्या'[2] शब्द का प्रयोग देखते हैं। उनमें इस तरह के कथन भी है जैसे, "जहाँ द्वैत-जैसा (इव) हो वहाँ इतर इतर को देखता है।"[3] यह कथन स्पष्टत: उपनिषदों में इस विचार के अस्तित्व की ओर संकेत करता है कि जगत् आभासिक है। डॉयसन-जैसे विद्वान् भी इस बात को मानते हैं।[4]

उपनिषद् इनमें से जिस रूप में भी ब्रह्म को प्रस्तुत करें, वे हमारे अनुभव के जगत् [illegible]ाली साधारण वस्तुओं को 'नाम-रूप' मात्र बताते हुए उन्हें ब्रह्म से भिन्न मानते हैं। वहाँ 'रूप' से तात्पर्य है वस्तु की विशिष्ट आकृति या प्रकृति, और 'नाम' से तात्पर्य है वस्तु के लिए प्रयुक्त शब्द या उसकी संज्ञा। दोनों का जब किसी वस्तु के लिए संयुक्त रूप में प्रयोग होता है तब उसका विशेषत्व या परिच्छिन्नत्व अभिप्रेत होता है; और जगत् की ब्रह्म से उत्पत्ति को नामों और रूपों के विभेदन के रूप में समझा जाता है। चाहे हम इन विशेष वस्तुओं को ब्रह्म के परिणाम मानें, चाहे उसके आभास मात्र, उनकी ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं है और उपनिषदों के एकवाद के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। इस एकवाद में 'नाम' की आवश्यकता को खोज पाना आसान नहीं है, क्योंकि विशेषीकरण के लिए 'रूप' अकेला पर्याप्त लगता है। शायद उस समय यह विश्वास प्रचलित रहा होगा कि वस्तुओं के जगत् के अनुरूप

1. देखिए, श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.10।
2. कठोपनिषद्, 1.2.5।
3. बृहदारण्यक, 4.5.15।
4. Philosophy of the Upanisads, p. 228 इत्यादि; Macdonell: India's Past, p. 47 भी द्रष्टव्य है।

एक शब्द-जगत् का भी अस्तित्व है और 'नाम' का सम्बन्ध इसी विश्वास से होगा। अथवा 'नाम' का सम्बन्ध शायद व्यावहारिक जीवन में वस्तुओं के साथ-साथ नामों की जो आवश्यकता सामान्यत. अनुभव की जाती है, उससे होगा।[1] कहीं-कहीं अनुभव की वस्तुओं के वर्णन में अधिक पूर्णता लाने के लिए एक तीसरे शब्द 'कर्म' (गति) का भी प्रयोग किया गया है।[2] इस तरह गतिशीलता की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है, जो कि अनुभव के जगत् का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

ब्रह्म से उत्पन्न नामरूपात्मक वस्तुओं के विस्तार में जाने से पहले निर्जीव और सजीव का भेद जान लेना चाहिए। सजीव वस्तुएँ वे हैं जिनमें जीव निवास करते हैं और निर्जीव वे हैं जिनमें जीव निवास नहीं करते। "निर्जीव वस्तुओं को ब्रह्म ने एक रंगभूमि के रूप में बनाया है जिसमें जीवों को अपनी-अपनी भूमिकाएँ खेलनी हैं।" निर्जीव या जड़ जगत् में उपनिषद् इन पाँच भूतों का अस्तित्व मानते हैं: पृथिवी, अप्, तेजस, वायु और आकाश। शुरू में पूरे पाँच भूत नहीं माने गए थे। शायद पहले एकमात्र भूत, अप्, ही माना गया था। विकास की अगली अवस्था में पृथिवी, अप् और तेजस्, ये तीन भूत माने गए, जैसे कि छान्दोग्य उपनिषद् में, जहाँ इनका विलोम क्रम में ब्रह्म से उत्पन्न होना कहा गया है। ये मोटे तौर से जड़ जगत् के क्रमशः ठोस, तरल और वायव्य अंशों से सम्बन्धित हैं। इस विचारधारा के विकास की अन्तिम अवस्था में तथाकथित भूतों की संख्या वायु और आकाश को जोड़कर पाँच हो गई[3], और इस संख्या को भारत के बाद के प्रायः सभी दार्शनिकों ने अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इस वर्गीकरण का यह अन्तिम रूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों से जुड़ा हुआ है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं और ये क्रमशः पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश के विशेष गुण हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि ये सूक्ष्म भूत हैं। इनसे स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रत्येक में अन्य चार भूत भी मिले होते हैं, किन्तु उसका नाम उस भूत के अनुसार होता है जिसका इस मिश्रण में

---

1. देखिए A. B. Keith : Buddhist Philosophy, पृ० 101, जहाँ इसका सम्बन्ध एक आदिम युग से जोड़ा गया है, जब नाम को 'व्यक्ति की स्वकीय वस्तु और उसका अंग' समझा जाता था।
2. बृहदारण्यक, 1.6.1।
3. तैत्तिरीय, 2.1।

प्राधान्य होता है।[1] स्थूल भूत वे हैं जो हम प्रकृति में देखते हैं और असल में पृथिवी, अप् इत्यादि उन्हीं के नाम हैं। सूक्ष्म भूतों के नाम पृथ्वीमात्र, आपोमात्र इत्यादि हैं।[2] सजीव पिण्डों के तीन वर्ग बताये गए हैं : अण्डज (अंडे से उत्पन्न), जीवज (जीवाणु से उत्पन्न), और उद्भिज्ज (भूमि से उत्पन्न)।[3] बाद में इनमें स्वेदज (पसीने से उत्पन्न) को मिलाकर चार वर्ग बना लिये गए।[4] जब सजीव पिंड नष्ट होते हैं तब वे पाँच स्थूल भूतों में मिल जाते हैं, जिनसे उनकी ही तरह के अन्य पिंडों का निर्माण हो सकता है। उनका मूल सूक्ष्म भूतों में लय तब तक नहीं होता जब तक सम्पूर्ण विश्व के प्रलय की अवस्था नहीं आ जाती। प्रलय के समय के बारे में कुछ अस्पष्टता है। अधिक पुराने साहित्य की तरह उपनिषदों में भी कल्प, अर्थात् सृष्टि और प्रलय के शाश्वत क्रम, का सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों मे नहीं बताया गया है। लेकिन इसके लिए अधिक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती। श्वेताश्वतर उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों मे सबसे बादवालों मे से एक है और प्राचीन विचारधारा का इतिहास ढूंढने मे सहायक सुझावों से भरपूर है। उसमे कल्प-सिद्धान्त की ओर एक से अधिक स्थानों में संकेत हुआ है। वहाँ कहा गया है कि परमात्मा ने "अन्त-काल मे क्रुद्ध होकर सारे भुवनों को अपने मे समेट लिया" और वह इस क्रिया को बार-बार करता है।[5] यह सिद्धान्त कर्मसिद्धान्त से, जिसकी चर्चा हम एक आगामी अनुच्छेद मे करेंगे, घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

: 2 :

भारतीय दर्शन में 'मनोविज्ञान' वास्तव में आत्मविज्ञान है, क्योंकि उसके सिद्धान्त, एक या दो अपवादों को छोड़कर, इस मान्यता पर आधारित हैं कि आत्मा का अस्तित्व है। यह शास्त्र भारत में कभी दर्शन से अलग नहीं हुआ और इसलिए प्रत्येक दर्शन का अपना अलग ही मनोविज्ञान है। निस्सन्देह यहाँ के विभिन्न मनोविज्ञानों में कुछ सिद्धान्त समान हैं; फिर भी प्रत्येक की अपनी

1. उपनिषदों में सूक्ष्म भूतों से स्थूल भूतों की उत्पत्ति की प्रक्रिया (त्रिवृत्करण) केवल तीन भूतों के प्रसंग में ही समझाई गई है (देखिए छान्दोग्य, 6.2-3-4)। बाद मे वेदान्त में इस प्रक्रिया को पाँच भूतों पर लागू कर दिया गया (पञ्चीकरण)। देखिए वेदान्तसूत्र, 2.4.22।
2. प्रश्नोपनिषद् 4.8।
3. छान्दोग्य, 6.3.1।
4. ऐतरेय उपनिषद्, 5.3।
5. 3.2; 5.3।

अलग विशेषताएँ हैं और जो मनोविज्ञान जिस दर्शन से सम्बद्ध है उसकी विशेषताएँ उस दर्शन के सिद्धान्तों के अनुकूल ही हैं। उपनिषदों के ऋषियों की दृष्टि में आत्मा का अस्तित्व सम्पूर्ण अनुभव का आधारभूत तत्त्व है। वह सारे प्रमाणों का आधार है और इसलिए स्वयं अपने लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। "जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है उसे कोई किसके द्वारा जानेगा ? ज्ञाता का ज्ञान किस प्रमाण से हो सकेगा ?"[1] यद्यपि इस कारण से उपनिषद् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई सीधा प्रमाण देने का प्रयत्न नहीं करते, तथापि उनमें इस विषय में अनेक सुझाव पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, आत्मा या जीव को प्रायः पुरुष कहा गया है और 'पुरुष' का अर्थ 'पुरि-शय', यानी 'शरीर-रूपी दुर्ग में रहनेवाला' बताया गया है। इसका मतलब यह है कि अनेक होते हुए भी सहयोग से काम करनेवाले अवयवों से युक्त शरीर का अस्तित्व किसी ऐसी अज्ञात वस्तु के अस्तित्व का सूचक है जिसके प्रयोजन को वह पूरा करता है। वही अज्ञात वस्तु, जिससे पृथक् होने पर यह शरीर-रूपी यन्त्र व्यर्थ हो जाएगा[2], आत्मा है। एक अन्य सुझाव भी कहीं-कहीं मिलता है, जो कर्म-सिद्धान्त पर आधारित है। एक जीवन की अल्प अवधि में यह सम्भव नहीं है कि हम अपने सारे कर्मों का फल भोग लें। और यदि हम केवल वर्तमान जीवन की ही बात सोचें, तो उस सारे शुभ-अशुभ का, जो हमे यहाँ भोगना पड़ता है, पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इस प्रकार, क्योंकि जीवन के सारे अनुभूत तथ्यों को एक ही जन्म के आधार पर पर्याप्त रूप से नहीं समझा जा सकता, इसलिए, यदि नैतिक प्रतिफल में सामान्य विश्वास किसी दृढ़ आधार पर खड़ा हो, तो हमे एक पुनः-पुनः जन्म लेनेवाले आत्मा को मानना पड़ेगा। तब उसकी वर्तमान अवस्था में जो कुछ समझ में न आनेवाली बात है, उसका स्पष्टीकरण हमें उसके पिछले जन्मों के कर्मों में मिलेगा तथा इस जन्म में जो कुछ अन्याय हमें दिखाई पड़ता है उसकी प्रतिपूर्ति हमें मृत्यु के बाद के जन्म में मिलेगी।[3]

आत्मा या जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध उपनिषदों में पाई जानेवाली दो ब्रह्मविषयक धारणाओं के अनुसार कुछ अलग-अलग है। सप्रपंचवादी मत के अनुसार जीव ब्रह्म का अस्थायी होते हुए भी एक वास्तविक रूपान्तर है और इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। निष्प्रपंचवादी मत के

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.4.14।
2. कठोपनिषद्, 2.2.1, 3, 5।
3. कठोपनिषद्, 2.2.7।

अनुसार जीव ब्रह्म का आभासमात्र है और इसलिए उससे बिलकुल भी भिन्न नहीं है। जीव ब्रह्म का वास्तविक रूपान्तर हो या न हो, उसका जीवत्व ब्रह्म से अपने तात्त्विक अभेद को विस्मृत कर देने में निहित है। यद्यपि जीव साधारणतः यह मानता है कि वह परिच्छिन्न है और इसलिए ब्रह्म से पृथक् है, तथापि वह कभी-कभी जब किसी कारण निष्काम हो जाता है तब इस विश्वास से ऊपर उठ जाता है और उसे अपनी पृथक्ता की चेतना नहीं रहती। उपनिषदों के अनुसार, जीव का इस प्रकार अपनी सीमाओं के परे पहुँच जाना यह प्रकट करता है कि वह वस्तुतः वैसी परिच्छिन्न सत्ता नहीं है जैसी प्रायः स्वयं को मान लेता है। इस प्रश्न पर तैत्तिरीय उपनिषद् (2.1-5) में प्रसिद्ध कोश-विद्या मे विचार किया गया है। वहाँ इस आत्मातिशय की अवस्था में विशेष रूप से होनेवाले अनुपम अनुभव को जीवन के चेतन ('मनोमय') और आत्म-चेतन ('विज्ञानमय') स्तरो के अनुभव से श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि इनमें विशेष रूप से जो अन्तर्द्वन्द्व और भ्रम पाए जाते हैं, वे इसमें समाप्त हो जाते हैं; और इसे 'आनन्दमय' यह बताने के लिए कहा गया है कि इसमे मुख्य बात शान्ति की उपलब्धि है।[1] फिर भी, चूंकि यह एक अल्पकालीन अवस्था है और इसमे जो पहुँचते हैं वे शीघ्र ही इससे नीचे उतर आते है, इसलिए इसे मोक्ष से एक नही समझना चाहिए।[2] इसमे विशेष रूप से पाई जानेवाली शान्ति और आत्मविस्मृति से प्रकट होता है कि कला के चिन्तन से आनेवाली मनोस्थिति इसका सर्वोत्तम दृष्टान्त है।[3] यह अवस्था साधारण अनुभव और मोक्ष के बीच की चीज़ है, जिसमें आत्मा के सच्चे स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है; और यदि यह एक ओर अनेक संघर्षों और अपूर्णताओं से युक्त जीव का निर्देश करती है तो दूसरी ओर सारे संघर्षों और व्याघातों से अतीत ब्रह्म से उसके एकत्व का भी उतने ही निश्चय के साथ निर्देश करती है।

'जीव' शब्द 'जीव्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'श्वास लेते रहना'। यह नाम जीवन-व्यापार के दो पक्षों में से एक को प्रधानता देता है, और

1. यहाँ पाँच कोशों में से तीन के नाम दिये गए हैं। 'कोश' इसलिए कहा गया है कि इन्हें जीव के परिवेष्टन माना जाता है। शेष दो कोशों को 'अन्नमय' और 'प्राणमय' कहा गया है। इनमें से प्रथम सबमे बाहर का कोश है। यह जीव का शरीर या भौतिक आवरण है, व्यक्ति के अस्तित्व का स्थूल पक्ष है। दूसरा उसका जीवन-पक्ष है।
2. 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' द्रष्टव्य है।
3. इस सिलसिले में ब्रह्म के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है : रसो वै सः (तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.7)।

वह है जैविक या अचेतन पक्ष, जैसे श्वास लेना, जो गहरी नींद की अवस्था में मन के निश्चेष्ट रहते समय भी चलता रहता है। उपनिषदों में जीव के लिए दो अन्य शब्दों, 'भोक्ता' और 'कर्ता'[1] का भी प्रयोग हुआ है। ये दोनों मिलकर जीवन-व्यापार के मनोवैज्ञानिक या चेतन पक्ष को प्रधानता देते हैं। अचेतन व्यापार का कारण 'प्राण'-तत्त्व बताया गया है और चेतन व्यापार का कारण 'मनस्'-तत्त्व। लौकिक अस्तित्व के पूरे काल में प्रत्येक जीव इन दो उपाधियों से युक्त रहता है। इन दो अपेक्षाकृत स्थायी उपाधियों के अतिरिक्त भौतिक शरीर भी एक है और केवल यही प्रत्येक जन्म में बदलता है। शरीर, प्राण और मनस्[2], ये तीनों मिलकर जीव के 'सांसारिक निवास-स्थान' की तरह हैं। जीव के व्यापार के चेतन पक्ष को मनस् दस इन्द्रियों की सहायता से चलाता है। इन दस इंद्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ शामिल हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं : चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना, जो क्रमशः देखने, सुनने, स्पर्श, गन्ध और रस की इन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियाँ ये हैं : वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, जो क्रमशः बोलने, पकड़ने, चलने, मलोत्सर्ग और सन्तानोत्पत्ति के साधन है। मनस् की विज्ञान, अहंकार इत्यादि अनेक शक्तियों का उल्लेख है; किन्तु साथ ही उपनिषद् मनस् की एकता पर भी बल देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (1.5 3) में ऐसी अनेक शक्तियों की सूची दी गई है, लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है कि ये सब मनस् ही हैं। व्यापार चाहे जितने भिन्न हों, अन्तःकरण एक ही है। यह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों का नियामक है। यह ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाहर के संस्कारों को प्राप्त करके उनमें समन्वय लाता है और आवश्यकता पड़ने पर पाँच कर्मेन्द्रियों में से एक या अधिक की सहायता से कर्म में प्रवृत्त भी होता है। मनस् का इन दो प्रकार की इंद्रियों से जो सम्बन्ध है उसकी तुलना उस सम्बन्ध से की गई है जो मस्तिष्क का संवेदी तन्त्रिकाओं और गति-तन्त्रिकाओं से है।[3]

ज्ञान के विषय में उपनिषदों का सिद्धान्त जानना आसान नहीं है। फिर भी थोड़े-से संकेत मिलते हैं जो यहाँ दिए जाते हैं : अनुभव की वस्तुओं के लिए उपनिषदों में 'नाम-रूप' का प्रयोग हुआ है, जो हम पहले ही जान चुके

---

1 देखिए प्रश्न उपनिषद्, 4.9, कठोपनिषद्, 1.3.4।

2. यदि मनस् को तीन अवस्थाओं—चेतन, आत्मचेतन और आत्मातिशय की अवस्थाओं, को अलग अलग गिना जाए, तो सब मिलाकर कोश-सिद्धान्त के पाँच कोश हो जाते हैं।

3. Philosophy of the Upanisad, पृ० 263 .

हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस चीज के बारे में सोचा या कहा जाता है, वह विशेष है। मनस् और ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार नाम-रूप के दायरे के अन्दर ही सीमित है। मतलब यह है कि ऐन्द्रिय ज्ञान अनिवार्यतः परिच्छिन्न वस्तु का ही होता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि ब्रह्म, जो अपरिच्छिन्न है, अज्ञेय है। उपनिषदों का असली उद्देश्य ब्रह्म का ज्ञान कराना ही है। अतः ब्रह्म भी ज्ञेय है; विशेषता केवल इतनी है कि ब्रह्म-ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान से उच्च कोटि का है। मुण्डक उपनिषद्[1] सारे ज्ञान को दो वर्गों में रखता है—परा विद्या और अपरा विद्या। पहला ब्रह्म का ज्ञान है और दूसरा सांसारिक वस्तुओं का। परा विद्या हमें विशेष वस्तुओं के बारे मे विस्तृत जानकारी भले ही न दे, किन्तु उनके अस्तित्व के मूल तत्त्व में हमारी बुद्धि का प्रवेश करा देती है, ठीक वैसे ही जैसे मिट्टी का ज्ञान मिट्टी से बनी हुई सब वस्तुओं की असलियत में प्रवेश करा देता है।[2] इस अर्थ में परा विद्या को पूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है और इस तरह यह अपरा विद्या से, जो उत्तम-से-उत्तम रूप में भी अंशग्राही ही होती है, भिन्न है। लेकिन दोनों में कोई विरोध नहीं है। फिर भी यह केवल ब्रह्म की सप्रपंचवादी धारणा के अनुसार ही कहा जा सकता है। उपनिषदों में एक दूसरा मत भी इतना ही प्रधान है, जो निष्प्रपंचवादी धारणा से संगति रखता है। उसके अनुसार ब्रह्म प्रमाणों से परे है और फलतः उसका ज्ञान असम्भव है। "वाणी और मनस् उसे न पाकर लौट आते हैं।"[3] उपनिषद् ब्रह्म की इस अज्ञेयता को अनेक प्रकार से व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, ईश उपनिषद् ब्रह्म के व्याघाती लक्षण बताकर इस बात को व्यक्त करता है : "वह चलता है; वह चलता नहीं है। वह दूर है; वह पास है। वह इस सबके अन्दर है; वह इस सबके बाहर है।"[4] लेकिन इसका सर्वोत्तम उदाहरण शायद एक ऐसे उपनिषद् में था जो अब प्राप्त नहीं होता, लेकिन जिसका उल्लेख शंकर ने अपने वेदान्त-सूत्र के भाष्य में किया है।[5] कहा गया है कि वाष्कलि ने बाध्व से जब ब्रह्म का स्वरूप बताने के लिए कहा, तब बाध्व ने मौन रहकर इसका उत्तर दिया। वाष्कलि ने प्रार्थना की : 'महात्मन्, मुझे ज्ञान दीजिए।' बाध्व मौन रहे, तथा दूसरी बार और फिर तीसरी बार पूछने पर बोले : 'मैं ज्ञान दे रहा हूँ, पर

---

1. 1.1. 4-5.
2. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.3-4.
3. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.4.
4. मन्त्र 5.
5. 3.2.17.

तुम समझ नहीं रहे हो। यह आत्मा मौन है : 'उपशान्तोऽयमात्मा।' यह मत लौकिक ज्ञान को 'विद्या' नहीं कहता, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से वह ज्ञान है ही नहीं, बल्कि एक तरह का अज्ञान या 'अविद्या' है। यह पूछा जा सकता है कि ऐसा मत ब्रह्म के ज्ञान की सम्भावना का निषेध करने से अज्ञेयवादी नहीं तो क्या है ? इसका उत्तर यह है कि हम ब्रह्म को जान तो नहीं सकते, लेकिन ब्रह्म हो सकते हैं। "जो ब्रह्म को 'जानता है' वह ब्रह्म ही हो जाता है।"[1] यहाँ केवल इस प्रकार की निष्पत्ति के उपाय को ही 'विद्या' कहा गया है। इस निष्पत्ति मे पहुँचने से पहले भी हम जान सकते हैं कि ब्रह्म है, यद्यपि यह नहीं जान सकते कि उसका स्वरूप क्या है, क्योंकि ब्रह्म तो मूलतः यही है जो हमारा आत्मा है और इसलिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उसका अस्तित्व तात्कालिक विश्वास की चीज है। हम ब्रह्म को विचार का विषय नहीं बना सकते, तथापि अपने आत्मा के अन्दर हमारा सदैव उससे अपरोक्ष सम्बन्ध बना रहता है। वास्तव में वह हमसे दूर कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ तक केवल जाग्रत अवस्था ही की बात हमने कही है। उपनिषद् जीवन को अधिक विस्तृत रूप मे लेते हैं और आत्मा का स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय, इन तीन अन्य अवस्थाओं में भी विचार करते हैं। इनमें से स्वप्न भी जाग्रत अवस्था की तरह ही मनोविज्ञान के खास क्षेत्र में आता है, क्योंकि इसमें मन सक्रिय रहता है। लेकिन शेष दो अवस्थाएँ अधिमानसिक हैं और उनका विचार आत्मा का सच्चा स्वरूप जानने के उद्देश्य से किया गया है। यह उल्लेखनीय बात है कि इतने प्राचीन काल में भारतीय विचारकों ने वस्तुओं का विभिन्न परिस्थितियों मे अध्ययन करने की बात सोच ली थी, जिसमें एक या अधिक पुराने कारकों के हट जाने या नये कारकों के आ जाने से वस्तुओं के सच्चे स्वरूप की खोज में मदद मिलती है। इन चार अवस्थाओं में से शायद जाग्रत और स्वप्न, केवल ये ही दो शुरू में ज्ञात थीं।[2] बाद में न केवल स्वप्न और सुषुप्ति में भेद किया गया बल्कि एक चौथी, 'तुरीय', अवस्था भी जोड़ दी गई, जिसके नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि पहले केवल तीन ही अवस्थाएँ मानी गई थी। अब हम इन तीन अवस्थाओं को संक्षेप मे बताएँगे।

(1) स्वप्न—उपनिषदों में स्वप्नों का उल्लेख अनेक बार हुआ है, जिससे पता चलता है कि उस काल में स्वप्नों की ओर काफ़ी ध्यान दिया गया था। स्वप्न की अवस्था जाग्रत और सुषुप्ति के बीच की है। इसका हेतु

1. मुण्डक उपनिषद्. 3.29.

ज्ञानेन्द्रियों का पूरी तरह शान्त हो जाना है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों के मनस् से एक हो जाने की बात कही गई है। अतः जाग्रत और स्वप्न की अवस्थाओं के बीच आवश्यक अन्तर यह है कि पहली में मनस् बाहर से प्राप्त संस्कारों से नये विचारों का निर्माण करता है जबकि दूसरी में वह स्वयं ही बिना किसी सहायता के रूपों की कल्पना करता है। इसमें यह जाग्रत अवस्था की सामग्री का—सामान्यतः चक्षुओं और श्रोत्र से प्राप्त सामग्री का—उपयोग करता है। यद्यपि स्वप्नों का निर्माण स्मरण किये हुए संस्कारों से होता है, तथापि उनका अनुभव स्मृति से बिलकुल भिन्न होता है। स्वप्न जब तक चलता है तब तक उतना ही वास्तविक लगता है जितना प्रत्यक्ष अनुभव। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि स्वप्न की वस्तुएँ अतीत की नहीं बल्कि वर्तमान की प्रतीत होती हैं। इसी कारण स्वप्नों को 'संवेदन से रहित प्रत्यक्ष' कहा गया है।

(2) सुषुप्ति—यह अवस्था स्वप्नों से रहित होती है और इसमें ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनस् भी शान्त रहता है। फलतः इसमें सामान्य लौकिक चेतना का अभाव हो जाता है। इसमें वस्तुओं का भेद, यहाँ तक कि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद भी समाप्त हो जाता है और तब जीव का ब्रह्म से कुछ समय के लिए एक हो जाना कहा जाता है। लेकिन चूंकि सुषुप्ति का मोक्ष से अभेद नहीं किया गया है, इसलिए इस कथन को केवल निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए—इस अर्थ में कि इस अवस्था में व्यक्तिगत अस्तित्व की चेतना नहीं रहती, हालाँकि व्यक्तिगत अस्तित्व पहले की तरह बना रहता है, जैसा कि निद्रा के पहले और बाद की अवस्थाओं को जोड़नेवाले व्यक्तिगत तादात्म्य के बोध से प्रकट होता है। यह साधारण अर्थ में चेतना की अवस्था नहीं है; लेकिन चेतना के नितान्त अभाव की अवस्था भी यह नहीं है, क्योंकि किसी प्रकार का बोध इसमें बना रहता है। फिर भी, जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है[1], इसमें 'वस्तुहीन ज्ञाता' के बने रहने की बात भी सही नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में वस्तु के साथ ज्ञाता का भी लोप हो जाता है। इस अवस्था को विचारहीन बोध की अवस्था कहा जा सकता है, बशर्ते ऐसा कहना कोई अर्थ रखता हो। यह सारी कामनाओं से ऊपर उठ जाने की अवस्था है और इसलिए इसे शुद्ध आनन्द की अवस्था कहा गया है। "सुषुप्ति हम सबको पाशा बना देती है।" स्वप्न की अवस्था में जाग्रत अवस्था की कामनाएँ शायद न रहें, लेकिन उसे निष्काम अवस्था बिलकुल नहीं कहा जा सकता। इसके अपने अलग ही सुख-दुःख होते हैं और उसमें उस पूर्ण शान्ति का अभाव होता है जो सुषुप्ति में

1. जैसे, देखिए Philosophy of the Upanisads, पृ० 306.

आवश्यक रूप से पाई जाती है। सुषुप्ति की पूर्ण शान्ति या आनन्दानुभूति को हम जागने के बाद स्मरण भी करते हैं, क्योंकि तब हमें न केवल यह लगता है कि हम सोते रहे, बल्कि यह भी कि हम सुख से सोते रहे।

(3) तुरीयावस्था—जैसा कि इस कृत्रिम नाम से पता चलता है, यह अवस्था साधारण मनुष्य के अनुभव की पहुँच के अन्दर नहीं है। इसलिए इसे आनुभविक गवेषणा की नियत सीमाओं के बाहर की चीज माना जा सकता है। यह तर्कमूलक विचार को रोककर स्वेच्छा से उत्पन्न की जाती है और एक को छोड़कर अन्य सभी बातों में सुषुप्ति से मिलती-जुलती है। सुषुप्ति की तरह इसमें भी सामान्य चेतना का लोप हो जाता है, कामनाओं का अभाव हो जाता है और आनन्द की अनुभूति भी प्रायः वैसी ही होती है। लेकिन तुरीय (चौथी) अवस्था में आत्मा स्वयं को पूर्ण रूप में अभिव्यक्त कर देता है, जबकि सुषुप्ति का अनुभव अत्यधिक धुँधला होता है। तुरीयावस्था एक गूढ़ अवस्था है, जिसका अनुभव केवल उसी व्यक्ति को हो सकता है जिसके अन्दर यौगिक शक्ति हो। फिर भी जिस सत्य को वह प्रमाणित करता है वह हमारी बुद्धि के बिलकुल परे हो, ऐसी बात नहीं है। हमारे पास एक ओर तो सुषुप्ति का निषेधात्मक साक्ष्य है और दूसरी ओर अनुभव के आनन्दमय अंश का विधानात्मक साक्ष्य, और ये दोनों मिलकर हमें वह अन्तर्दृष्टि दे देते हैं जो हमें योगी के अनुभव के स्वरूप का अनुमान करने में समर्थ बना देती है। इस अवस्था की प्राप्ति को योग-साधना का चरम फल माना जाता है।

: 3 :

उपनिषदों के सैद्धान्तिक उपदेश के सिलसिले में हमने जो अनेक मत देखे हैं, उनका प्रतिबिम्ब उनके व्यावहारिक उपदेश में भी झलकता है। उनमें आदर्श जिसे प्राप्त करना है और जिन उपायों से उसे प्राप्त करना है, दोनों के बारे में अनेक मत हैं। जैसे यदि उपायों की बात लें, तो हम पाते हैं कि एक उपनिषद्[1] में अमृतत्व की प्राप्ति के हेतु तीन भिन्न उपाय—सत्य, तप और स्वाध्यायप्रवचन (वेद पढ़ना-पढ़ाना)—कहे गए हैं। और इन तीन उपायों को बताने वाले तीन आचार्य कहे गए हैं। कहीं-कहीं उस काल में प्रचलित ऐसे दो विरोधी मतों में समन्वय करने का प्रयास भी दिखाई देता है जिनमें से प्रत्येक का शायद स्वतन्त्र रूप से अनुसरण किया जाता था। ईश उपनिषद्, जिसकी मुख्य विशेषता यही समन्वय की प्रवृत्ति मालूम पड़ती है,

1. तैत्तिरीय उपनिषद्, 1.9.

मोक्ष-प्राप्ति के बारे में ऐसे ही दो मतों में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। इसके अठारह मन्त्रों में से प्रथम में त्याग का उपदेश है, लेकिन अगले मे निरन्तर कर्म करते रहने को भी आवश्यक बताया गया है। इससे इस उपनिषद् का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को कर्म का त्याग करके संसार से विरक्त नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि केवल कर्म से व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के विचार का ही पूर्णतया त्याग करना चाहिए, जो कि भगवद्गीता के प्रसिद्ध उपदेश का पूर्वाभास है। यहाँ हम सभी परस्पर भिन्न मतों की चर्चा नहीं करेंगे, बल्कि केवल उनकी करेंगे जो अधिक प्रसिद्ध हैं।

उपनिषदों की नीति का आधार पाप की यह धारणा है कि वह उस अविद्या का फल है जो केवल नानात्व को देखती है और ब्रह्म के एकत्व को नहीं देखती।[1] उपनिषद् पिछले युग की इस धारणा को नहीं मानते कि पाप देवताओं की इच्छा के प्रतिकूल जाना है या यज्ञों को विधि के अनुसार न करना है। लौकिक बुद्धि परम तत्त्व को पकड़ने मे असमर्थ रहती है और उसे विकृत कर देती है या खण्डो मे विभक्त कर देती है तथा उन खण्डों को परस्पर भिन्न दिखाती है। परम तत्त्व को सही रूप मे न देख पाने का परिणाम जैसे सैद्धान्तिक पक्ष में परिच्छिन्नता है वैसे ही व्यावहारिक पक्ष मे पाप है। इस प्रकार पाप एक औपाधिक चीज है और ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान होने पर उसका अस्तित्व नही रह जाता। सत्य की यह विकृति न केवल वाह्य जगत् के प्रसंग में दिखाई देती है बल्कि आत्मा के प्रसंग में भी दिखाई देती है। क्योंकि हममें से प्रत्येक स्वयं को अन्यों से भिन्न समझता है, इसीलिए वह अपनी रक्षा या अपने अभ्युदय के लिए सचेष्ट होता है। "जब एकत्व का बोध हो जाता है और सब प्राणी आत्मा ही बन जाते हैं, तब मोह और शोक कहाँ रह पाएँगे ?"[2] दूसरे शब्दों में, सारे पाप का मूल है अहंकार यानी स्वाग्रह और उसके परिणामस्वरूप शेष जगत् के साथ सामंजस्य से रहने के बजाय विरोधभाव रखते हुए या कम-से-कम उसकी उपेक्षा करते हुए जीवन बिताने की प्रवृत्ति का पैदा होना। इस

1. निस्सन्देह निष्प्रपंचवादी धारणा के अनुसार एकत्व और नानात्व दोनों ही समान रूप से मिथ्या हैं। फिर भी, यह धारणा भी एकत्व के ज्ञान के साथ पाप के अस्तित्व का लोप हो जाना मानती है- दूसरे शब्दों में, नीति की समस्या का जहाँ तक सम्बन्ध है, इन दो धारणाओं में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही के अनुसार पाप का मूल यह बोध है कि केवल नानात्व ही सत्य है और इसकी निवृत्ति इस ज्ञान मे होती है कि नानात्व के नीचे एकत्व है, इस 'नानात्व में एकत्व' का अन्त में चाहे जो स्पष्टीकरण दिया जाए।
2. ईश उपनिषद्, 7.

अहंकार के पीछे जो प्रवृत्ति है वह स्वयं बुरी नहीं है और उसे पूरी तरह से दवा देना आवश्यक नहीं है। जीवित रहने या कुछ बनने की सहजवृत्ति, जो अहंकार का अर्थ है, सम्पूर्ण जीव-सृष्टि का एक समान लक्षण है और आत्म-सिद्धि की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र है। लेकिन, क्योंकि यह वास्तव में परिच्छिन्न अस्तित्व से ऊपर उठने की इच्छा है, इसलिए यह तब तक अतृप्त बनी रहेगी जब तक परम सत्य के ज्ञान से इसका बौद्धिकीकरण न हो जाए और संकीर्ण आत्मा के स्थान पर व्यापक आत्मा को स्थापित न कर दिया जाए। यही 'अहं ब्रह्मास्मि'[1] का अर्थ है, जो जीवन के सर्वोच्च आदर्श के रूप में ब्रह्म की अपने ही आत्मा के अन्दर सिद्धि करने के सकल्प को बताता है।

उपनिषदों में इस आदर्श के दो सुस्पष्ट वर्णन मिलते हैं। मन्त्रों और ब्राह्मणों में तो केवल यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि मृत्यु के बाद किसी श्रेष्ठ रूप में व्यक्ति का अस्तित्व बना रहे। मृत्यु के बाद जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति की यह अभिलाषा उपनिषदों में भी दिखाई देती है; और ब्रह्म की प्राप्ति भौतिक शरीर से सम्बन्ध टूट जाने के बाद बताई गई है, जैसे सप्रपंच ब्रह्म की धारणा के प्रसंग में पीछे उद्धृत एक स्थल में।[2] फिर भी, मृत्यु के बाद प्राप्त होनेवाला यह आदर्श यहाँ बहुत ही बदले हुए रूप में दिखाई देता है, क्योंकि उपनिषदों के प्रधान मत के अनुसार जो प्राप्तव्य है वह प्राप्त करनेवाले से भिन्न नहीं बल्कि अभिन्न है। "यह ब्रह्म है। मृत्यु के बाद मैं यह हो जाऊँ।" ऐसा मानने का अर्थ यह है कि मोक्ष शाश्वत आनन्द की अवस्था है, क्योंकि यह द्वैत से ऊपर है और द्वैत सारे क्लेशों का मूल है।[3] इसके साथ ही एक दूसरा आदर्श भी पाया जाता है, जिसके अनुसार मोक्ष ऐसी अवस्था नहीं है जो मृत्यु के बाद ही प्राप्त हो सके, बल्कि ऐसी है जो इस जीवन और इस लोक में ही प्राप्त की जा सकती है, बशर्ते मनुष्य ऐसा चाहे।[4] इस अवस्था में पहुँचे हुए व्यक्ति को नानात्व पहले की तरह दिखाई देता रहता है, लेकिन वह इससे मोहग्रस्त नहीं होता, क्योंकि वह अपने ही अनुभव में सबकी एकता को जान चुका होता है। भारतीय विचारधारा के इतिहास में इस आदर्श का जो महत्त्व है उसकी

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.10।
2. डॉयसन के अनुसार, यहाँ मोक्ष का सिद्धान्त ही व्यावहारिक रूप में दिखाई देता है और इसलिए निष्प्रपंच ब्रह्म की धारणा से ही व्युत्पन्न है। देखिए Philosophy of the Upanisads, पृ० 358-9।
3. देखिए बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.2: 'दूसरे से भय होता है।'
4. बाद में इन दो आदर्शों को क्रमशः क्रममुक्ति और जीवन्मुक्ति कहा गया।

और पहले ही भूमिका में ध्यान दिया जा चुका है। इसमे सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि यह वर्तमान जीवन को स्वयं को पूर्ण बनाने के लिए पर्याप्त मानता है। पहले आदर्श के विपरीत यह आदर्श बताता है कि मोक्ष का मतलब कुछ होना नहीं है। इसका मतलब तो केवल उस चीज़ की खोज है जो सदा से विद्यमान थी, और इसकी तुलना एक ऐसी निधि की खोज से की गई है जो किसी के मकान के फर्श के नीचे छिपी पड़ी थी, लेकिन जिसे अब तक वह पा नहीं सका था, हालाँकि वह निरन्तर उसके ऊपर आता-जाता रहता था।[1] यही मत ब्रह्म की निष्प्रपंचवादी धारणा से, जिसमें जगत् की आभासिकता गर्भित है, मेल खाता है।

उपनिषदों का व्यावहारिक उपदेश उपर्युक्त अर्थ मे ही ब्रह्म की प्राप्ति के साधन के रूप में दिया गया है। इसका लक्ष्य, जैसा कि इस प्रकार के सभी उपदेशों का होना चाहिए, हमारे विचारों और कर्मों का सुधार करना है। मोटे रूप मे जिस आचरण का अभ्यास आवश्यक बताया गया है उसमें ये दो अवस्थाएँ शामिल हैं :

(1) वैराग्य—औपनिषदिक साधना का मुख्य उद्देश्य अहंकार को, जो सारी बुराई की जड़ है, दूर करना है; और वैराग्य जगत् के प्रति वह भाव अपनाने का नाम है जो संकीर्ण और स्वार्थमूलक सांसारिक प्रवृत्तियो को सफलता के साथ उखाड़ फेंकने से पैदा होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप मे पहले ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ, इन तीन आश्रमों मे अभ्यास का एक लम्बा क्रम पूरा करना आवश्यक है। जैसा कि 'आश्रम' (श्रम, प्रयास करना) शब्द का अर्थ है, ये उस प्रयास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं जिससे स्वार्थ-परता का धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ उन्मूलन होता है। "श्रेय अलग है और प्रेय अलग है; और जो आत्मा का कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह भोग के जीवन को बिलकुल पीछे छोड़ दे।"[2] इस अभ्यास का फल संन्यास है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इस शब्द का उपनिषदों के काल तक वह अर्थ नहीं हो पाया था जो आज है, जब इसे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में एक औपचारिक अवस्था माना जाता है। उपनिषदों में इसका अर्थ तीन आश्रमों मे बँधे जीवन से परे पहुँच जाना मात्र है, और इसे ब्रह्म-ज्ञान का साधन मानने की अपेक्षा ब्रह्म-ज्ञान का फल माना गया है। एक औपचारिक अवस्था के अर्थ

1. छान्दोग्य उपनिषद्, 8.3.2।
2. कठ उपनिषद्, 1.2.1 और 2।

में 'संन्यास' शब्द का प्रयोग कुछ बाद में होने लगा।[1] उपनिषद् इस प्रारम्भिक अभ्यास के महत्त्व को तो पूरी तरह से स्वीकार करते हैं, लेकिन साधारणतः इसकी बारीकियों में नहीं जाते। वे यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक अपने-आप आश्रम-व्यवस्था का अनुसरण करता होगा, और इसलिए उनके उपदेश ऐसों के लिए हैं जो पहले ही सफलतापूर्वक प्रारम्भिक अभ्यास को पूरा कर चुके हैं तथा वैराग्य प्राप्त कर चुके हैं। उपनिषदों के ज्ञान को रहस्य की तरह छिपाकर रखने के प्रयत्नों का जो उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, उसका अर्थ यही है। फिर भी, यह मानना ठीक नहीं है कि प्रारम्भिक साधना के बारे में उपनिषदों में कुछ कहा ही नहीं गया है, क्योंकि कहीं-कहीं इस साधना के विभिन्न पक्षों में से एक या दूसरे का सीधा उल्लेख हुआ है, जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् के एक बहुत ही संक्षिप्त लेकिन सबसे अधिक रोचक अंश में (5.2)। वहाँ विश्व के निवासियों का देव, मनुष्य और असुरों में वर्गीकरण हुआ है और सबको प्रजापति की सन्तान बताया गया है। वे अपने पिता के पास जाते हैं और पूछते हैं कि उन्हें क्या आचरण करना चाहिए। प्रजापति का उत्तर संक्षिप्त है, लेकिन उससे स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि क्षमता और स्वभाव के अनुसार साधकों के लिए नैतिक साधना की अलग-अलग कोटियों की व्यवस्था आवश्यक है। असुरों को यह आदेश दिया गया है कि 'मनुष्य पर दया करो' (दयध्वम्); मनुष्यों को यह कि 'दानी बनो' (दत्त); और देवों को यह कि 'आत्म-संयम सीखो' (दाम्यत)। इन आदेशों में से पहले दो परनिष्ठा को कर्म का मुख्य सिद्धान्त बताते हैं। तीसरा इनसे भिन्न है और विशुद्ध रूप में स्वनिष्ठ लग सकता है। लेकिन चूँकि उसका उपदेश सर्वोत्तम के लिए हुआ है, इसलिए यह मानना चाहिए कि उसका आचरण उनके लिए बताया गया जो पिछली दो अवस्थाओं का अभ्यास पूरा कर चुके हैं। उसी उपनिषद् में अन्यत्र यह दिखाया गया है कि

---

1. देखिए, Philosophy of the Upanisads, पृ० 374।
2. इस बात को न समझ पाने के कारण ही उपनिषदों की जीवन-व्यवस्था में नैतिकता के स्थान के बारे में कुछ गलत धारणाएँ पैदा हुई हैं। इस प्रकार जो आलोचनाएँ प्रायः की जाती हैं उनमें से एक यह है कि उपनिषद् सामाजिक नैतिकता का कोई विचार नहीं करते या बहुत कम विचार करते हैं और केवल इस बात के उपाय के बारे में चिन्तित हैं कि व्यक्ति को पूर्णता कैसे प्राप्त हो। उदाहरणार्थ, डोयसन ने कहा है (Philosophy of the Upanisads, पृ० 364-5) कि प्राचीन भारतीयों के अन्दर "मानवीय एकता की, समान आवश्यकताओं और हितों की, चेतना केवल अल्प मात्रा में ही विकसित थी।"

देवता यह नही चाहते कि मनुष्य सामाजिक अथवा सापेक्ष नैतिकता के क्षेत्र से बाहर निकल जाए। यह केवल इस बात को कहने का लाक्षणिक तरीका है कि मनुष्य को तब तक समाज का त्याग नही करना चाहिए, जब तक वह समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा न कर ले और एक तरह से उसकी सद्भावना प्राप्त न कर ले।[1]

(२) ज्ञान—क्योंकि पाप के मूल तत्त्व के बारे में हमारा मिथ्या ज्ञान है, इसलिए केवल सम्यक् ज्ञान से ही उसका निवारण हो सकता है; और यदि वैराग्य की प्राप्ति को भी आवश्यक बताया जाता है, तो केवल इसलिए कि उससे ऐसे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव हो जाती है। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] कहता है कि "शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा को आत्मा में देखे।" इस अवस्था के अभ्यास मे तीन बातें हैं : श्रवण, मनन और निदिध्यासन।[3] श्रवण का अर्थ है किसी उपयुक्त गुरु के पास उपनिषदों का अध्ययन करना : "जिसका कोई आचार्य है वह जानता है।"[4] इससे इस साधना मे गुरूपदेश और परम्परा का स्थान निश्चित हो जाता है। इसका यह भी अर्थ है कि आदर्श का प्रभाव हमारे ऊपर कभी भी उतना अधिक नही होता जितना तब होता है जब हमारा ऐसे व्यक्ति से व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है जो उस आदर्श की सजीव मूर्ति होता है। श्रवण आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नही है। अत: इसके बाद मनन आवश्यक है। इसका अर्थ है श्रवण से प्राप्त ज्ञान पर निरन्तर चिन्तन करते रहना, ताकि उसके बारे में बौद्धिक आस्था उत्पन्न हो सके। इसके बाद फिर निदिध्यासन या ध्यान आवश्यक है, जो विश्व की विविधता के नीचे रहनेवाली एकता की अपने अन्दर सिद्धि करने में प्रत्यक्षत: सहायक होता है। साधना के इस चरण की आवश्यकता निम्नलिखित कारण से है : प्रतीयमान नानात्व के सत्य होने में हमारा विश्वास प्रत्यक्ष का फल है और इसलिए तात्कालिक है। अत: उसे एकता का वही ज्ञान सफलता के साथ हटा सकता है जो उतना ही तात्कालिक हो। यदि हमें उस नानात्व से मोहग्रस्त नही होना है, जिसकी सत्यता में हमारा विश्वास सहज-जैसा है, तो उसके नीचे रहनेवाली एकता को हमें जानना मात्र नही है बल्कि देखना है। देखने से विश्वास उत्पन्न

---

1. 1.4.10. देखिए शंकर का भाष्य।
2. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.4.23।
3. वही, 2.4.5।
4. आचार्यवान् पुरुषो वेद : छान्दोग्य उपनिषद्, 6.14.2।

होता है। इसलिए उपनिषद् आत्मा या ब्रह्म के दर्शन की बात कहते है।[1] तर्क-मूलक आस्था पर्याप्त नहीं है, यद्यपि जिस लक्ष्य का हमें वेधन करना है उसे जानने के लिए यह आवश्यक है।[2] इस साधना-क्रम का सफलतापूर्वक अनुसरण करने से हमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकेगा और इससे क्रम-मुक्ति की धारणा के अनुसार हमें ऐहिक जीवन के बाद मोक्ष मिलेगा, लेकिन जीवन्मुक्ति की धारणा के अनुसार तत्काल इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त हो जाएगा।

निदिध्यासन इस अर्थ में ध्यान का सर्वोत्कृष्ट रूप है और केवल विचार को एकाग्र करने का काफ़ी अभ्यास करने के बाद ही सम्भव है। अतः उपनिषद् ध्यान को बढ़ाने वाली अनेक प्रारम्भिक क्रियाओं का निर्देश करते हैं। इन क्रियाओं को प्रायः उपासन कहा जाता है, और उन्हें उपनिषदों में जो प्रधानता दी गई है वह उतनी ही है जितनी ब्राह्मणों में यज्ञों को मिली है। उनके बारे में केवल दो-एक बातों पर ध्यान देना जरूरी है। उपासनों में विचार को पूर्णतः बहिर्मुख रखा जा सकता है और दो चुनी हुई बाह्य वस्तुओं का कल्पना में एकात्मीकरण किया जा सकता है, जैसे ब्रह्माण्ड का एक 'अश्व' के रूप में ध्यान करने में, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। अथवा, केवल एक बाह्य वस्तु को लिया जा सकता है और ध्यान करनेवाला उसके अपने आत्मा से एकाकार होने की कल्पना कर सकता है। ध्यान के इन दो रूपों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। पहले से तो केवल मन के एकाग्रीकरण का अभ्यास होता है, लेकिन दूसरे में इसके अतिरिक्त सहानुभूतिमूलक कल्पना, अर्थात् अपने को दूसरे की स्थिति में कल्पित करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए भी गुंजाइश है। फलतः ब्रह्म-भाव की प्राप्ति में यह अधिक सीधे रूप से सहायक है, क्योंकि यहाँ भी ध्येय वस्तु, अर्थात् ब्रह्म, का ध्याता के आत्मा से तादात्म्य किया जाता है। दूसरी बात यह है कि ध्यान की वस्तुएँ सच्ची वस्तुएँ हो सकती हैं या प्रतीक-मात्र। मुमुक्षु को जिन सच्ची वस्तुओं को ब्रह्म से कल्पित करने को कहा जाता है, उनमें से कुछ हम प्रायः उन धारणाओं को पाते हैं जिन्हें कभी परम तत्त्व ही समझा जाता था, किन्तु जो कालान्तर में दार्शनिक विचारधारा में प्रगति होने पर अधिक ऊँची धारणाओं द्वारा हटा दी गईं। उदाहरणार्थ, 'प्राण'[3] उनमें से एक है और ब्रह्म की धारणा के क्रम-विकास की एक अवस्था में स्वयं परम-तत्त्व माना जाता था। ब्रह्म के लिए प्रयुक्त प्रतीकों में प्रसिद्ध ॐ अक्षर

1. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.4.5।
2. देखिए, मुण्डक उपनिषद्, 2.2.2-4।
3. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.3।

का नाम लिया जा सकता है, जिसका उपनिषदों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] ध्यान चाहे जिस रूप मे किया जाए, वह मुमुक्षु को ध्यान के अन्तिम रूप 'अहं ब्रह्मास्मि' के लिए तैयार कर देता है। जब कोई व्यक्ति अपनी नैतिक शुद्धि करके श्रवण और मनन के द्वारा एकता की सचाई मे बौद्धिक आस्था प्राप्त कर लेता है और फिर निदिध्यासन के द्वारा पहले तक केवल परोक्ष रूप में ज्ञात वस्तु को अपरोक्षानुभूति मे परिणत करने में सफल हो जाता है, तब वह अपनी आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

लेकिन बहुत ही कम लोग ऐसे होते हैं जो इस लक्ष्य तक पहुँचते हैं। स्वय उपनिषद् ब्रह्मज्ञ को दुर्लभ बताते हैं। "जो अनेकों को सुनने तक के लिए बहुत कम मिलता है, जिसे सुनने पर भी अनेक समझने मे असमर्थ रहते हैं, उसे समझाकर सिखानेवाला एक आश्चर्य है और उसे प्राप्त करनेवाला भाग्यवान् है—ज्ञानी के द्वारा सिखाए जाने पर उसे जाननेवाला एक आश्चर्य है।"[2] अनेक असफल रहते हैं और एक सफल होता है। उपनिषदों के अनुसार, अधिक संख्या उनकी है जो मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं।[3] मोक्ष की प्राप्ति होने तक जन्म और मृत्यु का जो क्रम निरन्तर चलता रहता है उसे ससार कहते हैं। जन्म-मरण के चक्र में न केवल उनको पड़ना पड़ता है जो सदाचारी नहीं हैं, बल्कि उनको भी जो केवल धर्म-कर्म करते है और सम्यक् ज्ञान से रहित होते हैं। ऐसा जीव मरने के बाद जिस प्रकार का जन्म ग्रहण करता है उसके निर्धारण करने वाले को कर्म का नियम कहा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि जैसे भौतिक जगत् मे वैसे ही नैतिक जगत् मे भी कोई घटना पर्याप्त कारण के बिना नही हो सकती। तदनुसार प्रत्येक जन्म और उसके सारे दुःख-सुख पिछले जन्मो मे किये हुए कर्मों के आवश्यक परिणाम है तथा उसमें किये हुए कर्म भविष्य मे होने वाले जन्मों के कारण हैं। कर्म का सिद्धान्त सभी दुःखो का कारण अन्त में स्वय हमीं को बताता है और इस प्रकार ईश्वर या पड़ोसी के प्रति हमारे मन में पैदा होने वाले कटुता के भाव को दूर करता है। जो हम पहले थे, वही हमे वह बनाता है जो हम अब हैं। जैसा कि हम बाद के किसी अध्याय में देखेंगे, कर्म के सिद्धान्त के अनुसार हमारा भविष्य पूरी तरह से हमारे ही हाथों मे रहता है। फलतः यह सिद्धान्त सदा सम्यक् आचरण के लिए

1. प्रश्न उपनिषद्, 5।
2. कठोपनिषद्, 1. 2. 7।
3. देखिए, छान्दोग्य उपनिषद्, 5.10.8।

प्रोत्साहन देता है। इस प्रकार इसके मूल मे जो धारणा है[1] वह आवश्यक रूप से इस धारणा से भिन्न है कि शुभ वस्तुएँ देवताओं की देन हैं, जिसकी प्रधानता हमने पीछे के युग मे देखी है। सम्भव है कि यह धारणा पुराने देवताओं के स्थान पर भाग्य को प्रतिष्ठित करती लगे, लेकिन यह भाग्य ऐसा होगा जिसका विधाता मनुष्य स्वय है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इस धारणा मे कोई तर्क द्वारा सिद्ध की जा सकनेवाली सत्यता है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि जीवन मे जो असमानताएँ दिखाई देती हैं, उनकी तार्किक व्याख्या देनेवाली एक प्राक्कल्पना के रूप मे इसका अवश्य ही महत्त्व है।

कर्म-सिद्धान्त के प्रारम्भ के बारे मे कुछ मतभेद है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसे आर्यों ने अपने नये आवास के आदिम निवासियों से लिया, जिनमें मृत्यु के बाद आत्मा का वृक्षों इत्यादि में चले जाने में विश्वास प्रचलित था। लेकिन यह मत इस बात की उपेक्षा कर देता है कि यह विश्वास तो एक अन्धविश्वास था और इसलिए आवश्यक रूप से अतर्कमूलक था, जबकि पुनर्जन्म-वाद का लक्ष्य मनुष्य की तार्किक और नैतिक दोनों ही चेतनाओं को तुष्ट करना है। इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के कारण यही मानना उचित है कि यह सिद्धान्त किसी आदिम विश्वास से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि भारतीय विचारकों ने स्वयं ही धीरे-धीरे इसका विकास किया। यह ठीक है कि उपनिषदों के युग मे पहले इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है और उपनिषदों में भी सब-के-सब इस पर समान बल नहीं देते। निश्चय के साथ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय तक इसका पूर्ण विकास हो चुका था और इसमें विश्वास व्यापक रूप से प्रचलित हो चुका था। लेकिन प्राचीन काल से जिस प्रकार इसका धीरे-धीरे विकास हुआ, उसे ज्ञात करना कठिन नहीं है।[2] मन्त्रों से आत्मा के अमरत्व में विश्वास प्रकट होता है; और उनमे ऋत अर्थात् नैतिक व्यवस्था की धारणा भी बलवती है। किन्तु ये धारणाएँ पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे शामिल रहने के बावजूद भी उसकी असाधारण विशेषताएँ नहीं हैं। प्रायः सभी धर्मों में मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व रहना और उसकी तत्कालीन अवस्था का इस जीवन के उसके कर्मों के नैतिक मूल्य के द्वारा निर्धारित होना माना गया है। इस सिद्धान्त की एक सच्ची कड़ी इष्टापूर्त की धारणा में मिलती है, जिसे वस्तुतः कर्म-

---

1. यह इस धारणा के अधिक निकट है कि विधिवत् किये हुए यज्ञ अपने-आप अपने फलों को देते हैं।
2. देखिए, Philosophy of the Upanisads, पृ० 313 इत्यादि।

सिद्धान्त का 'दूरस्य पुरोवर्ती' कहा गया है[1]; और ऋग्वेद में यह पहले से मौजूद है। 'इष्ट' देवताओं को दी हुई बलि है और पूर्त[2] का अर्थ है पुरोहितों को दिया हुआ दान। इस सम्बन्ध में मुख्य बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि इन कर्मों से मिलनेवाले पुण्य को सही अर्थ में नैतिक नहीं कहा जा सकता, तथापि यह विश्वास किया जाता था कि यह व्यक्ति की मृत्यु से पहले परलोक में पहुँच जाता है और वहाँ उसके लिए आनन्द की व्यवस्था करने के लिए उसके रक्षक देवता की तरह उसकी प्रतीक्षा करता रहता है। एक अंत्येष्टि-सम्बन्धी स्तुति में मृतात्मा से अपने इष्टापूर्त से संयुक्त होने की प्रार्थना की गई है। यदि हम इस विश्वास को इसके एकान्तिक याज्ञिक सन्दर्भ से अलग कर दें और सारे शुभ-अशुभ, धार्मिक और लौकिक कर्मों को इसमें शामिल करके इसका विस्तार कर दें, तो कर्म-सिद्धान्त से इसकी निकटता स्पष्टतः दिखाई देने लगती है। इसके अलावा, ब्राह्मणों में इस जीवन के शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार अलग-अलग प्रकार के पुरस्कारों और दण्डों के मिलने में विश्वास प्रकट किया गया है और पापियों को मिलनेवाले बड़े दण्डों में से एक 'पुनर्मृत्यु' को बताया गया है और इसके परलोक में मिलने की बात कही गई है। पुनर्जन्म का तो उल्लेख नहीं है, लेकिन इसकी धारणा स्पष्टतः पुनर्मृत्यु की धारणा में छिपी हुई है। उपनिषदों ने नई बात यह पैदा की कि इस धारणा को स्पष्ट कर दिया और जन्म-मृत्यु के पूरे चक्र को काल्पनिक परलोक से हटाकर इसी लोक में कर दिया। इस विश्वास के अनुसार आत्मा मृत्यु के बाद किसी दूसरे शरीर में चला जाता है, जिसका स्वरूप उसके पिछले कर्मों से निर्धारित होता है। याज्ञवल्क्य[3] के वचनों में इसका जो प्रारम्भिक रूप दिखाई देता है उसमें एक जीवन के अन्त और दूसरे जीवन के प्रारम्भ के बीच कोई व्यवधान नहीं माना गया। लेकिन यह दीर्घ काल तक अपरिवर्तित नहीं बना रहा, क्योंकि यह इस पुराने विश्वास से घुल-मिल गया कि कर्म का फल परलोक में भोगा जाता है। इस परिवर्तित रूप में पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह बताता है कि कर्म का पुरस्कार या दण्ड दो बार मिलता है, पहले परलोक में और फिर इहलोक में अगले जन्म में।[4] लेकिन यह बारीकी हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है और यहाँ इस पर और अधिक विचार करने की जरूरत नहीं है।

---

1. कीथ : Religion and Philosophy of the Veda, पृ० 250, 478।
2. लौकिक संस्कृत में इस शब्द का अर्थ 'दान-धर्म' है।
3. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.2.13।
4. देखिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, 6.2; छान्दोग्य उपनिषद्, 5. 3-10।

: 4 :

हम बता चुके हैं कि कैसे मन्त्रों के देववाद का बाद में पुरोहितों के यज्ञ-याग में व्यस्त हो जाने के कारण ह्रास हो गया। उसका जितना कुछ बचा रहा वह भी भारतीय चिन्तन के सामान्य दार्शनिक झुकाव के कारण रूपान्तरित हो गया और फलतः प्रजापति. जो वैदिक देवताओं मे से किसी का भी प्रतिरूप न होकर उनसे ऊपर और परे हैं, की एकेश्वरपरक धारणा सामने आई। उपनिषदों में प्राचीन प्रकृति-देवताओं को उनकी पुरानी प्रतिष्ठा फिर नहीं मिली। निश्चय ही उन्हें त्याग नही दिया गया, बल्कि उनका एक या दूसरे सम्बन्ध में उल्लेख होता रहा। उनमें से कुछ अब भी ब्रह्माण्ड को प्रभावित करनेवाली शक्तियाँ बने रहे और उनका यह स्वरूप पहले के स्वरूप से भिन्न नहीं था; किन्तु अब जिस एक परम सत्ता की खोज हो गई उसके सामने वे निस्तेज हो गए और उन्हें सदा उससे गौण दिखाया गया। जब याज्ञवल्क्य से पूछा गया कि देवता कितने हैं, तब उसने पिछले युग की तैंतीस की निर्धारित संख्या की उपेक्षा करते हुए उत्तर दिया कि केवल एक, ब्रह्म, है।[1] शेष सारे देवता केवल ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं और इसलिए अनिवार्यतः उस पर आश्रित हैं। केन उपनिषद् मे अग्नि, वायु और इन्द्र तक को ब्रह्म की शक्ति से पराभूत बताया गया है और कहा गया है कि ब्रह्म की सहायता के बिना ये एक तृण तक को नही हटा सकते।[2] अन्यत्र सूर्य और अन्य देवताओ को ब्रह्म के भय से अपने-अपने कार्य नियमित रूप से करने वाले कहा गया है।[3] ऐसा केवल मन्त्रों के प्राचीन देवताओं के साथ ही नही किया गया, बल्कि ब्राह्मणकालीन सर्वोच्च देवता, प्रजापति, तक को ब्रह्म का अधीनस्थ कर दिया गया। कौषीतकी उपनिषद् उसको और इन्द्र को ब्रह्मलोक के द्वारपालों (द्वारगोप) के रूप में दिखाता है।[4] छान्दोग्य उपनिषद् में तो वह एक गुरु-मात्र रह जाता है।[5] तथ्य यह है कि उपनिषदों में, जिनका मुख्य तात्पर्य दार्शनिक है और परम तत्त्व की खोज करना है, हमारा कही किसी ईश्वरपरक धारणा को खोजना ही व्यर्थ है, अलावा उन अंशों के जहाँ ब्रह्म को पुरुष के रूप मे कल्पना की गई है और उसे ईश्वर कहा गया है। ब्रह्म कहीं-कहीं ईश्वर के रूप में बदला हुआ मिलता है। ब्रह्म

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.9.1।
2. 3. 4. 1-3।
3. कठोपनिषद्, 2.3.3।
4. 1.5।
5. 8.7-12।

के दो रूपों में से अकेला सप्रपंच-रूप ही आसानी से ईश्वर के रूप में बदला जा सकता है। लेकिन इस तरह से प्राप्त ईश्वर आत्मा से अभिन्न होने के कारण अन्ततः जीव से पृथक् नही किया जा सकता। वह केवल एक आन्तरिक तत्त्व ही हो सकता है, आराधक से बाहर रहनेवाली आराध्य वस्तु का रूप नही ग्रहण कर सकता। उपनिषद् ईश्वर की इस प्रकार की वस्तुनिष्ठ धारणा का खुले-आम विरोध करते हैं। "जो यह सोचते हुए किसी देवता की उपासना करता है कि देवता एक है और वह दूसरा है, वह अज्ञ है।"[1] इसलिए उपनिषदो मे ईश्वर की जो धारणा है वह देवता की इस पुरानी वैदिक धारणा से मूलतः भिन्न है कि वह हमसे बाहर स्थित कोई ज्योतिर्मय चीज है। वह बाद के काल के प्रजापति तक की धारणा से भिन्न है। अतः उसे ईश्वरवादी धारणा केवल उदारता से ही कहा जा सकता है। उपनिषदों में ईश्वर को 'अन्तर्यामी अमृत' या सब वस्तुओं के अन्दर प्रविष्ट होकर उन्हें सँभाले रखनेवाला 'सूत्र' कहा गया है।[2] वह जड़ और चेतन दोनों ही सृष्टियों का केन्द्रस्थ तत्त्व है और इसलिए केवल उनसे ऊपर ही नही है बल्कि उनके अन्दर भी विद्यमान है। वह ब्रह्माण्ड का कर्ता है; लेकिन वह उसे उसी तरह अपने अन्दर से उत्पन्न करता है, जिस तरह मकडी जाले को, और फिर अपने ही अन्दर उसे वापस खीच भी लेता है। इस प्रकार यहाँ सृष्टि वास्तव मे क्रम-विकास का ही एक दूसरा नाम हो जाता है। उत्तरकालीन वेदान्त-दर्शन के शब्दों में वह ब्रह्माण्ड का निमित्त-कारण भी है और उपादान-कारण भी (अभिन्ननिमित्तोपादन)।[3]

यद्यपि ईश्वरवाद साधारण अर्थ मे उपनिषदों की प्रवृत्ति से वस्तुतः असगति रखता है, तथापि कही-कही उनमें वह दिखाई दे जाता है। कठोपनिषद्[4] मे एक ऐसे ईश्वर की ओर सकेत है, जो जीवात्मा से भिन्न माना गया

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.10; केन उपनिषद्, 1.4-8।
2. देखिए, बृहदारण्यक उपनिषद् 3.7।
3. चूँकि यह ब्रह्म का पुरुषीकृत रूप है, इसलिए इसका नाम 'ब्रह्मा' अधिक उपयुक्त हुआ होता। लेकिन उपनिषदों में या उनके पूर्वकालीन साहित्य में कहीं भी इस नाम का इस अर्थ में प्रयोग नहीं दिखाई देता। जहाँ 'ब्रह्मा' शब्द आया भी है, जैसे मुण्डकोपनिषद् (1.1.1) में, वहाँ परम तत्त्व के लिए नहीं, बल्कि प्रजापति के लिए आया है, जिसे एक गौण देवता या सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले के रूप में कल्पित किया गया है। देखिए, Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 281।
4. 1.2.23।

प्रतीत होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो उसका और भी स्पष्ट उल्लेख है, जहाँ ईश्वरवाद की ये सभी आवश्यक बातें उपलब्ध हैं—ईश्वर आत्मा और जगत् में विश्वास तथा यह दृढ़ आस्था कि ईश्वर का अभिध्यान ही मोक्ष (विश्वमायानिवृत्ति) का सच्चा उपाय है।[1] लेकिन यहाँ भी पुरुष-रूप ईश्वर एक से अधिक बार अरूपरूप या विश्वरूप ब्रह्म से एक मान लिया जाता है और यह मानना कठिन हो जाता है कि यहाँ निर्माणाधीन एकेश्वरवाद से अधिक कुछ है, हालांकि भण्डारकर-जैसे कुछ विद्वान् इससे भिन्न मत रखते हैं और इसे स्पष्टतः पुरुषरूप ईश्वर की धारणा मानते हैं।[2]

1. 1.10 और 12।
2. Vaisnavism, Saivism etc., पृ० 110

भाग 2

प्रारम्भिक वेदोत्तर युग

अध्याय 3

सामान्य प्रवृत्तियाँ

यहाँ तक हमने वैदिक युग के धर्म और दर्शन पर विचार किया। अब हमें उस युग की समाप्ति और दर्शनों के युग के प्रारम्भ के बीच होनेवाले भारतीय विचारधारा के विकास का विवरण देना है। इन सीमाओं का तिथि-निर्धारण आसान नही है; फिर भी, जैसा कि भूमिका मे बताया जा चुका है, यह निश्चित है कि इनके बीच की दीर्घ अवधि में दार्शनिक चिन्तन में बहुत प्रगति हुई। हमने पिछले युग में सिद्धान्तों की जो विविधता देखी, वह अब और भी बढ जाती है, और यहाँ जिन मतों की हम चर्चा करेंगे उनमें न केवल वे शामिल हैं जिनका अब तक का विकास हम बता चुके हैं, बल्कि वे भी शामिल हैं जो उनके विरोध-स्वरूप प्रकट हुए। यह विरोध की प्रवृत्ति निश्चय ही पिछले युग में भी विद्यमान थी, और स्वय उपनिषदो की शिक्षा भी अपने कुछ प्रमुख पहलुओं में ब्राह्मणों की पूर्ववर्ती शिक्षा से अलग पड़ गई थी। लेकिन ये शुरू के मतभेद या तो ऐसे थे जो कालान्तर में जैसे-तैसे दूर हो सकते थे या ऐसे थे कि इस युग के साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त रूप से उत्कृष्ट स्थिति में नही पहुँच पाए। अब हम जिस युग पर विचार करेंगे, उसमें ऐसी बात नही थी। उसमें निश्चित रूप से नास्तिक सम्प्रदायों का उदय हुआ और इनके तथा पुरानी विचारधारा के बीच की खाई आगे कभी भी पूरी तरह नहीं पाटी जा सकी। पुस्तक के इस भाग मे हम हिन्दू विचारधारा के अलावा ऐसे दो प्रमुख सम्प्रदायों—बौद्ध धर्म और जैन धर्म—की भी चर्चा करेंगे। इस युग के सिद्धान्तो में, चाहे वे आस्तिक हों चाहे नास्तिक, कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जिन पर ध्यान देना लाभप्रद होगा। पहली यह है कि मोटे तौर से वे समाज के किन्ही विशिष्ट वर्गों को ध्यान में रखकर नहीं बनाये गए हैं, बल्कि वर्ण और लिंग के भेद से शून्य सब लोगों के लिए हैं। न केवल बौद्ध और जैन धर्मों में यह उदार वृत्ति पाई जाती है, बल्कि हिन्दू धर्म में भी पाई जाती है, जैसा कि आज तक मानी जानेवाली इस धारणा से स्पष्ट है कि महाभारत, जो इस युग से सम्बन्धित जानकारी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्रोत है, मुख्यतः स्त्रियों, शूद्रों

और भ्रष्ट ब्राह्मणों के उपदेश के लिए रचा गया है, जिनकी वेदों तक सीधी पहुँच नहीं है।[1] सबको ज्ञान देने का यह नारा नास्तिक सम्प्रदायों के आचार्यों ने बुलन्द किया होगा। लेकिन शीघ्र ही और शायद इसी के फलस्वरूप आस्तिक दर्शनकारों ने भी अपने ज्ञान का द्वार विधिवत् न सही, पर तात्पर्यतः अधिकांश जनता के लिए खोल दिया। दूसरी बात यह है कि इस युग की विचारधारा प्रधानतः वास्तववादी है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म प्रकटतः ऐसे हैं। जहाँ तक हिन्दू धर्म उपनिषदों के प्रभाव का परिणाम है, वहाँ तक वह निस्सन्देह अब भी प्राचीन प्रत्ययवादी पृष्ठभूमि से बँधा हुआ है; लेकिन उसमें भी बाह्य जगत् को ज्यों-का-त्यों सत्य मानने की कुछ उत्सुकता दिखाई देती है और वह ब्रह्म की निष्प्रपंचवादी धारणा से अधिक सप्रपंचवादी धारणा का पक्ष ग्रहण करता हुआ इसे एक सुनिश्चित ईश्वरवाद का रूप दे देता है। इस तरह की विशेषताएँ निश्चित रूप से इस बात की ओर संकेत करती हैं कि इस युग मे साधारण जनता में सामान्य जागृति आ गई थी। लेकिन हमारे लिए इस जनान्दोलन के विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है, क्योंकि यह दर्शन के बजाय इतिहास का विषय है।

इस युग के नास्तिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हमने संस्कृत के ग्रन्थों के अतिरिक्त उस विशाल साहित्य से भी जानकारी ली है जो एक या दूसरी प्राकृत भाषा में लिखा गया है, जैसे पालि, जिसमें प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के सिद्धान्त लिपिबद्ध हैं। इस युग की आस्तिक विचारधारा के बारे में जानकारी हमने अनेक शेष उपनिषदों में से कुछ से और एक विशेष प्रकार के साहित्य से ली है, जिसमें छोटे-छोटे सूत्र हैं और जो श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र—इन तीन विभागों वाले कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।[2] उपनिषद् यद्यपि ब्रह्म के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करते हैं, तथापि उनमें इसका विकास विशेष रूप से ईश्वरवाद और वास्तववाद की दिशाओं में दिखाई देता है। प्राचीन उपनिषद् सभी समान रूप से प्रायः एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं: लेकिन बाद के उपनिषद् वर्गों में बँटे हुए हैं और प्रत्येक वर्ग अनन्य रूप से तो नहीं पर प्रधान रूप से एक ऐसे विशिष्ट विषय का प्रतिपादन करता है जो या तो नया है या पुराने उपनिषदों में बहुत संक्षप मे बताया गया है। इस प्रकार कुछ उपनिषद् मोक्ष-प्राप्ति

1. भागवत 1.4.25-26; महाभारत, 12.327, श्लोक 44 और 49 (बम्बई संस्करण)।
2. मनु की तथा अन्य स्मृतियों में पाई जानेवाली अधिकांश सामग्री इसी युग से सम्बन्धित है, हालाँकि इसका जो पाठ अब पाया जाता है वह सामान्यतः बाद के काल का है।

के साधन के रूप में योग का प्रतिपादन करते हैं, कुछ संन्यास का; कुछ परमेश्वर के रूप में शिव का वर्णन करते हैं, कुछ विष्णु का। लेकिन यहाँ हम उन सब पर विचार नही कर सकते, क्योंकि उनमें से अनेक की तिथि अत्यधिक संदिग्ध है। उनके प्रतिनिधि के रूप मे हम केवल एक मैत्री उपनिषद् को लेंगे, जिसके इस युग के होने के बारे में सामान्य सहमति है, हालाँकि यह उपनिषद् भी बाद में जोड़े गए अशों से रहित नही है। कल्प के अन्तर्गत श्रौतसूत्र प्रकटतः ब्राह्मणों के यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य को व्यवस्थाबद्ध करने का दावा करते है, लेकिन निश्चित रूप से बाद की भी काफ़ी सामग्री उनमें शामिल है। गृह्य-सूत्रो में परिवार के दृष्टिकोण से जीवन के आदर्श का चित्रण है और विवाह और उपनयन, अर्थात् गुरु के द्वारा शिष्य का वेदारम्भ, इत्यादि संस्कारों का वर्णन है। धर्मसूत्र रूढ़ नियम और आचार का वर्णन करते हैं और इस प्रकार राज्य या समाज के दृष्टिकोण से जीवन के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। ये सब सूत्रग्रन्थ मंत्रों और ब्राह्मणों की ही तरह मुख्यतः याजकीय जीवन से सम्बन्धित हैं। जो कुछ भी प्रगति उनमें दिखाई देती है या जो कुछ भी विस्तार उनमें किया गया है, वह कर्मकाण्ड-विषयक है और इसलिए दर्शन में उनकी रुचि परोक्ष मात्र है। इस युग से सम्बन्धित जानकारी का उपनिषदों और कल्पसूत्रों से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत महाकाव्यों, विशेष रूप से महाभारत, के वे अंश हैं जो पहल के रचे हुए है। महाभारत को वेदोत्तर काल के आख्यानों और मतों का महा-गार कहा गया है और इसके विषय की व्यापकता इसके अठारह पर्वों मे से अन्तिम पर्व के इस वचन से सुस्पष्ट है कि "मनुष्य के कल्याण के विषय मे जो कुछ भी ज्ञातव्य है वह सब इसमें है और जो यहाँ नही है वह अन्यत्र कही भी नही है।" लेकिन विचित्र बात यह है कि इसमें आस्तिक और नास्तिक दोनों ही मत अगल-बगल पाए जाते हैं और प्रायः एक सिद्धान्त दूसरे से संगति का ध्यान रखे बिना मिला दिया गया है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि महा-भारत किसी एक व्यक्ति या युग की रचना नहीं है, बल्कि अनेक पीढ़ियों या शताब्दियों तक चलनेवाले परिवर्तनों और परिवर्धनों का फल है। यद्यपि जिस युग पर हम विचार कर रहे हैं उससे सम्बन्धित काफ़ी सामग्री इसमें है, तथापि बाद के युग की सामग्री भी निस्सन्देह इसमें बहुत है। लेकिन इसमें पुरानी सामग्री को नई से पृथक् करना अति कठिन है। इस कारण और साथ ही इस ग्रन्थ की विशालता तथा इसके अब तक प्रकाशित संस्करणों के अना-लोचनात्मक स्वरूप के कारण हम इसके ऊपर विस्तार से विचार करने में असमर्थ हैं। हम केवल इसमें पाई जा सकनेवाली उन मोटी-मोटी विचार-

प्रवृत्तियों को ही बता सकते हैं जिनका विचाराधीन युग से सम्बन्ध है।[1] इस अध्याय में हम संस्कृत-ग्रन्थों को लेंगे और इस भाग के अन्तिम दो अध्यायों में ही बौद्ध धर्म और जैन धर्म पर विचार करेंगे, जिनके प्रारम्भिक सिद्धान्त हम तक प्राकृत के माध्यम से पहुँचे हैं। महाभारत पर विचार करते समय हम भगवद्गीता पर उसके अत्यधिक महत्त्व को देखते हुए पृथक् रूप से विचार करेंगे।

पिछले भाग में हमने विचार की जिन चार धाराओं का उल्लेख किया था, उनका यहाँ भी वर्णन है। ये हैं : *कर्मकाण्डवाद, ब्रह्मवाद,* *ईश्वरवाद* और वह जिसे हमने ब्लूमफ़ील्ड का अनुसरण करते हुए 'वैदिक स्वतन्त्र चिन्तन' कहा है। लेकिन इनमें से प्रत्येक में न्यूनाधिक महत्त्व के परिवर्तन पाए जाते हैं, *जिन्हें हम अब संक्षेप में बताएँगे :*

(1) कर्मकाण्डवाद—यह कल्पसूत्रों का सिद्धान्त है, जिनका उद्देश्य वेद के कर्मकाण्ड-विषयक उपदेशों में *विस्तार और व्यवस्था लाना है।* इस प्रयोजन से वे उस साहित्य को संहिताबद्ध करने का प्रयत्न करते हैं जिसमें ये उपदेश निहित हैं। वे इसकी सीमाएँ निर्धारित करते हैं और उसके अध्ययन और परिरक्षण के लिए कड़े नियम बाँधते हैं। वेद के पाठ (स्वाध्याय) तक को वे एक 'यज्ञ' और तप का सर्वोत्कृष्ट रूप बताते हैं।[2] चार आश्रमों की व्यवस्था को वे और अधिक कड़ाई से बाँध देते हैं—विशेष रूप से ब्रह्मचारी के आश्रम को, जिसे वेद का अध्ययन करना है, और गृहस्थ के आश्रम को, जिस पर वेद के *अधिकतर आदेश लागू होते हैं। इस प्रकार कल्पसूत्रों की अभिवृत्ति मुख्यतः* अतीत की ओर है और ये इस युग की विचारधारा में रूढ़ि का प्रतिनिधित्व करते हैं। अब हमारे लिए कर्मकाण्ड का अधिक महत्व नहीं रहा; और इसलिए इस सम्बन्ध में जो भी और टीका-टिप्पणियाँ हम आवश्यक समझेंगे वे अगले भागों में मीमांसा के अध्याय में की जाएँगी। ध्यान देने की एकमात्र बात यह है कि कल्पसूत्रों में लगभग पूरी तरह से परम्परा का ही प्रामाण्य है और उसका प्रामाण्य अबाध्य समझा जाता है। परम्परा का सम्मान ब्राह्मणों में भी पाया जा सकता है, जो कभी-कभी अपने सिद्धान्तों के समर्थन में किसी पुराने ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं या किसी प्राचीन आचार्य का उल्लेख करते हैं। लेकिन उनमें

1. अपने विचारों का मुख्य आधार हम शान्तिपर्व के मोक्षधर्म को बनाएँगे, क्योंकि महाभारत का सबसे बड़ा दार्शनिक अंश है और महत्त्व में जिससे बड़ा केवल भगवद्गीता ही है।
2. आपस्तंब-धर्मसूत्र, 1.12.1 और 3।

वह अस्पष्ट-सा है, और यहाँ की तरह उसे विधिवत् स्वीकार नहीं किया गया है। स्वयं परम्परा भी द्विविध है; या तो वह वेद की है या उसकी है जिसे 'समय' कहा गया है, अर्थात् वह जिसका शिष्ट आर्य सदैव आचरण करते हैं। लेकिन कल्पसूत्र यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसा आचरण भी वेद के किसी अंश पर आधारित है, और यदि वह अंश अब उपलब्ध नहीं है तो सरलता से यह मान लिया जाता है कि वह लुप्त हो गया है।[1] प्राचीन नियमों और रूढ़ियों को संहिताबद्ध करने में जो अत्यधिक ध्यान दिया गया है उससे पता चलता है कि कल्पसूत्रों के रचयिता अपने पूर्वजों की तुलना में स्वयं को हीन समझते थे।[2] इससे उनका यह भय भी प्रकट होता है कि उनकी सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं में बाह्य प्रभावों के कारण दूषण आ सकता है। यह भय इस तथ्य के कारण उचित भी था कि उस समय समाज के नास्तिक वर्गों का बल बढ़ रहा था और उन्होंने रचनात्मक शक्ति का प्रदर्शन तथा अपने अलग ही सिद्धान्तों को बनाना शुरू कर दिया था।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, बाद के उपनिषदों में ब्राह्मणों में विहित यज्ञ-पद्धति की ओर वापस लौटने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। मैत्री उपनिषद् में, जिसे हमने विचाराधीन युग के नमूने के बतौर चुना है, यह प्रवृत्ति चरम रूप में है, क्योंकि उसमें हम वैदिक कर्मकाण्ड में आसक्ति देखते हैं और वहाँ इसे आत्मज्ञान के लिए अपरिहार्य बताया गया है। यह परिभाषा देने के बाद कि धर्म वह है जिसका वेद में विधान किया गया है, यह उपनिषद् इतना और जोड़ देता है कि इसका जो अतिक्रमण करता है उसके जीवन को नियमित नहीं कहा जा सकता।[3] किन्तु साथ ही बाद के उपनिषदों में एक ऐसी अवस्था की बात भी सोची गई है जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान आवश्यक नहीं रहता। इस प्रकार उनका रुख कर्मकाण्ड के प्रति अननुकूल तो नहीं है, लेकिन कल्पसूत्रों का-जैसा भी नहीं है, जो प्रत्येक अन्य बात को कर्मकाण्ड से गौण

---

1. यह कहा गया है कि पथ-प्रदर्शन के लिए सारे नियम ब्राह्मणों में दिये हुए हैं, लेकिन जब किसी प्रचलित आचार के समर्थन में उनका कोई वचन नहीं मिलता, तब उस आचार में यह अनुमान करना चाहिए कि कभी उनमें ऐसा वचन रहा होगा। देखिए आपस्तंब-धर्मसूत्र 1.12.10. 'समय' को उचित सिद्ध करने के अन्य तरीके भी थे। देखिए गौतम-धर्मसूत्र 1.6 का भाष्य।
2. देखिए आपस्तंब-धर्मसूत्र, 1.5.4।
3. 4.3।

मानते हैं। जैसे, मैत्री उपनिषद्[1] ज्ञानी के बारे में कहता है कि "वह केवल आत्मा का ही ध्यान करता है; वह आत्मा के अन्दर ही यज्ञ करता है।" यह ऐसा वचन है जिसे इस उपनिषद् की वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति जो सामान्य धारणा है उसे देखते हुए उसके प्रति विरोधभाव का सूचक नहीं मानना चाहिए, बल्कि केवल उसके लिए इसकी अनावश्यकता का सूचक मानना चाहिए जो प्रारम्भिक अभ्यास की अवस्था को पार कर चुका है। यहाँ हम कर्मकाण्ड के बारे में एक नई धारणा पाते हैं, जो बाद में काफ़ी प्राधान्य प्राप्त कर लेती है। इस धारणा के अनुसार यज्ञ का प्रयोजन न तो देवताओं से भौतिक वस्तुओं की याचना करना है और न वह एक जादू का-सा प्रभाव रखनेवाली चीज मात्र है, बल्कि वह पाप का नाश (दुरितक्षय) करनेवाली चीज है—अर्थात् हृदय-शुद्धि का साधन है और इसके अनुष्ठान से मोक्ष प्राप्त करानेवाले ज्ञान का सफलता-पूर्वक अभ्यास करने की योग्यता आ जाती है।[2] "यज्ञानुष्ठान से शुद्धता आती है और शुद्धता से विवेक उत्पन्न होता है। विवेक से आत्मलाभ होता है और आत्मलाभ से इस लोक में प्रत्यावृत्ति नहीं होती।"[3]

वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति महाभारत का दृष्टिकोण बिलकुल अनिश्चित है। उसके ऐसे अंश उद्धृत किए जा सकते हैं जो यज्ञ की स्तुति करते हैं; लेकिन उसमें ऐसे भी अंश हैं जिनका सामान्य तात्पर्य कर्मकाण्ड के प्रतिकूल या उसका विरोध तक करनेवाला है। इस प्रकार एक अध्याय में (12.272), जिसे 'यज्ञ-निन्दा' कहा गया है, एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण की कथा बताई गई है, जो वन में रहता है और यज्ञानुष्ठान की इच्छा लेकिन जीव-हिंसा की अनिच्छा से देवताओं को केवल अन्न अर्पण करता है। वहाँ रहनेवाला एक मृग, जो वेशान्तरित धर्म ही है, यह देखता है और ऐसे यज्ञ को व्यर्थ बताकर स्वयं को बलि-पशु के रूप में प्रस्तुत करता है। ब्राह्मण पहले तो उसकी बलि देने से इन्कार करता है, लेकिन जब मृग बताता है कि उसकी बलि से स्वयं उसका भी कल्याण होगा, तब वह स्वीकृति दे देता है। कथा के इस मोड़ का प्रयोजन स्पष्टतः उन लोगों के कुतर्क का भंडाफोड़ करना है जो पशु-बलि को इस आधार पर उचित बताते थे कि यज्ञ करनेवाले के साथ-साथ बलि-पशु का भी कल्याण होता है। आगे इस कथा में बताया गया है कि ज्योंही मृग का

1. 6.9।
2. यह धारणा श्वेताश्वतर उपनिषद् (2.7) में पहले से विद्यमान है। देखिए Hopkins : Ethics of India, पृ० 53।
3. मैत्री उपनिषद्, 4.3।

बलिदान किया गया, त्योंही ब्राह्मण के वे सारे पुण्य क्षीण हो गए जो उसने अपने पिछले धर्मनिष्ठ जीवन से अर्जित किए थे और मृग ने अपना मूल दिव्य रूप धारण करके उसे अहिंसा का उपदेश दिया तथा इसे एकमात्र धम (सकलो धर्मः) बताया।[1]

(2) ब्रह्मवाद[2]—यह तो स्पष्ट है कि एकवाद उत्तरवर्ती उपनिषदों का प्रधान सिद्धान्त है, लेकिन कहीं-कहीं उनमें पूर्ववर्ती उपनिषदों की तरह ही यह निश्चय नहीं हो पाता कि एकवाद के किस रूप का उपदेश दिया गया है। उनमें ऐसे स्थल आसानी से मिल जाते हैं जो स्वतः सप्रपंचवाद और निष्प्रपंचवाद दोनों में से किसी के भी समर्थक समझे जा सकते हैं। फिर भी, उनकी सामान्य प्रवृति वास्तववादी पक्ष पर जोर देने की—भौतिक जगत् को ब्रह्म से वस्तुतः उत्पन्न होनेवाला मानने की—और जीवात्मा और ब्रह्म में तथा एक जीवात्मा और दूसरे जीवात्मा में भेद करने की है। उदाहरणार्थ, मैत्री उपनिषद् (3.2) में जहाँ जीव को 'भूतात्मा', अर्थात् पाँच भूतों से निर्मित देह से बँधा हुआ आत्मा, कहा गया है तथा ब्रह्म से 'अन्य' और 'अपर' बताया गया है, जीवात्मा और ब्रह्म का भेद अच्छी तरह से स्पष्ट है। "प्रकृति के गुणों से अभिभूत होकर यह मोहग्रस्त हो जाता है और इसलिए अपने अन्दर निवास करनेवाले सर्वशक्तिमान् ईश्वर को देखने में असमर्थ रहता है।" निस्सन्देह जीव और ब्रह्म का अन्तर सहज नहीं है, क्योंकि जैसा कि 'भूतात्मा' नाम से स्पष्ट है, इसका कारण केवल जीव का भौतिक देह से सम्बद्ध होना है; और यदि जीव इस सत्य को समझ लेता है तो यह अन्तर मिट सकता है तथा जीव

1. जैसा कि हमें इस समय बौद्ध और जैन धर्मों से ज्ञात है, अहिंसा नास्तिक विचारधारा का अभिन्न अंग है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि आस्तिक विचारधारा को यह अज्ञात है। गौतम के कल्पसूत्र में इसे काफी प्रमुख स्थान प्राप्त है (2.19; 9.70); और छान्दोग्य उपनिषद् में भी, उदाहरणार्थ 3.17.4 में, इसका उपदेश है। तथ्य यह है कि यह प्रारम्भ में तपस्वी जीवन के वानप्रस्थ-आश्रम के आदर्श का अभिन्न अंग थी और इसके वेदविहित होने के विरुद्ध सामान्यतः की जाने वाली यह आपत्ति इस पर लागू नहीं होती कि इसकी पशु-बलि से संगति नहीं है। देखिए Ethics of India, पृ० 165-6 तथा प्रो० जैकोबी : Sacred Books of the East, जिल्द 22, पृ० XXII इत्यादि।

2. कल्पसूत्र 'आत्म-लाभ' और 'ब्रह्म-सायुज्य' (ब्रह्म से एकत्व) को परम पुरुषार्थ बताते हैं। किन्तु यह एक आनुषंगिक बात प्रतीत होती है, क्योंकि उनका सबसे पहला उद्देश्य कर्मकाण्ड की व्याख्या करना है। हम अगले भाग के मीमांसा-शीर्षक अध्याय में उनके सिद्धान्त के इस पक्ष को पुनः लेंगे। देखिए आपस्तंब-धर्मसूत्र 1.22.2 इत्यादि; गौतम-धर्मसूत्र, 8.22-3; 3.9।

ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर सकता है (4.4)। फिर भी यहाँ जीव के ब्रह्म से अस्थायी रूप से पृथक् होने की स्वीकृति स्पष्ट है और इसका यह अर्थ हुआ कि ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाला भौतिक जगत् सत्य है। ऐसे विचार पुराने उपनिषदों में पहले से विद्यमान हैं, लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस उपनिषद् में उनका विस्तार किया गया है और उन पर अधिक ज़ोर दिया गया है।

महाभारत की बात यह है कि उसके विचार और उसकी भाषा दोनों पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और एकवाद उसके उपदेश की एक प्रमुख विशेषता है। लेकिन उसमें पाए जानेवाले ऐसे वर्णनों की सामान्य अनिश्चितता के कारण यह निर्णय करना आसान नहीं है कि उसके किसी अंश मे एकवाद का कौन-सा विशेष रूप है। उसमें सप्रपंचवादी और निष्प्रपंचवादी दोनों ही धारणाएँ दिखाई देती हैं और प्रायः इनमें से एक से शुरू होनेवाला वर्णन आसानी से दूसरी की ओर झुक जाता है। यह कहना भी इतना ही मुश्किल है कि महाभारत में इन दो धारणाओं मे से कौन-सी अधिक प्राचीन है। मूल महाभारत की लोकप्रियता से यह प्रतीत होता है कि सप्रपंचवादी धारणा को अधिक प्राचीन होना चाहिए। यद्यपि महाभारत में यह धारणा उसी रूप मे है जिस रूप में उपनिषदों में है, तथापि यहाँ इसके साथ अतिरिक्त बातें भी जुड़ी हुई हैं, क्योंकि महाभारत के अन्य वर्णनों की तरह ही यह भी प्राचीन वैदिक विचारधारा की याद दिलानेवाले देवाख्यानों के साथ प्रस्तुत की गई है। उदाहरणार्थ, एक लम्बे प्रकरण (12.231-255) में, जो प्रकटतः महर्षि व्यास और उनके पुत्र शुक के बीच हुए संवाद का विवरण है, स्रष्टा के अपने अलग ही दिन और रात बताये गए हैं, जिनमें से प्रत्येक की अवधि मनुष्यों के दिन-रात की तुलना में अनन्तप्राय है। सृष्टि ऐसे प्रत्येक दिन के प्रातःकाल मे होती है और उसके अन्त में उसका संहार हो जाता है। यहाँ (12.231.11) एकमात्र ब्रह्म की ही सृष्टि से पहले सत्ता बताई गई है, जो "अनादि, अनन्त, अजात, तेजस्वी, अव्यय, अचल, अविनश्वर और अचिन्त्य या अज्ञेय है।" जगत् को उसका विकार ('विकुरुते') कहा गया है (12.231.32)। इस प्रकार यहाँ वही मत व्यक्त किया गया है जिसे हमने ब्रह्मपरिणामवाद कहा है। ब्रह्म से सर्वप्रथम महत् (बुद्धि) और मनस् पैदा होते हैं; तब क्रमशः आकाश इत्यादि भूत अपने-अपने विशेष गुणों के साथ प्रकट होते हैं (12.232.2-7)। दूसरे शब्दों में, अव्याकृत आदि सत्ता व्याकृत हो जाती है अथवा कालातीत कालावच्छिन्न बन जाता है। परन्तु ये सात तत्त्व—दो अभौतिक और पाँच भौतिक—तब तक सृष्टि की प्रक्रिया को आगे नही बढ़ा सकते जब तक परस्पर अलग रहते हैं।

अतः वे संयुक्त होकर शरीर को उत्पन्न करते हैं। उसमें प्रविष्ट आत्मा, जिसे कभी-कभी 'प्रथमज'[1] कहा जाता है, प्रजापति है, जो हमारे अनुभव के जगत् की जड़ और चेतन दोनो प्रकार की वस्तुओं की सृष्टि करता है। प्रलय इसके विपरीत क्रम में होता है, जब ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् को अपने अन्दर वापस खींच लेता है। सृष्टि और प्रलय की प्रक्रियाएँ क्रम से चलती रहती हैं, जैसा कि ऊपर के वृत्तान्त में 'दिन' और 'रात' के प्रयोग से उपलक्षित होता है। यहाँ ध्यान देने की विशेष बातें ये हैं: (1) माया का सृष्टि की योजना में कोई स्थान नही है;[2] (2) सृष्टि-प्रक्रिया में दो चरण हैं—पहले मे सीधे ब्रह्म से विश्व के अभौतिक और भौतिक तत्त्व पैदा होते हैं, जिन्हें 'ब्रह्माण्ड के घटक' कहा जा सकता है, और दूसरे में प्रजापति से जगत् की नाना वस्तुएँ पैदा होती हैं;[3] तथा (3) सृष्टि एक निश्चित अवधि के अनन्तर बार-बार होती रहती है, और इसमें कल्प का विचार समाविष्ट है, जो पहले के साहित्य में अज्ञात तो नहीं है किन्तु स्पष्ट भी नही है।

(3) ईश्वरवाद[4]—वैदिक साहित्य में ईश्वरवाद का स्थान हम दिखा चुके हैं। अपुरुषरूप ब्रह्म के पुरुषरूप ईश्वर मे रूपान्तरित किए जाने की जो प्रक्रिया पुराने उपनिषदो में चल रही थी, वह यहाँ पूरी हो जाती है और वैदोत्तर युग में एकेश्वरवादी धारणाओं में सबसे पहले प्रकट होनेवाली ब्रह्मा की धारणा है।[5] प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में उपलब्ध प्रमाण के अनुसार यह धारणा बुद्ध के समय में शीर्ष-स्थान पर प्रतिष्ठित हो गई थी।[6] यह महाभारत के अधिक प्राचीन भागों में पाई जाती है; किन्तु प्रजापति और ब्रह्म, जिन्हे समान रूप से विश्व का उत्पत्ति-स्थान माना जाता था, के बहुत पहले से एक समझे चले आने के कारण ब्रह्मा को, जिसकी धारणा ब्रह्म की धारणा से व्युत्पन्न है,

1. देखिए पीछे पृ० 82 की पादटिप्पणी सं० 3।
2. यहाँ सृष्टि के दो वृत्तान्तों में से एक (अध्याय 232.2) में 'अविद्या' शब्द अवश्य आया है; लेकिन जैसा प्रो० हॉपकिन्स (The Great Epic of India, पृ० 141) ने कहा है, यह एक बाद का विचार है।
3. इन दो चरणों को क्रमशः समष्टि-सृष्टि और व्यष्टि-सृष्टि कहा जाता है।
4. यहाँ हम केवल महाभारत की बात करेंगे, क्योंकि कल्पसूत्रों में और बाद के उपनिषदों तक में, यदि विशेषतः विष्णु या शिव की स्तुति करनेवाले उपनिषदों को छोड़ दिया जाए तो, ईश्वरवाद बहुत कम है।
5. Macdonell: History of Sanskrit Literature, पृ० 285; तथा India's Past, पृ० 34.
6. देखिए, Mrs. Rhys Davids: Buddhism, पृ० 57.

प्रायः प्रजापति से एक माना जाता है। ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठता को बताने के लिए हम महाभारत (12.256-8) के 'मृत्यु-प्रजापति-संवाद' नामक अंश का उल्लेख कर सकते हैं, जो एक आख्यान के रूप में मृत्यु की महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।[1] इसमें बताया गया है कि प्रजापति, जो ब्रह्मा का ही नाम है (258.13), प्राणियों की सृष्टि करते हैं; और कुछ समय के पश्चात् जब वह देखते हैं कि लोक उनसे बिलकुल भर गए हैं—उनके लिए साँस लेना भी कठिन हो गया है, तब सम्पूर्ण सृष्टि के विनाश के लिए उनके मन में क्रोध का उद्रेक होता है। उनके क्रोध की ज्वाला में सब 'जड़ और जंगम वस्तुएँ' भस्म होने लगती हैं। इतने में करुणा से अभिभूत शिव ब्रह्मा के पास जाते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। स्तुति से प्रसन्न होकर ब्रह्मा सामूहिक विनाश के स्थान पर प्रत्येक प्राणी की अलग-अलग मृत्यु का विधान करते हैं, जिससे यह उपलक्षित होता है कि जीवन के—विश्व के जीवन के—चलते रहने के लिए मृत्यु किसी-न-किसी रूप में आवश्यक है और व्यष्टि का नाश कोई बुरी बात होना तो दूर रहा, उल्टे सम्पूर्ण विश्व के परिरक्षण के लिए नितान्त आवश्यक है। विचित्र बात यह है कि ब्रह्मा यह निश्चित करने के लिए कि कौन कब मरे, जिसे नियुक्त करते हैं उसे उनके क्रोध से उत्पन्न एक सुन्दर देवी बताया गया है। यह देवी इस दुःखदायी कर्म को करने के लिए अत्यधिक अनिच्छा प्रकट करती है, विशेष रूप से इसलिए कि उसे वृद्धों के साथ युवकों के जीवन को भी समाप्त करना होगा (258.4), परन्तु ब्रह्मा यह आश्वासन देते हुए उसे शान्त करते हैं कि वह विधान के अनुसार काम करेगी और इसलिए विनाश की प्रक्रिया में सहायता करने के लिए उसे कोई पाप या दोष नहीं लगेगा। मृत्यु की देवी न्याय (धर्म) की देवी है। इसके मूल में जो विचार है वह अब तक जीवन-विषयक भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता रहा है और भारतीयों के कर्मवाद का सार है, जिसके अनुसार मृत्यु या किसी अन्य प्रकार के दण्ड को देनेवाला कोई बाह्य शक्ति नहीं है, बल्कि वह तो कर्म का कर्ता के ऊपर उलटकर पड़नेवाला प्रभाव मात्र है। पापी अपने पाप के परिणामस्वरूप ही दुःखी होता है। ब्रह्मा को यहाँ परम देवता (परमो देवः) कहा गया है। वह इस जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता होने के कारण इसकी सभी घटनाओं का नियामक है। उसे क्रोध, प्रेम और दया के भावों से प्रेरित होनेवाला दिखाया

---

1. हमारा यह सुझाव नहीं है कि ये अंश अपने वर्तमान रूप में अवश्य ही संप्रति विचाराधीन युग की रचनाएँ हैं। इनमें उसका संकेत मात्र है, जिसे अब सब वेदोत्तरकालीन एकदेववाद का प्राचीनतम रूप मानते हैं।

गया है, जिससे प्रकट होता है कि उसकी धारणा नितान्त पुरुषपरक है। वह सभी देवी-देवताओं से श्रेष्ठ है, क्योंकि शिव तक यह कहकर अपनी हीनता प्रकट करते हैं कि उन्हें ब्रह्मा ने जगद् के कल्याण के लिए नियुक्त किया है (257.11), और मृत्यु की देवी उस भयानक काम से बचने के लिए, जो उसके ज़िम्मे पड़ा है, किसी और से नहीं बल्कि ब्रह्मा से ही प्रार्थना करती है।

वैदिक एकेश्वरवाद के परिवर्तनशील स्वरूप की यहाँ भी कुछ आवृत्ति होती है और ब्रह्मा का स्थान शिव ले लेते हैं। ऐसा लगता है कि यूनानियों के आक्रमण के समय तक शिव की धारणा इस श्रेष्ठ स्थिति में पहुँच गई थी।[1] महाभारत के अपेक्षाकृत बाद के कुछ अंशों में यह इस स्थिति में पहुँची हुई है। फिर भी, यह पदोन्नति एक प्राचीन वैदिक देवता को श्रेष्ठता प्रदान करना मात्र है, क्योंकि शिव या रुद्र, जिस नाम से उसका वेद में प्रायः उल्लेख हुआ है, न केवल ब्रह्मा से पुराना है, बल्कि प्रजापति से भी, जिसकी धारणा उत्तरवर्ती वैदिक युग से पहले नहीं मिलती। एक प्राकृतिक देवता होने के कारण वह एक भिन्न प्रकार की दिव्य शक्ति का प्रतीक भी है। इस धारणा के इतिहास को एकदम शुरू से खोजना एक रोचक बात है। प्राचीन मानव जिन शक्तियों की पूजा करता था, उनमें शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की शक्तियों का होना स्वाभाविक है। रुद्र एक अशुभ शक्ति है। वह एक 'गरजने-वाला' देवता है, जो अपने पुत्र मरुतों (तूफ़ान के देवता) की सहायता से महा-विनाश फैलाता फिरता है। लेकिन कालान्तर में उसका नाम 'शिव' अर्थात् 'कल्याणकारक' हो गया। जो सचमुच एक दिव्य शक्ति है, वह स्वरूपतः अशुभ नहीं हो सकती; और इसलिए यदि उससे कोई भय होता है, तो इसका कारण मनुष्य की पाप-बुद्धि को होना चाहिए। पूरी सम्भावना इस बात की है कि इस सत्य का बोध ही रुद्र के नाम-परिवर्तन का कारण बना।[2] रुद्र और शिव के इस द्वैध रूप में वह प्रेम और भय दोनों की वस्तु बन गया;[3] और जब क्रमशः उसका महत्त्व बढ़ गया, तब वह परमेश्वर बन गया। अथर्ववेद (4.28.1) में

1. Macdonell : History of Sanskrit Literature, पृ० 286.
2. देखिए भण्डारकर : Vaiṣnavism, Śaivism, etc. पृ० 102। महाभारत 12.284 की टीका में नीलकण्ठ का कथन भी द्रष्टव्य है। कुछ लोगों का मत है कि नया नाम 'शिव' मृदूक्ति मात्र है—अर्थात् भयानक को मृदु नाम से पुकारने की आदत का फल है (Macdonell : India's Past, पृ० 30)।
3. स्वभाव की इस द्वैधता के कारण ही शिव की अर्धनारीश्वर के रूप में कल्पना की गई।

और ऋग्वेद (7.46.2) में भी कम-से-कम एक बार यहाँ जहाँ शिव के 'साम्राज्य' का उल्लेख है, शिव को परमेश्वर के रूप में माना गया है; किन्तु सब बातों का विचार करने से यह प्रतीत होता है कि वहाँ उसकी सर्वश्रेष्ठता वैदिक ऋषियों की किसी देवता की स्तुति करते समय उसकी महत्ता को अतिरंजित करने की प्रवृत्ति का फल है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (जैसे 3.4) में एक से अधिक बार इस देवता का उल्लेख हुआ है और वहाँ उसका सर्वश्रेष्ठ पद अधिक निश्चित है, फिर भी यहाँ वह ब्रह्म की दार्शनिक धारणा से घुला-मिला लगता है और जिस प्रकार महाभारत में वह प्रायः एक लौकिक देवता लगता है उस प्रकार यहाँ कम ही लगता है। महाभारत में उसकी श्रेष्ठता अथवा श्रेष्ठता की प्राप्ति के कुछ पहले की अवस्था के उदाहरणस्वरूप उस प्रकरण[1] का हवाला दिया जा सकता है जिसमें यह प्रसिद्ध कथा बताई गई है[2] कि कैसे रुद्र के दूतों ने दक्ष के यज्ञ का इस कारण विध्वंस कर डाला कि उनके स्वामी को उसमें आमन्त्रित नहीं किया गया, और जिसमें रुद्र को देवताओं में सर्वश्रेष्ठ तथा जगत् का कर्ता और धर्ता दोनों कहा गया है।

इसी काल के आस-पास और शायद देश के किसी अन्य भाग में[3] एक अन्य देवता विष्णु को प्रधानता मिली। यह भी शिव के समान लेकिन प्रजापति के विपरीत एक पुराना वैदिक देवता है और ऋग्वेद में एक छोटे देवता के रूप में, या अधिक-से-अधिक दूसरों के बराबर के स्तर के देवता के रूप में आता है। वहाँ उसका इन्द्र से घनिष्ठ साहचर्य है और बाद की पौराणिक कथाओं में तो उसे 'इन्द्रावरज' (इन्द्र का छोटा भाई) तक कहा गया है। ब्राह्मणों में उसका पद अधिक प्रतिष्ठित हो गया है[4] और उसका बार-बार यज्ञ से अभेद किया गया है—उसको प्राप्त यह प्रतिष्ठा प्रजापति को प्राप्त प्रतिष्ठा के तुल्य है और भविष्य में उसे मिलनेवाले सर्वश्रेष्ठ पद का पूर्वाभास है। धीरे-धीरे वह अन्य देवताओं से ऊँचा होता जाता है और अन्त में सर्वोच्च बन जाता है। विशेष रूप से प्रजापति से उसके पद का ऊँचा होना स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, क्योंकि पहले जो प्रजापति के चरित माने जाते थे, वे धीरे-धीरे विष्णु के माने जाने लगे। उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण (7.4.3,5; 14.1.2,11) के

1. 12.284
2. यहाँ यज्ञधर्म के प्रति जो विरोध-भाव उपलक्षित होता है वह ध्यान देने योग्य है।
3. देखिए, Macdonell : History of Sanskrit Literature, पृ० 411.
4. Prof. Keith : Religion and Philosophy of the Veda, पृ० 110-112।

अनुसार प्रजापति ने कच्छप और वराह के रूप धारण किए थे; लेकिन बाद में इन्हें विष्णु के अवतार माना गया। अब मानव-जाति की रक्षा के लिए अवतार के रूप में प्रकट होने की इच्छा विष्णु की विशेषता समझी जाती है और उसकी विशिष्ट लोककल्याण की वृत्ति की सूचक है। अनुषंगतः यह भी बता दिया जाना चाहिए कि 'अवतार' शब्द का अर्थ 'नीचे उतरना' यानी ईश्वर का पृथ्वी पर आना है और इसमें यह धारणा निहित है कि जब मनुष्य अपने अन्दर स्थित दैवी तत्व को भूलकर एक प्रकृति-प्रेरित जीव मात्र की अवस्था में लौटने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, तब ईश्वर हस्तक्षेप करता है। "जब धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं जन्म लेता हूँ।"[1] तब देह धारण करके वह धर्म की पुनः स्थापना करता है और मनुष्य के अनुकरण के लिए मूर्तिमान आदर्श का काम करता है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि शिव की धारणा की तरह विष्णु की धारणा भी यूनानियों के आक्रमण के समय तक प्रमुखता प्राप्त कर चुकी थी। उत्तरवर्ती वैदिक युग में इनसे अलग नारायण की धारणा का भी धीरे-धीरे विकास हो रहा था। 'नारायण' शब्द का अर्थ है 'नर यानी आदिपुरुष की सन्तान'—उस आदिपुरुष की जिससे, पुरुष-सूक्त के अनुसार, सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मणों[2] के कुछ स्थलों में नारायण को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है और बाद में उसका विष्णु से अभेद किया गया है, जिससे रुद्र-शिव की धारणा से मिलती-जुलती विष्णु-नारायण की धारणा का उदय होता है। इसके बाद से भारत की धार्मिक विचारधारा में इन्हीं दो धारणाओं का प्राधान्य चला आ रहा है।[3] ब्रह्मा की धारणा का मूल और आधार लौकिक उपासना में न होकर परिकल्पना में है और इसलिए अपने उदात्त स्वरूप के बावजूद भी ब्रह्मा जनता की धार्मिक भावनाओं को आकर्षित न कर सका।[4]

विष्णु-नारायण को महाभारत में सबसे अधिक बार सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। किन्तु यह धारणा प्रायः एक अन्य धारणा से मिली हुई पाई जाती है,

---

1. भगवद्गीता, 4-7।
2. शतपथब्राह्मण,-13.6.1.1।
3. किन्तु इनमें से कोई भी किसी सम्प्रदाय-विशेष का देवता नहीं है, जैसे कि सबसे पुराना देवता ब्रह्मा भी किसी विशेष सम्प्रदाय का नहीं था। [illegible] इतिहास में सम्प्रदायगत [illegible] विचारशील युग के [illegible] काल में आती है।
4. Encyclopaedia of Religion and Ethics, जिल्द [illegible]

जिसकी उत्पत्ति और सामान्य विशेषताओं की चर्चा अब की जाएगी। ईश्वर-परक चिन्तन की इस दूसरी धारा को भागवतोक्त ईश्वरवाद कहा जाता है। इसमें ईश्वर को केवल लोकोत्तर माना गया है जबकि वैदिक ईश्वरवाद का झुकाव, जैसी कि उसके उपनिषदों के सजातीय होने से आशा की जा सकती है, ईश्वर को लोक में व्याप्त और लोक से अतीत दोनों ही मानने की ओर है। भागवत-धर्म की उत्पत्ति ब्राह्मणेतर वर्ग मे हुई लगती है, हालांकि उसे अनार्य-मूलक नही मानना चाहिए। इसका प्रारम्भ शायद देश के उस भाग में हुआ जो गंगा-यमुना के बीच के प्रसिद्ध मध्यदेश के पश्चिम में है, जहाँ अधिकतर पूर्ववर्ती उपनिषद् रचे गए थे। इसकी स्थापना बुद्ध के समय से बहुत पहले श्रीकृष्ण के द्वारा हुई, जो वहाँ रहनेवाले आर्य कबीलों का नेता था।[1] इसकी मुख्य विशेषता यह मानना था कि एकमात्र ईश्वर वासुदेव है और मोक्ष उसकी अविचलित भक्ति का फल है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह धारणा ईश्वर की इब्रानी धारणा से मिलती-जुलती है, जो हमने ऋग्वेद के वरुण की धारणा में भी देखी है। वास्तव में जर्मन प्राच्यविद्याविद् वेबर इत्यादि कुछ विद्वान् इसे ईसाई धर्म से प्रभावित मानते हैं; किन्तु वासुदेव की उपासना का खीष्टाब्द से बहुत पहले प्रचलित होना असंदिग्ध है, इसलिए इस मत को विद्वानों ने सामान्यतः स्वीकार नही किया है।[2] कालान्तर में, जैसा कि प्रायः होता है, जिस नेता ने इस धर्म का प्रचार किया वह स्वयं देवता बना दिया गया और उसका ईश्वर से अभेद कर दिया गया। श्रीकृष्ण के काल मे परमेश्वर का नाम शायद 'भगवत्'[3] था जिससे उसके पूजक 'भागवत' हुए। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवद्गीता' के नाम से, जोकि महाभारत मे प्रक्षिप्त मालूम पड़ती है, यह प्रकट होता है कि जब इसकी रचना हुई थी तब श्रीकृष्ण की ईश्वर के रूप में पूजा होने लगी थी। यह धर्म बाद में मध्यदेश के ईश्वरवाद से मिश्रित हो गया और ऐसा शायद उन विरोधी मतों को शान्त करने के लिए किया गया जो पूर्व में जोर पकड़ते जा रहे थे। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण का विष्णु-नारायण से, जो तब

1. "ऐसा लगता है कि कृष्ण-पूजा जैनधर्म के विकास की प्रथम शताब्दी में लोकप्रिय हो गई थी"—Jacobi: Sacred Book of the East, जिल्द 22, पृ० XXXI, टिप्पणी।
2. उदाहरणार्थ, देखिए, Winternitz : History of Indian Literature (अंग्रेज़ी अनुवाद), जिल्द 1, पृ० 431, टिप्पणी।
3. फिर भी शायद यह एकमात्र इस देवता का नाम नहीं रहा होगा, क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् (3.11) में भी इसका प्रयोग हुआ है। महाभाष्य (5.2.76) में भी 'शिव-भागवत' का प्रयोग हुआ है।

तक परमेश्वर माना जाने लगा था, अभेद कर दिया गया। इस अन्तिम रूप में इस सिद्धान्त का महाभारत[1] के 'नारायणीय' नामक प्रकरण में विस्तार से वर्णन हुआ है; किन्तु वहाँ इसका जो विकास दिखाई देता है वह लगभग निश्चित रूप से उस युग से आगे का है जिसकी हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं। उसी की एक पहले की अवस्था भगवद्गीता में दिखाई देती है, जहाँ अभी श्रीकृष्ण का विष्णु-नारायण से अभेद नहीं हुआ है।[2] भगवद्गीता इस समय विचाराधीन युग की रचना मानी जा सकती है और उसकी चर्चा कुछ विस्तार के साथ हम अगले अध्याय में करेंगे।

(4) नास्तिक मत—पाठक को यह याद दिला देना शायद आवश्यक है कि 'नास्तिक' से हमारा मतलब केवल वेदों का, विशेष रूप से उनके यज्ञवाद और सीधे इससे जुड़ी हुई रूढ़ियों और संस्थाओं का, विरोध करनेवाले से है। हम जानते हैं कि वैदिक धर्म का विरोध बहुत पुराना है—इतना पुराना कि ऋग्वेद के सूक्तों तक में उसमें विश्वास न करनेवालों की ओर संकेत किये गए हैं। यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि यह विरोध विचाराधीन युग में भी जारी रहा और जनता के पूर्वोल्लिखित सामान्य पुनर्जागरण के प्रभाव से इसने और भी ज़ोर पकड़ा। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि जिस समय गौतम और महावीर उपदेश दे रहे थे उस समय वैदिक सम्प्रदाय के अलावा अनेक अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का भी अस्तित्व था।[3] लगभग उसी काल तक पहुँचाने वाली हिन्दू परम्परा में भी प्राचीन राजाओं की सभाओं में पृथक् मतों का, जिनमें नास्तिक मत भी शामिल हैं, प्रतिपादन करने वाले आचार्यों की भरमार होने के संकेत हैं।[4] प्रसिद्ध वेद-भाष्यकार यास्क ने, जो 500 ई० पू० के आस-पास हुआ था, अपने 'निरुक्त' में एक कौत्स का उल्लेख किया है, जिसने वेद को शायद निरर्थक या स्वव्याघाती कहा था, और उसके वेद-विरोधी विचारों का विस्तार से खण्डन किया है।[5] कल्पसूत्रों में भी कहीं-कहीं नास्तिकों का उल्लेख है और उन्हें पापियों और अपराधियों के वर्ग में रखा गया है।[6] यही नास्तिक विचारधारा, जो लगभग उतनी ही

---

1. 12.334-5।
2. देखिए, भण्डारकर : Vaisṇavism, Śaivism etc., पृ० 13।
3. Cambridge History of India, जिल्द 1, पृ० 150।
4. जैसे देखिए, महाभारत 12.218.4-5।
5. 1.15-16।
6. देखिए, गौतम-धर्मसूत्र, 15:15।

पुरानी है जितनी आस्तिक विचारधारा और जो विचाराधीन युग में और अधिक ज़ोर पकड़ लेती है, ब्राह्मणों और श्रमणों (ब्राह्मणेतर तपस्वी) के आदर्शों के बीच भेद पैदा होने का कारण है—वह भेद जिसका इस युग की रचनाओं मे बार-बार उल्लेख हुआ है और मेगास्थनीज-जैसे विदेशियों का भी जिसकी ओर ध्यान गया है।[1]

जैसाकि इन मतों के स्वरूप से ही स्पष्ट है, इनका प्रारम्भ पुरोहित-वर्ग के बाहर हुआ होगा, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ब्राह्मणों का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। हम जानते हैं कि ऐसे भी ब्राह्मण थे जो वन मे निवास करते थे और पुरोहित-कर्म जिनका व्यवसाय नहीं था।[2] इस बात की सबसे अधिक सम्भावना है कि ऐसे सिद्धान्तों के विकास मे उनका बहुत अंश-दान रहा। परम्परा भी इस बात का समर्थन करती है। इस प्रकार, यद्यपि विदुर, जो जन्म से नीच है, महाभारत में इस प्रकार के सिद्धान्त के प्रवक्ता के रूप में प्रायः दिखाई देता है, तथापि अजगर[3]-जैसे लोग भी हैं जो ऐसा ही करते हैं, परन्तु ब्राह्मण हैं। प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य में प्राप्त प्रमाणों के अनुसार श्रमणों के साथ-साथ कुछ ब्राह्मण भी ऐसे थे जो मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते थे और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते थे।[4] वास्तव में दर्शन के क्षेत्र में भी ठीक वही हुआ जो भारतीय भाषा के मामले में हुआ।[5] जिस तरह भारतीय भाषा के विकास मे एक महाकाव्य-कालीन अवस्था आई, जो 'शिष्टों' (पुरोहितों) की भाषा से भिन्न थी, उसी तरह भारतीय दर्शन के इतिहास में चिन्तनशील उच्च वर्गों में एक धार्मिक विश्वास का उदय हुआ, जिसकी अपनी अलग ही शाखाएँ फूटीं और जो पेशेवर पुरोहितों के विश्वास से भिन्न था।[6] जैसा कि हम अब जानते हैं, भारतीय विचारधारा के एक से अधिक

1. Cambridge History of India, जिल्द 1, पृ० 419 इत्यादि। Prof. Winternitz : Ascetic Literature in Ancient India, पूर्वोल्लिखित पृ० 1-2 भी द्रष्टव्य है।
2. Cambridge History of India, जि० 1, पृ० 421-2; Prof. Jacobi : Sacred Books of the East, जि० 22, पृ० XXXII.
3. 12.179.
4. उदाहरणार्थ, देखिए ओल्डेनबर्ग के 'Buddha' (पृ० 272-3) में संयुत्तक-निकाय से उद्धृत एक अंश।
5. देखिए Keith : Classical Sanskrit Literature, पृ० 11-12।
6. इस तुलना को पूरी करने के लिए यह उल्लेख कर देना चाहिए कि आम लोगों के द्वारा बोली जानेवाली अनेक प्राकृत भाषाओं के अनुरूप अनेक लौकिक विश्वासों का भी अस्तित्व था।

क्षेत्रों में नास्तिक मत का प्रभाव सुस्पष्ट है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसने जैन और बौद्ध-जैसे धर्मों[1] को उत्पन्न किया और बाद के दर्शन-तन्त्रों में इसका प्रतिनिधित्व चार्वाक-दर्शन ने किया, भले ही वह अपर्याप्त रहा। सांख्य इत्यादि अन्य तन्त्रों पर भी इसका अमिट प्रभाव पड़ा है, जैसाकि हम आगे देखेंगे। लेकिन किसी एक सिद्धान्त के बारे में यह कहना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है कि उसको जन्म देनेवाले पुरोहित थे या अन्य लोग; क्योंकि, जैसा कि माया के, जिसके विकास को हम यहाँ नमूने के बतौर ले रहे हैं, मामले में हुआ, इस ऐहिक धर्म—अवैदिक धर्म—ने आस्तिक मत को प्रभावित किया है और फिर स्वयं यह आस्तिक मत से प्रभावित हुआ है, जिसके फलस्वरूप दोनों ही मतों का भेद अधिकांशतः मिट गया। बहुत जल्दी ही वैदिक विचारों के साथ औपनिषदिक विचारों की, जो अनेक 'नास्तिक' मतों को जन्म दे सकते थे मैत्री का हो जाना भी इस परिणाम के लिए बहुत-कुछ जिम्मेदार है।

यद्यपि नास्तिक मत एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है और दार्शनिक ग्रन्थों मे प्रसंगवश इसका बहुत उल्लेख हुआ है, तथापि इसका विस्तृत वर्णन प्राचीन संस्कृत-साहित्य मे कही भी नही पाया जाता। निस्सन्देह महाभारत मे कहीं-कहीं यह मिलता है, लेकिन बाद के सम्पादकों ने महाभारत में जो परिवर्तन-परिवर्धन किया, उसके कारण, लगता है कि, इसमे कुछ फेर-बदल हो गया या यह अन्य मतों के सिद्धान्तो के साथ बहुत मिश्रित हो गया। महाभारत में प्रायः इस मत की शुरुआत ऐसे अभद्र पुरुषो से बताई गई है जैसे असुर[2] हैं, जिससे स्पष्ट है कि वहाँ इसका अब जो रूप पाया जाता है वह असहानुभूतिशील विचारकों के समीक्षाधीन रहने और सम्भवतः उनके द्वारा विकृत कर दिए जाने के बाद इसे मिला। यद्यपि महाभारत मे दिया हुआ वर्णन इस प्रकार परिवर्तित हो गया था, तथापि एकमात्र वही इतना बड़ा है जिससे हमें विचाराधीन युग के नास्तिक मत के बारे में जानकारी लेनी है।

1. "एक ओर उन 'नास्तिक' मतों में से कुछ और दूसरी ओर जैन या बौद्ध विचारों के बीच जो सादृश्य है वह बहुत ही व्यंजक है, और उस मान्यता का समर्थन करता है कि बुद्ध और महावीर दोनों अपनी कुछ धारणाओं के लिए इन्हीं नास्तिकों के ऋणी हैं तथा उनकी अन्य धारणाएँ उन वादविवादों से प्रभावित हुई जो उनके लगातार इनके साथ होते रहते थे।" Sacred Books of the East, जि० 65, पृ० XXVII. Winternitz : History of Indian Literature, जि० I; पृ० 1 और 18 भी द्रष्टव्य हैं।
2. उदाहरणार्थ, बलि और प्रह्लाद, जिनका उल्लेख क्रमशः 12.224 और 222 में हुआ है, असुर थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के अन्दर अपने अलग ही मतान्तर पैदा हो चुके थे। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार के लगभग आधे दर्जन[1] मतान्तरों का उल्लेख है और महाभारत में पाए जानेवाले वर्णनों से भी इस मत के उपदेश में इसी तरह के मतान्तरों का होना प्रकट होता है; लेकिन इन मतान्तरों में से किसी के बारे में भी हम सही-सही नहीं बता सकते कि उसका विषय-विस्तार कहाँ तक था। फिर भी उनमें से दो का अन्तर यहाँ बताया जा सकता है, क्योंकि उनकी जानकारी हमारे लिए भारतीय विचारधारा के बाद के इतिहास के कुछ पक्षों को समझने में उपयोगी रहेगी। ये हैं : यदृच्छावाद या अनिमित्तवाद और स्वभाववाद। इन दोनों का श्वेताश्वतर उपनिषद् में अलग-अलग उल्लेख पाया जाता है और बाद के ग्रन्थों में भी इनका अन्तर बताया गया है।[2] पहले के अनुसार विश्व में कोई नियम नहीं है और यदि कहीं दिखाई देता है तो आकस्मिक-मात्र है। दूसरे के अनुसार वस्तुएँ जैसी हैं अपने स्वभाव के कारण हैं।[3] पहला कारणता का बिलकुल निषेध कर देता है, और दूसरा उसे सार्वभौम मानता है, लेकिन वस्तु के सारे परिवर्तनों का कारण स्वयं उसी वस्तु को मानता है। प्रत्येक वस्तु विलक्षण है और उसका पूरा इतिहास उस विलक्षणता के द्वारा पूर्वनिश्चित है। इसलिए स्वभाववाद के अनुसार हम जिस विश्व में रहते हैं वह नियमहीन तो नहीं है लेकिन उस पर शासन करनेवाली कोई बाह्य शक्ति भी नहीं है। विश्व अतन्त्र नहीं बल्कि आत्मतन्त्र है। इस प्रकार यह मत, यदृच्छावाद के विपरीत, सब घटनाओं के मूल में एक अनिवार्यता को स्वीकार करता है; पर यह अनिवार्यता वस्तु के स्वभाव से जुड़ी हुई है, किसी बाह्य शक्ति के द्वारा उसके ऊपर आरोपित नहीं है। इस तथ्य के अज्ञान के कारण ही हम यह मान बैठते हैं कि वस्तुएँ नियमतन्त्र नहीं हैं या यह कि घटनाओं के क्रम में हम सफलता के साथ दखल दे सकते हैं। दोनों ही मत समान रूप से इस बात का निषेध करते हैं कि प्रकृति के पीछे कोई दिव्य शक्ति काम कर रही है या कोई प्रकृत्यतीत सत्ता है जो उसका नियन्त्रण करती है या उससे सम्बद्ध है। ये दोनों ही वाद अपने-अपने समर्थन में कोई अलौकिक प्रमाण भी नहीं देते। इनमें से पहले, यानी यदृच्छावाद, से ही बाद में चार्वाकों का विषय-

---

1. 1.2
2. देखिए, कुसुमांजलि, 1.5. अनिमित्तवाद का एक उल्लेख न्यायसूत्र 4.1.22-24 में आया है।
3. "स्वभावभाविनो भावान्"—महाभारत 12.222, 27। श्लोक 15 इत्यादि देखिए।

भोगवादी सिद्धान्त निकला, क्योंकि यह सिद्धान्त भी जीवन की घटनाओं को आकस्मिक मात्र मानता है। वास्तविक दार्शनिक महत्त्व तो दूसरे यानी स्वभाववाद का है और इसलिए इसके बारे में थोड़ा और कहा जाएगा।

किसी समय स्वभाववाद काफ़ी प्रसिद्ध रहा होगा, क्योंकि पुराने दार्शनिक ग्रन्थों में, जैसे शंकर के ग्रन्थों में[1], इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में एक से अधिक स्थलों में इसका उल्लेख हुआ है।[2] इसके बारे में ध्यान देने योग्य पहली बात है इसका प्रत्यक्षपरक स्वरूप, जो कभी-कभी इसका अदृष्टवाद[3] (अलौकिक में विश्वास) से वैषम्य बताए जाने से उपलक्षित होता है। इस बात में यह एक ओर मन्त्रों और ब्राह्मणों के लोकोत्तरवाद से भिन्न है और दूसरी ओर उपनिषदों की तत्त्वमीमांसीय धारणा से। बाद के साहित्य में इस सिद्धान्त को अधिकतर 'लोकायत' (अनुभूत जगत तक सीमित) कहा गया और इस नाम का मूल अर्थ शायद स्वभाववाद का यही प्रत्यक्षपरक स्वरूप—उसकी ऐहिक तत्त्वमीमांसा था। इसके बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है मृत्यु के बाद जन्म लेनेवाले आत्मा का निषेध, हालाँकि जब तक जीवन है तब तक बना रहनेवाला आत्मा शायद इसे स्वीकार्य रहा हो।[4] इस बात में यह सिद्धान्त शाश्वत आत्मा के अस्तित्व को बिना प्रमाण के ही मान लेनेवाले उस सिद्धान्त के विपरीत है जिसे अध्यात्मवाद कहा जा सकता है। महाभारत के उन अंशों में से एक जिन पर हमारा विवरण आधारित है, कहता है कि "मृत्यु प्राणियों के अस्तित्व का अन्त है।"[5] वस्तुतः ऐसी लोकोत्तर सत्ताओं का निराकरण ही इस सिद्धान्त का लक्ष्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि नित्य आत्मा की अस्वीकृति के आवश्यक परिणामस्वरूप ही सामान्यतः माने जानेवाले कर्म के नियम[6] को

1. देखिए, वेदान्तसूत्र 1.1.2 पर शंकर का भाष्य; सुरेश्वर का बृहदारण्यकोपनिषद्-वार्तिक, 1.4.1487।
2. उदाहरणार्थ 12.179, 222 और 224।
3. नीलकंठ ने महाभारत 12.213.11 में अपनी टीका में यह वैषम्य दिखाया है।
4. देखिए, *Keith : Buddhist Philosophy*, पृ० 135, *जहाँ ऐसे मत का इस युग* में प्रचलित होना बताया गया है। कठोपनिषद् (1.1.20 इत्यादि) भी द्रष्टव्य है, जहाँ यह प्रश्न नहीं उठाया गया है कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं, बल्कि केवल यह उठाया गया है कि आत्मा शरीर के नाश ('प्रेते') के बाद रहता या नहीं। वेदांतदेशिककृत तत्त्वमुक्ताकलाप-सहित सर्वार्थसिद्धि (चौखम्बा), पृ० 175 भी द्रष्टव्य है।
5. "भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः" (224.9)। न्यायमंजरी (विजयनगरम्) पृ० 467 भी देखिए।
6. षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न का यह कथन देखिए : अन्ये पुनराहुः—

इसमें नहीं माना गया। भौतिक जगत् का अन्तिम कारण एक माना गया था या अनेक, इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। दोनों ही धारणाओं के समर्थक प्रमाण महाभारत के इस सिद्धान्त के वर्णनों में पाए जाते हैं। एक में जीवित देह का अन्तिम कारण पाँच भूतों को बताया गया है[1]; और अन्यत्र[2] महाभारत स्पष्टतः स्वभाववाद को इस विश्वास से जोड़ता है कि पाँच भूत अन्तिम हैं। एक दूसरा वर्णन एक ही मूल कारण के पक्ष मे प्रतीत होता है और ब्रह्माण्ड की अनन्त वस्तुओं को उसी के विकार बताता है।[3]

इस प्रकरण को छोड़नेसे पहले महाभारत में दीख पड़नेवाली एक अन्य विचार-प्रवृत्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह उपनिषदों के ब्रह्मवाद का—विशेष रूप से उसके उस पक्ष का जिसे ब्रह्मपरिणामवाद कहा जाता है, खास तौर से स्वभाववाद से प्रभावित रूपान्तर लगती है। इस प्रवृत्ति का लक्ष्य वास्तववाद और बहुवाद मे पहुँचना है। यह ब्रह्म की धारणा के त्याग की ओर उन्मुख है और पुरुष (आत्मा) तथा प्रकृति को दो परस्पर स्वतन्त्र सत्ताएँ मानने और साथ ही अनेक पुरुषों को मानने की ओर इसका झुकाव है। लेकिन इसका लक्ष्य पूरी तरह प्राप्त नहीं हो पाया। ब्रह्म की, या कहीं-कहीं ईश्वर की सर्वोच्च तत्त्व के रूप मे धारणा फिर भी बनी रहती है और पुरुष और प्रकृति को उससे गौण, पर भिन्न माना जाता है। ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध और अधिक स्पष्ट नहीं किया गया है; लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रकृति को सम्पूर्ण भौतिक जगत् का मूल उपादान माना जाता है। पुरुष और प्रकृति को बिलकुल भिन्न माना जाता है। पुरुष ज्ञाता है और प्रकृति, बल्कि उसके विकार, ज्ञेय हैं, तथा इनमें से प्रत्येक की विशेषताएँ सामान्यतः दूसरे की विशेषताएँ नहीं हैं। इस नये सिद्धान्त में इनके भेद के ज्ञान को, जो साधारणतः मनुष्य को नहीं होता, संसार से मुक्त होने की शर्त माना गया है। उल्लेखनीय बात यहाँ यह

मूलतः कर्मैव नास्ति; स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपंच इति। "फिर अन्य लोग कहते हैं : जगत् का सारा प्रपच अपने स्वभाव से ही सिद्ध है और इसलिए इसके आधार के रूप में कर्म को मानने की आवश्यकता ही नहीं है।" श्लोकवार्तिक, पृ० 166 भी देखिए।

1. 224.17।
2. 232.19. स्वभावं भूतचिन्तकाः। लेकिन श्वेताश्वतर उपनिषद् दोनों को भिन्न बताता है।
3. 222.26 और 31।

है कि ब्रह्म को निष्क्रिय माना गया है तथा सर्जनात्मक व्यापार प्रायः पूरी तरह से प्रकृति को सौंप दिया गया है।[1] नित्य आत्मा को मानने से यह सिद्धान्त ऊपर बताये गए स्वभाववाद से भिन्न हो जाता है। परन्तु उससे इसका सादृश्य इस बात में है कि यह प्रकृति को सम्पूर्ण जगत् को अपने ही अन्दर से प्रकट करने के लिए आवश्यक लगभग पूरी शक्ति प्रदान कर देता है। इसी प्रकार, यह ब्रह्मवाद के समान ब्रह्म (परमात्मा) को सर्वोच्च और नित्य मानते हुए भी उससे इस बात मे भिन्न है कि यह द्वैतवादी है और प्रकृति को पुरुष की बराबरी की दूसरी सत्ता मानता है। ये विशेषताएँ सांख्य की विशेषताओं से बहुत मिलती-जुलती हैं; और गार्बे (Garbe)-जैसे कुछ विद्वान् तो यह मत रखते हैं कि यह पूर्णतः विकसित सांख्य ही है, जो महाभारत में एक लोकप्रिय रूप में दिखाई देता है।[2] लेकिन जैसा कि हम अगले भाग में बताएँगे, इसे आद्य सांख्य या निर्माणाधीन सांख्य ही मानना अधिक उचित लगता है। महाभारत मे इसका बहुत प्रमुख स्थान है और वहाँ इसकी बराबरी का स्थान केवल ईश्वरवाद को ही मिल पाया है। भारतीय विचारधारा के इतिहास में इसका बहुत बड़ा महत्त्व है, लेकिन इस पर समुचित रूप से विचार हम सांख्य के अध्याय मे ही कर पाएँगे। फिलहाल यह कह देना चाहिए कि आस्तिक मत के साथ नास्तिक मत की इस मैत्री ने प्राचीन भारत में एक नई परम्परा को जन्म दिया, जिसे न बिलकुल आस्तिक कहा जा सकता है और न बिलकुल नास्तिक। पुरानी आस्तिकता की तरह पुरानी नास्तिकता भी अपनी अलग ही दिशा में विकास करती रही। उसे 'चरम वामपंथी' कहा जा सकता है, जबकि यह नई परम्परा मध्यमपंथी है, जिसका झुकाव नास्तिकता से अधिक आस्तिकता की ओर है। तदनुसार कहा जा सकता है कि आस्तिक विश्वास ही आगे दो रास्तों पर चलने लगता है, जिनका अन्तर प्रायः महत्त्वपूर्ण विवादों को जन्म देता है।[3] आस्तिकता के इस क्षेत्र-विस्तार की ओर पूर्ववर्ती वरेण्य युग के साहित्य में जैसे बादरायण के वेदान्त-सूत्र में, परोक्ष रूप से संकेत हुआ है।[4]

1. देखिए, महाभारत 12.314; भगवद्गीता 3.27,9.10,13.19,20 और 29।
2. Keith : The Sānkhya System, पृ० 46 इत्यादि।
3. उदाहरणार्थ, इस प्रश्न से सम्बन्धित विवाद कि वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय। देखिए अध्याय 10।
4. जैसे देखिए, 2.1.1, जहाँ दो प्रकार की स्मृतियों में भेद किया गया है—एक प्रकार की मनु इत्यादि की स्मृतियाँ, जो वेद पर आधारित हैं और इसलि पूर्णतः प्रामाणिक हैं, और दूसरे प्रकार की कपिल इत्यादि की स्मृतियाँ, जो कुछ 'शिष्टों' के द्वारा प्रामाणिक माने जाने के बावजूद प्रामाणिक इसलिए नहीं हैं कि वे वेदमूलक नहीं हैं।

: 2 :

यहाँ तक हमने इस युग की सैद्धान्तिक शिक्षा की बात कही है। इसी तरह जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधना के जिन विभिन्न मार्गों का उपदेश दिया गया, उन पर भी एक साथ विचार कर लेना उपयोगी होगा। मोटे तौर से ये तीन साधनाएँ बताई गई हैं : (1) कर्म, (2) योग और (3) भक्ति, जो प्रधान रूप से ऊपर संक्षेप में बताई गई चार विचारधाराओं में से प्रथम तीन के साथ जुड़ी हुई है।

(1) कर्म—यहाँ 'कर्म' का अर्थ वे याज्ञिक अनुष्ठान और सम्बद्ध क्रियाएँ समझना चाहिए जो पहले ब्राह्मणों में बताये गए थे और बाद में कल्प-सूत्रों में व्यवस्थाबद्ध किये गए, तथा साथ ही कुछ ऐसे कर्तव्य और आचार भी समझना चाहिए जो परम्परा के कारण पवित्र माने जाने लगे थे। लेकिन यह सोचना ठीक नहीं है कि साधारण अच्छाइयों—चाहे वे परनिष्ठ हों चाहे स्वनिष्ठ—की उपेक्षा कर दी गई थी,[1] क्योंकि नैतिक शुद्धता को कर्म के मार्ग के अनुसरण के लिए अपरिहार्य बना दिया गया था, जैसा कि वशिष्ठ-धर्मसूत्र के इस तरह के वचनों से स्पष्ट है : "जिसका आचरण अधम है और जो सम्यक् मार्ग से च्युत हो गया है, उसे न वेद बचा सकता है, न यज्ञ और न औदार्य।"[2] जिन नैतिक अच्छाइयों पर बल दिया गया है, उनके स्वरूप का अनुमान आपस्तंब के द्वारा बताये हुए ब्रह्मचारी के इन लक्षणों से किया जा सकता है : "वह सौम्य और शान्त होता है। वह अपने ऊपर पूर्ण संयम रखता है। वह नम्र और साहसी होता है। वह आलस्य का पूर्णतः त्याग कर चुका होता है और क्रोध से शून्य होता है।"[3] गौतम यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान के अतिरिक्त न केवल सबके प्रति दया, तितिक्षा, अनसूया, शुद्धता, अध्यवसाय, प्रसन्नता, गौरव और सन्तोष-जैसे आन्तरिक नैतिक गुणों को, जिन्हें वह 'आत्म-गुण' कहता है, आवश्यक बताता है, बल्कि इन्हें धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान मात्र से श्रेष्ठ भी बताता है।[4] उपर्युक्त अर्थ में कर्म तीन प्रकार के होते हैं : (1) काम्य कर्म, *जिनका लक्ष्य विशेष परिणामों की प्राप्ति होता है, जैसे स्वर्ग की प्राप्ति;*

1. 'धर्म' शब्द के पारिभाषिक प्रयोग से भिन्न एक साधारण प्रयोग है, जो प्रायः नैतिक अच्छाई पर बल दिए जाने का सूचक है। इस अर्थ का मूल चारित्रिक शुद्धता की इस प्रारम्भिक अवस्था को आवश्यक मानना ही है।
2. 6. 2 और 6. Ethics of India, पृ० 90।
3. आपस्तंब-धर्मसूत्र, 1. 3. 17-24।
4. गौतम-धर्मसूत्र, 8. 20-23।

(2) प्रतिषिद्ध कर्म, जिन्हें करने से पाप या अनिष्ट की प्राप्ति होती है; तथा (3) नित्य कर्म, जिनमें चार वर्णों और चार आश्रमों के उपयुक्त कर्तव्य आते हैं। कर्म के इन प्रकारों का विस्तार से वर्णन आवश्यक नहीं है। हम केवल उन एक या दो सिद्धान्तों की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे जो आचरण-विषयक इस दृष्टिकोण के मूल में हैं और यहाँ हमारे मतलब के हैं।

आचरण की पूरी नियमावली यह मानकर बनाई गई है कि आत्मा का मृत्यु के बाद भी अस्तित्व बना रहता है और वर्तमान जीवन अनिवार्य रूप से आगामी जीवन के लिए तैयारी करने का समय है।[1] ऐसे मत के तात्त्विक आधार के बारे में हम चाहे जो सोचें, सदाचरण के लिए इसका स्पष्टतः महत्व है। आत्मा के नित्यत्व पर ज़ोर देकर यह इस जीवन में सभी तरह के विषय-भोगों में लिप्त होने से हमें बचाता है और आत्म-संयम का अभ्यास कराता है, जिससे अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। जैसा कि वशिष्ठ-धर्मसूत्र[2] में बताया गया है, शिष्य को यह उपदेश है कि "दूर देखो, निकट नहीं; उच्चतम की ओर देखो, उच्चतम से कम की ओर नहीं।" अन्त में सहज वृत्तियों और वासनाओं के जीवन का स्थान तपस्वी-जीवन ले लेता है। इस साधना का लक्ष्य वास्तव में इच्छा का बिलकुल ही उन्मूलन कर देना नहीं है, जैसा कि कुछ अन्य सम्प्रदायों में है। यह तो भावी जीवन में होनेवाले साधक के कल्याण को दृष्टि में रखता है और इसलिए इसे 'मरणोत्तर स्वार्थ-लाभ' कहा जा सकता है। फिर भी यह मनुष्य को इस लोक की वस्तुओं को उन्हीं के निमित्त प्राप्त करने से नहीं रोकती। जीवन का सच्चा आदर्श क्या है, इसका निश्चित रूप से पता इस युग में निर्धारित किये गए 'पुरुषार्थों', अर्थात् मनुष्य के लक्ष्यों से चल जाता है। यदि हम 'मोक्ष' को छोड़ दें, तो ये तीन[3] (त्रिवर्ग) हैं : धर्म, अर्थ और काम। मोक्ष को कल्पसूत्रों में बिलकुल तो नहीं छोड़ा गया, लेकिन उसे उनमें प्रमुखता बिलकुल नहीं दी गई है। अर्थ का मतलब धन की प्राप्ति और काम का वर्तमान जीवन का भोग करना है, जबकि धर्म का मतलब है यज्ञ-उपासना इत्यादि से

1. "ब्राह्मणों का मुख्य विषय, जिस पर वे बात करते हैं, मृत्यु है। उनके मतानुसार वर्तमान जीवन गर्भाशय के अन्दर बिताई हुई अवस्था के तुल्य है, और जो तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं उनके लिए मृत्यु उस अवस्था में जन्म लेना है जो सच्ची और सुखी है। इस कारण मृत्यु के लिए तैयार होने के लिए ये एक विस्तृत साधना-क्रम का अभ्यास करते हैं"—मेगास्थनीज़। देखिए, Cambridge History of India, जि० I, पृ० 419।
2. 10 30;30.1. देखिए Ethics of India, पृ० 91-2।
3. गौतम-धर्मसूत्र, 9.48।

पुण्य प्राप्त करना। अर्थ और काम का अनुसरण भी उचित माना गया है और इस प्रकार लौकिक बातों की प्राप्ति का तिरस्कार नहीं किया गया है। वास्तव में धर्मसूत्र कभी-कभी इहलोक और परलोक दोनों में सफलता प्राप्त करने की बात करते हैं[1] और इस प्रकार, जैसा कि बहुत ही उपयुक्त रूप में कहा गया है, वे 'इच्छाओं के लोक को शाश्वत की अभिदृष्टि से' जोड़ देते हैं।[2] लेकिन सभी परिस्थितियों में धर्म अधिक ग्राह्य है।[3] आपस्तंब का वचन है कि जो धर्म में स्थित रहता है वह ऐहिक लाभों का भी भागी होता है; लेकिन यदि नहीं भी होता तो कोई बात नहीं है, क्योंकि धर्म का लाभ परम लक्ष्य है।[4] इस प्रकार यहाँ धर्म का विचार बड़े महत्त्व का है, और साथ ही सम्पूर्ण जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण को समझने के लिए भी इसका बड़ा महत्त्व है। यह ऋत के प्राचीन विचार के तुल्य है। 'धर्म' शब्द का अर्थ है 'वह जो धारण करता है।' अतः धर्म जगत् का अन्तिम नियामक तत्त्व या नियम है। विचाराधीन युग में 'धर्म' सभी लौकिक, नैतिक और धार्मिक जीवन-प्रणालियों का, जो रूढ़ हो चुकी हैं, प्रतीक है। इस शब्द का यह व्यापक अर्थ ही उस अस्पष्टता का कारण है जो कभी-कभी इसके प्रयोग में दिखाई देती है। परन्तु अर्थ चाहे जितना विविध हो, धर्म आवश्यक रूप से वह है जो आगामी जीवन में फल देता है—ऐसा फल जिसकी प्राप्ति के लिए नैतिक शुद्धता अपरिहार्य है। धर्म की धारणा इतनी दृढ़ है कि लोकप्रचलित पुराण-कथाओं में उसे मृत्यु के देवता यम से अभिन्न कर दिया गया है, जो परलोक में मनुष्यों को उनके पुण्य-पाप के अनुसार पुरस्कार और दण्ड देता है। धर्म या अधर्म का निर्णायक वेद और वेद-मूलक परम्परा है। यही अर्थ 'विधि' शब्द का है, जिसका इस समय तक प्रयोग होने लगा था[5] और जो ऊपर से मिलनेवाले आदेश का सूचक है। इसका मतलब यह हुआ कि धर्म पारिभाषिक अर्थ में अनुभवागम्य है और केवल ऐसे साधन से जाना जा सकता है जो साधारण अनुभव से भिन्न हो, जैसे कोई ईश्वरीय या पारम्परिक संहिता। आपस्तंब ने साफ़-साफ़ कहा है कि आर्यों के समयों और आचारों के मूल में रहनेवाले सिद्धान्त साधारण तरीके से नहीं जाने जा सकते : "धर्म और अधर्म हमारे चारों ओर यह घोषणा करते हुए नहीं

---

1. आपस्तंब-धर्मसूत्र, 2. 20 22-23।
2. Prof. Radhakrishnan : The Hindu View of Life, पृ॰ 79।
3. गौतम-धर्मसूत्र, 9. 49; आपस्तंब-धर्मसूत्र, 1. 24.23।
4. आपस्तंब-धर्मसूत्र, 1.20.3-4।
5. आपस्तंब-धर्मसूत्र, 1.23.6।

मँडराते कि 'हम ये है, हम ये हैं'।"[1] जहाँ लौकिक बातों के विचार से ही स्पष्ट हो जाता है कि क्या आचरण उचित है, वहाँ किसी ऐसी संहिता की आवश्यकता नहीं रहती। वहाँ केवल व्यावहारिक विवेक की प्राप्ति से ही काम चल जाता है।

(2) योग—यह तात्त्विक रूप में एक आत्म-विजय की प्रक्रिया है और प्राचीन भारत में अलौकिक शक्तियों या सिद्धियों की प्राप्ति के लिए इसका बहुधा आश्रय लिया जाता था।[2] लेकिन यहाँ हमारा योग-साधना से सम्बन्ध केवल वहीं तक है जहाँ तक यह मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है। इस दृष्टि से यह लगभग वही है जिसे उपनिषदों में उपासन कहा गया है और यह प्रधानतः ब्रह्मवाद से सम्बद्ध है। हमें याद रखना चाहिए कि जिस एकत्व की सिद्धि हमें करनी है उसके बारे में बौद्धिक आस्था (मनन) प्राप्त हो जाने के बाद यौगिक ध्यान करना है और इसलिए यह आत्म-सम्मोहन या उसके तरह की किसी अन्य कृत्रिम प्रक्रिया से बहुत भिन्न चीज है। दूसरी ओर, इसकी तुलना 'सौन्दर्यात्मक चिन्तन की नितान्त स्वस्थ और आनन्दप्रद प्रक्रिया'[3] से की गई है। इस प्रकार योग वस्तुतः ज्ञान की, जिसकी एक या दूसरे रूप में आवश्यकता लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने मानी है,[4] एक सहायक प्रक्रिया है।

ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करने का यह साधन शुरू के उपनिषदों को ज्ञात था, और चूँकि 'निदिध्यासन' के नाम से हम इसकी पहले ही चर्चा कर चुके हैं, इसलिए यहाँ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इस युग में इसमें और व्यवस्था लाई गई, लेकिन इसकी बारीकियों को अगले भाग के सांख्य-योग के अध्याय में बताना सुविधाजनक होगा। फिर भी, अगले साधन में पहुँचने से पहले हमें यह बता देना चाहिए कि कर्ममार्ग की तरह योगमार्ग भी इस रूप में साधारण नैतिक आचरण की उपेक्षा नहीं करता, भले ही योग के अन्य रूपों के बारे में, जो इस काल में प्रचलित थे और जिनका लक्ष्य विभिन्न

1. आपस्तंब धर्मसूत्र, 1.20.6।
2. देखिए आपस्तंब-धर्मसूत्र, 2. 26. 14, जहाँ दो प्रकार के तपस्वियों में भेद विवक्षित है। इनमें से एक को धर्मपर कहा गया है और दूसरे को अभिचारपर, जिन्हें क्रमशः उपकारी और अपकारी कहा जा सकता है।
3. Philosophy of the Upanisads, पृ० 383।
4. इसकी आवश्यकता कर्मकाण्ड में सबसे कम प्रतीत होती है; लेकिन वहाँ भी यज्ञों के अन्ध अनुष्ठान और ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान में भेद किया गया है। दूसरे से अधिक पुण्य होना बताया गया है, जिससे प्रकट होता है कि ज्ञान के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की गई थी। देखिए, गौतम-धर्मसूत्र 15. 28. छान्दोग्य उपनिषद् 1. 1. 10 भी द्रष्टव्य है।

अलौकिक शक्तियों या सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति या, यह न कहा जा सके। उदाहरणार्थ, एक प्राचीन ग्रन्थ, कठ उपनिषद् में (1. 2. 24) ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन को समाहित करना अपरिहार्य बताते हुए साथ-साथ नैतिक शुद्धता (दुश्चरिताद्विरतिः) को भी अपरिहार्य बताया गया है।

(3) भक्ति—इसका अर्थ है 'प्रेमपूर्ण निष्ठा' और यह ईश्वरवाद के विशेष रूप से उपयुक्त है, जिसमें एक पुरुषरूप ईश्वर में विश्वास किया जाता है। सामान्य रूप से यह सामाजिक अभिवृत्ति की पोषक है[1] जबकि योग में इसकी उल्टी बात है। भक्त परस्पर मिलते हैं और अपनी ही तरह के अन्य लोगों की संगति में आध्यात्मिक उल्लास का अनुभव करते हैं। इसके विपरीत, योगी ईश्वर या ब्रह्म की खोज में प्रायः एकाकी प्रवृत्त होते हैं। उनका उद्देश्य केवल के साथ अकेले रहना होता है। इसके अलावा, भक्ति में भाव की प्रधानता होती है जबकि योग में बुद्धि की प्रधानता होती है। भक्ति में निष्ठा के साथ प्रेम का अंश होता है। आधुनिक काल में इस बात पर बहुत विवाद हुआ है कि भारत में भक्ति-सम्प्रदाय कब और कैसे आरम्भ हुआ।[2] कुछ ने इसका मूल ईसाई धर्म में माना है; लेकिन जैसे भागवत-धर्म के मामले में वैसे ही यहाँ भी विदेशी मूल की प्राक्कल्पना को विद्वानों का सामान्य समर्थन प्राप्त नहीं हुआ है। 'भक्ति' (√भज्) शब्द का धात्वर्थ ('आश्रय लेना') ईश्वर के प्रति जिस मानसिक अभिवृत्ति का सूचक है, वह वैदिककालीन भारतीय के लिए अपरिचित नहीं है। उदाहरणार्थ, वरुण के प्रति यह ऊँची मात्रा में प्रकट होती है। इसके अलावा, मन्त्रों में देवताओं के नामों के पहले 'पिता'-जैसे विशेषणों का प्रयोग प्रायः दिखाई देता है, जिससे सूचित होता है कि उपासक अपने और इस प्रकार से सम्बोधित देवता के मध्य एक प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध महसूस करता था। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में इस प्रकार की अनुभूति व्यक्त हुई है : "हे अग्नि, हमें उसी तरह सुलभ हो, जिस तरह पिता अपने पुत्र को सुलभ होता है।" उपनिषदों में भी परम सत्ता के प्रति यही प्रेम का भाव ढूँढा जा सकता है। कठ उपनिषद् (1.1.20,23) में सम्भवतः एक बार मुक्ति से पहले दैवी सहायता, जो भक्ति का पुरस्कार है, की आवश्यकता बताई गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (6.23) में स्वयं 'भक्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है और न केवल ईश्वर के प्रति बल्कि गुरु के प्रति भी, जिसके माध्यम से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है, परा भक्ति की आवश्यकता बताई गई है। अन्त

1. देखिए, भगवद्गीता 10. 9।
2. देखिए, भण्डारकर : Vaisnavism, Saivism, etc, पृ० 28-30।

में, व्याकरण के महान् आचार्य पाणिनि (350 ई० पू०) ने इस शब्द की व्याख्या के लिए एक पृथक् सूत्र (4.3.95) बनाया है, हालांकि वहाँ इसका अर्थ केवल 'प्रेमपूर्ण निष्ठा की वस्तु' बताया गया है। इस प्रकार ईश्वर के प्रति निष्ठा और इस निष्ठा के पुरस्कारभूत ईश्वरीय 'प्रसाद', अनुग्रह, के विचार खीष्टाब्द से बहुत पहले भारतीयों को अच्छी तरह से ज्ञात थे; और इसलिए इन विचारों का मूल भारत के बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। इस युग में जिन तीन देवताओं का प्राधान्य रहा, उनमें से विष्णु-कृष्ण से भक्ति का विचार सबसे अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। फिर भी, इसका उल्लेख अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी हुआ है, जैसे शिव के सम्बन्ध मे, जिसे 'भक्तानुकम्पी', भक्तों पर दया करनेवाला, कहा गया है।

साधना के इन रूपों में से केवल योग ही नास्तिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित है और वह भी परम सत्ता से एकत्व प्राप्त करने के उपाय के रूप में नहीं बल्कि संसार से पृथक् होने के उपाय के रूप में। नास्तिकों में साधना के इस रूप को इतनी अधिक प्रधानता मिली प्रतीत होती है कि उनके आदर्श पुरुष को आस्तिकों के देवतातुल्य ऋषि के रूप में नहीं बल्कि संसार का त्याग करने वाले योगी के रूप मे माना गया।[2] अन्य मतों की तरह यहाँ भी नैतिक शुद्धता की आवश्यकता को उपेक्षणीय नहीं माना गया है। प्रह्लाद को, जो महाभारत में एक नास्तिक माना गया है, 'समये रतम्' बताया गया है।[3] लेकिन जैसी कि आशा की जा सकती है, आस्तिकों के विपरीत, नास्तिक आचार्यों ने वेदविहित कर्म के शुद्ध करनेवाले प्रभाव में विश्वास नहीं किया; और फलतः प्रारम्भिक साधना का जो क्रम उन्होंने निर्धारित किया वह एकांतिक रूप से नैतिक था। इस युग के शुरू के काल के विभिन्न नास्तिक सम्प्रदायों की हमारी जानकारी इतनी अपूर्ण है कि हम विस्तार से उनमें निर्धारित नैतिक साधना को नहीं बता सकते। कठोर आत्मसंयम उसकी एक सामान्य विशेषता थी। यह आत्म-निषेध की साधना है और इसका लक्ष्य मनुष्य को व्यक्तिगत इच्छाओं से, जिन्हें जगत् की सारी बुराइयों का मूल माना जाता है, पूर्णतया शून्य कर देना है। निस्सन्देह ऐसा मत निराशामूलक है; लेकिन महाभारत[4] मे पाए जाने वाले वर्णनों में जो सामान्य बातें हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यह साधना

1. महाभारत, 12, 284, 167।
2. Winternitz : History of Indian Literature, जिल्द 1, पृ० 3।
3. 12, 222, 4।
4. देखिए 12.179.18 इत्यादि।

जितनी सुखवाद से दूर है उतनी ही सिनिकवाद से भी।

साधना के इन रूपों के अतिरिक्त हम इस युग में, विशेषतः नास्तिक सम्प्रदायों में, सन्यास अर्थात् संसार के विधिवत् त्याग को भी स्वीकृत पाते हैं। उदाहरणार्थ, अजगर, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, एक मुनि बताया गया है,[1] जो वन मे रहता था। इसी प्रकार समंग, जिसे पूर्ण मानसिक समत्व प्राप्त हो चुका था, कहता है : "अर्थ और काम का तथा इच्छा और मोह का त्याग कर चुकने के कारण मैं पृथ्वी पर पीड़ा और यातना से शून्य विचरण करता हूँ।"[2] यद्यपि सन्यास इस युग के व्यावहारिक उपदेश की एक प्रमुख विशेषता था, तथापि सभी, कम-से-कम आस्तिकों मे, संन्यास नहीं लेते थे। कुछ तो ऐसे थे जो संन्यास को जीवन की सामान्य योजना का अंग नही मानते थे। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य के अलावा एकमात्र अन्य वैध आश्रम गृहस्थ का था; और वानप्रस्थी तथा संन्यासी के शेष दो आश्रमों को केवल उनके लिए विहित माना जाता था जो किसी-न-किसी कारण गृहस्थ के उपयुक्त कर्मों को करने के अयोग्य थे। यह शायद सबसे प्राचीन मत है, क्योंकि ब्राह्मणों मे इतने विस्तार के साथ बताये गए बहुसंख्यक अनुष्ठानों को पूरा महत्त्व इसी से प्राप्त होता है।[3] आस्तिकों में जिन्होने संन्यास को जीवन का एक सामान्य आश्रम माना, उनके अनुसार भी केवल अन्त में ही संन्यास लिया जा सकता था।[4] अतः इस दृष्टिकोण से विचाराधीन युग में प्रचलित साधना के रूपों का विधानात्मक और निषेधात्मक मे एक नया विभाजन किया जा सकता है। पहली साधना को प्रवृत्ति का मार्ग, अर्थात् कर्म का जीवन, कहा गया है, क्योंकि यह वैदिक कर्मकाण्ड का कठोर रूप से अनुसरण करने और कल्पसूत्रों मे बताये-हुए विविध कर्तव्यों को करने पर जोर देती है; और दूसरी साधना को निवृत्ति का मार्ग या नैष्कर्म्य-वृत्ति कहा गया है, क्योंकि यह सामाजिक और याज्ञिक जीवन से विरत होने की माँग करती है, ताकि मनुष्य स्वयं को पूरी तरह चिन्तन मे लगा सके। भारतीय विचारधारा के बाद के विकास के अध्ययन

1. 12.179.2।
2. महाभारत, 12.292.19।
3. गौतम-धर्मसूत्र, 3.36।
4. देखिए, मनुस्मृति 6.35. ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद अपनी पसन्द के आश्रम के चुनाव पर जो रोक लगी हुई थी, वह बाद के काल में हट गई। उसके बाद संन्यास में प्रवेश की एकमात्र शर्त विरक्ति रह गई : जिसके भी अन्दर वैराग्य आ गया हो, वह संसार का त्याग कर सकता है। तुलना कीजिए : यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् : जाबाल उपनिषद 4। देखिए पृ० 17 की पादटिप्पणी 3।

में हम इन अन्तर को उपयोगी पाएँगे।

ऐसी साधना से जो स्थिति प्राप्त होगी, उसका स्वरूप क्या है? जो मनुष्य के तीन अंगों वाले (त्रिवर्ग) आदर्श का अनुसरण करते हैं, उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य इस जन्म में धर्म अर्जित करके मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति करना है। दूसरी ओर, जो मोक्ष को सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं, उनकी इसके स्वरूप के बारे में एक से अधिक धारणाएँ हैं। यह ब्रह्म से सायुज्य हो सकता है, जैसे ब्रह्मवाद में, अथवा ईश्वर का सामीप्य हो सकता है, जैसे ईश्वरवाद में, अथवा संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाने की निषेधात्मक अवस्था मात्र हो सकती है, जैसे कुछ नास्तिक सम्प्रदायों में। अन्तिम रूप में इसे बहुधा 'निर्वाण' (जिसका शब्दार्थ 'बुझ जाना' है) कहा जाता है, जिसमें इसका निषेधात्मक स्वरूप बिलकुल स्पष्ट है। लेकिन इसके बारे में चाहे जो धारणा हो, जीवन्मुक्ति का आदर्श फिर भी बना रहता है और हम कह सकते हैं कि यह इस युग में अधिक महत्त्व प्राप्त करता है। सगर और अरिष्टनेमि के संवाद में "वह सचमुच मुक्त है", इस ध्रुवपद में समाप्त होनेवाले श्लोकों की एक शृंखला में महाभारत[1] इसी जीवन में प्राप्त हो सकनेवाली निर्विकार प्रशान्ति को मोक्ष घोषित करता है। यद्यपि इस आदर्श को अद्वैत इत्यादि अनेक आस्तिक सम्प्रदाय मानते हैं, तथापि शायद यह नास्तिक वर्गों में, जिनमें से कुछ के जगत्-विषयक सामान्य दृष्टिकोण से इसकी इतनी अधिक संगति है, प्रारम्भ हुआ था। उदाहरणार्थ, मृत्यु के बाद प्राप्त हो सकनेवाले मोक्ष की धारणा स्वभाववाद से संगति नहीं रखती, क्योंकि स्वभाववादी मरणोत्तर जीवन की कामना नहीं करते थे; और फलतः उसके लिए मोक्ष के आदर्श को वर्तमान जीवन की सीमाओं के अन्दर प्राप्त हो सकनेवाला मानना ही स्वाभाविक हुआ होता। लेकिन सिद्धान्तों के पहले ही परस्पर मिश्रित हो जाने के कारण जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं, इस बारे में आश्वस्त होना कठिन है।[2]

1. 12.288.25 इत्यादि।
2. इस सम्बन्ध में देखिए आपस्तंब-धर्मसूत्र, 2.21.14-16।

अध्याय 4

भगवद्गीता

भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में गीता लोकप्रियता में किसी भी ग्रन्थ से पीछे नहीं है। इसे सदैव अत्यधिक प्रशंसा मिली है और अब इसकी लोकप्रियता और भी बढ़ती जा रही है। इसकी इस अद्वितीय स्थिति के अनेक कारण हैं। यह एक ऐसे महाकाव्य का भाग है जिसके अध्ययन से नर-नारी अनेक पीढ़ियों से आनन्द-लाभ करते रहे हैं। इसके दो पात्र अत्यधिक मोहक व्यक्तित्व वाले हैं; और एक ऐसे अति नाज़ुक अवसर पर इसका उपदेश किया गया था जब न केवल देश का बल्कि स्वयं धर्म का ही अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया था। यह ग्रन्थ सरल और मोहक शैली में लिखा गया है और संवाद के रूप में है, जिससे इसमें नाटकीय रोचकता आ गई है। किन्तु इसकी महान् आकर्षकता के लिए इसके ये बाह्य गुण अकेले पर्याप्त नहीं हैं। जैसा कि हम देखेंगे, इसका हमारे लिए एक विशिष्ट सन्देश है। फिलहाल इसके उपदेश को विशेष महत्त्व प्रदान करनेवाली एक या दो अन्य बातों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा। यह ग्रन्थ आद्योपान्त सहिष्णुता की भावना से अनुप्राणित है, जो हिन्दू विचारधारा का एक प्रमुख लक्षण है। "जो भक्त जिस देवता को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उसकी श्रद्धा को मैं उसी में दृढ़ करता हूँ; और इससे वह अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है।" "श्रद्धा से युक्त होकर जो अन्य देवताओं को पूजते हैं; वे भी मुझे ही पूजते हैं, यद्यपि उनकी यह पूजा विधिपूर्वक नहीं है।"[1] कभी-कभी दुर्भाग्य से 'एक व्यक्ति का देवता दूसरे के लिए दानव' हो जाता है। लेकिन यहाँ ऐसी बात नहीं है। गीता की धारणा यह है कि ईश्वर का प्रत्येक रूप, चाहे वह कितना ही अपरिष्कृत या दोषपूर्ण हो, दिव्य ही है। महत्त्व उस मूर्ति के स्वरूप का नहीं है जिसे पूजा जाता है, बल्कि उस भावना का है जिससे पूजा करनेवाला उसे पूजता है। यह विशेषता इस काव्य को हिन्दू शास्त्रों में, उनकी प्रधान भावना को सर्वोत्तम अभिव्यक्ति देने के कारण, प्रथम स्थान प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता

1. 7.21-22; 9 23; 4.11 भी देखिए।

भी है, जिससे यह बात समझ में आ जाती है कि जब से इसका भारत के बाहर के लोगों को ज्ञान हुआ, सभी ने क्यों इसे विश्व-साहित्य का अंग मान लिया गया। इसका रचयिता परम्परा के अनुसार प्रायः सभी संस्कृत कवियों को प्रेरणा देनेवाला माना गया है और, जैसी कि ऐसे पुरुष से आशा की जा सकती है, वह यहाँ नीतिशास्त्र और तत्त्वमीमांसा की सूक्ष्म और गूढ़ बातों का विस्तार से विवेचन नहीं करता, बल्कि केवल उनके आधारभूत मोटे-मोटे सिद्धान्तों की चर्चा करता है तथा साथ ही उन्हें मनुष्य की सबसे अधिक मौलिक आकांक्षाओं से भी जोड़ देता है। और ऐसा करने के लिए किसी सूक्ष्म शास्त्रीय विवेचन को माध्यम नहीं बनाया गया है, बल्कि धर्म-सम्मोह पैदा करनेवाली एक मूर्त परिस्थिति को चुना गया है और उसके समाधान का उपाय बताया गया है। विषय-प्रतिपादन का यह ठोस तरीका, जिसमें व्यंजकता स्वाभाविक होती है, इसके उपदेश के क्षेत्र को बहुत व्यापक कर देता है और उसे लगभग प्रत्येक के काम का बना देता है।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इस ग्रन्थ को समझना आसान है। स्थिति इससे भिन्न है। यह सबसे दुर्बोध ग्रन्थों में से एक है और यही कारण है कि इस पर अनेक भाष्य लिखे गए हैं, जिनमें से प्रत्येक अन्यों से एक या दूसरी महत्त्व की बात में भिन्न है। व्याख्याओं की इस विविधता का कारण अंशतः यह मान लेना है कि गीता न केवल व्यवहार की उस समस्या को अपना विषय बनाती है जिसका समाधान आदर्श की चेतना रखते हुए भी आत्मा को वश में न रख पाने से उत्पन्न आन्तरिक द्वन्द्व से बचने की चाह रखनेवाले मनुष्य के लिए अत्यावश्यक है, बल्कि तत्त्वमीमांसा का भी एक ग्रन्थ है। क्योंकि वह एक नैतिक समस्या पर विचार करती है, इसलिए समय-समय पर उसका तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को छू देना अनिवार्य है; लेकिन ये प्रश्न उसकी नैतिक शिक्षा की पृष्ठभूमि-मात्र हैं। हमें लगता है कि दर्शन के तात्त्विक प्रश्नों के विचार को गीता के मुख्य उद्देश्य का अंग मान लेना उसके स्वरूप को सम्यक् रूप से न समझना है। यद्यपि उसकी पृष्ठभूमि में पाए जानेवाले विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों का रूप धुंधला-सा है, जिसके फलस्वरूप व्याख्याकारों ने उनके अलग-अलग विवरण दिए हैं, तथापि तसवीर के केन्द्र में जो चीज़ है वह, अर्थात् उसका व्यावहारिक उपदेश, बिलकुल स्पष्ट है। गीता के व्याख्याकारों के मतभेद का एक दूसरा कारण उनका उस अवसर को भूल जाना है जिसमें इसका उपदेश दिया गया था और यह आशा करना भी है कि इसमें नीति की पूरी मीमांसा की गई है। इसका उपदेश एक विशेष प्रसंग में दिया गया था

और उसके अनुरूप व्यवहार का मार्ग बताते हुए श्रीकृष्ण ने केवल कुछ ही ऐसे सिद्धान्तों की ओर ध्यान खींचा है जिनके ऊपर सम्यक् जीवन को आधारित होना चाहिए। तदनुसार सम्पूर्ण नीतिमीमांसा गीता का विषय नहीं है; और जैसा कि बाद में स्पष्ट हो जाएगा, उसमें अनेक महत्त्व की बातें छूट भी गई हैं। हमारा लक्ष्य गीता में उपदिष्ट केन्द्रस्थ नैतिक सत्य के स्वरूप को समझाना और भारतीय विचारधारा के इतिहास में उसका महत्त्व दिखाना होगा। हम उस उपदेश के मूलभूत सिद्धान्त की सामान्य बातें बताने की भी चेष्टा करेंगे, लेकिन उसमे यत्र-तत्र विखरे पाए जानेवाले सारे अन्य सिद्धान्तो-को शामिल करके उसका पूरा ब्योरा देने की कोशिश हम नही करेंगे। इस बात मे गीता महाभारत के सदृश् है, जिसका सिद्धान्त-वैषम्य पहले ही बताया जा चुका है। क्योंकि इस काव्य का मुख्य प्रयोजन व्यावहारिक उपदेश है, इसलिए सबसे पहले हम उसी को लेंगे। यह किस काल की रचना है, इस प्रश्न पर बहुत विवाद रहा है, लेकिन अब अधिकतर विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि कम-से-कम इसका आवश्यक भाग 200 ई० पू० से बाद का नही है, और यह तिथि सम्प्रति विचाराधीन युग के अन्तर्गत ही है।

: 1 :

हम कह चुके हैं कि व्यावहारिक उपदेश का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमे कोई अस्पष्टता नही है। इसका कारण वह परिस्थिति है जिसमें गीता का उपदेश दिया गया है। प्रारम्भ में हम अर्जुन को विषण्ण और युद्ध से विमुख देखते हैं; किन्तु श्रीकृष्ण के उपदेश के फलस्वरूप वह युद्ध के लिए कृतनिश्चय हो जाता है। यदि हम कर्म को गीता के उपदेश का सार नही मानते, तो इस महत्त्वपूर्ण बात की कोई सार्थकता नही रह जाएगी। तदनुसार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसके उपदेश का केन्द्रबिन्दु कर्मपरता है, जिसे उसमें 'कर्मयोग' कहा गया है। इस शब्द का सही अर्थ समझने के लिए 'कर्म' और 'योग' का अर्थ अलग-अलग जान लेना आवश्यक है। 'कर्म' का शाब्दिक अर्थ है 'काम', 'वह जो किया जाए'; और गीता[1] मे कहीं-कहीं इसका प्रयोग वस्तुतः इसी साधारण अर्थ में हुआ है। लेकिन गीता के समय तक इसका अर्थ 'यज्ञ' भी हो गया था, जिसका उपदेश ब्राह्मणों में हुआ है। हम यह तो नहीं कह सकते कि गीता[2] में 'कर्म' शब्द इस विशेष अर्थ में बिल्कुल भी प्रयुक्त नहीं

1. देखिए 3.5; 5.8-9।
2. देखिए 3.14-15; 18.3।

हुआ है, लेकिन यह कह सकते हैं कि उसमें इसका यह प्रधान प्रयोग नहीं है। गीता में इसका प्रयोग प्रायः उन कर्तव्यों के अर्थ में हुआ है जो उस काल में रूढ़ि और परम्परा के अनुसार समाज के अलग-अलग वर्गों[1] के साथ जुड़ गए थे और जिन्हें वर्ण-धर्म कहा जाता था।[2] इस शब्द का गीता में एक चौथे अर्थ—ईश्वर की पूजा और उससे सम्बन्धित प्रार्थना, भजन इत्यादि के अर्थ—में भी प्रयोग हुआ है।[3] गीता में जिस कर्मयोग का उपदेश दिया गया है, उसके सिलसिले में हमें 'कर्म' शब्द का इन विभिन्न अर्थों में से तीसरा ही साधारणतः लेना चाहिए, जिसे हमने सामाजिक कर्तव्य कहा है और जो एक या दूसरे रूप में सभी संगठित समाजों में स्वीकृत है। योग शब्द का अर्थ है 'जोड़ना' या 'अपने को लगाना', और इस प्रकार 'कर्मयोग' का अर्थ हुआ सामाजिक कर्तव्यों के पालन में निष्ठा। इच्छापूर्वक किये हुए सभी कामों की एक विशेषता यह होती है कि वे किसी फल की प्राप्ति की कामना से किए जाते हैं। जान-बूझकर जब भी हम कोई काम करते हैं, तब किसी-न-किसी चीज को पाना हमारा लक्ष्य होता है। प्रस्तुत उदाहरण में अर्जुन अपने पैतृक साम्राज्य को वापस पाने की इच्छा रखता है, जो परिस्थिति-वश उसके धूर्त चचेरे भाइयों के हाथ में चला गया है, और इसके लिए वह युद्ध करना चाहता है। लेकिन यह कर्म के प्रति निष्ठा नहीं होगी। यह तो कर्म के फल के प्रति निष्ठा है, क्योंकि यहाँ कर्म, अर्थात् युद्ध, एक पूर्वनिश्चित साध्य का साधन मात्र है। कर्मयोग के लिए कर्म को साधन के रूप में नहीं, बल्कि स्वयं साध्य के रूप में देखना होगा। अर्थात् कर्म करने से पहले तथा उसे करते समय भी उससे प्राप्त होनेवाले फल के विचार को मन से बिलकुल दूर रखना होगा। जैसा कि श्रीकृष्ण ने बार-बार बताया है, कर्मयोग का अर्थ है फल की प्राप्ति का विचार मन में बिलकुल भी न लाते हुए कर्म करना। "केवल कर्म में ही तेरा अधिकार है, उसके फल में कदापि नहीं।"[4] निश्चय ही जो कर्म किया जाता है उसका एक फल होता है, लेकिन वह कर्मयोगी का लक्ष्य नहीं होता, क्योंकि वह उसका इष्ट नहीं होता और इच्छा के बिना लक्ष्य हो ही नहीं सकता। कर्म के इस सिद्धान्त का अनुसरण करने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि कर्ता पूर्ण समत्व के साथ कर्म कर सकता है। जब हम इच्छा या स्वार्थ के वश में होते हैं, तब, सम्भव है, जो

1. देखिए 4.15 (पूर्वैः पूर्वतरं कृत) तथा 18.41, जहाँ चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है।
2. वर्ण-धर्म के सहचर आश्रम-धर्म का गीता में अधिक उल्लेख नहीं हुआ है।
3. देखिए 12.10।
4. 2.47।

उचित है उसकी हम उपेक्षा कर बैठें; और यदि हम उचित कार्य का चुनाव करने में सफल हो भी जाएं, तो भी, सम्भव है, हमारा उसके फल-लाभ के प्रति आवश्यकता से अधिक उत्सुक रहना हमें सन्मार्ग से भ्रष्ट कर दे। एक स्थल पर[1] 'योग' शब्द का अर्थ यही समत्व, 'मानसिक सन्तुलन', बताया गया है। हमें एक व्यवस्थित समाज के सदस्यों की हैसियत से अपने पूर्वनिर्धारित कर्तव्यों में लगा रहना चाहिए और उन्हें करते हुए अपने मन से उनसे व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने का विचार बिलकुल निकाल देना चाहिए। गीता का यही उपदेश कर्मयोग का अर्थ है और यही गीता का विशिष्ट सन्देश है।

यदि हम जीवन के उन दो आदर्शों की बात पर ध्यान दें जो इस युग में आस्तिकों में प्रचलित थे—त्याग का निषेधात्मक आदर्श और सक्रिय जीवन का विधानात्मक आदर्श—तो इस उपदेश का महत्त्व स्पष्टतः समझ में आ जाएगा। पहला, जो निवृत्ति का आदर्श कहलाता है, इस बात का समर्थक है कि सारे कर्मों का त्याग कर दिया जाए और इस कामकाजी संसार से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाए। दूसरा, प्रवृत्ति का आदर्श, निश्चय ही, इस पक्ष में है कि समाज के अन्दर रहते हुए उन सब कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए जो हमारी सामाजिक स्थिति के साथ जुड़े हुए हैं; किन्तु यह स्वार्थ के [illegible]। यज्ञ इत्यादि के अनुष्ठान में यह बात [illegible] रत रहनेवाले आत्मा की नित्यता में विश्वास रखने के कारण क्षणिक आवेगों के वश मे नही होते थे, बल्कि उस श्रेय के लिए प्रयत्नशील रहते थे जो दूसरे जीवन में प्राप्तव्य था। फिर भी, वे स्वयं अपने ही श्रेय के लिए प्रयत्नशील रहते थे। यद्यपि भावी जीवन मे उनका विश्वास होने से वे ऐहिक श्रेय को अनुचित रूप से अधिक महत्त्व देने से बच गए, तथापि जिस श्रेय की प्राप्ति के लिए वे सचेष्ट थे उसका स्वरूप ऐहिक श्रेय का-जैसा ही था और इसलिए उनके प्रयत्नों को मूलतः स्वार्थपूर्ण ही कहा जाएगा। इसके अलावा, उन कार्यों के मामले में जो परलोक से सम्बन्धित नही थे, वे अपने अधिकारों का भी उतना ही अधिक ध्यान रखते थे जितना अपने कर्तव्यों का। वे न केवल यह समझते थे कि दूसरों का उन पर जो ऋण है उससे उन्हे अवश्य ही उऋण होना है, बल्कि यह भी कि दूसरों के ऊपर उनके जो उपकार हैं उनके बदले में उनसे उन्हे कुछ मिलना भी चाहिए; और इस प्रकार वे जीवन के सच्चे आध्यात्मिक आदर्श से नीचे रह गए। गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के आदर्शों की, जिन्हें हम क्रमशः कर्म और ध्यान के आदर्श

1. 2.48।

कह सकते हैं, अच्छाइयों को बनाए रखते हुए, दोनों के बीच का स्वर्णिम मार्ग खोज निकालना है। कर्मयोग ही यह मध्यम मार्ग है। यह कर्म का त्याग नहीं करता और साथ ही त्याग की भावना को भी सुरक्षित रखता है। यह कर्मशील जीवन का अनुमोदन करता है, लेकिन स्वार्थपरक आवेगों को आने नहीं देता। इस प्रकार यह दोनों में से किसी भी आदर्श का बहिष्कार नहीं करता, बल्कि दोनों को संयुक्त करके उनमें परिष्कार कर देता है तथा दोनों को ऊँचा उठा देता है। आत्मा की वह विशेष अभिवृत्ति इसमें भी बनी रहती है जो त्याग में पाई जाती है; अन्तर केवल इतना है कि वह कर्म को तिर्यक् दृष्टि से देखना अब छोड़ देती है। दूसरे शब्दों में, गीता का उपदेश कर्म का त्याग नहीं कराता, बल्कि कर्म में त्याग सिखाता है।

गीता के प्रारम्भ में हम देखते हैं कि जो अर्जुन इन प्राचीन आदर्शों में से एक के प्रभाव से युद्ध में लड़ने के लिए उद्यत था, वही दूसरे आदर्श के प्रभाव में आ जाता है। वह एकाएक संसार त्यागने और युद्ध से विमुख होने का निश्चय कर लेता है। परन्तु वह भूल जाता है कि इस आदर्श का समर्थन करने वाले यह शर्त रखते हैं कि जो इसे अपनाना चाहे वह पहले अपने अन्दर सच्चा वैराग्य लाए। अर्जुन के अन्दर इस गुण का अभाव है, फिर भी वह संसार-त्याग का विचार मन में लाता है। इस दृष्टि से वह असल में साधारण स्तर से ऊपर नहीं उठ पाया है, जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि उसका वैराग्य सच्चे ज्ञान से नहीं, बल्कि संकीर्ण बुद्धि, यानी आत्मीयों के प्रेम, से उपजा है।[1] वह अब भी अपनों और परायों में भेद करता है; और जैसा कि गीता के प्रारम्भ में बताया गया है, कर्मविमुख होने का वह जो कारण देता है उससे प्रतीत होता है कि अपने सम्बन्धियों से पृथक् अपनी प्रजा तक में उसकी रुचि केवल गौण ही है।[2] उसका वैराग्य, बल्कि यह कहना चाहिए कि उसकी युद्ध से विरक्ति, अधिकांशतः उस असाधारण परिस्थिति का फल है जिसमें वह अपने को कुछ एकाएक ही उलझा हुआ देखता है। अतः उसे विरक्त करनेवाली चीज न तो जगत् के बारे में उसका सोच-विचार से प्राप्त दार्शनिक दृष्टिकोण है और न जीवन के बारे में, जिसे उसे इस जगत् में जीना है, बना हुआ उसका दृष्टिकोण। इस विरक्ति का कारण तो उसकी दुर्बलता—उसका क्षणिक आवेश में बह जाना—है। अर्जुन के वैराग्य का एक सूक्ष्म और अचेतन कारण यह भी है कि उसमें आत्म-संशय का भाव आ जाता है और यह भय घर कर लेता है कि

1. देखिए, 1.31; 2.6।
2. देखिए, 1.33।

युद्ध में अन्तिम विजय शायद उसकी न हो सके। इस तरह, जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है, यह मूलतः उसका हृदय-दौर्बल्य है और मन में राग है, विराग नहीं।[1] ऊपर से वैराग्य दिखाई देने के बावजूद अर्जुन के मन में अब भी इहलोकपरता है; और यह निष्क्रियता की अभिवृत्ति सांसारिक आधार पर अपनाता है, पारमार्थिक आधार पर नहीं। वह यह नहीं समझ पाता कि वह न अपने लिए लड़ रहा है, न अपने परिवार या कुल के लिए, बल्कि राजा और देश के लिए लड़ रहा है—कि सत्य खतरे में है और प्रत्येक सत्यनिष्ठ व्यक्ति की तरह उसे भी परिस्थिति को सँभालने के लिए प्राणों की बाजी लगा देनी है। अर्जुन सच्चे वैराग्य से प्रेरित नहीं है, और इसका अन्तिम प्रमाण वह विषाद है जो उसकी वाणी में व्याप्त है। वह विषण्ण ही नहीं है, बल्कि संशयग्रस्त भी है।[2] सच्ची आध्यात्मिकता में संशय और शोक का क्या काम! उससे तो आजादी का विजयोल्लास प्राप्त होना चाहिए। श्रीकृष्ण का उपदेश है कि सबसे पहले संकीर्ण स्वार्थपरक आवेगों को, जो शोक और संशय में प्रकट होते हैं, जीतना होगा; और इसका उपाय वन के एकान्त का आश्रय लेना नहीं है बल्कि सामाजिक जीवन की हलचलों और संघर्षों के बीच रहते हुए निःस्पृह होकर अपना कर्तव्य करते जाना है।

कुछ विद्वान् इस उपदेश का मूल पहले के ग्रन्थों में मानते हैं।[3] निस्सन्देह ईश उपनिषद् में ऐसा कथन हुआ है, लेकिन वहाँ इसका विस्तार नहीं किया गया है। यदि ऐसा मान भी लिया जाए कि कर्मयोग का आदर्श एकदम से नया नहीं है, तो भी इसका व्यापक रूप से अपनाया जाना निस्सन्देह गीता में इसके प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किए जाने का परिणाम है। बाद में जितने नये आस्तिक मतों या विचारधाराओं का उदय हुआ, उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसने इसे न अपनाया हो। सभी के अनुसार निष्काम कर्म जीवन की साधना का प्रारम्भिक चरण बन गया और फल के लिए कर्म करने का पुराना मत वस्तुतः त्याग दिया गया। प्रवृत्ति के आदर्श का यह रूपान्तरण गीता की हिन्दू विचारधारा को एक मुख्य देन है। इतना और कह दिया जाए कि यद्यपि जिस विशेष परिस्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था वह बदल चुकी है, तथापि उस उपदेश का महत्त्व अब भी यथावत् बना हुआ है। परिणाम भला-बुरा जो भी हुआ हो, संन्यास का आदर्श अब बिलकुल लुप्त हो गया है।

1. 2.3।
2. 2.1 और 7।
3. देखिए, भण्डारकर : Vaiṣṇavism, Śaivism etc , पृ० 27।

हमारा यह युग स्वाग्रह का है, स्वनिग्रह का नहीं। अब इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि लोग अपने कर्तव्य को छोडकर संन्यासी हो जाएँगे, जैसा कि अर्जुन चाहता था। खतरा तो दूसरी ओर है। अपने अधिकारों को मांगने और उनका उपयोग करने की व्यग्रता में हमारी अपने कर्तव्यों को भूल जाने की आशंका है। अत: गीता के उपदेश की आवश्यकता अब भी उतनी ही अधिक है जितनी कभी थी। समय बीतने के साथ इसका मूल्य नहीं घटा है; और यही इसकी महत्ता का प्रमाण है।

गीता के उपदेश के लिए युद्ध-भूमि को चुनने का औचित्य यह है कि उसके अलावा अन्यत्र कहीं भी व्यष्टि के लक्ष्य के समष्टि के हित से गौण होने की बात इतनी पूरी तरह नहीं दिखाई देती। सैनिक को उस हेतु का पता हो सकता है जिसके लिए वह लड रहा है, लेकिन उसके लिए यह कहना कठिन होता है कि लड़ाई का अन्त कैसे होगा। यदि यह मान भी लिया जाए कि उसने किसी प्रकार लड़ाई का अपने पक्ष में. अन्त होना जान लिया है, तो भी लड़ाई के हितकारी परिणामों का उपभोग करने के लिए वह शायद जीवित न रहे। फिर भी यह अनिश्चितता योद्धा के रूप में उसके दायित्व को अल्प मात्रा में भी नहीं घटाती। उसे तो यथाशक्ति अच्छा प्रयत्न करना है और इसलिए कर्ता के रूप में उसे अपना मूल्य और महत्त्व भली-भांति समझ लेना चाहिए, लेकिन साथ ही यह बिलकुल भूल जाना चाहिए कि उसका अपना कर्तव्य पूरा कर लेने से जो भी हितकर परिणाम होगा उसका भाग उसे प्राप्त होगा।[1] जिसके हित का वह साधक है वह उससे बड़ी सत्ता है; और उसके विचार को केवल यह समझने तक ही सीमित रहना चाहिए कि एक पात्र के रूप में उसका व्यक्तिगत दायित्व हृदय में अधिकतम बना रहे। यही आत्मत्याग का उत्कृष्टतम रूप है कि आदमी ऐसा काम करता रहे जिसमें उसका अपना बिलकुल भी लाभ न हो और फिर भी उसका प्रयत्न अधिकतम हो। संसार में इस भावना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति युद्ध-भूमि में दिखाई देती है। फिर भी हमें याद रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण अपने भक्त अर्जुन के माध्यम से वास्तव में सभी मनुष्यों को सम्बोधित कर रहे हैं, और उनका उपदेश, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल उस परिस्थिति-विशेष तक सीमित न रहकर, जिसमें वह दिया गया है, सर्वत्र लागू होता है। सभी लोग, जो जीवन में स्वयं को अर्जुन-जैसे धर्मसंकट में पड़े देखते हैं, उस पर अमल कर सकते हैं। इस विस्तृत अर्थ में

1. अर्थात् व्यक्ति को यह तो पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि वह कर्ता है, लेकिन यह बिलकुल भूल जाना चाहिए कि वह भोक्ता है।

वह अपने आवश्यक आधार के रूप मे इस सिद्धान्त को लेता है कि कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है और कोई भी जीवन-दर्शन, जो इस बात की उपेक्षा करता हो या इसके महत्त्व को कम करता हो, सम्यक् नही हो सकता। गीता में एक से अधिक बार बताया गया है कि कोई भी मनुष्य कर्म का बिलकुल त्याग नहीं कर सकता।[1] पर आवश्यकता इस बात की है कि कर्म की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को उचित मार्ग में लगाया जाए, क्योंकि यदि ऐसा न किया गया तो इसका स्वार्थपूर्ण या सासारिक लक्ष्यों के लिए प्रयोग होने की आशका हो जाएगी और इस प्रकार मनुष्य उस ऊँचे लक्ष्य से भटक जाएगा जिसके लिए उसका अस्तित्व है।

वह कौन-सी दिशा है जिसमे आदमी अपनी कर्म-शक्ति को लगाए ? इस प्रश्न के उत्तर मे गीता सबको अपने-अपने कर्तव्यों को करने का आदेश देती है। "मनुष्य अपने सहज कर्म को, चाहे वह उत्तम हो चाहे अधम, कदापि न त्यागे।"[2] मनुष्य जिस काम को करता है, वह यदि उसका स्वधर्म है, तो गीता उसके सहज गुण का कोई विचार नही करती। 'स्वधर्म' शब्द का व्यापक अर्थ हो सकता है, लेकिन जिस विशेष प्रसग मे इसका प्रयोग हुआ है उसके अनुसार तथा जैसा कि गीता में एक से अधिक बार स्पष्ट किया गया है उसके अनुसार इसका मुख्य अर्थ, हालांकि यह इसका एकमात्र अर्थ नही है, वह कर्तव्य है जो समाज के प्रधान वर्गों मे से प्रत्येक के लिए अलग-अलग निर्धारित किया गया है। दूसरे शब्दों मे, मुख्यतः सामाजिक कर्तव्यों का, ऐसे कर्तव्यों का जिन्हें समाज में एकता लाने और उस एकता को बनाए रखने के साधन समझा गया है, पालन करने का उपदेश गीता मे दिया गया है। इस ग्रन्थ मे निहित उपदेश की कठोर व्यवहारनिष्ठता का यह एक प्रमाण है कि उसमे इन कर्तव्यों को आगे विस्तृत वर्णन करने की कोई चेष्टा नही की गई है। उसमे यह समझ लिया गया है कि जीवन की प्रत्येक स्थिति से सम्बन्धित उपयुक्त कर्मों को विस्तार से बताना असम्भव है, और इसलिए वह उनका निर्धारण व्यक्ति की सुबुद्धि या उसके तात्कालिक विवेक पर छोड़ देती है। एक या दो स्थलों पर[3] यह बताने की चेष्टा की गई है कि वे कर्तव्य क्या हैं, लेकिन ऐसा केवल सामान्य रूप मे ही किया गया है। यह सोचा जा सकता है कि अपने धर्म का पालन करते रहने के आदेश मात्र से बात साफ़ नही होती। लेकिन हमें याद

1. देखिए 3.5; 18.11।
2. 18.47-48।
3. 2.31-8; 18.41-4।

रखना चाहिए कि जिस काल में गीता का उपदेश हुआ था, उस काल में समाज-व्यवस्था अपेक्षाकृत सरल थी और उसके विभिन्न वर्गों के कर्तव्य काफी स्पष्टता के साथ ज्ञात थे। कम-से-कम अर्जुन जिस परिस्थिति में था, उसमें उसके स्वधर्म के बारे में तो कोई सन्देह था ही नहीं। आपेक्षिक कर्तव्यों को, उदाहरणार्थ समाज में व्यक्ति की जो स्थिति होती है उस पर आश्रित कर्तव्यों को, प्राधान्य दिए जाने से अनुषंगतः यह प्रकट होता है कि गीता में आचरण की समस्या का जो विवेचन किया गया है वह एकांगी मात्र है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। उदाहरण के लिए, उसमें उस चीज को नहीं बताया गया है जिसे 'स्वतः उचित' कहा जा सके। हाँ, इसका आनुषंगिक उल्लेख अवश्य मिलता है, जैसे सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पदा वालों का आसुरी सम्पदा वालों से भेद बताते समय, जहाँ सम्पूर्ण मानव-जाति को दो मोटे-मोटे वर्गों में बाँटा गया है। गीता मनुष्य के सामाजिक स्वरूप पर बल देती है और सामान्यतः उसे उस समुदाय से, जिसका वह सदस्य है, पृथक् रूप में देखने से इन्कार कर देती है।

यहाँ तक हमने जो कुछ कहा है, उससे प्रतीत होता है कि जैसे कर्मयोगी किसी प्रयोजन को सामने रखे बिना कर्म करता हो। परन्तु ऐसे ऐच्छिक कर्म की कल्पना असम्भव लगती है जिसका कोई अभिप्रेरक न हो। कहा गया है कि इष्ट के बिना इच्छा मिथ्या है। तो फिर यहाँ कर्म का अभिप्रेरक क्या है? इस प्रश्न के दो उत्तर गीता में दिये गए हैं: (1) आत्मशुद्धि[1] और (2) ईश्वर के प्रयोजन को पूरा करना[2]। अनुषंगतः यह कह देना चाहिए कि यहाँ सिद्धान्तों का सांकर्य-सा प्रतीत होता है। जिस भावना से योगी कर्म में प्रवृत्त होता है, वह इन दो लक्ष्यों के अनुसार अलग-अलग है। एक के अनुसार जो कर्म किया जाता है वह उस सामाजिक समष्टि के लिए किया जाता है जिसका कर्ता एक सदस्य है; लेकिन दूसरे के अनुसार वह ईश्वर के लिए किया जाता है और उसका फल ईश्वर को अर्पित किया जाता है। एक में जो अन्यों के प्रति कर्तव्य प्रतीत होता है, वह दूसरे में ईश्वर की सेवा मालूम पड़ता है। पहले प्रकार का कर्ता अपने पर्यावरण से अपना सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जानता है और समझता है कि वह उससे निष्ठा की माँग करता है। दूसरे प्रकार का कर्ता केवल ईश्वर के प्रति सचेत है, जो एक पुरुष है और जगत् से निरन्तर सम्पर्क रखता है, तथा वह जो कुछ करता है उसे ईश्वर का काम समझता है, जिसे करना ही है। परन्तु कर्म को चाहे हम कर्तव्य के रूप में देखें, चाहे ईश्वर

1. 5. 11।
2. 3. 30; 9. 27।

की सेवा के रूप मे, वह किसी भी अर्थ में 'निष्काम' नही है। पहला आत्म-विजय या आत्मशुद्धि को लक्ष्य बनाता है; दूसरा उस सुरक्षा को दृष्टि में रखता है जिसका ईश्वर ने आश्वासन दिया है—ईश्वरभक्त का नाश नही होगा (न मे भक्तः प्रणश्यति—9.31)। लेकिन यदि कर्मयोग इस प्रकार इच्छा से अभि-प्रेरित होता है, तो पूछा जा सकता है कि किस अर्थ में उसे निष्काम कहा गया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हमे उस बात का स्मरण करना चाहिए जो पहले कही जा चुकी है—यह कि मनुष्य की सहज कर्मशीलता को यदि उचित मार्ग में न लगाया जाए तो वह उसे उस ऊँचे लक्ष्य से भटका देगी जिसके लिए उसका अस्तित्व है। वह लक्ष्य गीता की दृष्टि में सदाचार से अधिक है। गीता का लक्ष्य सासारिक इच्छा को—उस इच्छा तक को जिसे साधारणतः उचित माना जाता है, निकाल बाहर कर देना है। इस बात को दूसरे ढंग से इस रूप मे कहा जा सकता है कि गीता हमारे आवेगों के बौद्धिकीकरण मात्र से सन्तुष्ट न रहकर उनका आध्यात्मिकीकरण चाहती है। वह बताती है कि सांसारिक फलों की प्राप्ति का विचार मन में लाए बिना आजीवन कर्म करते रहने से उस आन्तरिक जीवन के स्रोत मुक्त होकर फूट पड़ते हैं, जिसका विकास मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य है। और कर्मयोग निष्काम केवल वहीं तक है जहाँ तक वह हमारे चित्त को इन फलों से विरत करके सच्चे लक्ष्य के मार्ग पर लगा देता है। उसके निष्काम होने का अर्थ यह नहीं है कि उसका कोई लक्ष्य है ही नहीं। वह अभिप्रेरकों से बिलकुल शून्य नही है; केवल इतनी बात है कि हम चाहे जो कर्म करें, उसका एकमात्र अभिप्रेरक हमारे आध्यात्मिक स्वरूप की उन्नति हो।[1] इस प्रकार यद्यपि गीता का उपदेश हर हालत में सामाजिक कर्तव्यो के पालन पर जोर देते हुए व्यष्टि की उपेक्षा करता प्रतीत होता है, तथापि वास्तव में ऐसी बात नही है, क्योंकि वह साथ ही जीवन की एक उच्चतर भूमि पर व्यष्टि की प्रगति के लिए भी गुंजाइश रखता है।

इस भूमि पर जिस लक्ष्य की प्राप्ति करनी है उसकी कर्मयोगी के सामने प्रस्तुत द्वैध अभिप्रेरक के अनुसार दो रूपो में कल्पना की गई है। यदि अभि-प्रेरक 'आत्मशुद्धि' है, तो लक्ष्य आत्मलाभ है; दूसरी ओर, यदि अभिप्रेरक ईश्वर के प्रयोजनों की पूर्ति है, तो लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है। इनमे से प्रथम को यहाँ अधिकाश मे वैसा ही समझना चाहिए जैसा उपनिषदों में है। वह ब्रह्म होना (ब्रह्मभूयम्[2]), अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाना, है। दूसरा ईश्वर के समीप

1. देखिए, बृहदारण्यक उपनिषद् पर शंकर का भाष्य (आनन्दाश्रम), पृ० 57-58।
2. 18. 53।

पहुँचना है,[1] हालाँकि प्रकरतः पहले के प्रभाव से यह कभी-कभी ईश्वर में लीन होना लगता है।—"जो अन्त समय में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह निस्सन्देह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करता है।"[2] यहाँ महत्त्व की बात यह है कि अन्तिम अवस्था में व्यष्टित्व बना रहता है या नही—कि परिच्छिन्न परिच्छिन्न रहते हुए पूर्णता प्राप्त कर सकता है या नही। ब्रह्मवादी धारणा व्यष्टित्व के बने रहने के विरुद्ध है; शुद्ध ईश्वरवादी धारणा इसके पक्ष मे है। दूसरी व्यष्टि का ईश्वर से एक होना नहीं मानती, फिर भी व्यष्टि की इच्छा का ईश्वर की इच्छा में विलय मानती है। लक्ष्य चाहे ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो, चाहे ईश्वर का सामीप्य-लाभ हो, कर्मयोगी को ससार अथवा शुभाशुभ के दायरे से ऊपर हर हालत में उठ जाना है। यद्यपि गीता में ऐसे वचन हैं जिनसे सूचित होता है कि यह लक्ष्य—विशेषतः दूसरा—मृत्यु के बाद प्राप्त होगा,[3] पर मुख्य धारणा यह है कि वह इस जीवन की अवधि मे भी प्राप्त हो सकता है।[4] जो मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर चुका है,[5] उसके एक से अधिक सुन्दर वर्णन गीता में हैं; और ग्यारहवें अध्याय में हम भक्त को ईश्वर का साक्षात्कार होने का एक रोमांचक वर्णन पाते हैं।[6] पूर्णता की अवस्था को कहीं 'ब्राह्मी स्थिति' कहा गया है और कहीं 'ईश्वर में निवास' बताया गया है,[7] और इसकी विशेषता शान्ति है। अन्तर केवल इस बात में है कि जो अपने सामने आत्म-लाभ का आदर्श रखता है, उसका दृष्टिकोण ज्ञान-प्रधान होता है, और जो दूसरा आदर्श सामने रखता है, उसका दृष्टिकोण भक्ति-प्रधान होता है। पहले में कर्मयोग की परिणति उस ज्ञान में होती है जिसके अनन्तर साधक "आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा मे देखता है;"[8] दूसरे में इसकी परिणति तब होती है जब ईश्वर के साथ प्रेमपूर्ण समागम हो जाता है। एक ज्ञान का आदर्श है, तो दूसरा प्रेम का, जो ईश्वर के प्रति होता है और उसके माध्यम से उसके बनाये हुए जीवो से होता है। लेकिन गीता को हम चाहे ज्ञान के सन्देश

1. 4 9; 9. 25।
2. 8.5।
3. 8.5।
4. देखिए 5.19 और 26।
5. 2.55-58; 14.22-25।
6. 11.8 में 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ), यह कथन ध्यान देने योग्य है।
7. देखिए 2.72; 12.8।
8. 6.29; देखिए 4.35।

के रूप में देखें, चाहे प्रेम के सन्देश के रूप में, दोनों ही रूपों में वह कर्म का सन्देश है।

इस सम्बन्ध में जिस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना जरूरी है वह यह है कि गीता पूर्णता की अवस्था में भी मनुष्य के लिए कर्म करते रहना
अ [illegible] शान्ति के साथ
क [illegible]
प्र [illegible]
स [illegible]
को। इसके उदाहरण विदेह के उपनिषदों में प्रसिद्ध राजा जनक और स्वयं श्रीकृष्ण हैं। जनक ने पूर्णता प्राप्त कर ली थी और श्रीकृष्ण सदा से पूर्ण थे; और दोनों[1] ही समान रूप से कर्मरत रहे। ऐसा मत सन्यास को हर प्रकार की अकर्मण्यता से पृथक् करके उसकी धारणा में बिलकुल नवीनता ले आता है; और निवृत्ति का यह रूपान्तरित आदर्श हिन्दू विचारधारा को गीता की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है। तदनुसार कर्मयोग के दो अर्थ समझने चाहिएँ, जिनमें से एक का सम्बन्ध अन्तर्द्वन्द्व की उस प्रारम्भिक अवस्था से है जिसमें साधक अध्यवसायपूर्वक निरन्तर स्वयं को सकाम कर्म से दूर हटाता जाता है, और दूसरे का सम्बन्ध उस उत्तरवर्ती अवस्था से है जिसमें सत्य के ज्ञान के अनन्तर यह अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाता है तथा सदाचार, जो कि सद्य:प्राप्त आन्तरिक आस्था की बाह्य अभिव्यक्ति है, बिलकुल स्वाभाविक हो जाता है। कर्मयोग पहले अर्थ में ही, अर्थात् साधन-रूप में ही,[2] गीता का प्रधान विषय है; दूसरे अर्थ में कर्मयोग की चर्चा आध्यात्मिक साधक को उस लक्ष्य का कुछ आभास देने के लिए, जिसे उसे अपने सामने रखना है, यदा-कदा ही की गई है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का, जिसकी गीता में सक्षेप में चर्चा हुई है, उल्लेख कर देना चाहिए।[3] यहाँ तक गीता का उपदेश यह मानकर चलता है कि मनुष्य जीवन में अपनी पसन्द के मार्ग को चुनने के लिए स्वतन्त्र है। लेकिन लगता है कि मनुष्य केवल अपनी प्रकृति के अनुसार ही चल सकता है; और जब प्रकृति प्रधानतः दुष्ट होती है तब यह कहा जा सकता है कि सन्मार्ग के अनुसरण का उपदेश कम ही उपयोगी होगा। इस आपत्ति का निराकरण करने में गीता पहले यह बताती है कि दुष्ट

1. 3. 20-28।
2. देखिये 5. 6; 6. 3।
3. देखिये 3. 33-43।

प्रकृति किस तरह काम करती है। "इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष व्यवस्थित होते हैं। मनुष्य को इनके वश मे नही आना चाहिए, क्योंकि ये उसके शत्रु हैं।" कहने का मतलब यह है कि दुष्ट प्रकृति स्वतः काम नही करती, बल्कि सदैव हमारी निम्न प्रवृत्तियों को उकसाकर काम करती है, जिन्हें इस प्रसग मे दिये हुए उनके वर्णनो के अनुसार इन्द्रियपरायण आत्मा कहा जा सकता है। "इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान हैं; और यह इनके द्वारा मनुष्य को मोहग्रस्त करता है। अतः इस पापी शत्रु को जीतने के लिए तू पहले इनको वश मे कर।" इस प्रकार अर्जुन का यह मानना ग़लत है कि हम अनिच्छा से पाप में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य होते हैं। आवेग के वश होकर मनुष्य जो कुछ करता है, उसका दायित्व उसके ऊपर नही है, लेकिन केवल तब तक जब तक वह स्वय आवेग के लिए उत्तरदायी नहीं होता। दूसरी ओर, जो कर्म नैतिक निर्णय के विषय होते हैं, वे सदैव कर्ता के द्वारा इच्छित होते है और इसलिए उनमें उचित विचार के पश्चात् भिन्न प्रकार के कर्म का चुनाव करने का अवसर उसे प्राप्त हो चुका होता है। कर्ता को अविचारपूर्वक इन्द्रियपरायण आत्मा के सुझावो का अनुसरण करके इस अवसर को नही खोना चाहिए। लेकिन यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि हम इस आत्मा की उपेक्षा कर सकते है या नही। इसका उत्तर यह है कि यदि हम चाहे तो कर सकते हैं, क्योंकि इससे भी ऊँचे आत्मा की अपने अन्दर उपस्थिति का हमे ज्ञान है। वह आधा छिपा हुआ हो सकता है, "जैसे अग्नि धूम से आवृत रहती है।" फिर भी वह रहता अवश्य है और उसी की उपस्थिति के कारण हमारे अन्दर कामना और बुद्धि का यह सघर्ष उत्पन्न होता है जिससे हम अनिवार्यतः परिचित हैं। इस सघर्ष की चेतना में ही सही चुनाव की सम्भावना निहित है, क्योंकि उच्च आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे निम्न आत्मा के वश में होना सह्य नहीं है, बशर्ते हम सदा के लिए निरे पशु के जीवन को न अपना लें। जब गीता हमें 'आत्मा के द्वारा आत्मा को स्थिर करने'[1] के लिए कहती है और उक्त दो आत्माओं मे से निम्न जिन लक्ष्यों का अनुसरण करना चाहे उनसे कोई सम्बन्ध रखे बिना कर्म करते रहने का अनुमोदन करती है, तब वह इस तथ्य का अवलम्बन लेती है कि मनुष्य अपने अन्दर की उस आवाज की उपेक्षा नही कर सकता जो अभी छोटी-सी है। हमें याद रखना चाहिए कि निम्न लक्ष्य के स्थान पर उच्च लक्ष्य को तब नहीं प्रतिष्ठित करना है जब या जब-जब स्वार्थपूर्ण अभिप्रेरक हमारे मन में रहता है। तब ऐसा करना अव्यवहार्य सिद्ध हो सकता है। गीता हमसे यह

1. 3.43।

कहती है कि हम सच्चे आदर्श को अन्तिम रूप से स्वीकार करके पहले से सन्नद्ध रहें और यह देखें कि हमारे कर्म इस स्वीकृति में गर्भित एक ही संगतिपूर्ण प्रयोजन की अभिव्यक्ति बन जाएँ। जीवन में हमें जितने विविध कर्म करने पड़ते हैं, उनके अनिवार्यतः विविध लक्ष्यों के स्थान पर अपने आध्यात्मिक स्वरूप के उत्कर्ष के एकविध लक्ष्य को प्रतिष्ठित करने के लिए हमसे कहने का यही एक अर्थ है। सम्भव है कि इस साधना-क्रम में प्रगति कठिन और विलम्ब से हो तथा लगातार अभ्यास करते रहने की आवश्यकता हो। फिर भी गीता हमें यह आश्वासन देकर अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने के लिए प्रोत्साहन देती है कि आत्म-विकास के लिए हम जो भी करें वह वस्तुतः कभी व्यर्थ नहीं जाएगा। "ऐसा प्रयत्न नष्ट नहीं होता, और न उसके फलीभूत होने में कोई चीज बाधक है। जो भी थोड़ा-सा प्रयत्न हम करेंगे वह हमें लक्ष्य के और निकट पहुँचाने में सहायक होगा।"[1] तथा "हे तात, कल्याण करने वाला कदापि दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।"[2] यही उपदेश का लाभ है। वह सच्चे आत्मा की हमारी धारणा को स्पष्ट करता है और अपनी साधना मे लगे रहने के लिए हमें प्रोत्साहित करता है। यहाँ जिस प्रश्न पर विचार किया गया है, वह संकल्प-स्वातन्त्र्य का हमारा परिचित प्रश्न है। बात इतनी है कि अन्य प्रश्नों की तरह यहाँ भी गीता इस विचार को प्रसंग के अनुसार केवल इस चर्चा तक ही सीमित रखती है कि मनुष्य उच्चतर जीवन के मार्ग का चुनाव कर सकता है या नहीं।

क्योंकि गीता के उपदेश मे कर्म-सिद्धान्त में विश्वास प्रकट किया गया है, इसलिए यहाँ हमें इस सम्बद्ध प्रश्न पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए कि इस सिद्धान्त में निहित अवश्यता से स्वतन्त्रता की संगति कैसे बैठती है। यदि जो कुछ हम करते हैं वह उसका अनिवार्य परिणाम है जो हम भूतकाल में कर चुके हैं, तो सारा नैतिक दायित्व समाप्त हो जाता है और आत्मा का प्रयत्न अर्थहीन हो जाता है। इस बात पर विचार करते हुए यह याद रखना चाहिए कि हमारे द्वारा किये जानेवाले प्रत्येक कर्म का द्विविध परिणाम होता है। वह न केवल अपना प्रत्यक्ष परिणाम—सुख या दुःख जो कर्म के सिद्धान्त के अनुसार उससे प्राप्त होता है, उत्पन्न करता है, बल्कि हमारे अन्दर उसी कर्म को भविष्य में दोहराने की प्रवृत्ति को भी दृढ़ करता है। इस प्रवृत्ति को संस्कार कहते हैं, और कर्म के प्रत्यक्ष परिणाम को उसका फल कहते हैं। प्रत्येक कर्म का फल अवश्य प्राप्त होगा। देवता तक उसे नहीं रोक

1. 2.40।
2. 6.40।

सकते। कर्म-सिद्धान्त में जो अवश्यता गर्भित है, वह इतनी मात्र है। लेकिन जहाँ तक संस्कारों की बात है, हमारे अन्दर उनको नियन्त्रित करने की पूरी शक्ति है, जिसके परिणामस्वरूप ज्योंही वे कर्म के रूप में प्रकट होने लगें त्योंही हम उन्हें रोक सकते हैं। इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त में ऐसी कोई चीज नहीं है जो दायित्व को हटा दे या आत्मा के प्रयत्न को निरर्थक सिद्ध कर दे। जो अवश्यता फल के आपात को नियन्त्रित करती है और उससे बचने को असम्भव बनाती है, उसे तो हमें निरुत्साहित करने के बजाय अधिक प्रयत्न करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उससे हमें विश्वास के साथ भविष्य के लिए कर्म करने का बल मिलना चाहिए और पिछले कर्मों के फलों के रूप में, जो हमारे बिलकुल भी वश में नहीं रहे, वर्तमान काल में हमें जो भुगतना पड़े, उसकी हमें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अतः कर्म के सिद्धान्त के बारे में मूल्य बात, जो कुछ विरोधाभासपूर्ण भी लग सकती है, यह है कि वह एक साथ हममें आशा का भी संचार करता है और हमें सहिष्णु भी बनाता है—भविष्य के प्रति आशावान् बनाता है और वर्तमान के प्रति सहिष्णु बनाता है। यह भाग्यवाद नहीं है, बल्कि उसका बिलकुल उल्टा है।

: 2 :

अब जब हम गीता की सैद्धान्तिक शिक्षा में आते हैं, तब हम देखते हैं कि पृष्ठभूमि में होने के कारण उसकी विस्तार की बातों का स्पष्टतः पता नहीं चलता। लेकिन इतना स्पष्ट है कि उसमें सिद्धान्तों का साकर्य है। प्रत्येक को मालूम हो जाएगा कि गीता में औपनिषदिक विचार की एक धारा है, जो निष्प्रपंच ब्रह्म की धारणा के बजाय सप्रपंच ब्रह्म की धारणा पर बल देती है। उपनिषदों से लिये हुए शब्द पूरी गीता में दिखाई देते हैं और कुछ वचन तो ऐसे पाए जाते हैं जो उपनिषदों के उद्धरण माने जा सकते हैं।[1] उपनिषदों के इन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के उल्लेखों से कोई भी यह सोच सकता है, कि गीता पूरी तरह से वेदान्त है। और यही वस्तुतः परम्परागत धारणा भी है, जो उस प्रसिद्ध श्लोक में प्रकट हुई है जिसमें स्पष्टतः श्रीकृष्ण के गोपवंशीय होने से सुझाव लेकर उन्हें अर्जुन-रूपी बछड़े के लिए उपनिषद्-रूपी गाय से गीता-रूपी दूध दुहनेवाला कल्पित किया गया है। लेकिन, यद्यपि गीता ने उपनिषदों से बहुत लिया है, तथापि उसे एकमात्र उपनिषदों पर आधारित मानना अनुचित होगा, क्योंकि एक दूसरी विचारधारा भी उसमें मिल गई है, जो, जैसा कि हम

1. 2 29 और 6·11 की क्रमशः कठोपनिषद् 2.7 और श्वेताश्वतर उपनिषद् 2-10 से

जानते हैं, भागवतीय ईश्वरवाद है।[1] गीता के व्यावहारिक उपदेश की तरह उसका सैद्धान्तिक उपदेश भी इन दो पृथक् आस्थाओं का मेल है, जिनकी मुख्य बातें पिछले अध्यायों में बताई जा चुकी हैं। वास्तव में इसके व्यावहारिक पक्ष में जो विशेषता है, वह उसके सैद्धान्तिक पक्ष की विशेषता का ही स्वाभाविक परिणाम है। कुछ लोगों का मत है कि गीता में पहले औपनिषदिक सिद्धान्त ही था और बाद में भागवत-धर्म के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दिये गए। कुछ अन्य लोगों का मत है कि बात इसकी ठीक उल्टी हुई। जो भी हुआ हो, पर इसमें सिद्धान्तों को जान-बूझकर नहीं मिलाया गया है। जैसा कि सेनार्ट (Senart) ने कहा है, गीता का संहतिवाद स्वतः स्फूर्त है। यदि उसमें सिद्धान्तों को जान-बूझकर मिलाया गया होता, तो जो असंगतियाँ उसमें इस समय अगल-बगल दिखाई देती हैं वे मिट गई होतीं।[2]

कुछ विद्वानों ने गीता में एक तीसरी विचारधारा सांख्य का भी प्रभाव देखा है और यह मत प्रकट किया है कि सांख्य-दर्शन बहुत प्राचीन है—वस्तुत: उतना ही प्राचीन है जितने उपनिषद् हैं—और भागवत-धर्म ने अपने विकास-क्रम में काफ़ी पहले अपने एक उपयुक्त तत्त्वमीमांसीय आधार के रूप में इसका उपयोग किया। इन विद्वानों के मत से गीता में भागवत-धर्म जिस रूप में आया है वह पहले से ही इस दार्शनिक आधार से युक्त है,[3] और यही कारण वे गीता में सांख्य के तत्त्वों की उपस्थिति का बताते हैं। सभी मानते हैं कि गीता में जो तीसरी विचारधारा है, वह सांख्य से पूर्णतः अभिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों में कुछ आवश्यक अन्तर हैं। उदाहरणार्थ, गीता में एक उत्तम-पुरुष माना गया है, जो सांख्य में नहीं है। दूसरा अन्तर यह है कि गीता में सांख्य के प्रसिद्ध कैवल्य के आदर्श का कोई भी उल्लेख नहीं है। इसके बजाय गीता में जीवन का लक्ष्य ब्रह्म में लीन होना या 'ईश्वर के सामीप्य की प्राप्ति' बताया गया है, जो कैवल्य अर्थात् प्रकृति से पार्थक्य की धारणा से भिन्न है। प्रकृति से पृथक् होने का विचार गीतोक्त लक्ष्य में अव्यक्त रूप से शामिल माना जा सकता है, क्योंकि आत्मा जब तक स्वयं को भूतद्रव्य की पकड़ से न छुड़ाए, तब तक उसके अपने मूल निवास में वापस जाने की सम्भावना नहीं हो सकती। फिर भी, याद रखने की बात यह है कि गीता में प्रकृति से पृथक् होने को अन्तिम आदर्श नहीं माना

1. 'वासुदेव' का उल्लेख 7.19 और 11.50 में हुआ है।
2. उदाहरणार्थ. देखिये 9 29, 16,19।
3. देखिए गार्बे : Indian Antiquary (1918)।
4 15, 17-18।

गया है। यह तो एक साध्य का साधन मात्र है और गीता का साध्य सांख्य दर्शन के निषेधात्मक साध्य के विपरीत विधानात्मक साध्य है। ऐसे अन्तरों का स्पष्टीकरण यह दिया गया है कि गीता में सांख्य का रूप भागवत-धर्म की जरूरतों के अनुसार कुछ बदल दिया गया है। निस्सन्देह गीता में विचार की एक अतिरिक्त धारा के होने की बात कहना सरासर गलत है, क्योंकि उसमें जो औपनिषदिक सिद्धान्त है उसने सारी पुरानी विशेषताओं को शामिल नहीं किया गया है, बल्कि कहीं-कहीं यह वास्तववाद और द्वैतवाद की ओर झुका हुआ दिखाई देता है। उपनिषदों में कहीं-कहीं एकमात्र परम सत्ता को ब्रह्म, आत्मा और जगत् के तीन रूपों में दिखाया गया है, हालांकि इनमें कोई तात्त्विक अन्तर अभिप्रेत नहीं है। गीता में इन्हें परस्पर पृथक् करने और समान रूप से नित्य समझने की प्रवृत्ति झलकती है, हालांकि आत्मा और भौतिक जगत् को अभी भी सर्वोच्च तत्त्व, ब्रह्म, के ऊपर आश्रित माना जाता है।[1] गीता में भौतिक जगत् को उस तरह ब्रह्म से उत्पन्न नहीं माना गया है, जिस तरह उपनिषदों में माना गया है, बल्कि एक अन्य कारण, प्रकृति, से उत्पन्न माना गया है, और आत्मा को पुरुष कहा गया है तथा प्रकृति को उसके ऊपर के विरोधी तत्त्व के रूप में दिखाया गया है। हम पहले ही सम्पूर्ण महाभारत में इस तरह के मत के प्राधान्य की तथा उसका सांख्य से आंशिक सादृश्य होने की बात की ओर ध्यान आकर्षित कर चुके हैं। लेकिन इसे एक ईश्वरवादी मत की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित सांख्य-सिद्धान्त के रूप में देखने के बजाय औपनिषदिक विचारधारा और बाद के सांख्य-दर्शन के बीच के दार्शनिक विकास के एक चरण के रूप में देखना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। इसके कारणों को हम बाद में अगले भाग में सांख्य के प्रकरण में बताएँगे। यह कहना मुश्किल है कि सांख्य के विकास की कौन-सी अवस्था-विशेष गीता में प्रस्तुत की गई है, क्योंकि सांख्य का इतिहास अभी तक तिमिराच्छन्न ही है।

1. देखिये 9.10।

अध्याय 5

प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म

प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म को बाद के बौद्ध-दर्शन से, जिसका बुद्ध के जीवन-काल के बहुत पश्चात् ब्राह्मण-धर्म के दर्शनों के साथ विकास हुआ, अलग करना पड़ेगा। उत्तरकालीन बौद्ध-दर्शन का विचार हम अगले भाग में अन्य दर्शनों के साथ करेंगे और यहाँ केवल प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म की, जिसे 'पालि बौद्धधर्म', 'प्रामाणिक बौद्धधर्म','दक्षिणी बौद्धधर्म' और 'थेरावाद' या 'स्थविरवाद' (अर्थात् वृद्धों का मत), इन विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, चर्चा करेंगे। इस महान् धर्म का प्रवर्तक छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य के आस-पास उत्पन्न हुआ था। उसका नाम सिद्धार्थ था और उसका सम्बन्ध गौतम या गोतम के प्राचीन वंश से था। 'बुद्ध' का पद उसे बाद मे मिला और यह उस बोध का सूचक है जिसे प्राप्त करके उसे तत्त्व-दृष्टि मिली। चूँकि उसका जीवन-चरित विस्तार मे ज्ञात है, इसलिए उसका वर्णन यहाँ नही किया जाएगा। इतना कह देना पर्याप्त है कि उसका जन्म हिमालय की निचली तराई मे कपिलवस्तु में या उसके पास एक राजसी परिवार में हुआ था और जब वह एक तीसवर्षीय युवक था, तभी उसने संसार से वैराग्य लेकर और महल को त्यागकर सत्य की खोज में वन का मार्ग पकड़ लिया था। वैराग्य का तात्कालिक कारण यह था कि उसने सम्पूर्ण मानव-जाति को दुःख से ग्रस्त देख लिया था। उस युग मे वैराग्य का मतलब तपोमय जीवन बिताना था[1] और तदनुसार बुद्ध पहले कठिन तपस्या में लग गए; परन्तु जब इस दिशा में उन्हें सफलता प्राप्त न हो सकी तब उन्होंने नये सिरे से साधना शुरू की, जो उतनी कठोर नही थी। इस नये प्रयास में अन्ततोगत्वा उन्हें दुःख के स्वरूप और उसे दूर करने के उपाय के बारे मे सचाई का ज्ञान हो गया, और क्योंकि वह मनुष्य-जाति के सच्चे प्रेमी थे, इसलिए उन्होंने अपने शेष जीवन को वन मे ध्यानमग्न होकर नहीं बिताया, बल्कि वह तुरन्त

1 इस काल के एक संन्यासी उपदेशक, अजित केशकंबलिन्, के बारे मे यह लिखा मिलता है कि वह मनुष्य के बालों का एक वस्त्र पहनता था, जो कि 'वस्त्रों में सबसे बुरा होता है, क्योंकि वह जाड़ों मे ठंडा और गरमियों में गरम होता है'।

मनुष्यों की बस्ती में वापस आ गए तथा उनमे उस तत्व-ज्ञान के प्रचार का लम्बा और ऊँचा काम करने लगे जिससे उन्हें प्रकाश और निर्वाण प्राप्त हुआ था। जिस भावना से वह इस सक्रिय परोपकार में रत हुए, वह इस वचन से, जिसे परम्परा उनका बताती है, भली-भाँति व्यक्त होती है कि वह प्रत्येक के दुःख का भार सहर्ष अपने ऊपर ले लेते, यदि ऐसा करने से संसार का दुःख मिट सकता।[1] इस काम में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, क्योंकि उस काल मे अनेक प्रतिद्वन्द्वी मत दूसरों पर छाने के लिए संघर्षशील थे। फिर भी वह अध्यवसाय के साथ अपने प्रयास में लगे रहे और अन्त में असाधारण सफलता के भागी बने। कालान्तर मे उनके उपदेश का व्यापक प्रचार हुआ और अन्त में वह एक विश्वधर्म बन गया। सब मिलाकर बौद्ध-धर्म भारतीय विचारधारा के सर्वाधिक विकसित रूपों में से एक है। इस समय इसके अनुयायी एशिया महाद्वीप के सुदूरवर्ती भागों में पाए जाते हैं और इसके बारे में यह कहना सत्य ही है कि "संस्कृति का वाहक पश्चिम के लिए जितना ईसाई-धर्म रहा, पूर्व के एक बड़े भाग के लिए बौद्ध-धर्म उससे कम नहीं रहा।" बुद्ध काफ़ी वृद्ध होकर मरे। मनुष्य-जाति के आध्यात्मिक इतिहास में वह सबसे महान् पुरुषों में से एक हैं और उनका जीवन मानव-जाति को सबसे अधिक प्रेरणा देने वालों मे से एक है।

बुद्ध ने कोई पुस्तक नहीं लिखी; और उनके उपदेश में कुछ अस्पष्टता भी है, क्योंकि उसका उन ग्रन्थों से अनुमान करना पड़ता है जो उनकी मृत्यु के बहुत समय पश्चात् संकलित किये गए और इसलिए जिन्हें उनके उपदेश का यथार्थ प्रतिरूप नहीं माना जा सकता। उनमें से एक में दी हुई निम्नलिखित कथा में यह बात गर्भित है कि इन ग्रन्थों में दिया हुआ विवरण पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है।[2] बुद्ध की मृत्यु के बाद एक पुराना शिष्य, पुराण, राजगृह गया और उसे उस प्रामाणिक धर्मग्रन्थ-संग्रह को स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया गया जिसे अन्य शिष्यों की समिति ने तब तक निश्चित कर दिया था। लेकिन उसने यह कहकर ऐसा करने से इन्कार कर दिया कि उसने स्वयं उस महान् गुरु के मुख से जो कुछ सुना था उसी से बँधा रहना उसे अधिक पसन्द है। इस अध्याय मे हम जो कुछ कहेंगे, वह अनिवार्य रूप से अपेक्षाकृत बाद के ऐसे ही संकलनों पर आधारित है और इसीलिए उसे बौद्ध-धर्म के इतिहास की शुरू की अवस्थाओं के सामान्य वर्णन के रूप में लेना चाहिए, न कि हर बात में

1. देखिए कुमारिल : तन्त्रवार्तिक, 1,3.4।
2. देखिए Oldenberg : Buddha (अंग्रेजी अनुवाद) पृ० 344।

स्वय बुद्ध के मुख से निकले हुए उपदेश के विवरण के रूप में। इसमें कुछ ऐसे तत्त्व है जो निश्चित रूप से बाद की चिन्तन-प्रक्रिया के फल हैं और कुछ ऐसे भी भी तत्त्व है जो शायद बुद्ध से पहले के है और यद्यपि उनके उपदेश में शामिल नही थे तथापि उनके अनुयायियों के द्वारा बाद में धर्मग्रन्थ-सग्रह में शामिल कर लिये गए थे। ये प्राचीन ग्रन्थ, जिन पर प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म की हमारी जानकारी आधारित है, पालि मे लिखे हुए हैं, जो संस्कृत के समान एक साहित्यिक भाषा थी और शायद मगध में बोली जानेवाली भाषा से सम्बन्धित थी। ये ग्रन्थ प्रायः सवादों के रूप मे हैं और उनमें किसी भी विषय की चर्चा ऐसी नही हुई है जिसे आधुनिक दृष्टि से व्यवस्थाबद्ध कहा जा सके। उनमें विचारो को रूपक और दृष्टान्त के माध्यम से प्रकट किया गया है और इस बात को भी अंशतः उस अनिश्चितता का कारण मानना चाहिए जो बुद्ध के सिद्धान्तों से सम्बन्धित हमारी जानकारी में है। ये ग्रन्थ विशाल टीकाओं को छोड़कर तीन हैं और उन्हें 'त्रिपिटक', अर्थात् तीन पिटारियाँ, पवित्र लेखों के तीन संग्रह, कहा जाता है। ये हैं 'सुत्तपिटक' अर्थात् स्वयं बुद्ध के वचन, 'विनयपिटक' अर्थात् आचरण के नियम, और 'अभिधम्मपिटक' अर्थात् दार्शनिक चर्चाएँ। यद्यपि इन ग्रन्थों के सिद्धान्त आवश्यक बातों में उपनिषदो के सिद्धान्तो से भिन्न और कहीं-कही उनके विरुद्ध भी हैं, तथापि दोनों में सामान्य सादृश्य दिखाई देता है। और बात वस्तुतः होनी भी ऐसी ही चाहिए, क्योंकि उपनिषद् और पिटक समान रूप से एक ही भारतीय बुद्धि की अभिव्यक्तियाँ हैं।[1] एक दृष्टि से यह माना जा सकता है कि उपनिषदो के चिन्तन ने बौद्ध-धर्म के विचित्र सिद्धान्तों के लिए रास्ता तैयार किया।[2] प्रायः बुद्ध ने केवल उन प्रवृत्तियों को, जिन्हें हम उपनिषदों में पहले से विद्यमान पाते हैं, उनके तार्किक परिणामों तक पहुँचा दिया। इस प्रकार शुरू के उपनिषदों का पूरा आशय एक पुरुषरूप ईश्वर को मानने के विरुद्ध है और बुद्ध उसकी धारणा को बिलकुल हटा ही देते हैं। फिर, उपनिषदों के अनेक वचन आत्मा को निषेधात्मक रूप मे—सारे गुणों से रहित, कल्पित करते हैं और बुद्ध तो आत्मा की धारणा को बिलकुल हटा ही देते हैं। दोनों में और भी बातों में समानता है, परन्तु कर्म के सिद्धान्त में विश्वास बौद्ध-धर्म के उपनिषदों की

1. देखिए Religion of the Veda, पृ० 2-3; Oldenberg; Buddha, पृ० 53।
2. देखिए Bhandarkar : Peep into the Early History of India, पृ० 361; Prof. Stcherbatsky : Central Conception of Buddhism. पृ० 68-69।

विचारधारा से जुड़े होने का सबसे स्पष्ट प्रमाण है। अपने नये रूप में यह विश्वास चाहे जितना बदल गया हो, बुद्ध के उपदेश में इसे स्थान दिया गया है; और जैसा कि हम जानते है, यह विश्वास उपनिषदों के सिद्धान्त में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में पहले से विद्यमान है।

बौद्ध विचारधारा के बारे मे विस्तृत विवरण देने से पहले उसकी कुछ सामान्य विशेषताओं को बता देना अच्छा होगा—

(1) वह दुःखवादी है। उसमें बार-बार यह बात दोहराई गई है कि सब दुःखमय है (सर्वं दुःखम्)। "जब से जगत् चला आ रहा है, तब से जितने आँसू बहे हैं उनकी तुलना में सारे सागरो की जल-राशि भी कम है।"[1] संसार में दुःख सबसे अधिक सत्य है और मनुष्य का सबसे पहला लक्ष्य इससे बचना है। बुद्ध के उपदेश को दुःखवादी कहने का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वह निराशा-प्रधान है। निस्सन्देह वह पृथ्वी पर या परलोक में आनन्द की प्राप्ति का कुछ अन्य धर्मों की तरह आश्वासन नहीं देता। फिर भी वह इस लोक और इसी जीवन में शान्ति-लाभ की सम्भावना को स्वीकार करता है, जिससे मनुष्य दुःख का ग्रास बनने के बजाय उसका विजेता बन जाएगा। इसमें तो कोई सशय नहीं है कि बौद्ध-धर्म जीवन के अँधेरे पक्ष पर बल देता है, परन्तु इससे तो केवल यह सामान्य बात प्रकट होती है कि जीवन शोक और दुःख से व्याप्त होता है, न कि यह कि ये उसके अवियोज्य अंग हैं। यदि बुद्ध ने अपने प्रवचनों में दुःख की बात दोहराई है, तो उससे बचने का उपाय भी बताया है। उन्होंने यह कहा बताते हैं कि "मैंने केवल यह सिखाया है और यही मैं अब भी सिखाता हूँ कि दुःख है और दुःख के नाश का उपाय भी है।"[2]

(2) बौद्ध-धर्म प्रत्यक्षवादी है। बुद्ध के समय से ठीक पहले दार्शनिक चिन्तन लगभग निरंकुश हो गया था और सैद्धान्तिक प्रश्नों के बारे मे अत्यधिक वादविवाद विचारों को अराजकता की ओर लिये जा रहा था। बुद्ध के उपदेश में इसकी प्रतिक्रिया प्रकट हुई और उसमें हमें जीवन के ठोस तथ्यों की ओर वापस आने का निरन्तर प्रयास दिखाई देता है। अपने समय के परम्परागत विश्वास के अनुसार बुद्ध ने अपने प्रवचनों मे बार-बार हमारे इस लोक से भिन्न लोकों और उनमें निवास करनेवाले प्राणियों की ओर इशारा किया है। यह अंशतः लौकिक भाषा के प्रयोग को अपनाने का एक रूप था और इससे बचना अपने समय की भाषा का सहारा लेनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव

1. देखिए Oldenberg : Buddha, पृ० 216-17।
2. Mrs. Rhys Davids : Buddhism, पृ० 159।

हुआ होता। इसका कारण अंशतः यह भी था कि बुद्ध कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते थे, जिसमें परलोक की बात निश्चित रूप से शामिल है। फिर भी उनके उपदेश को सार-रूप मे हर ऐसी चीज का बहिष्कार करनेवाला कहा जा सकता है जो प्रत्यक्षतः ज्ञात न हो। वेद के प्रामाण्य को, विशेष रूप से यज्ञों के बारे में, उन्होंने बिलकुल नही माना। कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार अलौकिक मे विश्वास बुद्ध के उपदेश का अभिन्न अंग था, क्योकि उसका उस युग की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से ऊपर उठना सम्भव नही था।[1] लेकिन उसकी सामान्य प्रवृत्ति से, विशेष रूप से यह देखते हुए कि प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त भी उस काल मे अज्ञात नहीं थे, यह धारणा बनती है कि बुद्ध प्रत्यक्ष और तर्क के दायरे के बाहर की किसी चीज को स्वीकार नहीं करते थे। इस धारणा का समर्थन इस बात से भी होता है, जैसा कि हम बाद मे देखेंगे, कि बाद के काल मे बौद्ध-धर्म का विकास प्रधानतः तर्कनावादी दिशाओं में हुआ।

(3) बौद्ध-धर्म व्यवहारनिष्ठ है। बुद्ध ने केवल उसका उपदेश दिया, जो उनके मतानुसार जीवन की मुख्य बात, दुःख, से बचने के लिए आवश्यक है। अपने अनेक प्रवचनो मे उन्होंने जिस सिद्धान्त का अनुसरण किया वह एक सुत्त मे बताई गई निम्नलिखित कथा से स्पष्ट हो जाता है—एक बार जब बुद्ध एक शिंशपा-वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, तब उन्होंने उसके कुछ पत्ते अपने हाथ में लिये और आस-पास बैठे हुए अपने शिष्यों से यह बताने के लिए कहा कि शिंशपा के सारे-के-सारे पत्ते वही हैं या पेड़ पर कुछ और भी हैं। जब उन्होंने कहा कि निस्सन्देह और भी हैं, तब बुद्ध ने कहा, "इतनी ही असन्दिग्ध यह बात भी है कि जितना मैंने तुम्हें बताया है उससे भी अधिक मुझे ज्ञात है।" फिर भी बुद्ध ने उन सारी बातों को नही बताया जो उन्हे ज्ञात थी, क्योंकि उन्हें उनका कोई व्यावहारिक उपयोग नही दिखाई दिया। इसके विपरीत, उन्होंने सोचा कि सब बताने से श्रोताओ में व्यर्थ की जिज्ञासा पैदा होगी और दुःख को दूर करने के उपाय मे उनके लगने में विलम्ब होगा। "शिष्यो, मैंने तुम्हे वह क्यो नहीं बताया? क्योंकि उससे तुम्हें कोई लाभ नही होगा, वह अर्हत्त्व की प्रगति मे सहायक नही होगा, क्योंकि उससे पार्थिव बातो से विमुख होने में सहायता नही मिलेगी, सब इच्छाओं को वश मे करने मे, अनित्य के उपशमन मे, शान्ति की प्राप्ति मे, ज्ञान की प्राप्ति में, प्रकाश की प्राप्ति में, निर्वाण-लाभ मे सहायता नही मिलेगी, इसलिए वह सब मैंने तुम्हें नही बताया।"[2] दुःख और अमंगल

1. Keith : Buddhistic Philosophy, पृ० 26 इत्यादि।
2. Oldenberg : Buddha, पृ० 204-5।

से मुक्ति उनकी एकमात्र चिन्ता थी और तत्त्वमीमासा की गुत्थियों को सुलझाने का न उन्हें समय मिला और न उसकी उन्होंने आवश्यकता समझी। इस प्रकार बुद्ध का उपदेश प्रधानतः व्यावहारिक है। उन्होंने कहा कि "दर्शन किसी को निर्मल नही करता, केवल शान्ति करती है।" कभी-कभी यह कहा जाता है कि बुद्ध अज्ञेयवादी थे और अन्य धर्म-गुरुओं ने जिन बातों की सामान्यत. चर्चा की, उनके विषय मे उनका मौन रहना तात्त्विक बातों की उनकी जानकारी मे निश्चयात्मकता का अभाव होने का फल था।[1] लेकिन यह भुला दिया जाता है कि बुद्ध के उपदेश का ऐसा अर्थ लगाना उनकी आध्यात्मिक ईमानदारी मे सन्देह करना है। "यदि उन्हे सत्य का ज्ञान न होता तो वह स्वय को बुद्ध न समझते।"[2]

: 1 :

जो कुछ हमने अभी कहा है, उससे स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेश मे हमें शुद्ध तत्त्वमीमासा का कोई सिद्धान्त नही मिलेगा। वह सैद्धान्तिक तत्त्वमीमासा के विरुद्ध थे। यद्यपि व्यक्त रूप मे उसमें कोई तत्त्वमीमांसा नही है, तथापि अव्यक्त रूप में बहुत-कुछ है। बुद्ध ने जो उपदेश दिया, उसमे कोई तत्त्वमीमांसीय प्रयोजन भले ही न हो, परन्तु उसके मूल मे अवश्य ही एक तत्त्वमीमासीय दृष्टिकोण है, जिसकी मुख्य रूपरेखा हम यहाँ बताएँगे। शुरू मे ही यह कह दिया जाए कि इस उपदेश और साधारण बुद्धि की मान्यताओं के बीच एक सामान्य सादृश्य आत्मा और जिस भौतिक पर्यावरण में वह रहता है उसके बीच भेद मानने में है। इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म वास्तववादी और द्वैतवादी है।[3] लेकिन साथ ही यह भी याद रखना जरूरी है कि उसे इन शब्दों के साधारण अर्थ में ग्रहण करना बड़ी भूल होगी। बौद्ध-मत दोनों ही से बहुत भिन्न है, क्योंकि, जैसा कि हम अभी देखेंगे, यह कहना भी उतना ही सही है कि एक अन्य दृष्टि से वह न आत्मा को स्वीकार करता है और न भौतिक जगत् को। प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) कहा गया है कि "अपने अनुभव के किसी भी क्षण मे जब हम अन्दर की ओर देखते हैं, तब सर्दी या गर्मी, रोशनी या छाया, प्रेम या घृणा,

1. Keith : Buddhistic Philosophy, पृ० 63।
2. Radhakrishnan : Indian Philosophy, जि० 1, पृ० 465।
3. देखिए Prof. Stcherbatsky : Central Conception of Buddhism पृ० 73, जहाँ प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म को 'भौतिक बहुवाद' कहा गया है।

मुनि नागसेन के बीच हुई वार्ता का वर्णन है।[1] एक दिन जब मिलिन्द नागसेन से मिलने गया, तब नागसेन ने नैरात्म्य पर प्रवचन किया। लेकिन जब उन्होंने देखा कि मिलिन्द की उसमें आस्था उत्पन्न नहीं हुई, तब वह बोले, "हे राजा, आप पैदल आये हैं या रथ पर ?" "मुनि, मैं पैदल नहीं चलता। मैं रथ पर आया हूँ।" "हे महाराज, यदि तुम रथ पर आये हो, तो रथ की परिभाषा बताओ। क्या दण्ड रथ है ? पहिये रथ हैं ?" जब इसी तरह के प्रश्न धुरी इत्यादि के बारे में भी किये गए, तब राजा यह समझ गया कि रथ के भागों में से अकेला कोई भी रथ नहीं है और 'रथ' शब्द उन भागों के संघात या एक विशेष विन्यास का प्रतीक मात्र है। तब मुनि नागसेन बोले, इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द भी कुछ भौतिक और मानसिक घटकों के संघात का नाम मात्र है। अनुभव की एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो घटकों से पृथक् कोई सत्ता हो। यहाँ ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आत्मा और भौतिक जगत् दोनों की एक ही व्याख्या दी गई है। अतः नैरात्म्य का सिद्धान्त केवल आत्मा पर ही लागू नहीं समझना चाहिए, जैसा कि प्रायः समझा जा सकता है। आत्मा और भूतद्रव्य दोनों का केवल संघात-रूप में अस्तित्व है। इनमें से कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

(2) यहाँ तक हमने वास्तविकता को एक खण्ड-मात्र के रूप में देखा है और काल के तत्त्व को बिलकुल छोड़ दिया है। जब हम वास्तविकता को काल में देखते हैं, तब यह संघात, बौद्ध-धर्म के अनुसार, दो क्षणों तक भी वही-का-वही नहीं बना रहता, बल्कि निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इसलिए आत्मा और भौतिक जगत् दोनों 'सन्तान' (परिवर्तनशील) हैं। इस धारणा को समझाने के लिए प्रायः दो प्रतीकों की सहायता ली जाती है—एक है जल की धारा और दूसरा है 'अपने को उत्पन्न करनेवाली और अपने को नष्ट करनेवाली' ज्वाला। ज्वाला आत्मा का विशेष रूप से उपयुक्त प्रतीक है, क्योंकि इसके जलानेवाले ताप से दुःख भी व्यंजित होता है। इस प्रकार यह समझ में आ जाता है कि तथाकथित वस्तुओं में से प्रत्येक एक 'वीथी' अर्थात् सदृश वस्तुओं या घटनाओं की एक सन्तति-मात्र है और हमारा उन्हें स्थायी मानना नितान्त असत्य है। सारी वस्तुओं को निरन्तर बदलती रहनेवाली मानने और उनके नीचे किसी प्रकार के स्थायित्व को न मानने का यह सिद्धान्त स्पष्टतः उस काल के दो विरोधी मतों का, जिनमें से एक सत् को और दूसरा असत् को मानता था, समझौता है। "हे कच्चान, यह संसार प्रायः 'यह है'

1. देखिए ओल्डेनबर्ग का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 254 इत्यादि।

और 'यह नहीं है', इस द्वैत पर चलता है। परन्तु, हे कच्चान, जो भी सचाई और विवेक के साथ देख लेता है कि इस ससार में वस्तुओं की उत्पत्ति कैसे होती है, उसकी दृष्टि मे इस संसार मे 'यह नही है' नही है। हे कच्चान, जो भी सचाई और विवेक के साथ देख लेता है कि इस ससार मे वस्तुएँ कैसे नष्ट हो जाती हैं, उसकी दृष्टि में इस ससार में 'यह है' नही है।"[1] बुद्ध के अनुसार सत्य न सत् है और न असत्, बल्कि परिवर्तन है। इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उन्होंने वास्तविकता का निषेध किया। उन्होंने उसे स्वीकार तो अवश्य किया, लेकिन उसे गतिशील बताया। निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, लेकिन ऐसी कोई चीज नही है जिसका परिवर्तन हो रहा हो। "क्रिया है, लेकिन कर्ता कोई नहीं है।" इस मत को प्रकट करने में भाषा असफल हो जाती है। दर्शन के इतिहास में केवल दो बार इससे मिलते-जुलते मत के दर्शन होते हैं—एक बार यूनान मे, जब हेराक्लाइटस ने बुद्ध से एक या दो पीढ़ी बाद अपने मत का प्रचार किया था और दूसरी बार हमारे ही काल में बर्गसाँ के दर्शन मे। वह प्रतिभा निश्चय ही महान् रही होगी जिसने पहली बार इस सिद्धान्त की घोषणा की।

क्योंकि उत्पत्ति निरन्तर होती जा रही है, पर नई वस्तुएँ अस्तित्व में नहीं आ रही हैं, इसलिए विश्व-विश्व-प्रक्रिया बन जाता है—निरन्तर उत्पत्ति-विनाशशील हो जाता है। न सम्पूर्ण विश्व को और न उसके अन्दर की किसी वस्तु को ही इस प्रक्रिया का कर्ता कहा जा सकता है। प्रक्रिया ही वस्तु है। इस प्रक्रिया को चलानेवाला नियम बौद्ध-धर्म के लिए सबसे अधिक महत्त्व का है और यहाँ उसके बारे में कुछ शब्द कह देना जरूरी है, हालाँकि प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली चीज पर लागू होनेवाले उसके सामान्य रूप की घोषणा बौद्ध-धर्म के बाद के इतिहास में की गई। हम इस प्रश्न से आरम्भ कर सकते हैं: यदि प्रत्येक वस्तु सदृश अवस्थाओं का अनुक्रम मात्र है, तो उसके किन्हीं दो पूर्ववर्ती और परवर्ती सदस्यों में क्या सम्बन्ध है? बुद्ध के समय मे ऐसे अनुक्रम की एक व्याख्या यह दी गई थी कि वह याद‍ृच्छिक है। एक अन्य व्याख्या ने इस अनुक्रम के अन्दर कारण-सम्बन्ध को तो स्वीकार किया, लेकिन साथ ही ज्ञात तत्त्वों के अतिरिक्त एक ईश्वर-जैसे अलौकिक तत्त्व को भी शामिल कर लिया। दोनों ही व्याख्याओं में वस्तुओं के घटना-क्रम में मनुष्य के सफलतापूर्वक हस्तक्षेप करने के लिए गुंजाइश नहीं रहती। बुद्ध ने इन दोनों ही व्याख्याओं को अस्वीकार कर दिया और अनिवार्यता को ही एकमात्र नियामक तत्त्व

1. ओल्डेनबर्ग का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 249।

माना। याद्दच्छिकता का निषेध उन्होंने प्रकृति की एकरूपता के आधार पर किया, और ईश्वर के हस्तक्षेप का निषेध करके उन्होंने राद्धान्तिक धर्म से अपने को बिलकुल अलग कर दिया। नियमित अनुक्रम की यह धारणा निश्चय ही बहुत पुरानी है। यह पुराने साहित्य में पाई जानेवाली ऋत और धर्म की धारणाओं से जुड़ी हुई है। लेकिन ये दोनों धारणाएँ अज्ञात तरीके से काम करने-वाली किसी शक्ति का सुझाव देती हैं। बौद्ध-धर्म को नियम की कल्पना में विशेषता यह है कि वह ऐसी शक्ति का बिलकुल निषेध कर देती है। इस बात में बौद्ध मत स्वभाववाद से सादृश्य रखता है।[1] लेकिन एक आवश्यक बात में यह उससे भिन्नता भी रखता है। स्वभाववाद कार्योत्पादन की अवश्यता को कारण में स्वभावसिद्ध मानता है। उसके अनुसार हमें किसी वस्तु के इतिहास की व्याख्या के लिए उसके बाहर जाने की जरूरत नहीं है। बौद्ध मत इस तरह की कोई आन्तरिक प्रयोजनवत्ता नहीं मानता, क्योंकि उसके अनुसार कार्योत्पादन कारण का स्वय को व्यक्त करना मात्र नहीं है, बल्कि वह कारण के साथ ही कुछ वाह्य सहकारी कारकों का भी संयुक्त फल है। कारण-कार्य के अनुक्रम में अनिवार्यता तो है, लेकिन यह अनिवार्यता औपाधिक प्रकार की है। वह औपाधिक इसलिए है कि कोई सन्तति तब तक अस्तित्व में नहीं आती जब तक कुछ उपाधियाँ पूरी न हो गई हों; और वह अनिवार्य इसलिए है कि एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद सन्तति तब तक समाप्त नहीं होती जब तक उपाधियाँ बनी रहती हैं। उदाहरणार्थ, ज्वाला-सन्तति तब तक शुरू नहीं होती जब तक बत्ती, तेल इत्यादि न हों; लेकिन जब एक बार वह शुरू हो जाती है, तब वह अविच्छिन्न रूप से तब तक चलती रहती है जब तक एक या अधिक सहकारी कारक हटा नहीं दिए जाते। इस प्रकार, यद्यपि नियम सार्वभौम और निरपवाद होता है, तथापि उसका व्यापार उपाधियों के अधीन होता है। इसीलिए यह 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का नियम कहलाता है—"यदि वह-है-तो यह-है; उसके उदय से इसका उदय होता है।"[2] 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का शाब्दिक अर्थ है 'किसी चीज पर निर्भर उत्पत्ति', और इससे प्रकट होता है कि यदि कुछ उपाधियाँ मौजूद है तो एक चीज उत्पन्न होगी। इस प्रकार यहाँ जो अवश्यता मानी गई है, वह बिलकुल वही नहीं है जो स्वभाववाद में है। यहाँ 'यदि' में यह बात गर्भित है कि कार्य को बनाए रखनेवाले कारणों को पृथक् कर देने से सन्तति का निरोध किया जा सकता है। यह बात कारण-सूत्र के शेष

1. देखिए Keith : Buddhistic Philosophy, पृ० 68 इत्यादि।
2. Mrs. Rhys Davids : Buddhism, पृ० 89।

भाग में कही गई है : "उसकी अनुपस्थिति से यह नहीं होता; उसके निरोध से इसका निरोध हो जाता है।" इसके फलस्वरूप स्वभाववाद और बौद्ध सिद्धान्त में व्यावहारिक दृष्टि से जो अन्तर आ जाता है वह बहुत बड़ा है। एक में, जो होना है वह होकर रहेगा, हम उसे चाहें या न चाहें; दूसरे में, मनुष्य के प्रयत्न के लिए पूरी गुंजाइश है, क्योंकि एक सन्तति यदि शुरू हो गई हो तो उसे समाप्त भी किया जा सकता है। जरूरी केवल इतना है कि हम कारणों को जान लें, ताकि उन्हें हटाया जा सके।[1] कारणों को पूरी तरह जाना जा सकता है और इसलिए जिस सन्तति को वे जन्म देते है वह, प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के अनुसार, समाप्त की जा सकती है। कम-से-कम भव-दुःख को तो मिटाया ही जा सकता है, जो कि जीवन की मुख्य समस्या है। प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम और दुःख के कारणों के ज्ञान के सिद्धार्थ की बुद्धि मे उदय होने से ही वह अन्त में 'बुद्ध' बना।[2] मनुष्य के लिए इसका मुख्य अर्थ यह है—क्योंकि दुःख की उत्पत्ति एक प्राकृतिक नियम के, जो जाना भी जा सकता है, अनुसार होती है, इसलिए उसे उसके कारण को हटाकर समाप्त किया जा सकता है। यह एक ऐसी खोज है जो बुद्ध के उपदेश के प्रत्यक्षपरक और व्यवहारनिष्ठ आधार की ओर भी संकेत करती है। इस खोज के बाद इस व्याख्या का विस्तार करके सभी कारणमूलक तथ्यों और घटनाओं पर इसे लागू कर दिया गया। इस सामान्य रूप में यह बताती है कि प्रत्येक अस्तित्ववान् वस्तु का एक पर्याप्त हेतु है, जिससे वह वैसी ही है, अन्य तरह की नहीं; तथा उसे उत्पन्न करनेवाले कारण कम-से-कम सिद्धान्ततः पूर्णतया ज्ञेय हैं। यहाँ हम पर्याप्त कारण के आजकल प्रसिद्ध नियम का भारतीय रूप देखते है। अतः यह कहा जा सकता है कि इतने प्राचीन काल मे बौद्ध-दर्शन कारणता की आधुनिक धारणा मे पहुँच गया था।

प्रत्येक वस्तु को क्षण-क्षण बदलती रहनेवाली माननेवाला यह सिद्धान्त क्षणिकवाद कहलाता है, और हिन्दू-दर्शन के ग्रन्थों में प्रायः इसी नाम से बौद्ध-दर्शन का उल्लेख किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं बुद्ध ने तो शायद चित्त को छोड़कर अन्य वस्तुओं की अनित्यता या परिवर्तनशीलता का ही उपदेश किया था; पर शीघ्र ही अपने अन्दर निहित तर्क के बल से यह सिद्धान्त सब वस्तुओं की क्षणभंगुरता के सामान्य सिद्धान्त मे रूपान्तरित हो गया। इसका पूर्ण विकास उत्तरवर्ती युग में हुआ और इसलिए इसकी और अधिक चर्चा हम अगले भाग के बौद्ध-सम्प्रदायों के अध्याय के लिए छोड़ देते

1. देखिए, बोधिचर्यावतारपञ्जिका, 6. 25-6 और 31-2।
2. देखिए ओल्डेनबर्ग का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 224-5।

है। फिर भी वास्तविकता के बारे में ऐसे मत के विरुद्ध दो आपत्तियाँ स्पष्ट हैं, जिनका संक्षेप में उल्लेख कर देना यहाँ जरूरी है, और साथ ही बौद्धों ने उनका जो उत्तर दिया है उसका भी। यदि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नई बनती जा रही है, तो पूछा जा सकता है कि वस्तुओं की पहचान—यह बोध कि अमुक परिचित वस्तु वही है जो भूतकाल में थी—कैसे सम्भव है। बौद्धों का उत्तर यह है कि प्रत्यक्षीकरण के किन्हीं दो क्षणों में वस्तुएँ केवल सदृश होती हैं और हम सादृश्य को हम गलती से तादात्म्य मान बैठते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा हमेशा गलत होती है। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि आत्मा भी प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, तो स्मृति की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। बौद्धों ने इसका भी जवाब दिया है। उनका कहना है कि अनुभव की प्रत्येक अवस्था आविर्भूत होने के बाद तुरन्त तिरोहित होते ही अगली अवस्था में लीन हो जाती है[1] और इस प्रकार प्रत्येक आगामी अवस्था में सभी पूर्वगामी अवस्थाएँ अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती हैं, जो अनुकूल परिस्थितियों में स्वयं को अभिव्यक्त कर देती हैं। अतः यद्यपि मनुष्य किन्हीं दो क्षणों में वही नहीं बना रहता, तथापि वह बिलकुल भिन्न भी नहीं हो जाता।[2] इसी आधार पर बौद्ध-धर्म नैतिक दायित्व को स्थापित करता है। यह सत्य है कि जो करता है वही उसका फल नहीं पाता, लेकिन जो फल पाता है वह उससे बिलकुल भिन्न भी नहीं होता, और इसलिए जिस विशेष सन्तति का वह सदस्य है उसके पूर्वगामी सदस्य जिस शुभ या अशुभ फल के अधिकारी हैं उसे भोगने का वह उचित रूप से उत्तराधिकारी है। 'देवदत्त-सुत्त' में एक पापी का यम से मिलना वर्णित है। उसमें यम का कथन है : "ये तुम्हारे पाप-कर्म किसी अन्य के द्वारा नहीं किये गए हैं। तुमने ही ये किये हैं और केवल तुम ही इनका फल भोगोगे।"[3] जातक-कथाओं में भी, जो बुद्ध के पिछले जन्मों के चरितों का वर्णन करती हैं, सर्वत्र अन्त में कई जन्म पूर्व के पात्रों का वर्तमान व्यक्तियों से तादात्म्य किया गया है : "तब मैं वह ज्ञानी सफेद हाथी था और देवदत्त वह दुष्ट शिकारी था।" कहने का मतलब यह है कि बौद्ध-धर्म उपादान के अभेद के अर्थ में एकता को तो अस्वीकार

1. Mrs. Rhys Davids : Buddhism, पृ० 135।
2. प्रो० हॉप्किन्स ने कहा है : "The self is not only collective, but also a recollective entity"—Journal of the Royal Asiatic Society (1906), पृ० 581।
3. Oldenberg : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 244।

करता है, लेकिन उसके स्थान पर सातत्य को स्वीकार करता है। यदि हम दो आत्म-सन्तानों को $क_1$ $क_2$ $क_3$…और $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$…से प्रकट करें, तो यद्यपि $क_1$ $क_2$ $क_3$…एक-दूसरे से अभिन्न नहीं हैं और $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$…भी एक-दूसरे से अभिन्न नहीं हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक सन्तान के सदस्यों के बीच जो बन्धुता है वह एक के एक सदस्य और दूसरे के एक सदस्य के बीच, अर्थात् $क_1$ $ख_1$, $क_2$ $ख_2$ इत्यादि के बीच नहीं है। अतः हमें बौद्धों के नैरात्म्यवाद को समझने में सावधानी रखनी चाहिए। बौद्ध-धर्म आत्मा का ऐसी स्थायी सत्ता के रूप में जो बदलती हुई शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के बीच स्वयं अपरिवर्तित बनी रहे, अवश्य निषेध करता है; पर उसके स्थान पर एक 'तरल आत्मा' को स्वीकार करता है, जिसे अपने तरलत्व के कारण ही परस्पर बिलकुल पृथक् और असमान अवस्थाओं की सन्तान नहीं माना जा सकता। फिर भी, अनुषंगतः यह कह दिया जाए कि इस प्रकार का मत व्यक्त करते हुए बौद्ध अप्रकटतः ऐसे आत्मा को मान लेता है जो क्षणिक अनुभव से परे है। आत्मा का विश्लेषण करने और उसे क्षणिक अवस्थाओं की एक सन्तान बनाकर अलग कर देने की प्रक्रिया में ही वह उन अवस्थाओं के परे पहुँचकर एक ऐसे स्थायी आत्मा की सत्ता स्थापित कर देता है जो उन अवस्थाओं की एक साथ समीक्षा कर सकता है, क्योंकि एक सन्तान को मात्र सन्तान के रूप में कदापि स्व-बोध नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह मत है कि ऐसे आत्मा में विश्वास बुद्ध के उपदेश का अनचाहा आशय नहीं है, बल्कि उसका एक स्वीकृत अंग है, और उसका निषेध एक नई बात है जो बाद के बौद्ध उसमें ले आए।[1]

अनित्यता और नैरात्म्य के सिद्धान्त बुद्ध के उपदेश की मौलिक बातें हैं। कहा जा सकता है कि इनकी घोषणा से बुद्ध ने अपने समय के परम्परागत मत और साधारण लोगों के विश्वास को एक साथ उलट दिया। बुद्ध का अपूर्व उपदेश कुछ तत्त्वों को, जो परस्पर पृथक् हैं और जिनमें भौतिक और मानसिक दोनों आ जाते हैं, आधारभूत मानकर चलता है तथा सम्पूर्ण जगत् को उनसे निर्मित बताता है। लेकिन ये मूल तत्त्व भी उतने ही निःसत्त्व और क्षणिक हैं जितनी उनसे निर्मित वस्तुएँ। एकमात्र अन्तर यह है कि तत्त्व सरल हैं और अनुभव की वस्तुओं के विश्लेषण की अन्तिम अवस्था को प्रस्तुत करते हैं, जब-कि वस्तुएँ सभी सघात हैं और, जैसा कि रथ के दृष्टान्त में बताया गया है,

1. देखिए Radhakrishnan: Indian Philosophy, जि॰ 1, पृ॰ 386 इत्यादि।

नवीन सत्ताओं के सूचक नहीं हैं। भौतिक पक्ष में प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म केवल चार भूत—पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु—मानता है और तत्कालीन विचारकों के द्वारा सामान्यतः माने हुए पाँचवें भूत, आकाश[1], को छोड़ देता है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन भूतों के केवल नाम ही रूढ़िगत हैं और इनसे उन संवेद्य गुणों के अलावा कुछ और अभिप्रेत नहीं समझना चाहिए जो सामान्यतः इनसे सम्बद्ध माने जाते हैं। ये संवेद्य गुण हैं—क्रमशः काठिन्य, तारल्य, ताप और दबाव। बाह्य जगत्, हमारी इन्द्रियाँ और हमारे शरीर, सब-के-सब इन भूतों के संघात हैं और इसलिए 'भौतिक' कहलाते हैं, जो इनके व्युत्पन्न होने का सूचक है। इसी प्रकार मानसिक पक्ष में भी एक मूल रूप, चित्त, माना गया है और उससे व्युत्पन्न अन्य मानसिक लक्षणों को 'चैत्त' कहा गया है। लेकिन ये विस्तार की बातें बौद्ध-धर्म के इतिहास की उत्तरकालीन अवस्था में उसमें आईं, न कि जिस अवस्था की यहाँ चर्चा चल रही है उसमें। अतः इनका और अधिक उल्लेख यहाँ नहीं किया जाएगा।

: 2 :
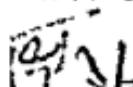
ऊपर बौद्ध सिद्धान्त की जो संक्षिप्त रूपरेखा बताई गई है, उसके प्रकाश में बौद्ध-धर्म का व्यावहारिक पक्ष स्पष्ट हो जाएगा। यदि संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक और निःसत्त्व हैं, तो उनमें से किसी को भी अपने या दूसरों के लिए प्राप्त करने का हमारा प्रयत्न बिलकुल निष्फल होगा। इनकी इच्छा भ्रान्तिमूलक है और इसलिए हमें शीघ्र-से-शीघ्र इससे मुक्त हो जाना चाहिए। बाह्य वस्तुओं की इस इच्छा से भी अधिक शक्तिशाली अपना अस्तित्व बनाए रखने की चाह, भवतृष्णा, है। बौद्ध-धर्म यह सिखाता है कि चूँकि आत्मा है ही नहीं, इसलिए यदि हमें भव-दुःखों से त्राण पाना है, तो इस तृष्णा को मिटा देना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध-नीति में आत्म-निषेध को शाब्दिक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। बाद की एक संस्कृत उक्ति है जो किसी बौद्ध-ग्रन्थ से ली गई है। उसके अनुसार अपने आत्मा में विश्वास करने के साथ हमें दूसरों के आत्माओं में भी विश्वास करना पड़ता है, जिससे संकीर्ण प्रेम और घृणा की एक पूरी शृंखला पैदा हो जाती है।[2] आत्मा के निषेध से सभी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों का अनिवार्यतः लोप हो जाता है। क्योंकि आत्मा की एकरूपता में

1. कभी-कभी आकाश को भी मान लिया जाता है, लेकिन वहाँ वह अनुभव के वस्तुगम्य क्षेत्र का द्योतक प्रतीत होता है। देखिए Keith : Buddhistic Philosophy, पृ० 102।

2. देखिए न्यायकंदली (विजयनगरम्), पृ० 279; न्याय-मंजरी, पृ० 443।

विश्वास दुःख का मूल है और यह मिथ्या है, इसलिए अविद्या ही सारी बुराई की सच्ची जड़ है। इस प्रकार यहाँ भी उपनिषदों की तरह बुराई की उत्पत्ति अन्ततः अज्ञान से मानी गई है; और दोनों ही में मुक्ति का एकमात्र उपाय बुराई को हटाने वाले सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि है। लेकिन यहाँ भी शब्द एक होने के बावजूद उसके पीछे रहनेवाला विचार भिन्न है। यहाँ अविद्या का अर्थ कोई ऐसी विश्व-शक्ति नहीं है जो निष्प्रपंच ब्रह्म के व्यावहारिक जगत् के रूप में दिखाई देने का कारण हो, बल्कि मात्र व्यक्ति के अस्तित्व का आधारभूत कारण है, जैसा कि अभी आगे हम जिस 'कारण-शृंखला' की बात कहेंगे उसमें इसे प्रथम स्थान दिए जाने से प्रकट होता है। एक अन्य दृष्टि से भी यह उपनिषदों की अविद्या से भिन्न है, क्योंकि वहाँ यह सम्पूर्ण सत्ता की तात्त्विक एकता का अज्ञान है और यहाँ तथाकथित आत्मा के निःसत्त्व होने को न देख पाना मात्र है। सामान्यतः इस अविद्या को दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश और दुःख के विनाश का उपाय—इन चार 'आर्य सत्यों' का अज्ञान कहा जाता है। "जो चार आर्य सत्य हैं, उनकी सही जानकारी न होने से मैं संसार में एक जन्म से दूसरे में घूमता रहा हूँ। अब मैं उन्हें जान गया हूँ; जन्म लेने का क्रम रुक गया है। दुःख का मूल नष्ट हो गया है : अब फिर जन्म नहीं होगा।"[1] स्पष्ट है कि इन चार आर्य सत्यों को सूत्रबद्ध करने में बुद्ध ने रोगों के उपचार से सम्बन्धित तत्कालीन चिकित्साशास्त्रीय मत का अनुसरण किया था।[2] दर्शन के इतिहास में विज्ञान की प्रचलित प्रणाली का दर्शन के द्वारा अपनाया जाना कोई असाधारण बात नहीं है। बुद्ध ने, जिन्हें कहीं-कहीं महावैद्य कहा गया है, दुःखमय जीवन को एक व्याधि के रूप में देखा और उनकी प्रणाली स्वभावतः इस व्याधि का उपचार करनेवाले वैद्य की हो गई। हम कह सकते हैं कि पहले तीन आर्य सत्य बुद्ध के उपदेश के सैद्धान्तिक पक्ष को बताते हैं और चौथा उसके व्यावहारिक पक्ष को। हम साधारणतः जानते हैं कि जीवन दुःख-प्रधान है, और यही बात लगभग सभी भारतीय विचारकों ने मानी है। बौद्ध-धर्म का विशेष महत्त्व उस व्याख्या में है जो उसने दुःख की उत्पत्ति की दी, उस ढंग में है जिससे उसने दुःख के विनाश की सम्भावना बताई, और उन उपायों में है जो उसने दुःख से बचने के सुझाए। अब हम इन पर क्रम से चर्चा करेंगे।

---

1. ओल्डेनबर्ग : पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 240।
2. देखिए Keith : Buddhistic Philosophy, पृ० 56-7; सुरेश्वर का बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, पृ० 15, श्लोक 28 भी देखिए।

(1) दुःख की उत्पत्ति—दुःख के उत्पन्न होने की बात इस विश्वास से सिद्ध होती है कि जो भी है उसका अवश्य कोई कारण रहा होगा। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, बुद्ध को यह कारण अन्ततः अविद्या में मिला। उनका सबसे पहला उद्देश्य यह जानना था कि अविद्या बुराई को कैसे उत्पन्न करती है, क्योंकि उन्होंने बताया कि यदि हम एक बार उत्पत्ति की इस प्रक्रिया को जान लें, तो उसका जो फल होता है उससे बचने के राजमार्ग को हम पकड़ लेंगे। इस प्रक्रिया के विभिन्न चरणों को कुछ विस्तार के साथ बताया गया है और इसलिए पिछले अनुच्छेद में हमने जिस सामान्य कारण-सूत्र का उल्लेख किया है उसकी तुलना में इसे विशिष्ट कारण-सूत्र कहा जा सकता है। इसमें ये बारह कड़ियाँ (निदान) हैं : अविद्या, संस्कार (कर्म), विज्ञान (चेतना), नाम-रूप, षडायतन (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन तथा उनके विषय), स्पर्श (इन्द्रियों और विषयों का सम्पर्क), वेदना (ऐन्द्रिय ज्ञान), तृष्णा (इच्छा), उपादान (अस्तित्व का मोह), भव (अस्तित्व), जाति (पुनर्जन्म) तथा जरा-मरण (दुःख अथवा शब्दार्थतः बुढ़ापा और मृत्यु)। इस शृंखला में इस जन्म का ही नहीं बल्कि पिछले और आगामी जन्मों का भी समावेश है। यह वर्तमान जीवन का भूत और भविष्य से सम्बन्ध प्रदर्शित करती है और संसार अर्थात् जन्म-मृत्यु के अनन्त चक्र के नमूने के बतौर है। इस सूत्र के सही अर्थ के बारे में काफी विवाद रहा है, इसलिए इसके विस्तार में हम नहीं पड़ेंगे। हम केवल इतना कहेंगे कि इसकी पहली दो कड़ियाँ अतीत से सम्बन्धित हैं। उनका सम्बन्ध वर्तमान जन्म से ठीक पहले के जन्म से है, जिसे सामान्य रूप से अविद्या और उसका परिणाम, कर्म, बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि अज्ञान से प्रेरित होकर पिछले जन्म में जो काम किये गए थे, वे ही इस जन्म के साक्षात् कारण हैं। वर्तमान जन्म के क्रम को अगली आठ कड़ियों में दिखाया गया है, जिनमें से शुरू की जीवन के अनुभवों के लिए उपयुक्त साधनों से युक्त शरीर का क्रम-विकास बताती हैं और बाद की उन अनुभवों के स्वरूप और उनके फलों का वर्णन करती हैं। अन्तिम दो कड़ियों का सम्बन्ध इस जन्म के कामों से अनिवार्यतः फलित होनेवाले भावी जन्म और दुःख से है।[1] इस व्याख्या की सबसे मोटी बातों तक ही अपने को सीमित रखते हुए हम कह सकते हैं कि सबसे पहली चीज अविद्या है, जो व्यक्ति के अस्तित्व का मूल-कारण है। अविद्या से तृष्णा पैदा होती है; तृष्णा से चेष्टा पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप पुनर्जन्म होता है और नई तृष्णाएँ पैदा होती हैं। यही संसार का दुश्चक्र है, जिसे

1. Keith : Buddhistic Philosophy, पृ० 105।

कभी-कभी भव-चक्र कहा जाता है।

(2) दुःख का निरोध—जिस प्रकार कारण की बौद्ध धारण से यह बात निकलती है कि दुःख का अस्तित्व किन्हीं कारणों से है, इसी प्रकार उससे यह बात भी निकलती है कि दुःख का नाश किया जा सकता है। इस मत का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि कारण को हटाने से कार्य भी हट जाता है। अतः जब अविद्या सम्यक् ज्ञान से दूर हो जाती है, तब कारण-शृंखला की कड़ियाँ एक के बाद एक अपने-आप टूट जाती हैं। दुःख को पैदा करनेवाली प्रक्रिया मे निस्सन्देह एक अनिवार्यता है, परन्तु, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यह अनिवार्यता निरुपाधिक नहीं है।

(3) दुःख-निरोध का उपाय—साधना का वह मार्ग, जो मनुष्य को वांछित लक्ष्य तक पहुँचाता है, अष्टांग है। उसके आठ अंग ये हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक् सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न), सम्यक् स्मृति (विचार) और सम्यक् समाधि। यहाँ एक इससे सरल योजना का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा। यह भी पुराने बौद्ध-ग्रन्थों[1] मे मिलती है और इसे उपर्युक्त अधिक विस्तृत योजना का सार कहा जा सकता है। इस योजना के अनुसार पूरी साधना का आधार प्रज्ञा अर्थात् चार आर्य-सत्यों का सम्यक् ज्ञान है। किन्तु यह सम्यक् ज्ञान चाहे जितना दृढ हो, अन्ततः दुःख से मुक्ति यह तभी दिला सकता है जब यह मात्र बौद्धिक आस्था से कुछ अधिक हो। इसे ऐसा ज्ञान होना चाहिए जो हमारे स्वकीय अनुभव में परिणत हो गया हो, और प्रज्ञा का अर्थ वस्तुतः यही आन्तरिक अनुभव है। बुद्ध ने आग्रह के साथ कहा है कि जो उनके उपदेश को सुने, वह उसका अन्धानुसरण न करे, बल्कि अपना स्वतन्त्र मत बनाए। उन्होंने बार-बार कहा है कि हम उतना ही स्वीकार करें जितना हम स्वयं सही समझते हैं। "तब, भिक्षुओ, जो तुमने अभी कहा है वह केवल वही है जो तुम स्वयं मानते हो, जो तुम स्वयं विचारपूर्वक ग्रहण कर चुके हो, जो तुम स्वयं समझते हो; बात यही है न ?" "यही बात है, स्वामी !"[2] दूसरे शब्दों में, प्रत्येक मनुष्य को अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करना है। यह स्वावलम्बन से निर्वाण प्राप्त करना होगा, ईश्वर के प्रसाद या किसी आप्त पुरुष की सहायता से नहीं। गुरु भी केवल मार्ग बता सकता है। ज्ञान को आन्तरिक आस्था में परिणत करने के लिए शील और समाधि आवश्यक हैं। सत्य का

1. देखिए, ओल्डेनबर्ग, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 288; Buddhistic Philosophy, पृ० 115।

2. मज्झिमनिकाय, 38वाँ प्रवचन।

साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता जब तक विचार और कर्म पर संयम न हो। शील का अर्थ है सम्यक् आचरण, जिसमें सत्यवादिता, सन्तोष और अहिंसा इत्यादि सद्गुण शामिल हैं। समाधि चार आर्य-सत्यों का ध्यान करना है। यह चित्त की समता की प्राप्ति और दूसरो से सुने हुए सत्य को स्पष्ट रूप से समझने मे सहायक है। साधना के इस अंग में विभिन्न योग-क्रियाएँ शामिल है, जैसी कि उपनिषदों मे भी बताई गई हैं। यहाँ उनके विस्तार मे जाने की जरूरत नही है। ये तीनों मिलकर बौद्ध-साधना के दायरे की पर्याप्त जानकारी दे देते हैं। सम्पूर्ण साधना का फल यहाँ प्रज्ञा अर्थात् अन्तर्दृष्टि है, जिससे निर्वाण प्राप्त होगा, और इस लक्ष्य तक पहुँचानेवाली साधना का प्रारम्भ भी प्रज्ञा ही है, लेकिन यहाँ इसका अर्थ विश्वास पर ग्रहण किया हुआ ज्ञान है।

सम्यक् आजीविका का अर्थ भिक्षु और गृहस्थ के लिए कुछ अलग है। व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और प्रवृत्ति के अनुसार दोनों मे से किसी के भी जीवन को अपना सकता है। परन्तु निर्वाण साधारणत: केवल तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति भिक्षु बन जाता है।[1] भिक्षु-जीवन में भी साधना उतनी अधिक कठोर नही है जितनी कुछ अन्य भारतीय सम्प्रदायों मे, विशेषत: जैन-धर्म में। हम पहले ही देख चुके है कि बुद्ध की शिक्षा दो चरम कोटियों में से बीच का मार्ग पकड़ती है; जैसे, सत् और असत् दोनों को त्यागकर परिवर्तन में विश्वास, तथा यदृच्छा और अनिवार्यता दोनो को छोड़कर औपाधिक घटना में विश्वास। उनकी नैतिक शिक्षा मे भी यही प्रवृत्ति प्रकट होती है। वह न तो विषय-भोग का, जो दुःख का कारण बनता है, विधान करती है और न तपस्या का, जो स्वयं कष्टप्रद है। सफलता मध्य मार्ग के अनुसरण से प्राप्त होती है। सच्चे आध्यात्मिक जीवन की तुलना वीणा से की गई है, जो मधुर स्वर केवल तभी निकालती है जब उसके तार न बहुत खिंचे हुए हो और न बहुत ढीले हों। अपने वाराणसी में दिये हुए सबसे प्रथम प्रवचन में ही बुद्ध ने कह दिया था : "हे भिक्षुओ, दो कोटियाँ है जिनसे धर्मनिष्ठ व्यक्ति को बचना चाहिए। वे क्या है ? एक है सुख का जीवन, जो कामनाओ की पूर्ति और विषयभोग में रत रहता है। यह जीवन अधम, निन्द्य, परमार्थ से विमुख करनेवाला, अनुचित और मिथ्या है। दूसरा तपस्या का जीवन है। यह भी विषादमय, अनुचित और मिथ्या है। हे भिक्षुओ, अर्हत् इन दोनों कोटियों से दूर होता है और उसने इन दोनो के बीच का मार्ग खोज निकाला है। यह मध्यम मार्ग चक्षुओं को प्रकाश देता है, चित्त को

1. Buddhistic Philosophy, पृ० 131; Prof. Poussin : The Way to Nirvana, पृ० 114, 150-1.

प्रकाश देता है, शान्ति की ओर ले जाता है, ज्ञान की ओर ले जाता है, बोधि की ओर ले जाता है, निर्वाण की ओर ले जाता है।"[1]

इस साधना का अनुसरण करने से प्राप्त होनेवाले लक्ष्य को 'निर्वाण' कहा गया है। इसका अभिधार्थ है 'बुझ जाना' या 'ठंडा पड़ जाना' और लक्षणार्थ है 'नाश', जिसे 'शून्यता का स्वर्ग' कहा गया है। जब यह प्राप्त हो जाता है, तब पाँच स्कन्धों के संघातों के बनते रहने की यह अविच्छिन्न प्रक्रिया सदा के लिए समाप्त हो जाती है। निश्चय ही बौद्ध-धर्म की सैद्धान्तिक स्थिति से इसी मत की संगति सबसे अच्छी बैठती है और तदनुसार निर्वाण अक्षरशः 'अपने को मिटाना' ही जाता है।[2] परन्तु ऐसे आदर्श का नितान्त निषेधात्मक स्वरूप इसे इस योग्य नहीं रखता कि मनुष्य इसकी प्राप्ति के लिए बताये हुए साधना-मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित हो सके, और इस तरह यह बुद्ध के उपदेश के प्रयोजन का ही घातक प्रतीत होता है।[3] कुछ लोगों ने इस बात से बिलकुल इन्कार किया है कि निर्वाण का मतलब विनाश हो सकता है और कहा है कि यह शाश्वत अस्तित्व या परम आनन्द का आदर्श है, जो कि उपनिषदों के मोक्ष के आदर्श से मुश्किल से ही भिन्न है। कुछ अन्य लोगों ने इसे ऐसी अवस्था माना है जिसके बारे में कुछ भी नहीं बताया जा सकता—इतना भी नहीं कि यह है या नहीं है। इन लोगों के अनुसार इस शब्द का अर्थ केवल दुःख से मुक्ति है; और इसका भावात्मक वर्णन भले ही परिकल्पना के लिए कुछ रोचक विषय हो, लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से व्यर्थ है। किन्तु यह दिखाने के लिए कि बौद्ध-धर्म का निर्वाण का आदर्श इस योग्य है कि उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाए, इस तरह की व्याख्याओं का सहारा लेना आवश्यक नहीं लगता, क्योंकि, जैसा कि आमतौर पर मान लिया जाता है, यह वास्तव में किसी मरणोत्तर अवस्था का सूचक नहीं है। यह तो उस अवस्था का सूचक है जो व्यक्ति के जीवित रहते हुए पूर्णता की प्राप्ति के बाद आती है। जैसा कि हम जानते हैं, यह अवस्था जीवन्मुक्ति की अवस्था के तुल्य है, जो बुद्ध के काल तक भारत में भली-भाँति स्वीकृत हो चुकी थी। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें सामान्य जीवन की संकीर्ण रुचियाँ समाप्त हो गई होती हैं और व्यक्ति पूर्ण शान्ति और समत्व का जीवन बिताता है। यह मन की एक

1. ओल्डेनबर्ग, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 127.
2. Indian Philosophy, जि० 1, पृ० 418.
3. देखिए, ओल्डेनबर्ग, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 267-285; प्रो० पूसैं, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 115-18।

विशेष वृत्ति का सूचक है; और वह जो इस वृत्ति को प्राप्त कर चुका है, अर्हत् कहलाता है, जिसका अर्थ है 'योग्य' या 'पावन'। वर्तमान जीवन की सीमाओं के भीतर प्राप्त की जानेवाली इस पूर्ण शान्ति को ही बुद्ध का अनुयायी अपना लक्ष्य बनाता है और यही वह निर्वाण का अर्थ मानता है, यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सम्भव है, शरीर और मन के नष्ट हो जाने के बाद अर्हत् शायद अस्तित्वहीन हो जाता हो। इस बादवाले अर्थ में निर्वाण का आदर्श (परिनिर्वाण) बुद्ध के उपदेश को व्यर्थ कर देता हो, ऐसा जरूरी नहीं है, क्योंकि वह जिस लक्ष्य को प्राप्ति के योग्य बताता है, वह विनाश नहीं है बल्कि उससे पहले की अवस्था है। विनाश बौद्ध-धर्म में विहित साधना का अभिप्रेरक नहीं है, बल्कि उसका एक बाद का फल मात्र है। वह निर्वाण 'बुझ जाने' के अर्थ में है, जबकि अर्हत् की अवस्था, जोकि सामान्य जीवन और इस अवस्था के बीच का एक चरण है, 'निर्वाण' शब्द के दूसरे अर्थ, 'ठण्डा हो जाने' से सम्बद्ध है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले एक बात और है जिसकी ओर ध्यान देना है। बौद्ध-धर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है, लेकिन यह विश्वास बुद्ध के नित्य आत्मा के निषेध के विरुद्ध प्रतीत होता है। इसलिए कुछ लोगों ने इस विश्वास को स्वव्याघाती बताया है। उदाहरणार्थ, डॉयसन ने लिखा है: "हर हालत में कोई एक होना चाहिए जो इस कर्म का वाहक हो और वही वह है जिसे उपनिषद् आत्मा कहते हैं तथा बौद्ध जिसका असंगतिपूर्वक निषेध करते हैं।"[1] लेकिन इस आक्षेप का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता। कर्म-सिद्धान्त में विश्वास वस्तुतः बौद्ध-धर्म के लिए कोई नई दिक्कत पेश नहीं करता, क्योंकि यदि कर्ता के बिना कर्म हो सकता है तो आत्मा के बिना भी पुनर्जन्म हो सकता है। इसके अलावा, हमें यह भी याद रखना होगा कि बौद्ध-धर्म न केवल इस जीवन के समाप्त होने पर पुनर्जन्म मानता है, जैसा कि अन्य भारतीय मतों में माना गया है, बल्कि प्रतिक्षण पुनर्जन्म का होना मानता है। जब एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, केवल तभी प्रकाश और ताप का संचारण हो, ऐसी बात नहीं है। प्रतिक्षण इनका संचारण होता है; एक दीपक से दूसरा दीपक जलाए जाने पर तो केवल ज्योतियों की एक नई सन्तान शुरू होती है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाला कर्म जैसे जीवन-काल में वैसे ही मृत्यु-काल में भी अपने को सचारित कर सकता है; और यद्यपि मृत व्यक्ति पुनरुज्जीवित नहीं होता, तथापि उसके स्थान पर उसी के संस्कारवाला दूसरा व्यक्ति जन्म ले सकता है। यदि ऐसा हो, तो, जैसा कि रीस डॅविड्स ने कहा

1. Indian Antiquary (1900), पृ० 398।

है, पुनर्जन्म चरित्र का होता है, न कि किसी आत्मा का। जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तब उसका चरित्र उसके बाद भी बना रहता है, और अपनी शक्ति से एक अन्य व्यक्ति को अस्तित्व मे ले आता है, जो भिन्न आकृति रखते हुए भी उससे पूरी तरह प्रभावित होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी, जब तक सम्बन्धित व्यक्ति अपनी भव-तृष्णा पर पूरी तरह से विजय न पा ले। यदि पहले कही हुई इस बात के साथ कि बौद्ध-धर्म मे आत्मा को एकता के रूप में स्वीकार न करके सातत्य के रूप में स्वीकार किया गया है, इस व्याख्या को भी ग्रहण कर लिया जाए, तो हम देख लेंगे कि बौद्ध-धर्म का कर्म-सिद्धान्त को मानना असंगतिपूर्ण नही है। कारण यह है कि इसमें कर्म-सिद्धान्त मे शामिल ये दोनों ही बातें मान ली गई हैं कि जो कुछ हम करते हैं वह अपना परिणाम पीछे छोड़े बिना लुप्त नही होता और उससे मिलनेवाला शुभ या अशुभ फल लौटकर कर्ता को ही प्राप्त होता है। जो भी हो, बुद्ध ने इस सिद्धान्त को एक बड़ी सीमा तक तर्कसगत बना दिया। उदाहरणार्थ, एक बात उन्होंने यह की कि इससे जुड़े हुए अलौकिक और भौतिकवाद के तत्त्व बिलकुल निकाल दिए। परम्परागत हिन्दू मत मे यह माना गया था कि व्यक्ति के पिछले कर्मों के अनुसार उसे सुख या दु:ख देना ईश्वर या किसी अन्य लोकोत्तर शक्ति के हाथ में है; और जैन-धर्म मे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कर्म को सूक्ष्म भूतद्रव्य, पुद्गल, माना गया, जो आत्मा से चिपककर उसे उसकी स्वाभाविक ऊँचाई से नीचे की ओर खीचता है। बुद्ध ने इन दोनों मतों को अस्वीकार कर दिया और कर्म को नैतिकता के क्षेत्र में अपनी ही प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने वाला एक अपौरुषेय नियम माना।

वर्धमान का जन्म 540 ई० पू० के आस-पास विदेह की राजधानी वैशाली के निकट हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ एक क्षत्रिय-कुल के प्रमुख थे, और उनकी माता त्रिशला विदेह के राजा की बहन थी। इस प्रकार बुद्ध की तरह वह भी राजकुल के थे और उन्हीं की तरह उन्होंने भी सबसे पहले अपने ही वंशवालों को उपदेश दिया तथा उनका समर्थन पाकर अपने उपदेश का प्रचार करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने यशोदा से विवाह किया; किन्तु बुद्ध के विपरीत वह अपने माता-पिता की मृत्यु तक उन्हीं के घर में रहे और बाद में जब वह अट्ठाईस वर्ष के हो गए तब उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश किया।[1] लगभग बारह वर्ष तक वह तप करते रहे और इस अवधि के अन्त में उन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया, अर्थात्, जैसा कि कहा जाता है, वह 'केवलिन्' हो गए। उन्होंने बुद्ध की तरह यह नहीं सोचा कि आत्म-यातना की यह अवधि व्यर्थ गई, बल्कि जीवन में उन्हें जो महान् कार्य करना था उसके लिए तैयारी के रूप में इसे उन्होंने आवश्यक माना। इस साधना के फलस्वरूप वह तीर्थंकर बन गए। अपने जीवन का शेषांश उन्होंने अपने धर्म के प्रचार और अपने मुनि-संघ को संगठित करने में बिताया। ऐसा माना जाता है कि उनकी मृत्यु सत्तर से अधिक की आयु में हुई। बौद्ध-धर्म के विपरीत जैन-धर्म का प्रभाव भारत के अन्दर ही सीमित रहा। भारत के अन्दर भी इसका प्रभाव इसके जन्म के प्रदेश के अन्दर कम रहा और उसके बाहर, विशेषतः पश्चिम और दक्षिण में, अधिक। यह कुछ विचित्र लगता है। जैन-धर्म का सिद्धान्त भी बौद्ध-धर्म की तरह एक प्राकृत भाषा, अर्धमागधी, में लिखित है, और परम्परा के अनुसार इसका सम्पादन पाँचवीं शताब्दी ईसवी के अन्त या छठी शताब्दी के आरम्भ के आस-पास देवर्धि की अध्यक्षता में हुआ। इस अपेक्षाकृत बाद की तिथि को देखते हुए कुछ लोग इस जैन-सिद्धान्त के मूल उपदेश के अनुसार होने में सन्देह करते हैं। लेकिन सचाई यह प्रतीत होती है कि देवर्धि ने उन ग्रन्थों को व्यवस्थित मात्र किया जो पहले से अस्तित्व में थे और तीसरी शताब्दी ई० पू० से चले आ रहे थे। इस तिथि से भी पहले कुछ जैन-ग्रन्थ थे, जिन्हें 'पूर्व' कहा जाता है, और जैसा कि इस नाम से प्रकट होता है, बाद में ये लुप्त हो गए तथा इनका स्थान नये ग्रन्थ, 'अंगों', ने ले लिया।[2] इस प्रकार जैन-

1. श्वेताम्बर और दिगम्बर—जैन-धर्म के इन दो प्रमुख सम्प्रदायों के बीच वर्धमान के विवाह इत्यादि से सम्बन्धित बातों के बारे में मतभेद है। यहाँ जो बातें कही गई हैं वे श्वेताम्बरों के अनुसार हैं

2. यह भी श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार है। दिगम्बर-सिद्धान्त अलग है और वह

सिद्धान्त के वर्तमान रूप की प्रामाणिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है, हालाँकि इसका यह मतलब नहीं है कि इसमें यदा-कदा कोई भी परिवर्तन-परिवर्धन नहीं हुए ।[1]

: 1 :

जैन-धर्म में सम्पूर्ण जगत् का दो नित्य द्रव्यों में विभाजन किया गया है । इन दो द्रव्यों को जीव और अजीव कहा गया है । जीव चेतन द्रव्य है और अजीव अचेतन[2] । एक आत्मा है और दूसरा अनात्मा । दूसरे में पुद्गल के अलावा देश और काल भी आ जाते हैं । इन शब्दों से स्पष्टतः जैन-धर्म का वास्तववादी और सापेक्षवादी दृष्टिकोण प्रकट होता है । जैन-धर्म के अनुसार जितना निश्चित ज्ञाता अर्थात् जाननेवाले का अस्तित्व है, उतना ही निश्चित ज्ञेय अर्थात् ज्ञान की वस्तु का भी है । इनमें से अजीव का अपना विशिष्ट स्वरूप है; लेकिन उस स्वरूप को समुचित रूप से तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक जीव से उसका भेद न मालूम हो जाए । इसीलिए उसे 'अजीव' अर्थात् जीव का व्याघाती कहा गया है । जीव का वर्ग अधिक महत्त्व का है । इसीलिए इसका स्वतन्त्र रूप से अभिधान किया गया है, हालाँकि इसे भी भली-भाँति समझने के लिए इसका अजीव से भेद जानना आवश्यक है ।

(1) जीव—जीव का प्रत्यय अन्य भारतीय दर्शनों के आत्मा या पुरुष के प्रत्यय से आम बातों में मिलता-जुलता है । किन्तु जैसा कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से प्रकट होता है—'वह जो जीवित या प्राणवान् है'—यह प्रत्यय पहले-पहल जीवन के लक्षणों के अवलोकन से प्राप्त हुआ होगा, न कि व्यष्टि के अस्तित्व के आधारभूत अतिभौतिक तत्त्व को खोजते-खोजते ।[3] अतः इस शब्द को इसके मूल अर्थ में यानी प्राण-तत्त्व के अर्थ में ही ग्रहण करना अधिक सही होगा, न कि आत्मा के अर्थ में । फिर भी, आजकल इसका अर्थ लगभग वही है जो आत्मा इत्यादि अन्य भारतीय शब्दों का है । जीवों की संख्या अनन्त है और सब समान और नित्य हैं । सांसारिक रूप में उनके अनेक वर्ग बताये गए हैं, जैसे एक इन्द्रियवाले, दो इन्द्रियवाले इत्यादि; लेकिन इस विस्तार में जाना यहाँ आवश्यक नहीं है । केवल यह कह देना पर्याप्त होगा कि यह

जिन चार शब्दों में विभक्त हैं उन्हें 'भेद' कहा गया है । देखिए Mrs. Stevenson: Heart of Jainism, पृ० 16 ।

1. प्रो० जैकोबी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 2, पृ० XL ।
2. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 33 ।
3. प्रो० जैकोबी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 1, पृ० 3, टिप्पणी 1 ।

वर्गीकरण जीवों के विकास के विभिन्न स्तरों का सूचक है। जैन न केवल यह मानते हैं कि जीव का अस्तित्व है, बल्कि यह भी कि वह कर्ता और भोक्ता है।[1] जीव स्वभावतः पूर्ण है और उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त श्रद्धा और अनन्त वीर्य है।[2] परन्तु पुद्गल से संयुक्त रहने की अवधि में, अर्थात् सांसारिक अवस्था में, इसके ये लक्षण तिरोहित हो जाते हैं, हालांकि नष्ट नहीं होते। इस प्रकार जीव का बाह्य रूप उसकी सहज महिमा को छिपा देता है। मनुष्य का साधारणतः ज्ञात व्यक्तित्व द्विविध है—उसमें चेतन और जड़ दोनों ही अंश हैं। जीवन का लक्ष्य जड़ तत्त्व का इस प्रकार निग्रह कर देना है कि उसका दुष्प्रभाव जाता रहे और फलतः जीव के सारे सहज उत्कृष्ट गुण पूर्णतः प्रकट हो जाएँ। जैन-धर्म में एक विचित्र बात यह है कि वह जीव के आकार को सांसारिक दशा में घटने-बढ़नेवाला मानता है। जीव किसी समय में जिस भौतिक शरीर से सम्बद्ध होता है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार विस्तार और संकोच की क्षमता रखता है। इस बात में इसकी तुलना दीपक से की गई है, जो एक समान रहते हुए भी जिस छोटे या बड़े कमरे में रखा होता है उसके अन्दर की पूरी जगह को प्रकाशित कर देता है।[3] इसका मतलब यह हुआ कि अन्य विशेषताओं की तरह जीव का देशातीतत्व भी पुद्गल के साथ सम्पर्क होने से प्रभावित हो जाता है। इस प्रकार जैन-धर्म जीव की अपरिवर्तनशीलता को, जो अन्य भारतीय विचारकों के द्वारा सामान्यतः मानी गई है, नहीं मानता।

ज्ञान के बारे में जैन-मत में जो थोड़ी-सी विचित्रता है वह भी जीव का पुद्गल से सम्बन्ध होने से है। ज्ञान जीव का विशेषण नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप ही है। इसलिए जीव बिना किसी साधन के प्रत्येक वस्तु को अपरोक्षतः और यथार्थ रूप में जान सकता है; केवल इतनी बात है कि इसमें कोई चीज बाधक न हो। बाह्य उपाधियाँ, जैसे चक्षु और प्रकाश, केवल परोक्ष रूप से उपयोगी होती हैं और जब उनकी सहायता से बाधाएँ दूर हो जाती हैं तब ज्ञान अपने-आप ही हो जाता है। जीव को साधारणतः जो ज्ञान होता है उसके आंशिक होने का कारण कर्म का आवरण है, जो जीव की प्रत्यक्ष-शक्ति में बाधक होता है। जिस प्रकार कुछ दर्शन सांसारिक ज्ञान की परिच्छिन्नता का कारण अविद्या को बताते हैं, उसी प्रकार जैन-दर्शन कर्म को बताता है। कभी-

1. षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक 48।
2. षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० 74।
3. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 45।

कभी सांसारिक ज्ञान को जीव से भिन्न बताया जाता है, लेकिन साथ ही उसके जीव से अभिन्न होने पर भी बल दिया जाता है, और इसके फलस्वरूप जीव और उसके अनेक ज्ञानों के बीच इस अर्थ मे भेदाभेद का सम्बन्ध रहता है।[1] चूंकि पूर्ण ज्ञान जीव का स्वरूप ही है, इसलिए जीव के आंशिक या अस्फुट ज्ञान की अवस्था उसके पतन की अवस्था है।[2] तदनुसार यद्यपि इन्द्रियाँ और मन एक दृष्टि से ज्ञान के सहायक हैं, तथापि दूसरी दृष्टि से ये जीव की संसार-यात्रा की अवधि मे उसके प्रतिबन्धक हैं। इसके फलस्वरूप ज्ञान की उस मात्रा में, जो उसके बाधकों मे से कम या अधिक के हटने से जीव को प्राप्त होगी, अन्तर मानने पड़ते हैं। परन्तु ज्ञान के बिना जीव की या जीव के बिना ज्ञान की कल्पना ही नहीं की जा सकती; और यह एक ऐसी बात है जो जैन-धर्म का बौद्ध-धर्म से स्पष्टतः अन्तर बताती है। ज्ञान की परिनिष्पत्ति तब होती है जब बाधाएँ पूरी तरह से हट जाती हैं। तब जीव इस ससार मे रहते हुए भी सर्वज्ञ हो जाता है और सब वस्तुओ को स्फुट और यथार्थ रूप मे जानने लगता है। इसे 'केवल-ज्ञान,' अर्थात् पूर्ण ज्ञान, जो अपरोक्ष और असंदिग्ध होता है, कहते हैं और यह माना जाता है कि तपस्या की दीर्घ अवधि के अनन्तर यह महावीर को प्राप्त हो गया था। यह अव्यवहित ज्ञान है और इसे 'केवल' (शुद्ध) इसलिए कहा जाता है कि यह ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि बाह्य साधनों की सहायता के बिना स्वतः उत्पन्न होता है। इसे जीव का स्वरूप-ज्ञान कहा जा सकता है। यह ज्ञान का मूल रूप है और 'साव्यवहारिक', अर्थात् साधारण, प्रत्यक्ष से इसका भेद करने के लिए इसे 'मुख्य प्रत्यक्ष' कहा गया है। जैन-दर्शन में इस लोकोत्तर ज्ञान के अन्य प्रकार भी माने गए हैं, जो केवल-ज्ञान से निम्न कोटि के है; परन्तु यहाँ हम उनके वर्णन की आवश्यकता नही समझते।

(2) अजीव—अजीव-द्रव्य का काल, आकाश, धर्म और अधर्म (इन तीनों को हम 'देश' कह सकते हैं)[3], तथा पुद्गल (भूतद्रव्य) मे विभाजन

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 34।
2. वही, पृ० 29।
3. यथार्थतः केवल आकाश ही देश है। धर्म और अधर्म क्रमशः गति और स्थिरता के मूल कारण हैं। ये संसार में, अर्थात् आकाश के उस भाग में, जिसे 'लोकाकाश' कहा जाता है, सर्वत्र पाए जाते हैं। कहा जाता है कि जिस प्रकार जल मछलियों की गति का सहायक है, उसी प्रकार धर्म भी गति का सहायक है। इसके विपरीत अधर्म वस्तुओं का स्थिर होना सम्भव करता है। ध्यान देने की बात यह है कि धर्म और अधर्म हिन्दू दर्शन में तो क्रमशः पुण्य और पाप के लिए प्रयुक्त होते हैं, लेकिन जैन-दर्शन में ऐसा नहीं है। देखिए, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 35।

किया गया है। जीव से इनका आवश्यक अन्तर यह है कि ये स्वरूपतः जीवन और चेतना से शून्य हैं। इनमें से काल अनन्त है। परन्तु वह चक्रों में बँटा होता है। प्रत्येक चक्र में दो समान अवधियाँ होती हैं, जिन्हें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कहा गया है। ये नाम घूमते हुए पहिये की उपमा के आधार पर दिये गए हैं। पहली अवधि अवरोहण की है, जिसमें पुण्य का धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है। दूसरी अवधि आरोहण की है, जिसमें इसका उल्टा होता है। वर्तमान अवधि को अवसर्पिणी बताया गया है। आकाश (देश) भी अनन्त है और उसके दो भाग माने गए हैं—एक लोकाकाश है, जहाँ गति सम्भव है और दूसरा अलोकाकाश है, जहाँ गति सम्भव नहीं है। जो भी है उसका अस्तित्व केवल लोकाकाश में है। अलोकाकाश शून्य आकाश है, जो लोकाकाश के परे अनन्त तक फैला हुआ है। पुद्गल वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त होता है।[1] शब्द को पुद्गल का गुण नहीं, बल्कि उसका एक परिणाम माना गया है।[2] पुद्गल नित्य है और अणुमय है। उसके अणुओं से अनुभव की सब वस्तुएँ बनी हैं, जिनमें प्राणियों के शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ और मनस् भी शामिल हैं। यह विश्वास किया जाता है कि सब अणुओं के अन्दर जीवों का निवास होता है और इस प्रकार ब्रह्माण्ड वस्तुतः जीवों से संकुल है। प्रो० जैकोबी ने कहा है : "जैनों का एक राद्धान्त है जो उनके सम्पूर्ण दर्शन और नीति-संहिताओं में व्याप्त है। यह है उनका पुद्गलजीववाद, अर्थात् यह मत कि न केवल प्राणी और पेड़-पौधे बल्कि पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु, इन भूतों के छोटे-से-छोटे कण भी जीवों से युक्त है।"[3]

सत् को उत्पाद (जन्म), व्यय (मृत्यु) और ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त परिभाषित किया गया है।[4] इसका अर्थ यह है कि यद्यपि सत् स्वतः नित्य है, तथापि उसमें विकार दिखाई देते हैं, जो प्रकट और लुप्त होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक जीव की अनेक शरीरी अवस्थाएँ होती हैं—वह प्रत्येक जन्म में एक शरीर धारण करता है, जो सादि और सान्त होता है, परन्तु जीव स्वयं अनादि-अनन्त है। "बदलते रहना और उसके बावजूद स्थायी

1. स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः—उमास्वातिः तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, श्लोक 23.
2. देखिए, गुणरत्न, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 69-70।
3. पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 1, पृ० XXXIII। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब जैन-धर्म, उदाहरण के तौर, जल में जीवों का निवास बताता है तब उसका संकेत उन कीटाणुओं की ओर नहीं होता जो उसमें पाए जा सकते हैं, बल्कि उन जीवों की ओर होता है जिनके शरीर स्वयं जल के कण ही होते हैं। देखिए, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 35।
4. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्—उमास्वाति, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, श्लोक 29।

रहना सत् की विशेषता है।" उसके परिवर्तनों को 'पर्याय' कहा जाता है, जो स्थायी द्रव्य के विपरीत उत्पन्न होते हैं, कम-से-कम एक क्षण तक बने रहते हैं और तब लुप्त हो जाते हैं।[1] इस प्रकार जैन-दर्शन में सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व की अल्पतम अवधि दो क्षणों की मानी गई है, जबकि बौद्ध-धर्म में सत् की अवधि केवल एक क्षण की मानी गई है। यहाँ भी बौद्ध-धर्म की तरह सत् को परिवर्तनशील माना गया है; परन्तु दोनों मे अन्तर यह है कि बौद्ध-धर्म स्थायी तत्त्व का एकदम निषेध कर देता है और इसलिए वह जिस परिवर्तन को मानता है वह वस्तुतः किसी का परिवर्तन नही है—वह नाना को स्वीकार करता है लेकिन एक का निषेध करता है। इसके विपरीत, जैन-धर्म नाना और एक दोनों को स्वीकार करता है और सत् को अनेक के अन्दर रहनेवाला एक परिभाषित करता है। अनेक परस्पर भिन्न होते हैं, लेकिन इस बात में अभिन्न भी होते है कि उनका द्रव्य एक है। जब यह पूछा जाता है कि एक अभिन्न वस्तु के अन्दर भिन्न लक्षणों का रहना कैसे सम्भव है—एकत्व और नानात्व का सह-अस्तित्व कैसे सम्भव है—तब जैन यह उत्तर देते हैं कि सत्ता के बारे में कुछ भी कहने का हमारा एकमात्र आधार अनुभव है और जब अनुभव ही उसकी उक्त विशेषता बताता है तब ऐसा मान लेने के अलावा कोई चारा है ही नही।[2] सत्ता-विषयक इस मत के सन्दर्भ मे ही उन्होंने 'स्याद्वाद' नामक सिद्धान्त चलाया है, जिसकी चर्चा हम बाद मे करेंगे। 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग ऊपर बताई गई छः सत्ताओं के लिए हुआ है, जिनमे जीव और अजीव के पाँच विभाग शामिल हैं। काल को छोड़कर बाकी द्रव्यों

---

1. द्रव्य और पर्याय के इस भेद के अतिरिक्त जैन एक दूसरा भेद द्रव्य और गुण का भी मानते हैं। ये दोनों भेद परस्पर कुछ असंगत हैं। प्रो॰ जैकोबी ने इस विषय में लिखा है : "प्राचीन जैन-ग्रन्थों में केवल द्रव्यों और उनके पर्यायों का ही उल्लेख है; और जो उनमें इनके अतिरिक्त गुणों का भी उल्लेख हुआ है, जो कि सूत्रों में बहुत ही कम हुआ है और नियमित रूप से केवल अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रन्थों में ही हुआ है, वह जैन-दर्शन में एक नवीनता है जिसका प्रवेश उसमें न्याय-वैशेषिक की विचारधारा और शब्दावली के धीरे-धीरे हिन्दुओं के विचारों पर छा जाने से हुआ है। पर्याय के साथ-साथ एक अन्य पदार्थ, गुण, को मानना उचित नहीं लगता, क्योंकि पर्याय वह अवस्था है जो द्रव्य की अपने अस्तित्व के किसी क्षण में होती है और इसलिए गुणों का भी उसी के अन्दर समावेश हो जाना चाहिए। प्राचीनतम ग्रन्थों का भी वस्तुतः ऐसा ही मत मालूम होता है।" (Sacred Books of the East, जि॰ 45, पृ॰ XXXIV तथा 153, टिप्पणी)।
2. प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः—प्रमेय-कमलमार्तण्ड, पृ॰ 93।

को 'अस्तिकाय' कहा गया है, जिसका मतलब यह है कि ये ऊपर बताये हुए अर्थ मे सत् (अस्ति) और सावयव (काय) हैं। काल अस्तिकाय नही है, क्योंकि वह सावयव नहीं है, यद्यपि वह शाश्वत है।[1]

जैन-सिद्धान्त के दो अन्य पक्ष भी हैं, जिनकी यहाँ संक्षेप में चर्चा की जाएगी :

(1) अणु-सिद्धान्त—'ऐटम' का संस्कृत पर्याय 'अणु' उपनिषदों में पाया जाता है, लेकिन वेदान्त के लिए अणु-सिद्धान्त बाहरी है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, भारतीय दर्शन के शेष सम्प्रदायों मे से एक से अधिक इसे मानते हैं और जैन-दर्शन में शायद इसका रूप प्राचीनतम है। उसके अनुसार, अणु सभी एक प्रकार के होते हैं, लेकिन इसके बावजूद वे अनन्त प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए जैन-दर्शन मे पुद्गल की प्रकृति बिलकुल अनिश्चित है। जैसा कि हम जानते हैं, पुद्गल के कुछ अवियोज्य लक्षण हैं; किन्तु उनके द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्दर गुणात्मक विभेदन की प्रक्रिया से वह कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है। इस मत के अनुसार तत्त्वों का उत्परिवर्तन बिलकुल सम्भव है : वह कीमियागर या रसायनज्ञ का स्वप्नमात्र नहीं है। जैन-दर्शन ने पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु का भेद वैशेषिक इत्यादि कुछ हिन्दू-विचारकों की तरह मौलिक और नित्य नही माना है, बल्कि व्युत्पन्न और गौण माना है।[2] उसके अनुसार ये तथाकथित तत्त्व भी विभाज्य और यौगिक रचनावाले हैं। गन्ध, रस इत्यादि अलग-अलग गुणों का अणुओं में विकास हो जाने पर उनमें अन्तर आ जाते है, हालाँकि स्वतः उनमें कोई अन्तर नही होता। इस प्रकार विभेदित अणुओं से ही शेष भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है। अतः पुद्गल के दो रूप होते हैं—एक सरल या आणविक होता है और दूसरा यौगिक, जिसे स्कन्ध कहते हैं। सब प्रत्यक्ष-योग्य वस्तुएँ यौगिक हैं।[3] उपनिषदों की तरह जैन-दर्शन भी भौतिक जगत् के विश्लेषण को पृथ्वी इत्यादि तत्त्वो मे पहुँचकर नही रोक देता। वह विश्लेषण की प्रक्रिया को और पीछे वहाँ तक पहुँचा देता है जहाँ गुणात्मक विभेदन अभी शुरू नही हुआ होता। परन्तु उपनिषद् अन्तिम अवस्था में ब्रह्म को एकमात्र तत्त्व मानते हैं जबकि जैन-दर्शन उसमें अणुओं की अनन्त संख्या मानता है। न केवल गुणों की दृष्टि

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 35-6।
2. प्राचीन यूनान में डीमोक्रिटस और एम्पेडोक्लीज के अणु-सम्बन्धी मतों का अन्तर इससे कुछ मिलता-जुलता है।
3. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 36।

से पुद्गल अनियत है, बल्कि परिमाण की दृष्टि से भी उसे अनियत माना गया है। उसकी मात्रा में वृद्धि या ह्रास हुए बिना उसके आयतन में वृद्धि या ह्रास हो सकता है। इस स्थिति को यह मानकर सम्भव बताया गया है कि जब पुद्गल सूक्ष्म अवस्था में होता है तब उसके कणों की कोई भी संख्या एक स्थूल अणु की जगह में समा सकती है। इस सूक्ष्म अवस्था मे रहनेवाला पुद्गल ही कर्म है, जो जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर संसार का कारण बनता है।

(2) स्याद्वाद[1]—जैन-दर्शन के स्याद्वाद नामक सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त[2] का आधार यही धारणा है कि सत् का स्वरूप अत्यधिक अनियत है। 'स्यात्' शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु ('होना') का विधिलिङ् का एक रूप है। इसका अर्थ है 'हो सकता है', 'शायद'। इसलिए स्याद्वाद 'शायद' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का यह तात्पर्य है कि वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और प्रत्येक दृष्टिकोण से एक भिन्न निष्कर्ष प्राप्त होता है (अनेकान्त)। वस्तु का स्वरूप पूरी तरह से इनमें से किसी के द्वारा भी व्यक्त नहीं होता, क्योंकि उसमें जो वैविध्य मूर्तिमान् होता है उस पर सभी विधेय लागू हो सकते हैं। अतः प्रत्येक कथन असल में सोपाधिक मात्र होता है। एकान्त विधान और एकान्त निषेध दोनों गलत हैं। जैन एक कथा के द्वारा इस बात को समझाते हैं, जिसके अनुसार अनेक अन्धे एक हाथी को छूकर उसकी आकृति के बारे में तरह-तरह की बातें कहते हैं जबकि असल में प्रत्येक हाथी के एक अलग ही भाग को छू पाता है। यह सिद्धान्त बताता है कि हमें अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए और वस्तु के स्वरूप की परिभाषा देने में कोई साग्रह कथन करने से बचना चाहिए। अध्याय 1 में वैदिक एकेश्वरवाद के प्रसग में हमने दार्शनिक दुराराध्यता की जो बात कही थी वह यहाँ पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

इस सिद्धान्त का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए उन परिस्थितियों को जान लेना जरूरी है जिनमें इसका प्रतिपादन किया गया था। उस काल में एक ओर तो उपनिषदों का यह मत प्रचलित था कि सत् ही तत्त्व है और दूसरी ओर यह मत भी था—और इसका भी उपनिषदों में उल्लेख है, लेकिन अस्वीकृति के

---

1. देखिए गुणरत्न, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 85-9, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 41-2। कहा जाता है कि चौदह 'पूर्वों' में से एक इस विषय पर है। देखिए, J. Jaini : Outlines of Jainism, पृ० 139-140।
2. इस सिद्धान्त का न केवल पुद्गल में बल्कि सत् के अन्य रूपों में भी अनुप्रयोग गुणरत्न, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 87-8 में द्रष्टव्य है।

साथ—कि असत् ही तत्त्व है।[1] जैन-दर्शन के अनुसार ये दोनों ही मत केवल अंशतः ही सही हैं और ज्योंही इनमें से प्रत्येक तत्त्व के बारे में पूर्ण कथन मान लिया जाता है, त्योंही वह एक राद्धान्त बन जाता है। जैनों की दृष्टि में उपनिषदों में ही कहीं-कहीं पाए जानेवाले वे दो अन्य मत भी इतने ही राद्धान्तिक हैं जिनके अनुसार सत् और असत् दोनों के तत्त्व न होने के कारण तत्त्व को या तो सत् और असत् होना चाहिए या दोनों में से कोई भी नहीं।[2] इस प्रकार जैनों का विलक्षण सूक्ष्मता-प्रेम 'अस्ति' और 'नास्ति' के दो प्रसिद्ध विकल्पों के साथ 'अस्ति नास्ति' और 'न अस्ति न नास्ति', ये दो और विकल्प जोड़ देता है। (जैनों के विचार से तत्त्व का स्वरूप इतना जटिल है कि उसके बारे में इन मतों में से प्रत्येक अंशतः तो सही है, लेकिन पूर्णतः सही कोई भी नहीं है। उसके सही स्वरूप का सीधे और एक वाक्य में वर्णन करने के सारे प्रयत्न असफल रहते हैं। फिर भी, अंशतः सही कथनों की एक शृंखला के द्वारा, किसी एक से अपने को एकान्त रूप में न बांधते हुए, हमारा उसे बता सकना असम्भव नहीं है। इसलिए जैन उसके स्वरूप का सात चरणों में कथन करते हैं, जिसे 'सप्तभंगी' कहा गया है। यह नीचे दिया जाता है :

(1) शायद है (स्यात् अस्ति)।
(2) शायद नहीं है (स्यात् नास्ति)।
(3) शायद है भी और नहीं भी (स्यात् अस्ति नास्ति)।
(4) शायद अनिर्वचनीय है (स्यात् अवक्तव्यः)।
(5) शायद है और अनिर्वचनीय है (स्यात् अस्ति च अवक्तव्यः)।
(6) शायद नहीं है और अनिर्वचनीय है (स्यात् नास्ति च अवक्तव्यः)।
(7) शायद है, नहीं है, और अनिर्वचनीय है (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः)।

उदाहरणार्थ, यदि हम एक वस्तु 'व' को लें, तो हम कह सकते हैं कि वह है, लेकिन वह केवल एक अर्थ में है—'व' के रूप में, न कि 'ह' के रूप में भी। तत्त्व के अनियत स्वरूप के कारण यहाँ जो 'व' है वह अन्यत्र या कालान्तर

1. जैसे देखिए छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.2। फिर भी, उपनिषदों के अनेक स्थलों में 'असत्' का प्रयोग सत्य के लिए नहीं बल्कि अव्याकृत सत् के अर्थ में हुआ है। देखिए, छान्दोग्य उपनिषद्, 3.19.1।
2. मुण्डक उपनिषद्, 2.1.1; श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4.18। देखिए, Buddhistic Philosophy, p. 137 तथा ओल्डेनबर्ग के Buddha, p. 249 पर उद्धृत संयुत्त निकाय का एक अंश।

में 'ह' हो सकता है। इस प्रकार 'व' का कथन करते हुए हमें याद रखना चाहिए कि हम उसके आधारभूत तत्त्व के स्वरूप के बारे मे एकान्त रूप से कुछ न कहें। जहाँ तक किसी वस्तु के उपादान-कारण का सम्बन्ध है, वह वस्तु सदा रही है और सदैव रहेगी; पर यहाँ और इस समय जिस विशेष रूप में वह दिखाई देती है उसका अस्तित्व सीमित है। द्रव्य तो वही बना रहता है जबकि पर्याय बदलते रहते है। इस उपाधि के फलस्वरूप हमें तीसरा चरण प्राप्त होता है, जिसमें 'व' के अस्तित्व का विधान भी है और निषेध भी। 'व' है भी और नही भी है। अर्थात् वह एक दृष्टि से है, किन्तु दूसरी दृष्टि से नहीं है। 'है' और 'नही है' का विरोध उस समय हट जाता है जब इन्हें एक के बाद एक किसी वस्तु के विशेषण के रूप में सोचा जाता है। लेकिन जब इन्हें इकट्ठे उस पर लागू किया जाता है, तब वस्तु का स्वरूप अबुद्धिगम्य हो जाता है। इस प्रकार हम 'व' और 'अ-व' का एकान्ततः तादात्म्य नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करना व्याघात के नियम के विरुद्ध होगा। अतः वस्तु को दोनों ही के द्वारा नही बताया जा सकता। इससे चौथा चरण प्राप्त होता है, जिसका अर्थ यह है कि वस्तु एक दृष्टिकोण से अनिर्वचनीय है। अतः जैन-दर्शन इस बात पर ज़ोर देता है कि हम किसी वस्तु के बारे में कहते हुए यह बताएँ कि उपादान, स्थान, काल और अवस्था की दृष्टि से वह क्या है। अन्यथा हमारा उसका वर्णन भ्रामक हो जाएगा। यहाँ पहुँचकर शायद यह लगे कि सूत्र यही समाप्त हो जाएगा। परन्तु अभी कुछ अन्य तरीके बाकी हैं जिनसे उक्त विकल्पों को संयुक्त किया जा सकता है। अतः तीन चरण और जोड़े गए हैं, ताकि यह न मालूम पड़े कि वे विधेय छोड़ दिये गए हैं। इसके फलस्वरूप जो वर्णन उपलब्ध होता है वह सर्वांगपूर्ण[1] बन जाता है, जिससे किसी भी रूप में उसके राद्धान्तिक होने के आरोप के लिए गुंजाइश नही रहती। इस सारे का अभिप्राय यह है कि हमारे निर्णय वस्तु पर केवल आंशिक रूप में ही लागू होते हैं। अनुभव जितने भी परिवर्तनो की हमें जानकारी कराता है, उन सबके अन्दर कोई स्थायी तत्त्व रहता है, परन्तु उसके पर्याय, यानी जिन रूपों को वह ग्रहण करता है वे, अनन्त विविधता वाले होते हैं और उत्पन्न तथा नष्ट होते रहते हैं। साधारण बुद्धि बिना विचारे वस्तुओं को अपरिवर्तनशील मान लेती है। लेकिन ऐसी बात नही है और कोई चीज अन्यों से पृथक् भी वस्तुतः नहीं है। जैन-दर्शन स्थायित्व और परिवर्तन दोनो को समान रूप मे सत्य मानता

1. केवल ये ही सात तरीके हैं जिनसे 'है' और 'नहीं है' का अकेले और संयुक्त रूप में विधान किया जा सकता है। देखिए, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० 206।

है; और इसीलिए वस्तु के स्वरूप को एक कथन में पूरी तरह बता देना उसे कठिन लगता है। कहा गया है[1] कि यहाँ जैन व्यावहारिक सत्ता के बारे में सोच रहे हैं, न कि पारमार्थिक सत्ता के बारे में, जिसे कि तत्त्व को केवल सत् बताते हुए उपनिषदों ने दृष्टि में रखा था। परन्तु ज्ञान के सर्वोत्कृष्ट रूप, 'केवल-ज्ञान', के इस वर्णन से कि उसमें सब वस्तुओं और उनके सब पर्यायों का ज्ञान हो जाता है[2], यह स्पष्ट है कि जैन-दर्शन ने इस तरह का कोई भेद नहीं किया है। उसके अनुसार वास्तविकता स्वतः अनन्त जटिलता से युक्त है और उसका ज्ञान या तो आंशिक और ग़लत होता है या पूर्ण और सही होता है। इस सिद्धान्त की आलोचना के बतौर हम कुछ इस अध्याय के अन्त में कहेंगे।

: 2 :

जैन-धर्म की विशेषता, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, उसके व्यावहारिक उपदेश में पाई जाती है। वह जो साधना निर्धारित करता है, उसकी प्रमुख विशेषता उसकी अत्यधिक कठोरता है। यह कठोरता न केवल संन्यासी के लिए अभिप्रेत साधना में पाई जाती है, बल्कि गृहस्थ के लिए निर्धारित साधना भी अपेक्षाकृत कठोर ही है। अनेक दर्शनों की तरह जैन-दर्शन भी न अकेले ज्ञान पर ज़ोर देता है और न अकेले आचरण पर, बल्कि दोनों ही पर ज़ोर देता है। इनके अलावा वह आस्था की भी आवश्यकता बताता है। वह 'सम्यक् दर्शन' (आस्था), 'सम्यक् ज्ञान' और 'सम्यक् चरित्र' को 'त्रिरत्न' अर्थात् जीवन के तीन बहुमूल्य सिद्धान्त बताता है।[3] इनमें से पहला स्थान सम्यक् दर्शन को दिया गया है, क्योंकि यदि आस्थाएँ भ्रान्त हैं तो सम्यक् चरित्र का अधिकांश मूल्य समाप्त हो जाता है। सम्यक् दर्शन जैनशास्त्रों और उनके उपदेशों में दृढ़ विश्वास है और इसका अभिप्राय विशेष रूप से यह है कि संशय, जो आध्यात्मिक विकास में बाधक होता है, बिलकुल दूर हो जाए। सम्यक् ज्ञान जैन-धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान है। सम्यक् चरित्र उसको जो जाना जा चुका है और सही माना जा चुका है, कम में परिणत करना है। यह जैन-साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, क्योंकि सम्यक् चरित्र से ही मनुष्य 'कर्म' से मुक्त हो सकता है और जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस साधना का विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। इसके सामान्य स्वरूप को बताने के लिए प्रसिद्ध पाँच

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics, जि० 7, पृ० 468।
2. उमास्वाति, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, 1,30।
3. सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः—उमास्वाति, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ 1,1।

की माँग की गई है जबकि संन्यासी के लिए पूर्ण अपरिग्रह पर जोर दिया गया है, जिससे वह किसी भी वस्तु को, भिक्षापात्र तक को, अपनी नहीं कह सकता। लेकिन जैन-धर्म में गृहस्थ और संन्यास-जीवन की दो व्यवस्थाएँ बौद्ध-धर्म की अपेक्षा, जो पहली की उपेक्षा करते हुए दूसरी को महत्त्व देता है, अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। उदाहरणार्थ, वह साधना के उक्त दो रूपों को एक या अधिक बातों में संयुक्त करने की अनुमति दे देता है। जैसे, एक व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए ही केवल भोजन के मामले में सन्यासी के ऊँचे आदर्श का अनुसरण कर सकता है।[1] इस प्रकार यहाँ गृहस्थ और संन्यासी की साधनाओं के बीच अन्तर प्रकार का नहीं बल्कि केवल मात्रा का है।

जीवन का लक्ष्य कर्म से छुटकारा पाना है। अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैन-दर्शन भी पुनर्जन्म मे विश्वास करता है, लेकिन पुनर्जन्म के कारण-भूत कर्म की उसकी धारणा अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न है। यहाँ कर्म को पौद्गलिक माना गया है, जो जीव के अन्दर पूर्णतः प्रविष्ट होकर उसे नीचे संसार में खींच देता है। "जैसे ताप लोहे से और जल दूध से संयुक्त हो सकता है, वैसे ही कर्म जीव से संयुक्त हो जाता है; और इस प्रकार कर्म से संयुक्त जीव बन्धन मे पड़ा हुआ जीव कहलाता है।" जैसे अधिकांश हिन्दू-विचारधारा में वैसे ही यहाँ भी आदर्श शुभाशुभ से परे पहुँचना है और इसलिए पुण्य और पाप दोनों को बन्धन का कारण माना गया है, हालाँकि इनसे होने वाले बन्धन परस्पर भिन्न प्रकार के हैं। जब समुचित साधना से सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाता है और जीव 'सर्वज्ञता की ज्योति से पूर्णतः देदीप्यमान' हो जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है। जब अन्त में मृत्यु के बाद वह शरीर के बन्धन से छूट जाता है, तब वह ऊपर उठता हुआ जगत् के, जिसे ऊपर लोकाकाश कहा गया है, शिखर पर पहुँच जाता है और वहीं वह सदैव शान्ति और आनन्द की अवस्था में टिका रहता है।[2] उसके बाद वह सांसारिक बातों की चिन्ता में तो नहीं पड़ता, फिर भी अपना प्रभाव अवश्य डालता रहता है, क्योंकि जो अभी उसकी स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं उनको वह सदैव प्राप्त आदर्श के एक उदाहरण के रूप में प्रेरणा देता रहेगा। ज्ञान-प्राप्ति से लेकर जब तक देवत्व की प्राप्ति (सब मुक्त जीव देवता है) नहीं हो जाती, तब तक की अवधि में जीव में नये कर्म का प्रवेश नहीं होता। ज्ञान-प्राप्त पुरुष सक्रिय जीवन बिता सकता है, परन्तु जैन-धर्म के अनुसार उसकी सक्रियता उस पर

1. Outlines of Jainism, पृ० xxxi।
2. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 40।

वैसा प्रभाव तक नहीं डालती जैसा निःस्वार्थ क्रिया अन्यों पर डालती है। जैसे बौद्ध-धर्म में वैसे ही यहाँ भी इस अवधि में व्रती पुरुष को 'अर्हत्'[1] कहा जाता है और मोक्ष-प्राप्ति के बाद उसे 'सिद्ध' माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ अर्हत् की अवस्था जीवन्मुक्ति के हिन्दू आदर्श और पिछले अध्याय में बताये हुए निर्वाण के बौद्ध आदर्श के तुल्य है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जैन-धर्म मे व्यावहारिक साधना का जो मार्ग बताया गया है उसका वर्णन करने के लिए सात तत्त्वों की योजना को समझा देना पर्याप्त है। इस योजना का उद्देश्य यह दिखाना है कि जीव किस तरह कर्म से सम्बद्ध होता है और किस तरह उससे मुक्त हो सकता है। ये तत्त्व हैं : आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, मोक्ष तथा पहले बताये हुए जीव और अजीव। कर्म वह कड़ी है जो जीव को उसके सांसारिक परिधान, शरीर, से जोड़ती है। जैसा कि हम जान चुके हैं, कर्म अत्यधिक सूक्ष्म पुद्गल से, जो ज्ञानेन्द्रियों के लिए अगम्य है, बना हुआ है।[2] हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि कभी ऐसा समय था जब जीव कर्म के इस संयोग से मुक्त था। फिर भी उससे वियोग को सम्भव माना गया है। कर्म जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप को दूषित कर देता है और फलतः जीव अपनी शुद्ध अवस्था से भ्रष्ट होकर 'बन्ध' की अवस्था में आ जाता है। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि बन्ध की प्रक्रिया मे कर्म स्वतः प्रवृत्त होता है, न कि ईश्वर की इच्छा से, जैसा कि हिन्दू धर्म में माना गया है। कर्म के द्वारा बँधने की यह प्रक्रिया दो चरणों में पूरी होती है। परम सत्य का अज्ञान और मनोवेग जैसे कुछ मानसिक हेतुओं से समीपवर्ती कर्म-पुद्गल का जीव की ओर आना शुरू हो जाता है। यही आस्रव है। तब कर्म का जीव के अन्दर वस्तुतः प्रवेश हो जाता है, जिसे बन्ध कहते हैं। कर्म के छूटने की प्रक्रिया भी दो चरणो में बताई गई है। पहले सम्यक् ज्ञान और आत्म-संयम से नये कर्म का प्रवेश रुकता है। इसे संवर कहते हैं। तब पहले से सचित कर्म का झड़ना शुरू होता है। यह निर्जर है, जो संवर के बाद स्वतः होने लगता है, लेकिन जिसमें साधना से शीघ्रता लाई जा सकती है। इसके बाद की स्थिति मोक्ष है, जिसमें जीव और कर्म के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है[3] और जीव अपनी आदर्श अवस्था में पुनः लौट आता

1. जैन-दर्शन को कभी-कभी 'आर्हत-दर्शन' कहा जाता है।
2. पाप की भौतिक या अर्ध-भौतिक धारणा का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। देखिए, Keith : Religion and Philosophy of the Veda, पृ० 245।
3. Indian Philosophy, जि० 1, पृ० 320।

है। तब वह संसार से ऊपर उठ जाता है और लोकाकाश के शिखर पर अपने स्थायी आवास में पहुँच जाता है। यह अन्तिम अवस्था निष्क्रियता की होती है, परन्तु इसमें पूर्ण ज्ञान और शाश्वत शान्ति रहती है। इन सात तत्त्वों के साथ पुण्य और पाप को, जो क्रमशः अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम हैं, मिलाकर नौ तत्त्व प्राप्त होते हैं, जिन्हें कभी-कभी जैन-दर्शन के नौ पदार्थ कहा जाता है।

जैन-सिद्धान्त के बारे में आलोचना के बतौर अन्तिम शब्द कहने से पूर्व हमारा इस प्रश्न पर, जो कभी-कभी पूछा जाता है, कि क्या जैन-धर्म 'नास्तिक' है, विचार करना अभी शेष है। इस प्रश्न का उत्तर स्वभावतः इस बात पर निर्भर करता है कि 'नास्तिक' से हमारा तात्पर्य क्या है। यदि 'नास्तिक' से तात्पर्य उसका है जो परलोक में विश्वास न करता हो,[1] यानी जो आत्मा के अमरत्व को न मानता हो, तो उत्तर स्पष्ट है। इस अर्थ में नास्तिक केवल विषयभोगवादी चार्वाक है। 'नास्तिक' शब्द कभी-कभी, बाद के अर्थ-परिवर्तन के फलस्वरूप, उनके लिए प्रयुक्त होता है जो वेद का प्रामाण्य नहीं मानते। इस अर्थ में जैन-धर्म नास्तिक है, क्योंकि वह हिन्दू-शास्त्रों का विरोधी है और इस बात में बौद्ध-धर्म की तरह है। यदि हम 'नास्तिक' को निरीश्वरवादी के अर्थ में लेते हैं, तो जैन-धर्म को ऐसा कहना सन्देहास्पद है। जैन-धर्म ईश्वर में तो विश्वास नहीं करता, लेकिन देवत्व में विश्वास करता है। वस्तुतः वह प्रत्येक मुक्त जीव को देवता मानता है; और ऐसे देवता बहुत होंगे, क्योंकि उनकी संख्या में वृद्धि ही हो सकती है, ह्रास नहीं। यदि हम 'ईश्वर' उस परम पुरुष को समझते हैं जो इस विश्व की सृष्टि करता है, तो जैन-धर्म निश्चय ही नास्तिक है। वह तर्क से ईश्वर की धारणा को स्वविरोधी बताता है। यदि ईश्वर को विश्व की सृष्टि की आवश्यकता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें कोई अपूर्णता है, जो कि उसके सर्वोच्च होने के नाते अनिवार्यतः पूर्ण माने जाने से संगति नहीं रखता। अतः कोई ईश्वर नहीं है और विश्व की कभी सृष्टि नहीं हुई। इस दृष्टि से जैन कट्टर वेदानुयायी मीमांसक से एकमत है, जो कि काफी विचित्र लगेगा। यह मत मनुष्य की सामान्य आस्था के चाहे जितना विरुद्ध हो, पर तार्किक आधार से एकदम शून्य नहीं है। ईश्वरवादी दर्शन प्रायः ईश्वर पर मानवत्व का आरोप कर देते हैं। वे ईश्वर को नीचे मनुष्य के स्तर पर ले आते हैं। इसके विपरीत, जैन-धर्म मनुष्य को ही तब ईश्वर के रूप में देखता है जब उसकी सहज शक्तियाँ पूर्ण विकास की अवस्था में होती हैं। यहाँ ईश्वर जीव के सर्वोत्तम रूप के लिए ही एक दूसरा

1. देखिए, पाणिनि, 4. 4. 60।

शब्द है। आदर्श मनुष्य ही मनुष्य का आदर्श है; और उसकी सिद्धि का एक-मात्र उपाय यह है कि हम आदर्श मनुष्यों को उदाहरण के रूप में अपने सामने रखें तथा उसी तरह प्रयत्न करें जिस तरह अन्यों ने किया था। ऐसा आदर्श हमें पूरी आशा और पूरा प्रोत्साहन देता है, क्योंकि जो एक आदमी कर चुका है उसे दूसरा भी कर सकता है। ईश्वर को, जो पहले से ही ईश्वर है, अस्वीकार करने में तथा साथ ही इस विश्वास को कि मोक्ष उसकी दया से प्राप्तव्य है, अस्वीकार करने में जैन-धर्म और उसकी तरह के अन्य दर्शन यह मानते हैं कि समग्र अनुभव की व्याख्या के लिए कर्म स्वतः बिना किसी ईश्वरीय शक्ति के हस्तक्षेप की अपेक्षा रखे पर्याप्त है और इस प्रकार वे मनुष्य के अन्दर यह धारणा पैदा करते हैं कि जो कुछ वह करता है उसके लिए स्वयं ही पूर्णतः उत्तरदायी है। "जैन-धर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता देने में हर अन्य धर्म से बढ़कर है। जो कुछ कर्म हम करते हैं और उनके जो फल हैं उनके बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। एक बार कर लिए जाने के बाद कर्म हमारे प्रभु बन जाते हैं और उनके फल भोगने ही पड़ेंगे। मेरा स्वातन्त्र्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा मेरा दायित्व भी है। मैं स्वेच्छानुसार चल सकता हूँ, पर मेरा चुनाव अन्यथा नहीं हो सकता और उसके परिणामों से मैं बच नहीं सकता।"[1]

जैन लोग भूतद्रव्य और आत्मा दोनों को मानते हैं। उनके अनुसार इनमें से प्रत्येक में दूसरा गर्भित है, क्योंकि वे मानते हैं कि कुछ भी पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है और स्वतः पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता। जैन-धर्म के एक प्राचीन श्लोक के अनुसार, जो एक चीज़ को पूरी तरह से जानता है वह सब चीज़ों को जानता है और जो सब चीज़ों को जानता है केवल वही किसी चीज़ को पूरी तरह से जानता है।[2] इसका मतलब यह हुआ कि यदि हम एक चीज को समझना चाहते हैं, तो उसे हमें सब चीजों से सम्बद्ध करना होगा। अतः जैन-सिद्धान्त को सापेक्षवादी कहा जा सकता है। वह बहुवादी भी है, क्योंकि वह जीवों और भौतिक तत्त्वों की अनन्त संख्या मानता है। सापेक्षवाद और बहुवाद की ये दो विशेषताएँ इस बात के संकेत है कि सामान्य अनुभव का

1. Outlines of Jainism, p. 3-4।
2. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
गुणरत्न के पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० 89 पर उद्धृत; जैकोबी का पूर्व उद्धृत ग्रंथ, खण्ड 1, पृ० 34 भी द्रष्टव्य है।

प्रथम विश्लेषण करके ही जैन-दर्शन रुक गया है और उसमें गर्भित बात की उपेक्षा कर बैठा है। यदि सापेक्षवाद को उसके तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचाया जाए, तो निरपेक्षवाद प्राप्त होता है, जिसे जैन-दर्शन मानने से इन्कार करता है। यहाँ हम देखेंगे कि जीव और पुद्गल से हमें कैसे यह प्राप्त होता है—देश और काल को हम फिलहाल छोड़ देते हैं। जहाँ तक भौतिक जगत् का सम्बन्ध है, जैन-दर्शन एक कसौटी अपनाता है, जिससे उसकी सम्पूर्ण विविधता घटकर एक ही प्रकार का द्रव्य, अर्थात् पुद्गल रह जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में भी वह ऐसा ही करता है और फलतः सब जीवों को वह एक ही प्रकार का मान लेता है। लेकिन जब सवाल पुद्गल और जीव दोनों का आता है, तब जैन-दर्शन उस कसौटी को त्याग देता है और इनके द्वैत को अन्तिम मान लेता है। यदि पुद्गल और जीव का यह द्वैत सांख्य की तरह ही पूर्ण होता, तो हम किसी प्रकार इसे समझ सकते; लेकिन ऐसा है नहीं। सांख्य पुरुष और प्रकृति नामक अन्तिम सत्ताओं के जिस पार्थक्य को मानता है वह पूर्ण है, और इनमें से किसी का भी दूसरे से वस्तुतः सम्बन्ध होना वह नहीं मानता। लेकिन इसके विपरीत, जैन-दर्शन में जीव और पुद्गल का वस्तुतः परस्पर सम्बन्धित होना माना गया है। इन्हें क्रमशः जीव और अजीव कहने मात्र से इनकी परस्पर-निर्भरता प्रकट होती है। फिर भी इनके पीछे रहनेवाले तत्त्व को ढूँढने की कोई चेष्टा नहीं की गई है, और इन्हें अगल-बगल ऐसे रखा गया है जैसे कि मानो ये परस्पर बिलकुल ही स्वतन्त्र हों। अब यदि हम जैन-धर्म की दूसरी विशेषता, यानी बहुवाद, को लेते हैं, तो यहाँ भी हमें यही सब कहने को मजबूर होना पड़ता है। पुद्गल को अणुओं की अनन्त संख्या में विभाजित किया गया है; लेकिन वे सब एक ही प्रकार के हैं, इसलिए उन्हें एक-दूसरे से अलग पहचानना असम्भव है। इसी तरह जीवों के सांसारिक अन्तर उनकी भौतिक उपाधियों से पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाते हैं। उनकी नैतिक प्रकृतियों के अन्तर तक उनसे पूरी तरह जुड़े हुए हैं, क्योंकि जैन-धर्म कर्म को पुद्गल का ही एक रूप बताता है। ऐसी स्थिति में एक जीव का दूसरे से जो सहज भेद माना गया है वह, अर्थात् जीवों का बहुत्व, नाममात्र का हो जाता है। अतः इस मामले में जैन-दर्शन के विचार से अनिवार्यतः केवल एक ही आत्म-द्रव्य का अस्तित्व उपलक्षित होता है, जिसके साथ-साथ एक भौतिक द्रव्य का भी अस्तित्व है। और चूँकि ये दोनों द्रव्य परस्पर निर्भर हैं, इसलिए इनके द्वैत का भी अन्त में एकवाद में विलय हो जाना चाहिए। इस प्रकार ये एक ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की ओर संकेत करते हैं जो अपने आवश्यक रूप से परिवर्तनशील स्वरूप के कारण अपने अन्दर जीव

और अजीव के प्रसिद्ध अन्तर विकसित करता है। यह जैन-मत का अनिवार्य परिणाम है। जैन-दर्शन का यह अधूरा चिन्तन उसके सप्तभंगि-न्याय में भी झलकता है। वह अनेक एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है और उनके वैषम्य को उचित संश्लेषण के द्वारा दूर करने की चेष्टा नहीं करता। वहाँ तक तो ठीक है जहाँ तक यह हमें एकांगी निष्कर्षों से सावधान करता है; लेकिन अन्त में वह हमें जहाँ छोड़ता है वह, जैसा कि कहा गया है[1], ऐसे एकांगी समाधानों से थोड़ा ही अधिक है। यदि यह जैन-दर्शन का निरपेक्षवाद के विरुद्ध पूर्वग्रह नहीं है, तो इसका कारण उसकी लोक-विश्वासों के निकट रहने की इच्छा है। जैन-दर्शन जानी-पहचानी बातों का निषेध करने में संकोच करता है। लेकिन साथ ही उसका सामान्य विचारों का पक्ष ग्रहण करना यह मतलब नहीं रखता कि वह लोक-विश्वासों से सन्तुष्ट है, जैसा कि उसके सामान्यतः स्वीकृत ईश्वर की धारणा के निराकरण से प्रकट है। सच्ची बात यह है कि जैन-धर्म का मुख्य लक्ष्य आत्मा को पूर्ण बनाना है, न कि विश्व की व्याख्या करना। इसी बात को एक प्राचीन युक्ति से समर्थन मिलता है, जिसके अनुसार पूरा-का-पूरा जैन-धर्म आस्रव और संवर ही है, शेष इनका विस्तार मात्र है।[2] इसके फलस्वरूप हम उसमें तत्त्वमीमांसीय समस्या का अन्तिम समाधान ढूँढने में असफल रहते हैं।

1. Proceedings of the First Indian Philosophical Congress (1925), p. 133।
2. आस्रवो भवहेतुः स्याद् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयं आर्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥
(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ॰ 39)

भाग 3

'दर्शनों' का युग

अध्याय 7

प्राक्कथन

भारतीय विचारधारा को, जिसका विकास हम यहाँ तक दिखा चुके हैं, अधिकाश में निष्कर्ष-प्रधान कहा जा सकता है। ये निष्कर्ष अवश्य ही न्यूनाधिक रूप से निश्चित प्रक्रियाओं से प्राप्त हुए होंगे; लेकिन उन प्रक्रियाओं के बारे में अब हम बहुत कम जानते हैं। प्रस्तुत युग का दर्शन इस बात में भिन्न है और वह हमे न केवल निष्कर्ष प्रदान करता है बल्कि वे विधियाँ भी प्रदान करता है जिनसे वह उन निष्कर्षों तक पहुँचा है। वास्तव मे, इस युग में जिन अनेक दार्शनिक तन्त्रों का विकास हुआ, उन्होंने अपने विशेष विषय की तब तक छानबीन शुरू नही की जब तक पहले ज्ञान की मीमांसा नहीं कर ली और यह विचार नही कर लिया कि सत्य की प्राप्ति कैसे होती है। दूसरे शब्दों में, विकास के इस चरण में भारतीय दर्शन आत्मचेतन हो जाता है, और तर्कशास्त्र का उसकी एक पृथक् शाखा के रूप में उदय हो जाता है। इस परिवर्तन के ठीक-ठीक कारणों को ढूँढ पाना आसान नहीं है; लेकिन इतना स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म जैसे नास्तिक मतों के विकास और दृढ़ीकरण ने अवश्य ही इसमें काफ़ी अशदान किया होगा, विशेष रूप से इसलिए कि इनमें से कुछ ने अपने निष्कर्षों के एकान्ततः तर्क पर आधारित होने का दावा किया था। वाद-विवाद मे पक्ष-प्रतिपक्ष को जिस बढते हुए विरोध का सामना करना पड़ा, उससे प्रत्येक अपने मत को मजबूत करने के लिए मजबूर हो गया, और इस दिशा में जो प्रयत्न किये गए, उन्हे ही इस युग के भारतीय दर्शन के सामान्य आलोचनात्मक स्वरूप के लिए उत्तरदायी मानना चाहिए।

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन ही इस बात का कारण है कि अब निरपवाद रूप से सभी सम्प्रदाय प्रमाण-विचार पर विधिवत् ध्यान देने लगे। 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है प्रमा, यानी यथार्थ ज्ञान, की प्राप्ति के आवश्यक साधन।[1] ज्ञान की वस्तु को 'प्रमेय' कहा गया है और ज्ञाता को 'प्रमाता'। प्रमाणों की प्रकृति और सीमाओं के बारे मे अनेक मत है; लेकिन यहाँ उनके

1. प्रमाकरणं प्रमाणम्।

बारे में केवल एक या दो मोटी बातों की चर्चा की जाएगी। सामान्यतः प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द या आप्तवचन। प्रथम दो प्रमाणों की उपयोगिता सबने स्वीकार की है, लेकिन तीसरे के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ-साथ प्रमाणों में इसको भी शामिल करना निश्चय ही भारतीय दर्शन की विशेषता है और इस पर संक्षेप में कुछ कहना जरूरी है। सबसे पहले शब्द के दो पक्षों में भेद कर देना चाहिए। जब हम कोई वाक्य सुनते हैं, तब कर्ण-मार्ग से हमारे मन में एक प्रभाव पैदा होता है। यह प्रत्यक्ष है और इस प्रत्यक्ष के बाद हमें ध्वनियों के एक अनुक्रम का बोध होता है। प्रमाण के रूप में शब्द का निश्चय ही यह अर्थ नहीं है। यह तो प्रमाण के बजाय एक प्रमेय है। लेकिन शब्द का एक दूसरा, व्यंजक, पक्ष भी है, और इसी रूप में यहाँ हम इसके बारे में सोच रहे हैं। जीवन में ज्ञान प्राप्ति के एक साधन के रूप में इसकी उपयोगिता के बारे में अत्युक्ति नहीं की जा सकती। जितनी भी अनेक बातें कोई व्यक्ति जानता है, उनका एक छोटा-सा अंश मात्र स्वयं देखकर या अनुमान करके उसे ज्ञात हुआ होता है। शेषांश के लिए वह पूर्णतः दूसरों के साक्ष्य पर निर्भर रहता है और वह उसे बोले गए या लिखे हुए शब्दों से प्राप्त होता है। परन्तु यह पूछा जा सकता है कि शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण बनाने के लिए क्या इतना पर्याप्त है? ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों देखते जाएँगे कि कुछ भारतीय विचारकों ने शब्द को वह तर्कशास्त्रीय महत्त्व देने से इन्कार कर दिया जो इसे एक पृथक् प्रमाण मानने में गर्भित है। लेकिन यह तो शब्द को उससे अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करने से सम्बन्धित बात है जो इसका शुरू में समझा जाता था। प्रारम्भ में इससे केवल परम्परा का बोध होता था[1] और कालान्तर में इसका क्षेत्र इतना बढ़ा दिया गया कि सभी वाक्य, चाहे उनका प्राचीन विश्वास से सम्बन्ध हो या न हो, इसमें समाविष्ट हो गए। इस विस्तृत अर्थ में शब्द-प्रमाण पर विचार हम आगामी अध्यायों के लिए छोड़ देते हैं और यहाँ केवल इसे परम्परा के वाहक मात्र के रूप में लेंगे।

इस अर्थ में शब्द को प्रमाणों में शामिल करने का कारण तब समझ में आ जाएगा जब हम परम्परा से प्राप्त उस सामग्री की विशालता को ध्यान में लाएँगे जो प्रमाणों के विधिवत् विचार के समय तक इकट्ठी हो चुकी थी।[2] इसे शामिल

1. मीमांसा के प्राभाकर सम्प्रदाय में अब तक केवल वेद के अर्थ में ही शब्द को प्रमाण माना जाता है।
2. 'प्रमाण' और 'प्रमेय' शब्द मैत्री उपनिषद् (6.14) में पाए जाते हैं और प्राचीन

करने के पीछे मुख्य विचार यह था कि दर्शन को इतिहास की देनों की उपेक्षा न हो। इससे यह भी प्रकट होता है कि उस काल में परम्परा को कितना महत्त्व और आदर दिया जाता था। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि इन सम्प्रदायों के प्रवक्ताओं ने अविवेकपूर्वक भूतकाल से चले आनेवाले प्रत्येक विश्वास को, चाहे वह वेदमूलक ही हो, सही मानते हुए अपनी बुद्धि से निर्णय करना छोड़ दिया था। उस समय जो स्थिति थी, उसे देखते हुए ऐसा होना निश्चय ही असम्भव था। एक ओर तो उस समय अतीत से चला आने वाला सम्पूर्ण जटिल वैदिक ज्ञान था; और दूसरी ओर नास्तिक विचारों का समूह था, जिसमें विभिन्न समुदायों में चलने वाले स्वतन्त्र चिन्तन के फलस्वरूप अत्यधिक वैविध्य था। इस प्रकार परम्परा के अन्दर जो दर्शन मौजूद था वह अधिकांशतः आन्तरिक विरोध से पूर्ण था, और इस बात की अत्यधिक आवश्यकता थी कि प्रत्येक मत के आन्तरिक तत्त्वों की पारस्परिक संगति जांच ली जाए। इसके फलस्वरूप आस्तिक और नास्तिक दोनों ने अपने परम्परागत विश्वासों की परीक्षा शुरू कर दी और उनकी सगतिपूर्ण व्याख्या करने की कोशिश की। इस तरह की व्याख्या में स्वतन्त्र तर्कना बड़ी मात्रा में शामिल थी, और भारतीय दर्शन में शब्द का मूल अर्थ हमें इसी तर्क-प्रधान छानबीन के फल को समझना चाहिए। अतः शब्द-प्रमाण सामान्य परम्परा नहीं बल्कि व्यवस्थाबद्ध परम्परा है। उदाहरणार्थ, वैदिक ज्ञान की ऐसी ही व्यवस्थाबद्ध व्याख्या करना मीमांसा-दर्शन का मुख्य उद्देश्य था। यद्यपि दोनों ही वर्गों के विचारक परम्परा को दार्शनिक ज्ञान का स्रोत मानते हैं, तथापि उनके यह मानने के तरीकों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। नास्तिकों की दृष्टि में यह परम्परा किसी भी अवस्था में पौरुषेय अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती, और पौरुषेय अनुभव के अन्दर वे न केवल उसे शामिल करते हैं जो प्रत्यक्ष और अनुमान से जाना जा सकता है, बल्कि उसे भी शामिल करते हैं जो इनसे भी ऊँचे प्रमाण से—अन्तर्दृष्टि या अन्तःप्रज्ञा जो भी नाम उसे दिया जाए—ज्ञात होता है।[1] इस अर्थ मे परम्परा का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह हमें मनुष्य के द्वारा न जानी

भारत के यूनानी वर्णनों में दार्शनिक के लिए 'प्रामाणिक' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'वह जिसके निष्कर्ष प्रमाणों पर आधारित होते हैं।' (देखिए Cambridge History of India, जि० 1, पृ० 421)।

1. इस तरह के ऊँचे प्रमाण में सब नास्तिक दर्शन विश्वास नहीं करते। अतः भारतीय दर्शनों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है : (1) वे जो केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं, (2) वे जो इनके अतिरिक्त अन्तःप्रज्ञा को भी मानते हैं, और (3) वे जो अन्तःप्रज्ञा के स्थान पर श्रुति को मानते हैं।

जा सकने वाली किसी बात का ज्ञान देती है, बल्कि केवल इस बात में है कि यह हमें प्रत्यक्ष और तर्क मात्र से अज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान कराती है। दूसरे शब्दों में, परम्परा उन सत्यों का नाम है जो साधारण मनुष्य की पहुँच के परे हैं, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न पुरुषों को जिनका साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है। इसके विपरीत, आस्तिकों के लिए परम्परा का अर्थ दिव्य प्रकाश है, जो बिलकुल दैवी यानी ईश्वर के मुख से निकलनेवाला ज्ञान तो नहीं है, पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, एक या दूसरे अर्थ में अपौरुषेय है।[1] इस अन्तर का अर्थ यह है कि नास्तिक सम्प्रदायों की दृष्टि में मानवीय अनुभव अपने अधिकतम विस्तृत रूप में सम्पूर्ण सत्ता को निःशेष कर देता है, जबकि आस्तिक सम्प्रदायों की दृष्टि में नहीं करता। आस्तिकों के अनुसार, मानवीय अनुभव प्रकृति को समझने के लिए पर्याप्त तो हो सकता है, पर प्रकृति स्वातीत है और किसी दूरस्थ चीज की ओर संकेत करती है, जिससे अस्तित्व के उस अनुभवातीत क्षेत्र का जितना भी ज्ञान सम्भव है उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'श्रुति' को मानना पड़ता है। नास्तिकों के मत से ऐसे किसी क्षेत्र की बिलकुल भी सत्ता नहीं है; और किसी चीज को मानवीय शक्तियों के परे मानना तथा उसको वास्तविक न मानना दोनों एक ही बात है। इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक सम्प्रदायों में शब्द या परम्परा क्या चीज है, यह प्रश्न अन्ततः सामान्य दार्शनिक दृष्टि-कोण के प्रश्न में विलीन हो जाता है और उनकी सत्ता-विषयक धारणाओं में एक आधारभूत अन्तर प्रकट करता है।

स्पष्ट है कि श्रुति को इस अर्थ में एक प्रमाण के रूप में स्वीकार करना खतरनाक है, क्योंकि इसके फलस्वरूप श्रुति के बहाने से किसी भी चीज में विश्वास का समर्थन किया जा सकता है। प्राचीन भारतवासी इस खतरे को समझता था और इसलिए उसने अपनी श्रुति की धारणा को अनेक शर्तें जोड़कर निरापद कर लिया था। इनसे प्रकट होता है कि आस्तिक समुदायों में श्रुति का ठीक क्या स्वरूप माना जाता था और इसका सामान्यतः अनुभव से और विशेषतः तर्क से क्या सम्बन्ध था : (1) इन शर्तों में से पहली यह है कि श्रुति-मूलक सत्य को नया या अलौकिक होना चाहिए, अर्थात् साधारण प्रमाणों से अप्राप्त और अप्राप्य होना चाहिए।[2] उदाहरणार्थ, ताप शीत को नष्ट करता है,

1. परम्परा को हम नास्तिक सम्प्रदायों के मामले में 'आगम' समझ सकते हैं और आस्तिक सम्प्रदायों के मामले में 'श्रुति', जिसे कभी-कभी 'निगम' भी कहा जाता है। परन्तु इन तीन शब्दों के प्रयोग में यह अन्तर हमेशा नहीं रखा जाता।
2. तुलना कीजिए : 'अर्थेऽनुपलब्धे'—वस्तु के (अन्यथा) अज्ञात होने पर—जैमिनि-सूत्र 1.1.5.

यह दिखाने के लिए श्रुति का आश्रय नहीं लेना चाहिए, क्योंकि यह तो साधारण अनुभव की बात है।[1] स्पष्ट है कि श्रुति जो कुछ भी जानकारी दे, वह हमारे अनुभव की भाषा में हो; अन्यथा वह समझ मे नहीं आएगी और अपने प्रयोजन में सफल नहीं होगी।[2] शास्त्र भी अज्ञात का अज्ञात के माध्यम से ज्ञान नहीं करा सकता और इस प्रकार ऐसा नहीं हो सकता कि श्रुति का विषय मानवीय अनुभव से बिलकुल ही असम्बद्ध हो। जब हम नवीनता की शर्त को इस तथ्य के साथ संयुक्त करते हैं कि अनुभवातीत सत्य जिस भाषा मे व्यक्त हो वह अनिवार्यतः हमारी परिचित भाषा'हो, तब हम देखते हैं कि श्रुति का विषय, कम-से-कम वहाँ तक जहाँ तक दार्शनिक सत्य का सम्बन्ध है, नितान्त नया नहीं हो सकता, बल्कि केवल हमारे अनुभव की व्याख्या का एक नया तरीका ही होगा। (2) दूसरी शर्त यह है कि श्रुति का विषय किसी अन्य प्रमाण के द्वारा बाधित न हो।[3] श्रुति के एक अंश का दूसरे से विरोध भी न हो। इसका अर्थ यह है कि श्रुति का विषय आन्तरिक संगति से युक्त हो और वह तर्क से परे भले ही हो पर तर्क-विरुद्ध न हो। श्रुति के प्रामाण्य को निश्चित करने के लिए शर्तों का बताया जाना स्वयं ही इस बात का सूचक है कि वह तर्क के विरुद्ध नहीं हो सकती। (3) श्रुति का तर्क से केवल इस प्रकार का निषेधात्मक सम्बन्ध ही हो, ऐसी बात नहीं है। एक तीसरी शर्त है, जो इस सम्बन्ध का विधानात्मक होना भी बताती है, और वह यह है कि श्रुति जो कहती हो उसका तर्क से पूर्वाभास हो सके, अर्थात् श्रुतिमूलक सत्य सम्भाव्य लगे। यदि इस शर्त की नवीनता की पहली शर्त से संगति रखनी है, तो इसे इस अर्थ में ग्रहण करना चाहिए कि विचाराधीन सत्य का अनुभव के क्षेत्र से ली गई मिलती-जुलती बातों से मोटा-सा अन्दाज़ हो सके।[4] ये बातें श्रुतिमूलक सत्य को सिद्ध नहीं करतीं; फिर भी वे व्यर्थ नहीं है, क्योंकि विचाराधीन सत्य के बारे मे यदि पहले से कोई असम्भाव्यता महसूस हो तो वे उसे दूर करने का काम करती हैं।[5] श्रुति में—विशेषतः उपनिषदों मे—हम प्रायः जो तर्क-प्रयोग देखते हैं, वह वेदवादियों

1. "अग्निः हिमस्य भेषजम्"—यह वचन वस्तुतः वेद में आया है, लेकिन भाष्यकारों ने इसे एक 'अनुवाद', यानी पहले से ज्ञात बात की आवृत्ति कहा है।
2. देखिए, जैमिनि-सूत्र 1.3.30 पर शबर का भाष्य।
3. जैमिनि-सूत्र 1.1.5 में 'अव्यतिरेक' (जिसका निषेध न हो) शब्द आया है।
4. बृहदारण्यक उपनिषद् के शांकर भाष्य पर आनन्दज्ञानकृत टीका, पृ० 8 देखिए: "सम्भावनामात्रेण लिंगोपन्यासः। न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते।"
5. इस अर्थ में उन्हें 'युक्ति' या 'अनुकूल-तर्क' कहा गया है, अनुमान नहीं।

द्वारा वास्तव में इसी कोटि का बताया गया है। उनके मत से तर्क स्वतः ऐसे सत्यों को जानने में असमर्थ है।[1] अधिक-से-अधिक उससे दो या अधिक समान रूप से सत्य प्रतीत होनेवाले निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं;[2] लेकिन श्रुति की सहायता के बिना संशय से बचना असम्भव है। आत्मा का मृत्यु के बाद अस्तित्व वेद से ज्ञात सत्य का एक ऐसा उदाहरण है जो इन शर्तों को पूरा करता है। यह तर्क की पहुँच के परे है, पर साथ ही ऐसा भी है जिसमें कोई बात तर्क-विरुद्ध नहीं है। सावधानी के बतौर इन शर्तों को रखने के बावजूद भी यह मानना चाहिए कि इस रूप में परिभाषित श्रुति एक बाह्य प्रमाण ही है; और यही आस्तिक सम्प्रदायों का इसके बारे में मत है।[3]

विभिन्न प्रमाणों के द्वारा प्राप्त परिणामों का सामान्य नाम 'दर्शन' है, जिसका अभिप्रायार्थ 'दृष्टि' है। इसको इस बात का सूचक माना जा सकता है कि भारतीयों के चिन्तन का लक्ष्य अन्तिम सत्य का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करना नहीं बल्कि उसका साक्षात् दर्शन करना था। इस तरह यह शब्द सामान्य भारतीय दर्शन की एक विलक्षणता को प्रकट करता है, जो यह है कि मनुष्य को बौद्धिक विश्वास मात्र से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, बल्कि उस विश्वास को

---

1. देखिए, वेदान्तसूत्र, 2.1.2। तर्कनावादियों के इस दावे के बारे में कि ऐसे सत्य तर्क द्वारा प्राप्त हो सकते हैं, यह कहा गया है कि उनके ध्यान में वह तर्क है जिसका प्रयोग श्रुति द्वारा सत्य की पहले प्राप्ति हो जाने के बाद होता है। वे इसलिए नहीं जानते कि उन्होंने तर्क किया है; बल्कि वे इसलिए तर्क करते हैं कि वे जानते हैं। देखिए, वेदान्त-सूत्र (शांकर भाष्य) 1.1.2 और बृहदारण्यक उपनिषद् (शांकर भाष्य) पृ० 7।
2. देखिए, भर्तृहरिः वाक्यपदीय (1.34):
   यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः
   अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते।
3. लेकिन यह स्पष्ट है कि शास्त्रोक्त सत्य भी शुरू में किसी मानवीय साधन से—यदि तर्क से नहीं तो साक्षात् अन्तःप्रज्ञा से—प्राप्त हुआ होगा। इस प्रकार यदि श्रुति भी प्राचीन ऋषियों का अन्तःप्रज्ञामूलक अनुभव है और पौरुषेय है, तो शायद वह नास्तिकों के आगम से मुश्किल से ही भिन्न लगेगी। लेकिन कहीं-कहीं एक चौथी शर्त भी रखी गई है, जिससे इन दोनों के अन्तर का अनुमान किया जा सकता है (देखिए, कुसुमांजलि, 2.3 और श्लोकवार्तिक, पृ० 90)। शर्त यह है कि श्रुतिमूलक सत्य समाज की सामान्य बुद्धि को स्वीकार्य सिद्ध हो चुका हो (महाजनपरिग्रह), अथवा वह उससे संगति रखता हो जिसे जातीय अन्तःप्रज्ञा कहा जा सकता है। सामान्य समाज की यह स्वीकृति ही अन्त में आस्तिकों की श्रुति को नास्तिकों के आगम से अलग करनेवाली प्रतीत होती है।

प्रत्यक्ष अनुभव में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी, अधिक सम्भाव्य यह लगता है कि यहाँ 'दर्शन' शब्द इसके लिए कभी-कभी प्रयुक्त होने वाले समानार्थक 'दृष्टि'[1] शब्द की तरह 'दार्शनिक मत'[2] का अर्थ रखता है और चिन्तन के अन्य सम्प्रदायों से पृथक् एक विशिष्ट सम्प्रदाय का द्योतक है। दार्शनिक मत के ऐसे सम्प्रदाय अनेक हैं। इनकी संख्या सामान्यतः छः मानी जाती है, जो ये हैं: गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, जैमिनि का पूर्वमीमांसा तथा बादरायण का उत्तरमीमांसा या वेदान्त। इन छः दर्शनों को दो-दो के इन तीन जोडों मे रखा जा सकता है: न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, और पूर्व तथा उत्तर-मीमांसा, क्योंकि इनमें से प्रत्येक जोड़े के सदस्य या तो अपने सामान्य तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण में या अपने ऐतिहासिक आधार में या इन दोनों ही बातो मे एक है। इस भाग में हम न केवल इन तीनों जोडों पर, बल्कि दो अन्य दर्शनों पर भी विचार करेंगे, जिनमें से एक भारतीय भौतिकवाद है और दूसरा उत्तरकालीन बौद्ध-दर्शन, जो वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक नामक चार सम्प्रदायों में बँटा हुआ है। ऊपर उल्लिखित छः आस्तिक दर्शनो[3] से भेद करने के लिए जैन-दर्शन को इन पाँच दर्शनो से मिलाकर कभी-कभी छः नास्तिक दर्शन कहा जाता है। लगभग इन सभी के अंकुर पिछले युगों के साहित्य में पाए जा सकते हैं, लेकिन इनका पूरा विकास और व्यवस्थापन प्रस्तुत युग मे हुआ। एक बार इन दर्शनों के व्यवस्थाबद्ध हो जाने के बाद वे मार्ग सदा के लिए निर्धारित हो गए जिनमें भारत मे दार्शनिक विचारधारा वाद मे प्रवाहित हुई। यद्यपि ये दर्शन एक-एक आचार्य के नाम से शुरू हुए, तथापि वास्तव में अपने-अपने वर्तमान रूपों में विचारकों की लम्बी परम्पराओं के चिन्तन के फल हैं, क्योंकि समय के साथ इन दर्शनों में वृद्धि हुई है। इन विचारकों में से कुछ के नाम तो ज्ञात हैं, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि उनकी देन क्या थी और कहाँ तक मूल सिद्धान्त में उन्होंने परिवर्तन-परिवर्धन किया था। कारण यह है कि उन्होंने उस दर्शन का, जिसके वे अनुयायी थे, अधिक विचार रखा और उसके विकास में अपने योगदान के लिए श्रेय लेने की बात कम सोची। अतः विभिन्न दर्शनों

1. देखिए, न्यायसूत्र-भाष्य, 4.1.14।
2. देखिए, बृहदारण्यकोपनिषद-वार्तिक, पृ० 890, श्लोक 22, और तुलना कीजिए, Sacred Books of the East, जिल्द 22, पृ० XLV।
3. जैसा कि ऊपर पृ० 107 पर बताया गया है, ये सभी ईश्वरवादी के अर्थ में आस्तिक नहीं हैं।

को सहयोगपूर्ण चिन्तन की उपज कहा जा सकता है, और अलग-अलग चिन्तकों के कार्य समूह के कार्य में विलीन हो जाते हैं। शंकर और रामानुज जैसे गहन विचारक तक अपने दर्शन के लिए काम करने से ही सन्तुष्ट रहे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को बिलकुल भुला दिया और इस प्रकार सत्य की खोज में अपने पूर्ण निष्काम-भाव का प्रमाण दिया। जैसा कि एक से अधिक पुराने लेखकों ने लिखा है, सत्य का अन्वेषण स्वयं ही अपना प्रेरक है, न यश उसका प्रेरक है और न लाभ।[1]

इन दर्शनों को 'तन्त्र' इसलिए कहा गया है कि इनमें से प्रत्येक के विचार सुसमन्वित हैं और तार्किक दृष्टि से अंगांगि-सम्बन्ध रखते हैं। एक दूसरे अर्थ में भी ये तन्त्र हैं, और वह यह है कि इनकी आवश्यक बातें अन्तिम (सिद्धान्त) मानी जाती हैं, यद्यपि विस्तार की बातें बदल सकती हैं। इनमें से कई आधुनिक अर्थ में दर्शन से अधिक हैं, क्योंकि इनमें एक ओर तो धर्म शामिल है और दूसरी ओर वह जिसे आजकल विज्ञान माना जाता है। आजकल, जब खोज की प्रायोगिक विधियों का इतना अधिक विकास हो चुका है, इन दर्शनों में शामिल विज्ञान का मूल्य अधिक नहीं माना जाएगा; और इसलिए हम उसका उल्लेख केवल तभी करेंगे जब उसका स्पष्ट दार्शनिक महत्त्व समझा जाएगा। लेकिन धर्म की बात अलग है; क्योंकि, जैसाकि पहले बताया जा चुका है, भारत में इसे दर्शन से पृथक् रखनेवाली रेखा बहुत ही धुंधली है। फिर भी हम अपने विषय-विवेचन में धर्म के शुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष को छोड़ ही देंगे। विशेष रूप से हम उन बातों को यथाशक्ति छोड़ देने की चेष्टा करेंगे जो परलोक से सम्बन्धित हैं, और किसी दर्शन के मूल्य को अस्तित्व की उस अवस्था से नहीं आँकेंगे जिसका वह ज्ञानवान् पुरुष को मरने के बाद सुलभ होने का आश्वासन दिलाता है, बल्कि इस लोक के उस जीवन से आँकेंगे जिसकी वह उससे ज्ञान-प्राप्ति के बाद और शारीरिक मृत्यु से पहले की अवधि में, अर्थात् उस अवस्था में जिसे कुछ दर्शनों में जीवन्मुक्ति या अर्हत्त्व की अवस्था कहा गया है, आशा करता है।

विभिन्न दर्शनों के बारे में जानकारी लेने के मूल स्रोत प्रायः सूत्र-ग्रन्थ हैं। सूत्र साहित्य का एक विलक्षण रूप है, जिसका विकास भारत में ईसवी सन् से कुछ शताब्दी पहले तब हुआ था जब ग्रन्थ-रचना में लिखने का प्रयोग अभी शुरू नहीं हुआ था और परम्परा से प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान को केवल स्मृति में सुरक्षित रखना पड़ता था। सूत्र आकार में बहुत ही संक्षिप्त होते हैं और व्याख्या

1. देखिए, न्याय-भाष्य, 4.2.51; सुरेश्वर: नैष्कर्म्यसिद्धि, 1.6।

के बिना उन्हें समझना अति कठिन होता है। शुरू में शिष्य उन्हें प्रामाणिक व्याख्या के साथ गुरु के मुख से सुनकर याद कर लेते थे और इसी तरह आगे चलाते थे। लिखित रूप उन्हें बहुत बाद मे दिया गया। जो व्याख्याएँ उनके साथ चलती थी वे कालान्तर में थोड़ी-बहुत बदल गईं और उन्हे भी ठीक रूप देकर प्रायः भाष्यों के नाम से लेखबद्ध कर लिया गया—भाष्य का अर्थ है बोलचाल की भाषा (अर्थात् वैदिक भाषा नही बल्कि संस्कृत भाषा) में लिखी व्याख्या। सूत्र-साहित्य का निर्माण उसकी आवश्यकता न रहने के बाद भी बहुत समय तक होता रहा; और कल्पसूत्र इत्यादि प्राचीन सूत्र-साहित्य के विपरीत यदि सब दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थ नही तो कुछ तो अवश्य ही इस उत्तरवर्ती युग की रचनाएँ हैं। इनका काल सामान्यतः 200 ई० से 500 ई० के बीच माना जाता है।[1] लेकिन यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिन दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का वर्णन ये सूत्र-ग्रन्थ करते हैं वे स्वयं इतने बाद के नही हैं। निश्चय ही वे बहुत प्राचीन हैं और उनकी यह प्राचीनता गौतम, कपिल इत्यादि उनके प्रथम प्रवक्ताओं को 'ऋषि' कहने से प्रकट होती है। इसलिए ऊपर दी हुई तिथियों को केवल उस काल की सूचक मानना चाहिए जब उन्हे एक निश्चित रूप प्रदान किया गया था। इस प्रकार एक अर्थ में दर्शनों के प्रारम्भिक रूप होते हुए भी सूत्र वास्तव में दीर्घकालीन विकास के परिणाम हैं—उस विकास के जिसकी विस्तार की बातें शायद सदा के लिए लुप्त हो चुकी हैं। अतः सूत्र दर्शनों की वास्तविक प्राचीनता को सही रूप में प्रकट नही करते और साथ ही जब वे पहले-पहल रचे गए थे तब से उनमें आचार्यों और व्याख्याताओं के द्वारा परिवर्तन-परिवर्धन भी कर दिये गए। किन्तु अब ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे यह ठीक-ठीक निर्धारित किया जा सके कि उनके कौन-से अंश वस्तुतः मौलिक हैं और कौन-से बाद के जुड़े हुए हैं। उनके प्राचीन अंश नवीन अंशों के साथ इस तरह मिल गए हैं कि उन्हें अलग नही किया जा सकता। सूत्रों के दो लक्ष्य कहे जा सकते हैं—एक है उन सिद्धान्तों की स्थापना जो उन्हें इष्ट हैं और दूसरा है उन सब सिद्धान्तों का खण्डन जो उनसे भिन्न हैं। इस प्रकार सूत्र-ग्रन्थ रचनात्मक होने के साथ-साथ आलोचनात्मक भी हैं। प्रत्येक दर्शन के साहित्य में सूत्र-ग्रन्थ के अतिरिक्त उसके ऊपर एक या अधिक भाष्य, भाष्य या भाष्यों के ऊपर टीकाएँ तथा उस दर्शन के चुने हुए विषयों पर गद्यात्मक,

---

1. *Prof.* Jacobi : Dates of Philosophical Sutras, Journal of the American Oriental Society, जि०31 (1911)।

पद्यात्मक या गद्यपद्यात्मक प्रकरण-ग्रन्थों का समावेश होता है। प्रत्येक दर्शन का साहित्य-निर्माण बहुत लम्बी अवधि तक होता रहा। यह कार्य सूत्र-ग्रन्थों की रचना के थोड़े समय पश्चात् शुरू हुआ और अभी एक या दो शताब्दी पूर्व तक चलता रहा।

अध्याय 8

भौतिकवाद

पहला दर्शन, जिस पर हम यहाँ चर्चा करने जा रहे हैं, भौतिकवाद है, जिसे संस्कृत में 'चार्वाक-दर्शन' कहते हैं। इसे 'चार्वाक' क्यों कहा गया, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि इसके प्रवर्तक ने सबसे पहले अपने जिस शिष्य को इसका उपदेश दिया उसका नाम 'चार्वाक' था और तभी से इस दर्शन का यह नाम चल पड़ा।[1] अधिक सम्भाव्य यह है कि इस शब्द का प्रयोग मीठी वाणीवाले (चारु+वाक्)[2] के अर्थ में इस सिद्धान्त के, जोकि ऊपर से इतना अधिक आकर्षक लगता है, प्रवक्ताओं की विशेषता बताने के लिए किया गया है। हम पहले ही यदृच्छावाद को इसका सम्भावित उद्गम बता चुके हैं और कह चुके हैं कि इसका अनोखापन कारणता के प्रत्यय को बिलकुल हटा देने में है। न विश्व का और न उसके अन्दर घटनेवाली किसी घटना का कोई कारण है। ये कहाँ से आये, इस प्रश्न का इससे अधिक कोई जवाब नहीं है कि ये सब आकस्मिक हैं। इसे जो कभी-कभी 'लोकायत-दर्शन' नाम से पुकारा जाता है, उससे लगता है कि स्वभाववाद का, जिसका आधार भी केवल अनुभव था, इसमें विलय हो गया था। चार्वाक-दर्शन दीर्घकाल से उपहास का पात्र बना रहा।[3] इसके अनुयायियों के नाम—चार्वाक और लोकायत—बहुत-कुछ उसी तरह अप्रतिष्ठाजनक अर्थ ग्रहण कर चुके हैं जिस तरह प्राचीन यूनान में सोफिस्ट' नाम, और अब ये नास्तिक और विषयासक्त के पर्याय बन गए हैं।[4] शंकर-जैसे काफी पुराने ग्रन्थकार के ग्रन्थों तक में हम चार्वाक-दर्शन के इसी भ्रष्ट रूप का संक्षिप्त वर्णन देखते हैं।[5] ऐसे दर्शन का प्रतिपादन करनेवाले

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 99।
2. Whitney : Sanskrit Grammar, पृ० 80।
3. उदाहरणार्थ, देखिए नैषधीय चरित (17.39-83), जिसका रचयिता श्रीहर्ष भी एक महान् दार्शनिक था।
4. देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 4, श्लोक 10। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 2 में चार्वाक को नास्तिक-शिरोमणि कहा जाना ध्यान देने योग्य है।
5. देखिए वेदान्त-सूत्र 3.3.53-4 पर शांकर भाष्य और बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर

किसी ग्रन्थ के होने की कोई आशा नहीं करेगा। फिर भी, प्राचीन ग्रन्थों में इस दर्शन पर एक सूत्र-ग्रन्थ बृहस्पति द्वारा, जिसे मैत्री उपनिषद्[1] ने एक नास्तिक आचार्य कहा है, लिखा हुआ बताया जाता है। चूंकि इसके कतिपय उद्धरण कहीं-कहीं मिलते हैं[2] और इस पर लिखित एक भाष्य का भी उल्लेख कहीं मिलता है[3], इसलिए इसके अस्तित्व में सन्देह नहीं करना चाहिए। लेकिन यह ग्रन्थ अब नहीं मिलता और इसलिए यह कहना मुश्किल है कि उसका सिद्धान्त दर्शन कहलाने के कहाँ तक योग्य था अथवा उसकी जो सर्वथा निन्दा की गई वह कहाँ तक उचित थी। अब इस सिद्धान्त का जितना वर्णन मिलता है, वह केवल अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में संक्षेप के रूप में है, जिसे उनमें खंडन करने के प्रयोजन से शामिल किया गया है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इसका मूल्यांकन करने के लिए हमें पूरी तरह इसके अनेक विरोधियों के कथनों पर निर्भर रहना पड़ रहा है। एक बात यह है कि उनके अति संक्षिप्त कथनों के आधार पर इस दर्शन के बारे में विस्तृत बातें अधिक नहीं बताई जा सकतीं। निस्सन्देह सर्वदर्शनसंग्रह में इस पर एक अध्याय है, लेकिन वह बहुत ही संक्षिप्त है और उससे अन्य ग्रन्थों से एकत्रित जानकारी से अधिक कुछ नहीं ज्ञात होता। फिर इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि ये कथन इस दर्शन की दुर्बल बातों की अत्युक्तियाँ हों और उसके सिद्धान्तों के यथार्थ वर्णन तक न हों। उदाहरणार्थ, आलोचकों के द्वारा प्रायः यह मान लिया जाता है कि चार्वाक अनुमान-प्रमाण का बिलकुल निषेध करते थे, परन्तु एक न्याय-ग्रन्थ[4] में जो कथन मिलता है उससे उनके द्वारा केवल ईश्वर, परलोक इत्यादि को सिद्ध करने के लिए साधारणतः दूसरों को पर्याप्त लगनेवाले अनुमानों का ही निषेध किया जाना प्रकट होता है। अनुमान के प्रयोग में यह भेद चार्वाक-मत के पूरे स्वरूप को बदल देता है। लेकिन यह तो सचाई की एक भूली-भटकी झलक मात्र हमें मिलती है। सचाई के नाम पर हमें चार्वाक-दर्शन का उपहास-चित्र ही मिलता है। आस्तिक दर्शनों ने उसका खास तौर से जो मज़ाक बनाया है उसका कारण उसका वेदों के प्रामाण्य और पुरोहित-कर्म का विरोध करना हो सकता है।[5]

भाष्य, पृ० 552 इत्यादि।

1. 7.9।
2. देखिए, वेदान्तसूत्र, 3.3.53 पर भास्कर-भाष्य; न्यायमंजरी, पृ० 64।
3. देखिए, वेदान्तदेशिक-कृत सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वमुक्ता-कलाप-सहित), पृ० 85।
4. न्यायमंजरी, पृ० 124।
5. देखिए सर्वदर्शनसंग्रह, अध्याय 1 के अन्त में उद्धृत श्लोक। इनमें वेद को दुर्बोध, स्वव्याघाती, झूठा इत्यादि बताया गया है।

परन्तु इसे उसका पूरा कारण नही कहा जा सकता, क्योंकि बौद्ध और जैन भी वेदों के विरोधी थे। अतः हमे उसका कारण, कम-से-कम आंशिक रूप में, इस दर्शन की ही कमजोरियों मे, विशेष रूप मे उसके नैतिक पक्ष की कमजोरियों में, जो सामाजिक व्यवस्था और नैतिक दायित्व की बुनियादों को नष्ट करने वाली थी, ढूंढना होगा। इस दर्शन का हमारे लिए सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि यह प्राचीन काल में भारत मे दार्शनिक चिन्तन के अनेकमुखी होने का और विचार तथा भाषा की बहुत काफ़ी स्वतन्त्रता के उपलब्ध होने का सूचक है।

: 1 :

इसके सिद्धान्तों में सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि प्रत्यक्ष एकमात्र ही प्रमाण है। यह अनुमान-सहित शेष सब प्रमाणों का निषेध करता है और इस प्रकार दर्शन, जिसे सामान्य भारतीय विचार के अनुसार जीवन की साधना होना चाहिए, यहां बौद्धिक साधना तक नही बना रह पाता। अनुमान के निषेध का यह कारण बताया गया है कि उसके आधारभूत आगमनिक सम्बन्ध, व्याप्ति की सत्यता को समुचित रूप मे सिद्ध नही किया जा सकता। यदि यह मान भी लिया जाए कि यह सम्बन्ध वस्तुतः होता है,[1] तो भी इसका विनिश्चय अवलोकित तथ्यों पर निर्भर करता है और चूंकि अवलोकन का क्षेत्र अनिवार्यतः सीमित होता है, इसलिए, चार्वाक के अनुसार, उससे जो निष्कर्ष प्राप्त होता है उसके सार्वभौमीकरण का हमें कोई अधिकार नही मिलता। यदि तर्क के हेतु यह मान भी लिया जाए कि अवलोकन से किसी व्याप्ति या सामान्य नियम के अन्तर्गत आनेवाले सारे वर्तमान दृष्टान्तों को जाना जा सकता है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि कुछ दृष्टान्त सुदूरकालस्थ होने से अवलोकन की पहुँच से बिलकुल परे हैं। अनुभूत दृष्टान्तों का जहां तक सम्बन्ध है, वहां तक तो सामान्य तर्कवाक्य (व्याप्ति) सही माना जा सकता है, परन्तु इस बात का कोई निश्चय नहीं हो सकता कि अननुभूत दृष्टान्तो पर भी वह लागू होगा। यह सन्देह मात्र कि वह उन पर शायद लागू न हो, सामान्य तर्कवाक्य को अनुमान मे उपयोग की दृष्टि से व्यर्थ कर देने के लिए काफी है। यदि इस कठिनाई से बचने के लिए हम यह मान लें कि आगमन का आधार वस्तुतः पृथक्-पृथक् दृष्टान्तों का परीक्षण नही, बल्कि उनसे स्थायी रूप से सम्बद्ध आवश्यक लक्षणो या सामान्यो[2]

---

1. न्यायमंजरी, पृ० 119-20।
2. इसका यह मतलब नहीं है कि चार्वाक सामान्यों को वास्तविकों के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ केवल तर्क के हेतु इनका अस्तित्व मान लिया गया है।

के बीच उपयुक्त सम्बन्ध जोड़ना मात्र है, तो चार्वाक यह आपत्ति करता है कि इससे विशेषों में सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाएगा जबकि व्यावहारिक उपयोग केवल विशेषों का ही है। स्वयं सामान्यों को भी अनुमान का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब अनुमिति जिन सामान्यों का सम्बन्ध जोड़ेगी उनका साध्यवाक्य में उल्लिखित अनुभूत तथ्य से तादात्म्य होने से तथाकथित अनुमिति में कोई नई बात नहीं रहेगी। जैसा कि एक प्रसिद्ध श्लोक[1] में कहा गया है, इस द्विविधा के दलदल में नैयायिक अनुमान के प्रामाण्य का समर्थन करने का प्रयास करता हुआ अपने को फँसा पाता है। अनुमान के प्रामाण्य में हमारे साधारण विश्वास का स्पष्टीकरण देता हुआ चार्वाक कहता है कि वह अनुभव के दौरान हमारे मन में स्थापित हो जानेवाले साहचर्यों का फल है और इस प्रकार अनुमान एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें तार्किक निश्चयात्मकता का होना लेशमात्र भी आवश्यक नहीं है। अन्यथा स्वयं तर्कनिष्ठ दार्शनिकों के मध्य आवश्यक बातों तक में जो मतभेद प्रसिद्ध हैं, उनके होने का क्या कारण है ?[2] यदि अनुमान में हमारे साधारण विश्वास की व्यावहारिक जीवन में कभी पुष्टि हो जाती है, तो यह उसी तरह दैवयोग की बात है जिस तरह शकुनों का कभी-कभी सत्य होना। दूसरे शब्दों में, अनुमान अटकल से अधिक कुछ नहीं है। यदि चार्वाक अपने मत को इस रूप में विधिवत् प्रस्तुत करे, तो वह निश्चय ही स्वयं उसी की स्थिति को निर्मूल बना देगा, क्योंकि यह निषेधात्मक निष्कर्ष कि अनुमान प्रमाण नहीं है, आगमन का फल है और इस आस्था की ओर संकेत करता है कि कम-से-कम एक दृष्टान्त में व्याप्ति-सम्बन्ध सत्य है। तब यह स्वयं अपना ही खंडन कर देगा, क्योंकि जिस बात का निषेध किया जाएगा उसका इस निषेध की प्रक्रिया से ही विधान हो जाएगा। इसके अलावा, उसके दूसरों से अपने मत की सत्यता को स्वीकार कराने के प्रयत्न मात्र से उसकी दूसरों के विचारों की जानकारी उपलक्षित होती है, जो प्रत्यक्ष-ज्ञान के विषय न होने के कारण केवल अनुमान से ही उसे ज्ञात हो सकते हैं। लेकिन सम्भावना इस बात की है कि चार्वाक ने न तो अपने मत का इतना विधिवत् कथन किया था और न उसकी सत्यता को दूसरों से स्वीकार कराने का प्रयत्न ही किया था, बल्कि

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 63 में उद्धृत :
विरोधेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात्
अनुमाभंगपंकेऽस्मिन् निमग्ना वादिदंतिनः।
2. देखिए पृ० 182, टिप्पणी 2।

केवल प्रतिवादियों के मत का खंडन ही उसका उद्देश्य रहा।[1] फिर भी, प्रायः यह माना जाता है कि उसने अपने मत को विधिवत् प्रस्तुत किया था; और अन्य दर्शनों के प्रतिनिधियों ने उपर्युक्त रीति से ही उसका प्रतिवाद किया है। उन्होंने अनुमान का प्रत्यक्षतः भी समर्थन किया है और बताया है कि क्यों और किन परिस्थितियों मे व्याप्ति को उसके अन्दर समाविष्ट दृष्टान्तों की सीमित परीक्षा के ऊपर आधारित होने के बावजूद भी सत्य माना जा सकता है। लेकिन उनके उत्तर अलग-अलग दर्शनों के अनुसार अलग-अलग हैं और इसलिए अधिक अच्छा यह होगा कि जिस दर्शन का जो उत्तर है वह उस दर्शन के अध्याय मे ही बताया जाए। अतः अभी हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे।

चार्वाक ने ज्ञान के बारे में जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसके फलस्वरूप वह विश्व के अन्दर किसी व्यवस्था के होने की बात नहीं कर सकता। निस्सन्देह वह प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है; परन्तु इससे तो वस्तुओं का खण्डशः ज्ञान होता है, वस्तुओं को परस्पर जोड़ने वाला कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं प्राप्त होता। फिर भी यह कहा जाता है कि चार्वाक चार भूतों को मानता है, जिनका अपना अलग-अलग स्वरूप है। यदि ऐसा है, तो चार्वाक वास्तववादी और बहुवादी है। इन भूतों को स्थूल ही मानना चाहिए, क्योंकि उनकी सूक्ष्म अवस्था में, जो कि अनुमान के द्वारा ही जानी जा सकती है, अनुमान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक का विश्वास नहीं हो सकता। साधारणतः हिन्दू विचारधारा मे पाँच भूत मानती है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनमें से पहले चार साधारण इन्द्रियानुभव के विषय हैं, परन्तु अन्तिम अनुमान द्वारा ज्ञेय है। चार्वाक केवल इन्द्रियों से प्राप्त अव्यवहित ज्ञान को ही प्रमाण मानता है, इसलिए अन्तिम भूत का निषेध करता है। इसी वजह से वह आत्मा का भी शरीर से पृथक् एक नित्य सत्ता के रूप में निषेध करता है। उसके मत से आत्मा भूतों के उस विलक्षण संयोग से पैदा होता है, जिसे हम जीवित शरीर कहते हैं। अतः वह चेतना या आत्म-तत्त्व से इन्कार नहीं करता; इन्कार वह केवल इस बात से करता है कि इसका कोई पारमार्थिक या स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह मानता है कि यह भूतों के शरीररूपी योग का एक गुण है और शरीर के विघटन के साथ नष्ट हो जाता है। इसकी तुलना उस मादक गुण से की गई है जो खमीर इत्यादि कुछ द्रव्यों में अलग-अलग न होते हुए भी उनके मेल से आ जाता है।[2] आगे यह भी कहा गया है कि चेतना का पूर्णतः भौतिक शरीर पर

1. देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 270 : वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः ।
2. इस उदाहरण से चेतना के एक उन्मज्जी लक्षण होने का सुझाव मिलता है, क्योंकि

निर्भर होना इस बात से प्रकट होता है कि वह सदैव शरीर के साथ दिखाई देती है, उससे पृथक् कहीं नहीं पाई जाती। इस प्रकार चार्वाक का यह सिद्धान्त इस पाश्चात्य सिद्धान्त का भारतीय प्रतिरूप माना जा सकता है कि मन जड़-द्रव्य का व्यापार है। जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, चार्वाक-मत आधुनिक व्यवहारवाद के सदृश है। उदाहरणार्थ, शालिकनाथ ने चार्वाक-दर्शन का जो संक्षिप्त वर्णन दिया है, उसके अनुसार चार्वाक अनुभूति को सीधे भौतिक शरीर का गुण मानता है और शारीरिक लक्षणों की भाषा में उसका वर्णन करता है: "सुख, दुःख इत्यादि को शरीर मात्र के गुण मानना चाहिए, क्योंकि वे उसकी अवस्था में परिवर्तन ले आते हैं। जो एक सत्ता का लक्षण हो वह दूसरी सत्ता को प्रभावित नहीं कर सकता; अन्यथा कारण जहाँ है नहीं वहाँ उसका व्यापार मानना पड़ेगा। और यह साधारण अनुभव की बात है कि सुख इत्यादि के होने से शरीर प्रभावित होता है, जैसा कि आँखों के विस्फारित होने, मुखमुद्रा की सौम्यता, रोम-हर्ष इत्यादि से प्रकट होता है।" (प्रकरणपञ्चिका, पृ० 147)

आत्मा का अन्य भारतीय दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान होने से उसके निषेध ने जिस तीव्रतम वादविवाद को जन्म दिया वह स्वाभाविक ही था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि सिद्धान्ततः चार्वाक-पक्ष का खंडन असम्भव है। सामान्यतः स्वीकृत रूप में आत्मा का अस्तित्व तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस बात को वस्तुतः कुछ आस्तिक विचारकों ने स्वीकार किया भी है और तदनुसार चार्वाक-मत का खंडन करने में उन्होंने बल इस विपरीत सिद्धान्त की असाध्यता पर दिया है कि शरीर और आत्मा एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं।[1] चार्वाक-मत के विरुद्ध जो सीधे तर्क दिये गए हैं उनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण तर्कों को यहाँ दे देना अच्छा होगा। पहला तर्क यह है कि यदि चेतना शरीर का धर्म है, तो या तो वह आवश्यक है या आगन्तुक। यदि आवश्यक है, तो उसे शरीर से अवियोज्य होना चाहिए और जब तक शरीर रहे तब तक उसके साथ रहना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं, क्योंकि मूर्च्छा या स्वप्नरहित निद्रा में शरीर उससे शून्य दिखाई देता है। यदि वह आगन्तुक है, तो कोई उपाधि[2] माननी पड़ेगी जो चेतना को उत्पन्न करती हो और इसलिए चेतना को पूरी

चार्वाक उसे शरीर का निर्माण करने वाले घटकों में से किसी का असंयुक्त अवस्था में गुण नहीं मानता। देखिए, भामती, 3.3.53।

1. जैसे देखिए शास्त्रदीपिका, पृ० 122।
2. देखिए. सांख्य-प्रवचन-सूत्र, 3.20 तथा जे० सी० चटर्जी का Hindu Realism पृ० 70।

तरह से शरीर पर निर्भर नहीं माना जा सकता। इसके अलावा, जैसा कि वाचस्पति[1] ने कहा है, स्वप्न देखकर उठने वाला व्यक्ति स्वप्न के अनुभव को अपना बताता है, परन्तु स्वप्न में धारण किये हुए शरीर को, जैसे सिंह-रूप को, अपना नहीं बताता। यदि अनुभव शरीर का धर्म होता, तो दोनों को एक साथ स्वीकार या अस्वीकार किया जाता। चार्वाक का यह कहना सही हो सकता है कि चेतना सदैव भौतिक शरीर से सम्बद्ध देखी जाती है; परन्तु यह बिलकुल अनिश्चित है कि शरीर के विशीर्ण हो जाने पर उसका लोप हो जाता है। हमें जान लेना चाहिए कि उसका किसी अन्य रूप में अस्तित्व फिर भी बना रह सकता है; और यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं हुई है, तथापि उसके बने रहने की शंका चार्वाक के इस मत का निराकरण करने के लिए पर्याप्त है कि यह शरीर का धर्म है। दोनों का साहचर्य भी, यदि वह नित्य भी हो तो भी, स्वतः यह सिद्ध नहीं कर सकता कि एक दूसरे का धर्म है। उदाहरणार्थ, आँख किसी तरह के प्रकाश की सहायता के बिना देख नहीं सकती; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि देखना प्रकाश का धर्म है। इसी तरह, यहाँ भी हो सकता है कि शरीर चेतना की अभिव्यक्ति के लिए एक उपकरण-मात्र हो। अन्त में, यदि चेतना वस्तुतः शरीर का एक धर्म होती, तो जैसे वह मुझे ज्ञात है ठीक वैसे ही दूसरों को भी ज्ञात होती। उदाहरणार्थ, अपने शरीर के रंग या रूप को न केवल मैं देख सकता हूँ, बल्कि अन्य लोग भी देख सकते हैं। लेकिन इसके विपरीत, मेरे विचार, मेरी अनुभूतियाँ, मेरे स्वप्न और मेरी स्मृतियाँ जिस तरह मेरे लिए अपरोक्षतः अनुभूत तथ्य हैं, उस तरह दूसरे किसी भी व्यक्ति के लिए नहीं हैं। एक दार्शनिक को अपने दाँत-दर्द का जैसा ज्ञान होता है, वह उसका इलाज करने वाले दन्त-चिकित्सक के ज्ञान से भिन्न होता है। यह महत्वपूर्ण अन्तर इस बात की ओर संकेत करता है कि चेतना भौतिक शरीर का धर्म नहीं है, बल्कि किसी और चीज का धर्म है अथवा एक स्वतन्त्र ही तत्त्व है, जो केवल शरीर के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है।[2]

: 2 :

चार्वाक-दर्शन किसी अलौकिक या अनुभवातीत सत्ता में और साथ ही प्रत्येक ऐसी चीज में भी-जो धर्म और दर्शन का विशिष्ट विषय हो, विश्वास का

1. भामती, 2.1.14.
2. देखिए, वेदान्तसूत्र 3.3.54 पर शंकर का भाष्य। ऊपर जो मत प्रस्तुत किया गया है, वह भारतीय भौतिकवाद का केवल एक प्रकार है। अन्य प्रकार भी थे, जो आत्मा को शरीर से तो भिन्न मानते थे, पर उसका ज्ञानेन्द्रियों, प्राण या किसी अन्य अचिद्रूप तत्त्व से अभेद करते थे। देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 440-1।

पूर्णतः निषेध कर देता है। वह न विश्व का शासन करने वाले ईश्वर को मानता है और न मनुष्य को सन्मार्ग पर चलाने वाली अन्तर्भावना को। वह मरणोत्तर अस्तित्व में विश्वास करने की बात भी नहीं सोचता, हालांकि जहां तक सदाचरण का सम्बन्ध है वहां तक भारतीय के लिए इसमें विश्वास करने का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से भी अधिक महत्व है। इस प्रकार चार्वाक-दर्शन मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचार से बिलकुल हटा देता है और उसे विषय-भोग की दुनिया में केन्द्रित कर देता है। वह गहराई में रहने वाले तत्त्व की चेतना का गला घोंट देता है। फलतः यदि इस दर्शन का कोई आदर्श प्रतीत होता हो, तो वह शुद्ध और सीधे सुखवाद का आदर्श है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य इस जीवन में सुख—और वह भी सिर्फ अपना—प्राप्त करना है। समष्टि का सुख, यदि इसका कोई विचार किया गया हो तो, व्यष्टि के सुख से अलग कोई चीज नहीं माना गया है; और किसी ऐसे सामान्य शुभ की धारणा इस दर्शन में नहीं है जिससे व्यष्टि के हितों को गौण माना जा सके। चार पुरुषार्थों में से चार्वाक धर्म और मोक्ष को अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार मनुष्य के प्रयत्न के विषय केवल दो रह जाते हैं—एक काम अथवा विषय-सुख और दूसरा अर्थ जो इसकी प्राप्ति का साधन है। जिन सद्गुणों का चार्वाक अभ्यास करता है, वे या तो लोकाचार पर आधारित हैं या सांसारिक दूरदर्शिता के परिणाम हैं। चार्वाक-दर्शन केवल उपयोगिता को ही एकमात्र शुभ जानता है। दु:ख को जीवन का अपरिहार्य अंग माना गया है; लेकिन यह भी कहा गया है कि इसके कारण हम अपने सुख का त्याग न करें, जो कि हमें वांछनीय लगता है और जिसकी ओर हम स्वभावतः खिंचे चले जाते हैं। "कोई भी भूसी के कारण दाने को त्याग नहीं देता।[1]" चार्वाक सुख की प्राप्ति के लिए इतना अधीर रहता है कि दु:ख से बचने की वह कोशिश तक नहीं करता। बुराई के ऊपर विजय पाने के बजाय वह उससे समझौता कर लेता है। उसके मत से प्रत्येक मनुष्य को बुरे सौदे से भी अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहिए और "जब तक वह जीवित रहे तब तक उसे सुखोपभोग करते रहना चाहिए।"[2] परम्परागत उपदेश को न मानना और जिस नैतिक तथा आध्यात्मिक साधना का वह समर्थन करता है उसका परित्याग इस घोर उपयोगितावाद का, जिसका नारा 'आज सुख भोग लो, कल देखा जाएगा' है,

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 3।
2. 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्', जो वेद के इस विधान की हास्यानुकृति मालूम पड़ता है : 'यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति।'

एक अनिवार्य परिणाम है। "किसी ऐसे सम्प्रदाय की तो बात सोची जा सकती है जो मोक्ष के आदर्श को न माने, पर धर्म से शून्य सम्प्रदाय की बात सोची भी नहीं जा सकती। सम्भव है कि मृत्यु अन्तिम बात हो और उसके बाद कुछ न रहे, लेकिन जीवन के एक ऐसे आदर्श में विश्वास करना, जो धर्म से शून्य हो, मनुष्य को पशु बना देता है। यह विश्वास करना कठिन लगता है कि दर्शन का एक ऐसा सम्प्रदाय कभी था। यदि हम इसके उग्र विचारों को प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित कल्पना की स्वच्छन्द उड़ानों और कठोर तपश्चर्यावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का फल भी मान लें, तो भी हमें मानना पड़ेगा कि इस दर्शन के सिद्धान्त एक समय कम आपत्तिजनक रहे होंगे। जिस रूप में यह अब मिलता है उससे इसके काल्पनिक-जैसा होने का आभास होता है। यदि इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता हो, तो वह हमें इसके भोगासक्ति के उपदेश में मिल जाएगा, जिसे सिखाने की जरूरत नहीं होती। चार्वाक-दर्शन का अन्य सम्प्रदायों के द्वारा मानी हुए बातों का निषेध करने में इतना अधिक प्रयत्न लगाना और भारतीय विचार-सहति में अपनी ओर से कुछ नये विचार जोड़ने में इतना कम प्रयत्न लगाना भी कुछ सन्देह पैदा करनेवाली बात है।[1]

1. देखिए, Max Muller: Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 100।

पूर्णतः निषेध कर देता है। वह न विश्व का शासन करने वाले ईश्वर को मानता है और न मनुष्य को सन्मार्ग पर चलाने वाली अन्तर्भावना को। वह मरणोत्तर अस्तित्व में विश्वास करने की बात भी नहीं सोचता, हालाँकि जहाँ तक सदाचरण का सम्बन्ध है वहाँ तक भारतीय के लिए इसमें विश्वास करने का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से भी अधिक महत्त्व है। इस प्रकार चार्वाक-दर्शन मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचार से बिलकुल हटा देता है और उसे विषय-भोग की दुनिया में केन्द्रित कर देता है। वह गहराई में रहने वाले तत्त्व की चेतना का गला घोंट देता है। फलतः यदि इस दर्शन का कोई आदर्श प्रतीत होता हो, तो वह शुद्ध और सीधे सुखवाद का आदर्श है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य इस जीवन में सुख—और वह भी सिर्फ़ अपना—प्राप्त करना है। समष्टि का सुख, यदि इसका कोई विचार किया गया हो तो, व्यष्टि के सुख से अलग कोई चीज़ नहीं माना गया है; और किसी ऐसे सामान्य शुभ की धारणा इस दर्शन में नहीं है जिससे व्यष्टि के हितों को गौण माना जा सके। चार पुरुषार्थों में से चार्वाक धर्म और मोक्ष को अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार मनुष्य के प्रयत्न के विषय केवल दो रह जाते हैं—एक काम अथवा विषय-सुख और दूसरा अर्थ जो इसकी प्राप्ति का साधन है। जिन सद्गुणों का चार्वाक अभ्यास करता है, वे या तो लोकाचार पर आधारित हैं या सांसारिक दूरदर्शिता के परिणाम हैं। चार्वाक-दर्शन केवल उपयोगिता को ही एकमात्र शुभ जानता है। दुःख को जीवन का अपरिहार्य अंग माना गया है; लेकिन यह भी कहा गया है कि इसके कारण हम अपने सुख का त्याग न करें, जो कि हमें वांछनीय लगता है और जिसकी ओर हम स्वभावतः खिंचे चले जाते हैं। "कोई भी भूसी के कारण दाने को त्याग नहीं देता।[1]" चार्वाक सुख की प्राप्ति के लिए इतना अधीर रहता है कि दुःख से बचने की वह कोशिश तक नहीं करता। बुराई के ऊपर विजय पाने के बजाय वह उससे समझौता कर लेता है। उसके मत से प्रत्येक मनुष्य को बुरे सौदे से भी अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहिए और "जब तक वह जीवित रहे तब तक उसे सुखोपभोग करते रहना चाहिए।"[2] परम्परागत उपदेश को न मानना और जिस नैतिक तथा आध्यात्मिक साधना का वह समर्थन करता है उसका परित्याग इस घोर उपयोगितावाद का, जिसका नारा 'आज सुख भोग लो, कल देखा जाएगा' है,

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 3।
2. 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्', जो वेद के इस विधान की हास्यानुकृति मालूम पड़ता है : 'यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति।'

एक अनिवार्य परिणाम है। किसी ऐसे सम्प्रदाय की तो बात सोची जा सकती है जो मोक्ष के आदर्श को न माने, पर धर्म से शून्य सम्प्रदाय की बात सोची भी नहीं जा सकती। सम्भव है कि मृत्यु अन्तिम बात हो और उसके बाद कुछ न रहे, लेकिन जीवन के एक ऐसे आदर्श में विश्वास करना, जो धर्म से शून्य हो, मनुष्य को पशु बना देना है। यह विश्वास करना कठिन लगता है कि दर्शन का एक ऐसा सम्प्रदाय कभी था। यदि हम इसके उग्र विचारों को प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित कल्पना की स्वच्छन्द उड़ानों और कठोर तपश्चर्यावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का फल भी मान लें, तो भी हमें मानना पड़ेगा कि इस दर्शन के सिद्धान्त एक समय कम आपत्तिजनक रहे होंगे। जिस रूप में यह अब मिलता है उससे इसके काल्पनिक-जैसा होने का आभास होता है। यदि इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता हो, तो वह हमें इसके भोगासक्ति के उपदेश में मिल जाएगा, जिसे सिखाने की जरूरत नहीं होती। चार्वाक-दर्शन का अन्य सम्प्रदायों के द्वारा मानी हुए बातों का निषेध करने मे इतना अधिक प्रयत्न लगाना और भारतीय विचार-संहति मे अपनी ओर से कुछ नये विचार जोड़ने में इतना कम प्रयत्न लगाना भी कुछ सन्देह पैदा करनेवाली बात है।[1]

---

1. देखिए, Max Muller: *Six Systems of Indian Philosophy*, पृ० 100।

पूर्णतः निषेध कर देता है। वह न विश्व का शासन करने वाले ईश्वर को मानता है और न मनुष्य को सन्मार्ग पर चलाने वाली अन्तर्भावना को। वह मरणोत्तर अस्तित्व में विश्वास करने की बात भी नहीं सोचता, हालाँकि जहाँ तक सदाचरण का सम्बन्ध है वहाँ तक भारतीय के लिए इसमें विश्वास करने का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से भी अधिक महत्त्व है। इस प्रकार चार्वाक-दर्शन मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचार से बिलकुल हटा देता है और उसे विषय-भोग की दुनिया में केन्द्रित कर देता है। वह गहराई में रहने वाले तत्त्व की चेतना का गला घोंट देता है। फलतः यदि इस दर्शन का कोई आदर्श प्रतीत होता हो, तो वह शुद्ध और सीधे सुखवाद का आदर्श है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य इस जीवन में सुख—और वह भी सिर्फ़ अपना—प्राप्त करना है। समष्टि का सुख, यदि इसका कोई विचार किया गया हो तो, व्यष्टि के सुख से अलग कोई चीज नहीं माना गया है; और किसी ऐसे सामान्य शुभ की धारणा इस दर्शन में नहीं है जिससे व्यष्टि के हितों को गौण माना जा सके। चार पुरुषार्थों में से चार्वाक धर्म और मोक्ष को अस्वीकार कर देता है: इस प्रकार मनुष्य के प्रयत्न के विषय केवल दो रह जाते हैं—एक काम अथवा विषय-सुख और दूसरा अर्थ जो इसकी प्राप्ति का साधन है। जिन सद्गुणों का चार्वाक अभ्यास करता है, वे या तो लोकाचार पर आधारित हैं या सांसारिक दूरदर्शिता के परिणाम हैं। चार्वाक-दर्शन केवल *उपयोगिता* को ही एकमात्र शुभ जानता है। दुःख को जीवन का अपरिहार्य अंग माना गया है; लेकिन यह भी कहा गया है कि इसके कारण हम अपने सुख का त्याग न करें, जो कि हमें वांछनीय लगता है और जिसकी ओर हम स्वभावतः खिंचे चले जाते हैं। "कोई भी भूसी के कारण दाने को त्याग नहीं देता।[1]" चार्वाक सुख की प्राप्ति के लिए इतना अधीर रहता है कि दुःख से बचने की वह कोशिश तक नहीं करता। बुराई के ऊपर विजय पाने के बजाय वह उससे समझौता कर लेता है। उसके मत से प्रत्येक मनुष्य को बुरे सौदे से भी *अधिक-से-अधिक* लाभ उठाना चाहिए और "जब तक वह जीवित रहे तब तक उसे सुखोपभोग करते रहना चाहिए।"[2] परम्परागत उपदेश को न मानना और जिस नैतिक तथा आध्यात्मिक साधना का वह समर्थन करता है उसका परित्याग इस घोर उपयोगितावाद का, जिसका नारा 'आज सुख भोग लो, *कल देखा जाएगा*' है,

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 3।
2. 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्', जो वेद के इस विधान की हास्यानुकृति मालूम पड़ता है: 'यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति।'

एक अनिवार्य परिणाम है। किसी ऐसे सम्प्रदाय की तो बात सोची जा सकती है जो मोक्ष के आदर्श को न माने, पर धर्म से शून्य सम्प्रदाय की बात सोची भी नहीं जा सकती। सम्भव है कि मृत्यु अन्तिम बात हो और उसके बाद कुछ न रहे, लेकिन जीवन के एक ऐसे आदर्श में विश्वास करना, जो धर्म से शून्य हो, मनुष्य को पशु बना देता है। यह विश्वास करना कठिन लगता है कि दर्शन का एक ऐसा सम्प्रदाय कभी था। यदि हम इसके उग्र विचारों को प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित कल्पना की स्वच्छन्द उड़ानों और कठोर तपश्चर्यावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का फल भी मान लें, तो भी हमें मानना पड़ेगा कि इस दर्शन के सिद्धान्त एक समय कम आपत्तिजनक रहे होंगे। जिस रूप में यह अब मिलता है उससे इसके काल्पनिक-जैसा होने का आभास होता है। यदि इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता हो, तो वह हमें इसके भोगासक्ति के उपदेश में मिल जाएगा, जिसे सिखाने की जरूरत नहीं होती। चार्वाक-दर्शन का अन्य सम्प्रदायों के द्वारा मानी हुए बातों का निषेध करने में इतना अधिक प्रयत्न लगाना और भारतीय विचार-संहति में अपनी ओर से कुछ नये विचार जोड़ने में इतना कम प्रयत्न लगाना भी कुछ सन्देह पैदा करनेवाली बात है।[1]

---

1. देखिए, Max Muller : Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 100।

अध्याय 9

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय

हम जानते हैं कि प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में कुछ अस्पष्टता थी। इस अस्पष्टता के साथ इस धर्म के न केवल अपनी जन्मभूमि के अन्दर बल्कि विदेशों में भी व्यापक और द्रुत प्रसार ने मिलकर कालान्तर में इसके अनुयायियों में बड़े मतभेद पैदा कर दिए। बौद्ध-परम्परा में अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है। कहते हैं कि अकेले भारत के अन्दर उनकी संख्या अठारह तक पहुँच गई थी।[1] लेकिन हम यहाँ केवल उनकी ही चर्चा करेंगे जो उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, विशेष रूप से उनकी जिनका हिन्दू और जैन-दर्शन के ग्रन्थों में समान रूप से उल्लेख हुआ है और इसलिए जिनको भारतीय विचारधारा में, जिसके विकास को हम यहाँ दिखा रहे हैं, विशेष महत्त्व के माना जा सकता है। उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत जितने मत हैं उनको मोटे तौर से दो वर्गों में रखा जा सकता है, जो हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन नामों की विभिन्न व्याख्याएँ दी जाती हैं. परन्तु सबसे सामान्य यह है कि 'हीनयान' निर्वाण का छोटा मार्ग है और 'महायान' बड़ा मार्ग है। 'हीन' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि ये नाम महायान के अनुयायियों के द्वारा रखे गए है। इनमें से हीनयान का जन्म पहले हुआ; परन्तु इनमें अन्तर तिथि मात्र का ही नहीं है। इनके दार्शनिक और नैतिक दृष्टिकोणों में भी बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ, हीनयान के अनुयायी बाह्य वस्तुओं की सत्ता में विश्वास करते हैं—सत्ता की उनकी धारणा चाहे जो हो—और इस वजह से उन्हें हिन्दू-ग्रन्थों में सर्वास्तित्ववादिन्[2] कहा गया है। महायान के अनुयायी इसका विपरीत मत अपनाते हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि हीनयान मनुष्य को संसार के बन्धन से अपने को छुड़ाने का उपाय बताकर ही सन्तोष कर लेता है, जबकि महायान यह उपदेश देता है कि बोधिप्राप्त पुरुष को निरन्तर जगत् के आध्यात्मिक कल्याण

---

1. Buddhistic Philosophy, पृ० 149-50।
2. देखिए, वेदान्त सूत्र 2.2.18 पर शंकर का भाष्य। बौद्ध-परम्परा में 'सर्वास्तिवादिन्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

के लिए काम करते रहना चाहिए। बौद्ध-धर्म के इन दो रूपों के मध्य आवश्यक बातों में ऐसे मौलिक अन्तरों को देखकर कुछ लोगों ने यह राय प्रकट की है कि महायान बाहरी विचारधारा से प्रभावित है[1]; और यह इस कारण उचित भी लग सकता है कि बौद्ध-धर्म की इस विकासावस्था के निर्माणात्मक वर्षों में भारत पर विदेशियों के आक्रमण हुए थे। इस ऐतिहासिक प्रश्न के पक्ष-विपक्ष की चर्चा में पड़े बिना हम यह कह सकते हैं कि महायान-धर्म के विशेष सिद्धान्तों को प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के अस्फुट विचारों से विकसित दिखाना बिलकुल भी कठिन नहीं है। महायान के प्रवक्ताओं का स्वयं भी यही मत था। उन्होंने कहा कि बुद्ध के उपदेश में निहित सम्पूर्ण सत्य को उन्हीं का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, और हीनयान के सम्प्रदायों में पाए जाने वाले रूपान्तरों का कारण उन्होंने यह बताया है कि या तो बुद्ध ने कम योग्यतावाले शिष्यों की बुद्धि को देखते हुए अपने उपदेश में कुछ परिवर्तन कर दिए या वे शिष्य ही उनके उपदेश के पूरे अर्थ को पकड़ने में असमर्थ रहे।[2] सचाई जो भी हो, बौद्ध-धर्म के इन दोनों ही रूपों में कई महत्त्वपूर्ण नवीनताएँ समान रूप से दीख पड़ती हैं और इनमें से किसी को भी बुद्ध के मूल उपदेश को हू-ब-हू प्रस्तुत करनेवाला नहीं माना जा सकता। इस अध्याय में हम केवल नवीनताओं की ही चर्चा करेंगे और जिन बातों का प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के अध्याय में पहले ही उल्लेख हो चुका है उनकी हम दुबारा चर्चा नहीं करेंगे।

इस काल के अनेक बौद्ध-ग्रन्थ संस्कृत में लिखित हैं। उनमें से कुछ शायद मूल पालि-ग्रन्थों के रूपान्तर हैं, जिससे प्रकट होता है कि बौद्ध-धर्म ने धीरे-धीरे अधिक पंडिताऊ रूप अपना लिया था, हालाँकि इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि एक लोकप्रिय धर्म के रूप में इसका अब अस्तित्व समाप्त हो गया था। जैसा कि हम देख चुके हैं, बुद्ध ने अपने उपदेश के व्यावहारिक परिणामों के ऊपर बल देना अधिक पसन्द किया था और उसमें निहित सिद्धान्त को उपेक्षित छोड़ दिया था। लेकिन अब सिद्धान्त में रुचि इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी-जैसी तीव्रता दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास में अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। इस बात का कारण वह तीव्र पारस्परिक विरोध भी कम नहीं है जो धीरे-धीरे बौद्धों और उनके हिन्दू आलोचकों के मध्य पैदा हो गया था—यह

1. देखिए, V. A. Smith: Early History of India, पृ० 266 (तीसरा संस्करण)।
2. देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.18 पर शांकर भाष्य; Buddhistic Philosophy पृ० 216-221।

पारस्परिक विरोध ऐसा था जिससे पक्ष और विपक्ष दोनों ही का लाभ हुआ और जिसके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन इतना अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण हो गया जितना अन्यथा न हुआ होता। दार्शनिक सिद्धान्त के सब-के-सब विभिन्न रूप—यथार्थवादी भी और प्रत्ययवादी भी—स्वयं बौद्ध-दर्शन के अन्दर पाए जाते हैं; और एक तरह से यह कहा जा सकता है कि भारत में दर्शन की दो बार आवृत्ति हुई—एक बार विविध हिन्दू-दर्शनों में और दूसरी बार बौद्ध-दर्शन के विविध सम्प्रदायों में। बौद्ध-सम्प्रदायों को जो प्रमुखता मिल गई थी उसका धीरे-धीरे मुख्यतः जोर पकड़ती हुई हिन्दू विचारधारा के दबाव से ह्रास हो गया। जितना संस्कृत-साहित्य नष्ट होने से बच गया है उससे ज्ञात होता है कि सबसे पहला बड़ा आक्रमण बौद्ध-धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष पर कुमारिल भट्ट (700 ई०) की ओर से हुआ और फिर शंकर तथा अन्य आचार्यों के द्वारा ऐसे आक्रमण होते ही गए। इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म का भारतवासियों के मन पर प्रभाव सदा के लिए समाप्त हो गया। निरी गौण बारीकियों पर वाद-विवाद कुछ अधिक समय तक चलते रहे; परन्तु बारहवीं शताब्दी के बाद विभिन्न हिन्दू-दर्शनों में बौद्ध-दर्शन की चर्चाएँ अधिकांशतः शास्त्रीय और बुद्धि-विलास मात्र बनकर रह गईं। उस काल के बाद का इस महान् धर्म का इतिहास अब हमें भारत के बाहर तिब्बत, चीन और जापान में ढूँढना पड़ता है।

बौद्ध-धर्म की इस उत्तरकालीन अवस्था से सम्बन्धित साहित्य, जिसका निर्माण पहली या दूसरी शताब्दी ईसवी में शुरू हो गया था, अति विशाल है। परन्तु यहाँ हम उसके केवल एक छोटे-से भाग की ही चर्चा कर सकेंगे। अनुषंगतः यह भी बता दिया जाना चाहिए कि उसके अनेक संस्कृत-ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं।[1] यहाँ हम केवल चार सम्प्रदायों तक ही अपनी चर्चा को सीमित रखेंगे (पृ० 183)। उनमें से वैभाषिक के मुख्य प्रवक्ता दिङ्[1]नाग[2] और धर्मकीर्ति हुए। दिङ्नाग का काल प्रायः 500 ई० के आस-पास माना जाता है। उसके प्रमाणसमुच्चयादि ग्रन्थ अब संस्कृत में नहीं मिलते। धर्मकीर्ति को दिङ्नाग का टीकाकार और शंकर का पूर्ववर्ती माना जाता है। उसका तर्कशास्त्र पर लिखा हुआ ग्रन्थ न्यायबिन्दु धर्मोत्तर की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका के साथ मिलता है। हिन्दू दर्शनकारों के ग्रन्थों में इन दोनों विचारकों के ग्रन्थों के

1. सौभाग्य से कुछ लुप्त ग्रन्थ चीनी और तिब्बती भाषाओं में हाल में अनुवादों के रूप में मिल गए हैं।
2. चित्सुख की तत्त्वप्रदीपिका पर नयनप्रसादिनी-टीका (निर्णयसागर प्रेस), पृ० 244 देखिए : वैभाषिकानाम् सूत्रकृतो दिङ्नागस्य।

अनेक उद्धरण मिलते हैं। प्रसिद्ध है कि कुमारलब्ध (200 ई०)[1] सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक था। वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों के बीच की विभाजक रेखा को खोज पाना आसान नहीं है। योगाचार[2] सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य असंग और वसुबन्धु थे, जो भाई थे और शायद तीसरी शताब्दी ईसवी में हुए थे। लगता है कि वसुबन्धु पहले सौत्रान्तिक था और बाद में अपने भाई के प्रभाव से योगाचार हो गया था। उसका ग्रन्थ 'अभिधमकोश', जिस पर स्वयं उसी ने टीका भी लिखी है और जो संस्कृत में अब केवल आंशिक रूप में मिलता है, न केवल इस सम्प्रदाय की बल्कि सम्पूर्ण बौद्ध-दर्शन की जानकारी देनेवाला बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ है। "इसमें तत्त्वमीमासा, मनोविज्ञान, सृष्टि-मीमांसा, निर्वाण-मीमांसा और बोधिसत्त्व-सिद्धान्त, सबका पूरा विवेचन है, तथा इसके विषय का एक बहुत बड़ा अंश सब बौद्धों को मान्य है।"[3] इस सम्प्रदाय का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'लंकावतार' है। इसके इस नाम का कारण यह बताया जाता है कि इसमें जो उपदेश है वह बुद्ध ने लंका के राक्षस-राजा रावण को दिया था। अन्तिम सम्प्रदाय, माध्यमिक, का प्रमुख प्रवक्ता प्रसिद्ध नागार्जुन था, जो शायद अश्वघोष[4] (100 ई०) का शिष्य था। अश्वघोष सम्राट् कनिष्क का गुरु था और कालिदास के बराबर प्रसिद्ध संस्कृत-कवि और नाटककार था। नागार्जुन की मूल-मध्यम-कारिका, जिस पर लिखी हुई अनेक टीकाओं में चन्द्रकीर्ति की टीका सर्वप्रसिद्ध है, प्रकाशित हो चुकी है और संस्कृत के पूरे दर्शन-साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। नागार्जुन के एक शिष्य आर्यदेव का शतशास्त्र या चतुःशतक माध्यमिक सम्प्रदाय का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

: 1 :

चार्वाक अनुमान को इस आधार पर प्रमाण नहीं मानता कि जिस व्याप्ति से वह निकाला जाता है उसकी सत्यता सिद्ध नहीं होती। बौद्ध इस मत के विरुद्ध प्रबल तर्क देता है। वह निश्चय ही व्याप्ति अर्थात् आगमनिक सम्बन्ध के हिन्दू तर्कशास्त्रियों को मान्य सभी प्रकारों को स्वीकार नहीं करता; परन्तु वह स्वयं व्याप्ति की धारणा का चार्वाक की तरह बहिष्कार भी नहीं करता। बौद्ध के मतानुसार दो वस्तुओं या घटनाओं को जोड़ने वाले सामान्य कथन को तब सत्य मानना होगा जब वह सबके द्वारा स्वीकृत और दैनिक

1. Buddhistic Philosophy, पृ० 156 टिप्पणी।
2. वही, पृ० 155, 230।
3. वही, पृ० 156।
4. वही, पृ० 229।

व्यवहार के आधारभूत किसी नियम पर आधारित होता है। इस तरह से समर्थन-प्राप्त कथन को चुनौती देना व्यावहारिक जीवन की बुनियाद को ही चुनौती देना होगा, और स्पष्टतः किसी वादी का यह स्थिति अपनाना अपने ही लिए अनिष्टकारी होगा। इस सम्बन्ध में बौद्ध ने यह लोकोक्ति उद्धृत की है[1] : "व्याघातावधिराशंका", जिसका अर्थ यह है कि हम अनन्त काल तक शंका करते नहीं रह सकते, बल्कि जब शंका करते-करते विचार में आत्म-व्याघात होने लगे या कोई व्यावहारिक असंगति पैदा हो जाए, तब हमें शंका का त्याग कर देना होगा। ऐसी वैध-व्याप्तियाँ दो प्रकार की हैं—(1) कारणतामूलक व्याप्ति : हम धूम को सदैव अग्नि से सम्बन्धित कर सकते हैं। यदि कोई धूम और अग्नि के सम्बन्ध की सत्यता को चुनौती दे, तो हम इसके आधारभूत कारणता के नियम की ओर संकेत कर सकते हैं। धूम कार्य है और अग्नि कारण; और कोई भी यह नहीं कहेगा कि कोई कार्य अपने कारण के बिना उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि ऐसा करने से जीवन का सम्पूर्ण कार्यकलाप लगभग अर्थशून्य हो जाएगा। (2) तादात्म्यमूलक व्याप्ति[2] : यदि हम जानते हैं कि कोई वस्तु शिंशपा है, तो हम जानते हैं कि वह एक पेड़ है। एक पेड़ शिंशपा हो या न हो, पर शिंशपा अनिवार्यतः एक पेड़ ही होगा; अन्यथा हम तादात्म्य के नियम को चुनौती देंगे और यह स्थिति उसी तरह अनिष्टकारी होगी जिस तरह कारणता के नियम को चुनौती देना। जाति और उपजाति के इस सतत सम्बन्ध को वैध अनुमान का आधार बनाया जा सकता है, बशर्ते हम यह ध्यान रखें कि जिसका अनुमान किया जाए वह उससे कम व्यापक न हो जिससे उसका अनुमान किया जाए, क्योंकि शिंशपा का एक पेड़ होने का अनुमान करना तो ठीक है लेकिन पेड़ का शिंशपा होने का अनुमान करना ग़लत है। यहाँ यह देखने में आएगा कि विधेय उद्देश्य के विश्लेषण से प्राप्त होता है और निष्कर्ष यद्यपि सारहीन-सा और इसलिए अधिक व्यावहारिक महत्त्व का नहीं मालूम पड़ता, तथापि अनिवार्यतः सत्य है। अतः बौद्ध के मत से अनुक्रममूलक सम्बन्धों में केवल कारण और कार्य का सम्बन्ध (तदुत्पत्ति) ही आगमनिक सामान्यीकरण (व्याप्ति) का आधार बनाया जा सकता है, और सहास्तित्वमूलक सम्बन्धों में केवल तादात्म्य के सम्बन्ध को

1. देखिए, कुसुमांजलि, 3, श्लोक 7।
2. इसका कथन केवल सामान्य दृष्टिकोण से किया गया मानना चाहिए। इससे बौद्ध को इस मत से बँधा हुआ नहीं समझना चाहिए कि दो या अधिक वस्तुओं में कोई समान लक्षण हो सकते हैं।

ही। उदाहरणार्थ, वह 'फटे खुरवाले सब पशु सींगवाले होते हैं', इस तर्कवाक्य में विश्वास नहीं करेगा, हालांकि हमारी जानकारी का जहाँ तक सम्बन्ध है, फटे खुर और सींग का नियत साहचर्य है। कारण यह है कि ऊपर के उदाहरणों की तरह इस उदाहरण का कोई ऐसा आधारभूत सामान्य नियम नहीं बताया जा सकता जिसकी वैधता असंदिग्ध हो। फटे खुरों का सींगों से साहचर्य क्यों माना जाए ? इस सवाल का कोई पक्का जवाब नहीं दिया जा सकता और इसलिए इसके सम्बन्ध मे पैदा होने वाले सन्देह को मिटाया नही जा सकता। दूसरे शब्दों में, बौद्ध प्रकृति की एकरूपता के सिद्धान्त को केवल कारण-कार्य के अनुक्रम और अनिवार्य सहास्तित्व के दो क्षेत्रों में ही स्वीकार करता है। इस प्रकार व्याप्ति के क्षेत्र को सीमित करके वह न केवल दो वस्तुओं का नियत साहचर्य होने पर ज़ोर देता है, बल्कि उनके सम्बन्ध मे आन्तरिक अनिवार्यता के होने पर भी। बाद में हम देखेंगे कि कुछ भारतीय तर्कशास्त्री इन दो शर्तों में से केवल पहली से ही सन्तुष्ट रहे।

यह माना जा सकता है कि विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में इस बात के बारे में प्रायः ऐकमत्य है, पर इसके समर्थन में कोई स्पष्ट कथन उद्धृत नहीं किया जा सकता। जो भी हो, सभी बौद्ध अनुमान को प्रमाण मानते हैं, हालांकि, जैसा हम आगे देखेंगे, उनके अनुसार इसका मूल्य अस्थायी मात्र है। लेकिन प्रत्यक्ष के बारे में उनका आपस में तीव्र मतभेद है। वास्तव में हिन्दू दर्शनकारों के अनुसार बौद्ध दर्शन का चार सम्प्रदायों में विभाजन—हिन्दू दर्शनकारों को केवल ये चार सम्प्रदाय ही स्वीकार्य प्रतीत होते हैं और यहाँ हम भी केवल इन्हीं की चर्चा कर रहे हैं—मुख्यतः इसी मतभेद पर आधारित है। इस मतभेद को स्पष्ट करने के लिए पहले हम उक्त चार सम्प्रदायों को वास्तववादी और प्रत्ययवादी, इन दो वर्गों मे रखेंगे। वास्तववादी सम्प्रदाय हीनयान के हैं और ये वस्तुओं के अस्तित्व को ज्ञानबाह्य और ज्ञाननिरपेक्ष मानते हैं, यद्यपि बौद्ध-दर्शन के सामान्य अभ्युपगम के अनुसार वस्तुएँ क्षणिक हैं। प्रत्ययवादी सम्प्रदाय महायान के हैं और बाह्यार्थों का बिलकुल निषेध करते हैं। वास्तववादी सम्प्रदायों में से वैभाषिक[1] यह मानते हैं कि वस्तुओं का अव्यवहित प्रत्यक्ष होता है; और सौत्रान्तिक यह मानते हैं कि उनका ज्ञान केवल व्यवहित ही होता

1. विभाषा अभिधर्म-ग्रन्थों की टीका है, और वैभाषिक नाम इसलिए पड़ा कि इस सम्प्रदाय के अनुयायी इस टीका का प्रामाण्य अन्तिम मानते हैं। सौत्रान्तिकों का इसके विपरीत यह विचार था कि विभाषा मनुष्य-रचित होने से दोषयुक्त हो सकती है। उनके मत से बुद्ध ने अभिधर्म के सिद्धान्तों का कुछ सूत्रों या सूत्रान्तों में उपदेश दिया था

है, क्योंकि वस्तुओं के क्षणिकत्व के सिद्धान्त के अनुसार उनका प्रत्यक्ष के समय वर्तमान रहना असम्भव है। यदि वे वर्तमान रहती हैं, तो कम-से-कम दो क्षणों तक उनका अस्तित्व मानना पड़ेगा—एक क्षण वह जिसमें वे प्रत्यक्ष के कारण या उद्दीपन का काम करेंगी और दूसरा क्षण वह जिसमें उनका वस्तुत: प्रत्यक्ष होगा। यदि वस्तुएँ सचमुच क्षणिक हैं, तो केवल भूतकाल की वस्तु का ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। अतः जिस काल में प्रत्यक्ष होता है, उस काल में बाहर वर्तमान केवल सम्बन्धित वस्तु-सन्तति का वही सदस्य होता है जो प्रत्यक्ष के कारण का काम करनेवाले सदस्य का अनुवर्ती होता है। लेकिन पूर्ववर्ती सदस्य लुप्त होने के पहले अपना संस्कार प्रत्यक्षकर्ता चित्त के ऊपर छोड़ जाता है, और इस संस्कार या आकार से ही हम सम्बन्धित वस्तु के पिछले क्षण के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। तदनुसार, प्रत्यक्ष से जिसका बोध होता है उसका वस्तुतः अस्तित्व होता है, लेकिन उसका बोध उसके अस्तित्व के क्षण में नहीं होता। यह व्याख्या आधुनिक विज्ञान की उस व्याख्या के सदृश है जो वह, उदाहरण के लिए, हमें एक तारे के दिखाई देने की देता है। क्योंकि तारे हमसे बहुत दूर हैं, इसलिए किसी तारे से आनेवाली प्रकाश की किरणें हम तक पहुँचने में काफी अधिक समय लेती हैं। अतः हम जो देखते हैं वह प्रत्यक्ष के क्षण का तारा नहीं होता, बल्कि उस क्षण का तारा होता है जब उससे किरणें निकलकर हमारी ओर आने लगी थीं। इस प्रकार तथाकथित प्रत्यक्ष वस्तुतः अतीत का होता है और वह अनुमान-जैसा होता है। सम्भव है कि किरणों के हम तक पहुँचने की अवधि में तारा नष्ट हो चुका हो। सौत्रान्तिक के अनुसार सब प्रत्यक्ष ऐसे ही होते हैं। हमें वस्तु का नहीं, बल्कि उसके संस्कार का अव्यवहित ज्ञान होता है और इस संस्कार के द्वारा वस्तु का हमें व्यवहित ज्ञान होता है। आधुनिक शब्दावली में प्रत्यक्ष के बारे में सौत्रान्तिक मत प्रतिनिधि-प्रत्ययों का सिद्धान्त है।

वैभाषिक वस्तुओं का अव्यवहित ज्ञान मानता है और दोनों के बीच के मानसिक माध्यम को हटा देता है। उसका मत शुरू के बौद्ध-ग्रन्थों में पाए जाने वाले प्रत्यक्ष के इस वर्णन से एकता रखता है कि वह दो लकड़ियों को रगड़ने से उत्पन्न अग्नि की तरह है,[1] जिससे उसकी सीधी उत्पत्ति उपलक्षित होती है।

और इसलिए केवल ये ही प्रमाण हैं। इसीलिए उनका नाम सौत्रान्तिक हुआ। देखिए *Encyclopaedia of Religion and Ethics*: जिल्द 11, 'Sautrantika'; तथा Buddhistic Philosophy, पृ० 155।

1. Buddhistic Philosophy, पृ० 53।

सौत्रान्तिक के विरुद्ध मुख्य आक्षेप उसका यह है कि उसका मत अनुभव के बिलकुल विपरीत है। अनुभव कहता है कि जिस वस्तु का हम प्रत्यक्ष करते है, वह प्रत्यक्ष के समय विद्यमान रहती है। वैभाषिक का यह भी कहना है कि यदि प्रत्यक्ष हटा दिया जाता है, तो अनुमान भी हट जाएगा। अनुमान का आधार व्याप्ति होता है और व्याप्ति अवलोकन पर निर्भर होती है। इसलिए स्वयं अवलोकन को हम अनुमान का एक रूप नहीं बना सकते। वैभाषिक का यह तर्क सही लक्ष्य से कुछ भटका हुआ लगता है, क्योंकि सौत्रान्तिक का मत यह प्रतीत नहीं होता कि बाह्य वस्तु का अस्तित्व सचमुच अनुमान का विषय है, हालांकि उसे 'अनुमेय' कहा गया है।[1] इस कथन का कि बाह्य वस्तु का व्यवहित ज्ञान होता है, केवल यह अर्थ है कि क्षणिकवाद से सगति रखते हुए प्रत्यक्ष की व्याख्या करने के लिए वस्तु को एक प्राक्कल्पना के रूप मे मान लिया जाता है। समस्या को सुलझाने का यह तरीका सौत्रान्तिक मत की एक कमजोरी होने के बजाय यह प्रकट करता है कि सौत्रान्तिक कितना अधिक सतर्क है। इसके अलावा, वैभाषिक इस बात को मान लेता प्रतीत होता है कि वस्तु जिस रूप में दिखाई देती है उसे प्रत्यक्ष की क्रिया का बिलकुल समसामयिक होना चाहिए। लेकिन वास्तविकता यह है कि दोनों के बीच काल का कम-से-कम थोड़ा-सा व्यवधान अवश्य होना चाहिए। कारण यह है कि यदि उदाहरण के रूप में केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष की बात ली जाए, तो प्रकाश को आँखों तक पहुँचने में और एक तन्त्रिका-आवेग के रूप में आँखों से दृष्टि-तन्त्रिका के मार्ग से मस्तिष्क तक पहुँचने में कुछ समय लगता है।

वैभाषिक के द्वारा सौत्रान्तिक के मत की आलोचना से यह सिद्ध नहीं होता कि वह प्रत्यक्ष से ज्ञात प्रत्येक चीज को सत्य मान लेता है और वस्तुएँ ऊपर से जैसी दिखाई देती हैं वैसी ही उन्हें स्वीकार कर लेता है। सौत्रान्तिक की तरह वह भी द्रव्य और गुण के भेद को मानने से इन्कार करता है। उसके मत से भी कोई वस्तु नहीं है जिसके बारे में किसी बात का विधान किया जा सके। अतः सब प्रत्यक्षमूलक निर्णय, जिनमें यह भेद पाया जाता है, निश्चित रूप से ग़लत है। जब हम कुछ देखते हैं और कहते हैं कि 'यह नीला है', तब हम 'नीलापन' को 'यह' का विधेय बताते हैं। यह प्रत्यक्ष का हमारा परिचित रूप है और सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों का मत यह है कि यह ग़लत होता है। परन्तु यह बिलकुल ही ग़लत होता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसमें सत्य का एक अंश होता है जिसे 'स्वलक्षण' कहते

1. देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 283-4, श्लोक 51 (टीका)।

कल्पनाओं का आरोप करता है, वे, जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में देखेंगे, हूबहू वैसी नहीं हैं जैसी कांट के मत में हैं।

बौद्ध प्रत्ययवाद के भी दो प्रकार है : उनमे से पहला शुद्ध मनस्तन्त्रवाद है; और सौत्रान्तिक ने प्रत्यक्ष की जो जटिल व्याख्या दी उसका ही सीधा परिणाम इसे माना जा सकता है। इस मत के अनुयायी योगाचार कहलाते हैं। इस नाम का अर्थ बहुत स्पष्ट नही है।[1] पिछले दो सम्प्रदायो के अनुसार तो ज्ञान वहाँ तक सही होता है जहाँ तक उसमे स्वलक्षण रहता है और उसमें केवल कल्पना के अंश ही मिथ्या होते है, लेकिन योगाचार के अनुसार एकमात्र सत्य ज्ञान है और उसकी विषयवस्तु पूरी-की-पूरी मिथ्या है। वस्तुतः अनुभव में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, जो तीन घटक सामान्यतः समाविष्ट माने जाते हैं, उनमे से योगाचार केवल अन्तिम को ही सत्य मानता है। न तो ज्ञाता का अस्तित्व है और न ज्ञेय वस्तु का, बल्कि केवल प्रत्ययों की सन्तति का ही अस्तित्व है। ज्ञान किसी विशेष क्षण में जो विशेष रूप ग्रहण करता है वह, इस मत के अनुसार, किसी बाह्य वस्तु की उपस्थिति से निर्धारित नही होता, बल्कि पिछले अनुभव से निर्धारित होता है। कहने का मतलब यह है कि उद्दीपन सदैव अन्दर रहता है, बाहर से कदापि नही आता। ज्ञान का आकार कभी बाहर विद्यमान वस्तुओं के ऊपर निर्भर नही होता, बल्कि पिछले अनुभव के छोड़े हुए संस्कार (वासना) से प्राप्त होता है। पिछले अनुभव का कारण एक अन्य संस्कार होता है, उसका भी कारण एक और पीछे का संस्कार होता है, और इस प्रकार एक अनादि सन्तान अनन्त तक चलती है। यह ध्यान देने की बात है कि इस सन्तान की किसी भी अवस्था-विशेष का कारण कोई बाह्य तत्त्व नही होता। दूसरे शब्दों में, विचार अपने अलावा किसी अन्य चीज की ओर संकेत नही करते। क्योंकि योगाचार इन विचारों ('विज्ञानों') के अलावा किसी चीज को सत्य नहीं मानता, इसलिए उसे विज्ञानवादी भी कहा जाता है।

यहाँ उन मुख्य तर्कों में से कुछ का उल्लेख कर देना चाहिए जो इस उग्र मत के समर्थन में दिये गए हैं।[2] पहला तर्क स्वप्नों पर आधारित है। स्वप्नों में अनुभव बाह्य वस्तुओं के बिना होता है और उनमें आन्तरिक विचार बाह्य वस्तुएँ प्रतीत होते है। दूसरा तर्क अन्य बौद्धों के साथ ही योगाचार की

1. चीनी भाषा में इसका जो अनुवाद मिलता है उसके अनुसार मूल संस्कृत रूप 'योगाचार्य' है। देखिए, Buddhistic Philosophy, पृ० 243, टिप्पणी।
2. देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.28 पर शंकर का भाष्य।

हैं, जो कि ऊपर के उदाहरण में नीला रंग है। स्वलक्षण विकल्पों से बिलकुल अछूता विशेष है और प्रत्यक्ष की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञात माना जाता है। इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष[1] कहते हैं, जिसे शुद्ध संवेदन माना जा सकता है। इसमें मन निष्क्रिय रहता है; लेकिन सविकल्पक प्रत्यक्ष की अगली अवस्था में वह सक्रिय हो जाता है, जिससे स्वलक्षण में मन अपनी ओर से कुछ बातें जोड़ देता है और फलतः उसमें अस्पष्टता आ जाती है। इस प्रकार सामान्य प्रत्यक्षानुभव केवल वहीं तक सही होता है जहाँ तक उसमें स्वलक्षण रहता है। जो कुछ स्वलक्षण के साथ जुड़ा होता है—सारे प्रत्ययमूलक अंश, जैसे गोत्व इत्यादि जातियाँ और श्वेतत्व इत्यादि गुण, जिन्हें सामान्यलक्षण कहा गया है—वह सब मन के द्वारा कल्पित होता है और उसे सद्वस्तु नहीं मानना चाहिए।[2] विशेष का ही अस्तित्व है, सामान्य का नहीं। सामान्य वस्तुतः विशेष से उसी तरह असम्बन्धित होता है जिस तरह वह नाम या शब्द जिससे हम उसे पुकारते हैं। सामान्यलक्षण एक कामचलाऊ कल्पना से, विचार-प्रक्रिया में एक सुविधा लानेवाले साधन से, अधिक कुछ नहीं है। इस प्रकार जैसे सौत्रान्तिक का वैसे ही वैभाषिक का वास्तववाद भी स्वलक्षण के अलावा अन्य किसी चीज की सत्ता नहीं मानता। लेकिन अन्तर यह है कि वैभाषिक स्वलक्षण का अव्यवहित ज्ञान मानता है जबकि सौत्रान्तिक उसका व्यवहित ज्ञान मानता है। दोनों समान रूप से प्रत्यक्षकर्ता मन के रचनात्मक पक्ष को मानते हैं, जिसके फलस्वरूप अनुभव में वस्तु का रूप बहुत अधिक बदल जाता है। पाश्चात्य दर्शन के जानकार को इस मत का कांट के मत से स्पष्टतः सादृश्य मालूम पड़ेगा। कांट की तरह बौद्ध वास्तववादी भी एक सद्वस्तु (स्वलक्षण) मानता है, और प्रत्यक्ष में जैसी वह प्रकट होती है उसे मन के द्वारा उस पर अपनी कल्पना[3] के आरोप किये जाने का फल मानता है। फिर भी दोनों के मत बिलकुल एक नहीं हैं, क्योंकि बौद्ध यह मानता है कि स्वलक्षण का ज्ञान होता है, चाहे व्यवहित रूप से होता हो, चाहे अव्यवहित रूप से; और इसलिए वह कांट के 'थिंग-इन-इटसेल्फ' की तरह अज्ञेय नहीं है। वास्तविकता न केवल दत्त है बल्कि ज्ञात भी है। एक और बात यह भी है कि मन सद्वस्तु पर जिन

---

1. इन्हें क्रमशः 'अध्यवसाय' और 'ग्रहण' कहा जाता है (देखिए, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 22)। इन नामों से प्रकट होता है कि पहला एक निर्णय है और दूसरा शुद्ध संवेदन।
2. देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 93 और 303।
3. कल्पना हि बुद्धिविरोधः —श्लोकवार्तिक, पृ० 306 (टीका)।

कल्पनाओं का आरोप करता है, वे, जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में देखेंगे, हूबहू वैसी नहीं हैं जैसी कांट के मत में हैं।

बौद्ध प्रत्ययवाद के भी दो प्रकार हैं : उनमें से पहला शुद्ध मनस्तन्त्रवाद है; और सौत्रान्तिक ने प्रत्यक्ष की जो जटिल व्याख्या दी उसका ही सीधा परिणाम इसे माना जा सकता है। इस मत के अनुयायी योगाचार कहलाते हैं। इस नाम का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है।[1] पिछले दो सम्प्रदायों के अनुसार तो ज्ञान वहाँ तक सही होता है जहाँ तक उसमें स्वलक्षण रहता है और उसमें केवल कल्पना के अंश ही मिथ्या होते हैं, लेकिन योगाचार के अनुसार एकमात्र सत्य ज्ञान है और उसकी विषयवस्तु पूरी-की-पूरी मिथ्या है। वस्तुतः अनुभव में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, जो तीन घटक सामान्यतः समाविष्ट माने जाते हैं, उनमें से योगाचार केवल अन्तिम को ही सत्य मानता है। न तो ज्ञाता का अस्तित्व है और न ज्ञेय वस्तु का, बल्कि केवल प्रत्ययों की सन्तति का ही अस्तित्व है। ज्ञान किसी विशेष क्षण में जो विशेष रूप ग्रहण करता है वह, इस मत के अनुसार, किसी बाह्य वस्तु की उपस्थिति से निर्धारित नहीं होता, बल्कि पिछले अनुभव से निर्धारित होता है। कहने का मतलब यह है कि उद्दीपन सदैव अन्दर रहता है, बाहर से कदापि नहीं आता। ज्ञान का आकार कभी बाहर विद्यमान वस्तुओं के ऊपर निर्भर नहीं होता, बल्कि पिछले अनुभव के छोड़े हुए संस्कार (वासना) से प्राप्त होता है। पिछले अनुभव का कारण एक अन्य संस्कार होता है, उसका भी कारण एक और पीछे का संस्कार होता है, और इस प्रकार एक अनादि सन्तान अनन्त तक चलती है। यह ध्यान देने की बात है कि इस सन्तान की किसी भी अवस्था-विशेष का कारण कोई बाह्य तत्त्व नहीं होता। दूसरे शब्दों में, विचार अपने अलावा किसी अन्य चीज की ओर संकेत नहीं करते। क्योंकि योगाचार इन विचारों ('विज्ञानों') के अलावा किसी चीज को सत्य नहीं मानता, इसलिए उसे विज्ञानवादी भी कहा जाता है।

यहाँ उन मुख्य तर्कों में से कुछ का उल्लेख कर देना चाहिए जो इस उग्र मत के समर्थन में दिये गए हैं।[2] पहला तर्क स्वप्नों पर आधारित है। स्वप्नों में अनुभव बाह्य वस्तुओं के बिना होता है और उनमें आन्तरिक विचार बाह्य वस्तुएँ प्रतीत होते हैं। दूसरा तर्क अन्य बौद्धों के साथ ही योगाचार की

1. चीनी भाषा में इसका जो अनुवाद मिलता है उसके अनुसार मूल संस्कृत रूप 'योगाचार्य' है। देखिए, Buddhistic Philosophy, पृ० 243, टिप्पणी।
2. देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.28 पर शंकर का भाष्य।

भी इस मान्यता पर आधारित है कि ज्ञान स्वतःज्ञात होता है। स्वसंवेद्य ज्ञान में हमें एक ऐसा उदाहरण मिलता है जिसमें ज्ञात और ज्ञाता का अभेद होता है। योगाचार का तर्क यह है कि यही बात सब अनुभवों पर लागू मानी जा सकती है, क्योंकि जो व्याख्या एक उदाहरण में अनुचित नहीं है, उसे दूसरे उदाहरण में अनुचित मानने का कोई कारण नहीं है। घट-ज्ञान में भी ज्ञान और ज्ञात वस्तु का अभेद माना जा सकता है। इस प्रकार सारा ज्ञान स्वज्ञान मात्र होता है और ज्ञान तथा उसके विषय में जो अन्तर मालूम पड़ता है वह उसी तरह एक भ्रम है जिस तरह एक चन्द्रमा का दो दिखाई पड़ना। योगाचार अपने मत के समर्थन में एक तीसरा तर्क सहोपलम्भ-नियम के आधार पर देता है। यह ज्ञान और उसके विषय का सम्बन्ध है। विचार और वस्तुओं का सदैव एक साथ अनुभव होता है; और इनमें से कोई भी दूसरे के बिना नहीं दिखाई देता। फलत. उनको एक-दूसरे से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएँ मानना अधिक अच्छा है। अन्तिम तर्क यह दिया जाता है कि तथाकथित वस्तुएँ अलग-अलग लोगों पर अलग-अलग प्रभाव डालती हैं और एक ही व्यक्ति पर भी अलग-अलग समयों में अलग-अलग प्रभाव डालती हैं। यह बात वस्तुओं को सत्य मानने पर समझ में नहीं आती, क्योंकि तब प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी निश्चित प्रकृति होगी, जो उनके अलग-अलग प्रभावों से संगति नहीं रखती।[1] ये तर्क बहुत-कुछ वही हैं जो मनस्तन्त्रवाद के समर्थन में सामान्य रूप से दिए जाते हैं। अतिरिक्त बात केवल इतनी है कि यहाँ प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना गया है। लेकिन ये तर्क निश्चायक बिलकुल भी नहीं है। उदाहरण के लिए, अन्तिम तर्क को लीजिए। यह कहा गया है कि अनुभव की वस्तुओं की कोई स्वकीय प्रकृति नहीं हो सकती, क्योंकि किन्हीं भी दो व्यक्तियों को उनके समान प्रत्यक्ष नहीं होते। यह तर्क न केवल इस बात को मान लेता है कि दो प्रत्यक्षकर्ताओं के प्रत्यक्षों के बीच कुछ भी साम्य नहीं होता, बल्कि यह भी कि जब कोई वस्तु प्रस्तुत होती है तब उसका ठीक उसी रूप में ग्रहण होना चाहिए जो उसका है। लेकिन यह बात भुला दी जाती है कि अनुभव का एक ज्ञातृसापेक्ष पक्ष भी हो सकता है और साथ ही वह किसी बाह्यार्थ के अस्तित्व की ओर भी संकेत कर सकती है। अतः प्रत्यक्ष के मामले में व्यक्तिगत अन्तरों के होने का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं है कि बाह्यार्थों का अस्तित्व नहीं है। फिर भी

1. देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 286, श्लोक 59। यह तर्क बौद्ध-दर्शन के दोनों प्रत्ययवादी सम्प्रदायों ने दिया है।

योगाचार-तर्कों में कुछ निषेधात्मक बल अवश्य है, जिसे आसानी से हटाया नहीं जा सकता। उनसे प्रकट होता है कि वास्तववादियों का इसका उल्टा मत भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बौद्ध-प्रत्ययवाद का दूसरा सम्प्रदाय, जिस पर हमें अब विचार करना है, 'माध्यमिक' के नाम से प्रसिद्ध है।[1] एक अर्थ में यह बुद्ध के उपदेश का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम है और साथ ही इसका उचित मूल्यांकन सबसे अधिक कठिन भी है। ज्ञान के बारे में माध्यमिक का दृष्टिकोण एकदम नया है। अब तक हमने देखा है कि सामान्य अनुभव का कोई-न-कोई पहलू सत्य माना गया है, क्योंकि पिछले तीनों सम्प्रदायों ने कम-से-कम ज्ञान-सन्तान को सत्य माना है। लेकिन माध्यमिक का दृष्टिकोण बिलकुल ही क्रान्तिकारी है और वह सम्पूर्ण ज्ञान के प्रामाण्य को चुनौती देता है। उसका कहना है कि यदि ज्ञान की आलोचना आवश्यक है, तो सम्पूर्ण ज्ञान की आलोचना करनी चाहिए और उसके किसी भी अंश के प्रामाण्य को स्वयंसिद्ध नहीं मानना चाहिए। हम सामान्यतः यह विश्वास करते हैं कि ज्ञान के द्वारा हमारा वास्तविकता से सम्पर्क होता है। पर जब हम इस तथाकथित वास्तविकता के स्वरूप की छानबीन शुरू करते हैं, तब हम पाते हैं कि वह सब प्रकार के आत्मव्याघातों से ग्रस्त है। विचार करने से तुरन्त उसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। "ज्योंही हम वस्तुओं पर विचार करते हैं त्योंही वे विशीर्ण हो जाती हैं।"[2] उदाहरण के लिए, घट का, जो ज्ञान में एक बाह्यार्थ प्रतीत होता है, क्या स्वरूप है? यदि हम स्वयं से पूछें कि वह अवयवों का एक संघात है या एक साकल्य है, तो इनमें से किसी भी विकल्प को हम सन्तोषजनक सिद्ध नहीं कर सकते। यदि वह अवयवों का एक संघात है, तो अन्त में उसे अणुओं का संघात होना चाहिए, और अदृश्य अणुओं का संघात अनिवार्यतः अदृश्य ही होना चाहिए। यदि इस कठिनाई से बचने के लिए हम उसे उसके घटकों से पृथक् एक साकल्य मानें, तो हम दोनों के सम्बन्ध को सन्तोषजनक तरीके से नहीं समझा पाएँगे। इसी प्रकार हम उसे, जिसे वास्तविक वस्तु माना जाता है, न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि

1. असल में इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को 'माध्यमिक' कहते हैं और सम्प्रदाय का नाम 'माध्यमक' है। देखिए, Encyclopaedia of Religion and Ethics, जिल्द 8, 'Madhyamaka'। यह नाम मध्यम-मार्ग को माननेवाले का सूचक है। बौद्ध-धर्म की विशेषता मध्यम-मार्ग का अनुसरण है। देखिए, पीछे पृ० 133।
2. यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 15।

घट की सदैव सत्ता रहती है, तो यह समझ में नहीं आता कि उसे बनाने की क्यों आवश्यकता होनी है; और तब उसे बनानेवाले का प्रयत्न व्यर्थ होगा। यदि दूसरी ओर हम यह मान लें कि एक समय वह असत् होता है और तब अस्तित्व में आता है, तो हम एक वस्तु को सत् और असत् दोनों विशेषणों से युक्त कर देंगे, जिससे उसका स्वरूप स्वव्याघाती हो जाएगा। ऐसी कठिनाइयों से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि हम वस्तुओं को निःस्वभाव मानें। यह मत स्वभाववाद का बिलकुल विपरीत होगा (पृ० 104-5)। यही तर्क 'विज्ञान' पर भी लागू किया जाता है और विज्ञान को भी निःस्वभाव मानकर हटा दिया जाता है। इस तर्क-प्रक्रिया से माध्यमिक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यद्यपि ज्ञान व्यावहारिक जीवन के प्रयोजनों की पूर्ति करता है और वहाँ तक सत्य या असत्य हो सकता है, तथापि तात्त्विक दृष्टि से उसको कोई अर्थ देना असम्भव है। सब ज्ञान, चाहे वह प्रत्यक्षमूलक हो चाहे अनुमानमूलक, सापेक्ष है; कोई भी ज्ञान निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है। फलतः माध्यमिक न बाह्य सत्ता में विश्वास करता है और न आन्तरिक सत्ता में। अतः उसके सिद्धान्त को शून्यवाद कहा गया है। इस सिद्धान्त को स्थापित करने की प्रणाली अपूर्व है और यद्यपि अन्य विचारकों ने भी इसका उपयोग किया है, तथापि इसका प्रारम्भ माध्यमिक के ही द्वारा हुआ प्रतीत होता है। इसे द्विविभाजन-प्रणाली कहा जा सकता है और यह आधुनिक काल में ब्रैडले के द्वारा प्रयुक्त प्रणाली से मिलती-जुलती है। इस प्रणाली से वह यह दिखाने की कोशिश करता है कि दर्शन के सामान्य प्रत्यय स्वव्याघाती हैं और सैद्धान्तिक मान्यताओं से अधिक कुछ नहीं हैं। अपनी कारिका के एक से अधिक अध्यायों में नागार्जुन ने 'गति' इत्यादि प्रत्ययों की समीक्षा करके यह दिखाया है कि वे नितान्त अबोधगम्य हैं।

माध्यमिक के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही अस्थायी मूल्य रखते हैं, लेकिन अनुमान का तो चारों ही सम्प्रदाय अस्थायी मूल्य मानते हैं। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार सारे सम्बन्ध मिथ्या हैं और चूँकि अनुमान दो पदों के तथाकथित सम्बन्ध पर आधारित होता है, इसलिए वह सत्य नहीं हो सकता। इसके अलावा, वास्तववादी सम्प्रदायों के अनुसार भी इस प्रमाण का विषय केवल सामान्यलक्षण[1] अर्थात् बुद्धिनिर्मित प्रत्यय होते हैं और स्वलक्षण केवल प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। अतः यह अन्तमप्रामाण्य का दावा कतईनहीं कर सकता। दिङ्नाग का कथन है कि अनुमान की सम्पूर्ण प्रक्रिया बुद्धि की

1. न्यायबिन्दु, अध्याय 1; न्यायमंजरी, पृ० 30।

कल्पनाओं से सम्बन्ध रखती है और बाह्यार्थ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।[1] प्रत्यक्ष के बारे में योगाचार-मत को माध्यमिक-मत के तुल्य माना जा सकता है, क्योंकि यह भी बाह्यार्थों का अस्तित्व मानने से इन्कार करता है। निस्सन्देह यह 'विज्ञान' अर्थात् क्षणिक विचार को सत्य और अव्यवहित रूप से ज्ञात मानता है; लेकिन विज्ञान स्वयं अपना ही ज्ञाता होता है और इसलिए साधारण अर्थ में प्रत्यक्ष नहीं है। सौत्रान्तिक मत के अनुसार भी प्रत्यक्ष का प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसा कि पहले समझाया जा चुका है, वह बाह्य जगत् का एक प्राक्कल्पना मात्र के रूप में अभ्युपगम करता है और इसलिए निश्चायकता उसमें बिलकुल नहीं होती। केवल वैभाषिक सम्प्रदाय में ही, जो बाह्य वस्तुओं को सत्य और अव्यवहित रूप से ज्ञात मानता है, प्रत्यक्ष का कोई अन्तिम तार्किक मूल्य माना जा सकता है।

बौद्ध केवल यही दो प्रमाण मानता है और शब्द इत्यादि को अनुमान में शामिल कर देता है। इससे हमें यह नहीं समझना चाहिए कि वह परम्परा (पृ० 179) का त्याग कर देता है। वह परम्परा को केवल वैसी तार्किक प्रतिष्ठा प्रदान करने से इन्कार करता है, जैसी उसे एक प्रमाण कहने से उपलक्षित होती है। इस बात मे उसका मत वैशेषिक-मत से, जिसकी चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी, साम्य रखता है।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि बौद्ध-दर्शन ज्ञान को बहुत ही अनिश्चित स्थिति प्रदान करता है। ज्ञान का जीवन के लिए मूल्य हो सकता है, परन्तु उसका तात्त्विक मूल्य नहीं के बराबर है। इस मत के कारण ही बौद्धों ने सत्यता की यह कसौटी अपनाई कि उसे हमें इष्ट वस्तु की प्राप्ति कराने में समर्थ होना चाहिए (प्रापकत्व)।[2] वही ज्ञान सत्य है जो एक प्रत्याशा पैदा करके उसे पूरी भी करता है। इस मत में स्वतः कोई विलक्षणता नहीं है, और इसके समर्थक पूर्व और पश्चिम मे भी पाए जाते हैं। बौद्ध-मत की विलक्षणता इस बात मे है कि वह ज्ञान के व्यावहारिक सत्यापन को केवल निकटवर्ती मात्रा मे ही सम्भव मानता है। यह मानना इस वजह से अनिवार्य हो गया है कि बौद्धों की वास्तविकता की धारणा कुछ असाधारण है। निर्विकल्पक ज्ञान तक में, जिसमें वैभाषिक के मत से स्वलक्षण वस्तुतः दत्त होता है, यही स्वलक्षण प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि क्षण-भर में उसका लोप हो जाता है। अतः ज्ञान अधिक-से-अधिक यह कर सकता है कि हमें उस सन्तान की

1. देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 258, श्लोक 168 (टीका)।
2. न्यायबिन्दुटीका पृ० 3; न्यायमंजरी, पृ० 23।

ओर उन्मुख कर दे जिसका एक सदस्य ज्ञात स्वलक्षण था। कहने का मतलब यह है कि जो प्रत्यक्ष के द्वारा प्रस्तुत होता है वह एक विशेष होता है; परन्तु जिसकी प्राप्ति होती है वह विशेष नही बल्कि उससे सम्बन्धित सन्तान होती है। निकटवर्ती मात्रा में सत्यापन का यही अर्थ है। ऐसे सत्यापन को व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के लिए बिलकुल पर्याप्त माना गया है, और फलतः ज्ञान और प्राप्ति की असगति पर अधिक ध्यान नही दिया गया है। ज्ञान कर्म के मार्ग को एक तरह से प्रकाशित मात्र करता है; और यदि वह ऐसा करने में सफल रहता है, तो वह सत्य माना जाता है। इसके समर्थन मे एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है जो एक चमकदार रत्न की चमक-भर देखता है, परन्तु भ्रमवश इसे ही रत्न मानकर हाथ बढ़ाता है और सयोग से रत्न ही उसके हाथ मे आ जाता है।[1] अनुमान का विषय सदैव सामान्यलक्षण होता है, जो प्राक्कल्पना के अनुसार अवास्तविक है। फिर भी, वह हमें उस वस्तु-सन्तान का रास्ता बताकर जिससे उसका विषय सम्बद्ध होता है, जीवन में उपयोगी हो सकता है। इस प्रकार न केवल ज्ञान का तात्त्विक मूल्य अल्प है, बल्कि उसका व्यावहारिक मूल्य भी परोक्ष रूप से ही है।

इतना हमने सत्यता के बारे मे कहा है। लेकिन इस संकुचित अर्थ में भी ज्ञान सदैव सत्य नही होता। हो सकता है कि कोई व्यक्ति दृष्टि-दोष से एक काले धब्बे को नीला देखे। यह भ्रम या विपर्यय है। अनुमान भी गलत हो सकता है, क्योंकि वह सदैव सही प्रकार के सामान्यलक्षण को ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार यह जरूरी नही है कि उक्त औपाधिक अर्थ मे भी कोई प्रमाण सत्य ज्ञान ही दे, और इसलिए केवल सत्यापन के बाद ही उसे स्वीकार किया जा सकता है। अतः बौद्धों के यह मानने में कोई आश्चर्य नहीं है कि ज्ञान स्वतः अप्रमाण होता है और उसमें प्रामाण्य बाहरी बातों से आता है।[2] अभी हम इस प्रश्न पर विचार नही करेंगे कि ज्ञान की परीक्षा करने की आवश्यकता है या नहीं। यहाँ भ्रम और कल्पना का अन्तर बता देना चाहिए, जो इसलिए जरूरी है कि वे दोनों ही समान रूप से मिथ्या माने गए है। कल्पनाएँ स्वरूपतः मिथ्या होती हैं और हमेशा प्रत्यक्ष के साथ पाई जाती है। वास्तव में वे प्रत्यक्ष के साधारण अर्थ में उसके आवश्यक हेतु हैं। वे ऐसे ढाँचे हैं जिनमें मन वास्तविकता को ग्रहण करते समय उसे बिठा देता है। लेकिन भ्रम कभी-कभी होते हैं और केवल उसी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं जिसे वे दिखाई देते हैं। इसके अलावा, कल्पनाएँ

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 23।
2. अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्यं परतः—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 129।

कुछ निश्चित वर्गों में रखी जा सकती हैं; जबकि धर्मों का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं है। कल्पनाओं को कोट की शब्दावली में मन के साँचे कहा जा सकता है। उनके वर्गों को हम बाद में बताएँगे।

: 2 :

चार बौद्ध सम्प्रदायों के ज्ञान-विषयक सिद्धान्तों की चर्चा करते समय हमने उनके तत्त्वमीमांसीय मतों का काफी पूर्वाभास दे दिया है। फिर भी यह अच्छा होगा कि पहले जो बातें कही जा चुकी हैं उनको एक साथ प्रस्तुत कर दिया जाए और जहाँ उनके बारे में अधिक विवरण देना जरूरी लगे वहाँ उसे भी दे दिया जाए, ताकि प्रत्येक सम्प्रदाय की विश्व-दृष्टि की हमें सुसम्बद्ध जानकारी मिल जाए। आद्य बौद्ध-दर्शन की विशेषताएँ थी : (1) यह विश्वास कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाली (सन्तान) है, और (2) यह विश्वास कि प्रत्येक वस्तु एक संघात और निःसत्त्व है। ये विशेषताएँ इस काल के उसके विकसित रूप में भी बनी रहती हैं। अन्तर स्वभावतः इतना हुआ है कि इन पर और अधिक बल दिया गया है और इनकी घोषणा और अधिक विधिवत् तरीके से की गई है। इनमें से पहले, यानी क्षणिकवाद पर हम यहाँ कुछ और चर्चा करेंगे।

साधारणतः परिवर्तन के नीचे एक ऐसी सत्ता मानी जाती है जो स्थायी बनी रहती है। यदि परिवर्तनशील वस्तु को हम 'व अ' के रूप में व्यक्त करें तो साधारण मत के अनुसार वह कुछ परिस्थितियों में 'व आ' हो जाती है, जिसमें 'व' इन दो अवस्थाओं का समान तत्त्व है। यह मत कि परिवर्तनशील वस्तु लक्षणों के बदलते रहने के बावजूद भी वही बनी रहती है, बौद्ध को स्वीकार्य नहीं है, और वह मानता है कि परिवर्तन अनिवार्यतः सर्वांगीण होता है। इस प्रकार परिवर्तन का मतलब क्रान्ति है, क्रम-विकास नहीं। बौद्ध-तर्क ये हैं : ऊपर दिये हुए उदाहरण में; यदि अ को आ में बदलनेवाली परिस्थितियाँ व को बिलकुल भी प्रभावित नहीं करतीं, तो व अ की एक कृत्रिम उपाधि मात्र है, जिसे अनावश्यक मानकर हटाया जा सकता है। तब अ आ में बदलता है और यह सर्वांगीण परिवर्तन है। यदि इसके विपरीत यह माना जाता है कि परिस्थितियाँ व को भी प्रभावित करती हैं और उसे भी बदल देती हैं, तो परिवर्तन यहाँ भी सर्वांगीण है, क्योंकि अब व अ के स्थान पर व आ नहीं बल्कि य आ आ जाता है। इसी बात को सामान्य रूप में हम इस प्रकार रख सकते हैं : परिवर्तन के बारे में साधारण मत इस मान्यता पर आधारित है कि सत् का परिवर्तन से सम्बन्ध हो सकता है, जबकि बौद्ध ऐसे सम्बन्ध की सम्भावना

का बिलकुल निषेध करता है। उसके मत से सत् है ही नहीं; वास्तविक केवल परिवर्तन है। परिवर्तन सर्वांगीण मात्र नहीं होता, अपितु प्रतिक्षण होता रहता है। यह बात सीधे सत् की इस बौद्ध धारणा से निकलती है कि वह अर्थक्रियाकारी है, यानी कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। उदाहरणार्थ, बीज अंकुर को पैदा करता है और सर्वांगीण परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुसार वह बिलकुल बदल जाता है: बीज का अल्पतम अंश भी उसमें शेष नहीं रहता (निरन्वयनाश)। बीज के रूप में उसकी अंकुर को पैदा करने की शक्ति तुरन्त ही प्रकट हो जानी चाहिए, अन्यथा विलम्बित अर्थक्रियाकारित्व मानना पड़ेगा, जो कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार वदतोव्याघात है। यह असम्भव है कि कोई चीज किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखती हो और उसे उत्पन्न न करे या थोड़ा-थोड़ा करके उसे उत्पन्न करे। शक्ति अर्थक्रिया के अभाव का ही दूसरा नाम है; और 'सकता है' तथा 'करता है' का भेद मिथ्या है। अतः मानना पड़ेगा कि किसी चीज के अन्दर जो भी शक्ति हो उसे तत्काल और पूर्णतः प्रकट हो जाना चाहिए; और चूंकि किसी चीज का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक वह क्रिया करती है, इसलिए उसे क्षणिक होना चाहिए। 'यत् सत् तत्क्षणिकम्'[1]। यदि अब हम इस मत को ध्यान में रखते हुए कि अर्थक्रियाकारित्व सत्ता की एकमात्र कसौटी है, बीज के अंकुर में परिणत होने से पहले के क्षणों के अस्तित्व पर विचार करते हैं, तो हमें मानना पड़ेगा कि उन क्षणों में भी वह किसी रूप में सक्रिय रहा है; क्योंकि यदि उन क्षणों में वह निष्क्रिय रहे, तो वह असत् हो जाएगा और अंकुर-जैसी सद्वस्तु को उत्पन्न नहीं कर पाएगा। उन क्षणों में से प्रत्येक में उसे सक्रिय मानने का एकमात्र तरीका यह है कि उसे प्रत्येक अगले क्षण में अपने सदृश बीज को उत्पन्न करता रहनेवाला माना जाए। इस प्रकार बीज कभी निष्क्रिय नहीं रहता। जब वह एक बीज बना रहने के बजाय एक अंकुर बन जाता है, तब अन्तर यह होता है कि सन्तान का स्वरूप बदल जाता है। परन्तु सन्तान का स्वरूप बदलने पर भी क्षण-क्षण परिवर्तन पहले की ही तरह होता रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बीज एक ऐसी सत्ता नहीं है जो स्थिर बनी रहे और किसी समय अंकुर में परिणत हो जाए। बीज असल में एक बीज-सन्तान है, जो कुछ नये हेतुओं के प्रकट होने पर अंकुर-सन्तान में परिणत हो जाती है। यही निष्कर्ष यह दिखा देने पर भी प्राप्त होता है कि किसी वस्तु को नष्ट करने के लिए कोई बाह्य कारण आवश्यक

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 9-12; न्यायमंजरी, पृ० 444 इत्यादि।

नहीं है।[1] नाश के कारण प्रत्येक वस्तु के अन्दर सहज रूप से रहते हैं और इसलिए वह एक क्षण से अधिक नहीं टिक सकती। जो साधारणतः नाश का कारण माना जाता है—जैसे लाठी को घड़े के चूर-चूर होने का कारण माना जाता है—उसे बौद्ध केवल भिन्न सन्तान को उत्पन्न करनेवाला बताता है, जैसे कपाल (घट-खण्ड)-सन्तान को। कारण यह है कि अभाव के उत्पन्न होने की बात कहना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि कोई चीज अपना उच्छेद नहीं कर सकती, तो कोई भी अन्य चीज उसका उच्छेद नहीं कर सकती। और यदि वह अपनी उत्पत्ति के बाद के ही क्षण में अपना अन्त नहीं ला सकती, तो दुनिया में कोई कारण इस बात का नहीं हो सकता कि वह किसी अन्य समय नष्ट हो जाए। अतः यदि वस्तुएं क्षणिक नहीं हैं, तो प्रत्येक को शाश्वत मानना पड़ेगा, और यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसे कोई नहीं मानता।

अन्य भारतीय दर्शनों के प्रवक्ताओं ने अनेक तरीकों से सत्ता की इस धारणा की आलोचना की है। यदि प्रत्येक चीज एक सन्तान है और निरन्तर नई होती जाती है, तो उसे पहचानना सम्भव नहीं होगा। जैसा कि संक्षेप में पहले बताया जा चुका है (पृ० 146), बौद्ध इस आपत्ति का उत्तर देने के लिए पहचान (प्रत्यभिज्ञा) की धारणा को ही बदल देता है। उसके अनुसार प्रत्यभिज्ञा एक ज्ञान बिलकुल भी नहीं है, बल्कि स्मृति और प्रत्यक्ष का संकर है; और उसमें एक वस्तु का ग्रहण नहीं होता, जैसा साधारणतः माना जाता है, बल्कि दो भिन्न वस्तुओं का ग्रहण होता है, जो दो होने के बावजूद एक ही सन्तान की सदस्य होती हैं। बौद्ध यह पूछता है कि एक ही वस्तु दो भिन्न कालों में कैसे दिखाई दे सकती है?[2] दूसरे शब्दों में, भूत और वर्तमान क्षणों की दो वस्तुएं सदृश मात्र होती हैं, और प्रत्यभिज्ञा में उनके सादृश्य को भ्रमवश तादात्म्य मान लिया जाता है। इस प्रकार बौद्ध यह तो मानता है कि किसी चीज को पहचानने में हमें यह अनुभूति होती है कि हम पहले देखी हुई वस्तु को फिर देख रहे हैं, जैसा कि उसके बाद के हमारे व्यवहार से प्रकट होता है; परन्तु इस अनुभूति को वह एक भ्रम मात्र मानकर टाल देता है। इसके समर्थन में वह दीपक की ज्योति का उदाहरण देता है। यदि प्रत्यभिज्ञा को सत्य माना जाए, तो ज्योति को दो भिन्न क्षणों में एक ही मानना पड़ेगा, जैसा कि साधारणतः मान भी लिया जाता है। लेकिन सब जानते हैं कि यह बात ग़लत है। प्रत्यभिज्ञा में सदैव भूतकाल की ओर संकेत रहता है, जिसे ग्रहण करने में

1. न्यायमंजरी, पृ० 447-8।
2. न्यायमंजरी, पृ० 459-61।

प्रत्यक्ष असमर्थ है। साथ ही वर्तमान काल की ओर भी उसमें संकेत रहता है, जो कि स्मृति का विषय नहीं हो सकता। उसके संकर-रूप की उपेक्षा करके उसे ज्ञान की एक ही इकाई मानना स्पष्टतः ग़लत है। इस मत के आलोचकों का मुख्य तर्क इस अभ्युपगम पर आधारित है कि ज्ञान का अप्रामाण्य किसी अन्य अधिक दृढ़ ज्ञान के द्वारा उसके बाधित होने से सिद्ध होता है। ऊपर दीपक की ज्योति का जो उदाहरण दिया गया है उसमें तेल का धीरे-धीरे घटते जाना इस बात का सूचक है कि ज्योति को उत्पन्न करनेवाली सामग्री किन्हीं दो अवस्थाओं में समान नहीं होती। लेकिन प्रत्येक वस्तु के बारे में ऐसी बात नहीं मालूम पड़ती। उल्टे छानबीन से प्रायः वस्तु के अभेद की ही पुष्टि होती है। दीपक की ज्योति केवल इस बात की सूचक है कि प्रत्यभिज्ञा सदैव सत्य नहीं होती, लेकिन यह बात तो सभी प्रमाणों में पाई जाती है। सत् के इस लक्षण की भी आलोचना की गई है कि वह अर्थक्रियाकारी है। सामान्यतः बौद्ध-दर्शन किसी सन्तान का कभी अन्त नहीं मानता, बल्कि केवल एक सन्तान का दूसरी में, जैसे बीज-सन्तान का अंकुर-सन्तान में रूपान्तरित होना मानता है। फिर भी कुछ अपवाद स्वीकार किये गए हैं, जिनमें से एक है अर्हत् के मरने के बाद निर्वाण प्राप्त करने पर उसकी आत्म-सन्तान की समाप्ति (प्रतिसंख्या-निरोध)। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अर्हत् की आत्म-सन्तान का अन्तिम सदस्य सत् है या नहीं। क्योंकि वह, प्राक्कल्पना के अनुसार, अपने अनुवर्ती को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वह अर्थक्रियाकारी नहीं है और फलतः सत् नहीं हो सकता। यदि वह असत् है, तो अवश्य ही उसके पूर्ववर्ती को भी असत् होना चाहिए और इसी प्रकार पीछे की ओर चलते हुए तर्क करने के फलस्वरूप सम्पूर्ण सन्तान का एक काल्पनिक वस्तु की तरह लोप हो जाता है।[1] अतः या तो निर्वाण के आदर्श को अलभ्य समझकर त्याग देना होगा या निर्वाण के आकांक्षी की आत्म-सन्तान को नितान्त असत् मानना होगा।

ये क्षणिकवाद के बौद्ध-सिद्धान्त के विरुद्ध हिन्दू-दर्शन के ग्रन्थों में दिये हुए तर्कों के नमूने हैं। इनमें युक्ति-कौशल तो है, पर सब-के-सब निश्चायक नहीं हैं, और यहाँ उनका और अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मामले में बौद्ध-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए प्रयुक्त मुख्य तर्क को एक बिलकुल ही भिन्न बात पर आधारित होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वर्तमान को एक अवधि मानना होगा।[2] इस अवधि

1. देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.22 पर शंकर का भाष्य।
2. देखिए, Prof. Whitehead : The Concept of Nature, पृ० 63 और 71

का कोई भी विस्तार हो सकता है, पर ध्यान देने की बात यह है कि क्षण-भर की वह कदापि नहीं होती। यह बात प्राचीन भारतीय विचारकों को भी अज्ञात नहीं थी[1] और संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थों में कहीं-कहीं इसकी ओर संकेत मिलता है। बौद्ध यह मान लेता है कि प्रत्यक्ष में केवल क्षणिक वर्तमान ही प्रस्तुत रहता है।[2] क्षणिकवाद के समर्थन में दिया हुआ एक तर्क वस्तुतः इस अभ्युपगम पर आधारित किया गया है कि प्रत्यक्ष अनिवार्यतः वर्तमान क्षण तक ही सीमित होता है।[3] बौद्ध काल की सत्ता नहीं मानता; और इसलिए उसके सिद्धान्त की आलोचना करने में किसी 'क्षण' की बात करना शायद उचित नहीं प्रतीत होगा। फिर भी वह क्षणिक वस्तु या अवस्था को अनुभव की वस्तुओं के विश्लेषण के अन्तिम चरण के रूप में स्वीकार करता है, और यह क्षणिक वर्तमान को मानने के बराबर ही है। वह केवल अल्पतम सत् को अल्पतम काल का स्थानापन्न बना देता है, और इस पर भी ठीक वही आलोचना लागू होती है। अतः कालसूचक शब्दावली में हमारा उसके सिद्धान्त का उल्लेख करना उसके विवरण को सुविधाजनक बनाने के साथ उसे बदलता भी नहीं है। वर्तमान की अवधि को चाहे जिस सीमा तक घटाया जाए, वह सदैव एक अवधि रहेगी और वह जितनी भी छोटी हो उसके अपने सीमावर्ती क्षण फिर भी रहेंगे। निरपेक्ष क्षण एक सीमान्त-प्रत्यय मात्र है: वह विचार का एक आदर्श है, वास्तविक सत्ता नहीं। किसी तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को ऐसे प्रत्याहार पर आधारित करना ठीक नहीं है; और यही कारण है कि परिवर्तन की बौद्ध धारणा, स्वतः चाहे जितनी सूक्ष्म हो, हमारे अन्दर आस्था पैदा करने में असफल रहती है। इस आलोचना को स्वयं इस बौद्ध-सिद्धान्त के इतिहास से भी समर्थन मिलता दिखाई देता है, क्योंकि बुद्ध ने वस्तुओं को क्षणिक नहीं माना था। वे तो इसी निष्कर्ष से सन्तुष्ट थे कि वस्तुएँ अनित्य हैं (पृ० 145)। बाद में केवल उनके अनुयायियों ने इस नूतन सिद्धान्त को बनाया था, जिसमें एक विशुद्ध परिकल्पनात्मक समाधान के सारे गुण और सारे दोष विद्यमान हैं।

बौद्ध-दर्शन के चार सम्प्रदायों में से वैभाषिक को बहुवादी वास्तववाद

---

1. देखिए, न्यायसूत्र 2.1.39-43 तथा The Quarterly Journal of the Mythic Society, Bangalore (1924), पृ० 233-7।
2. देखिए, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 25 : पूर्वापरभाग-विकल-काल-कलावस्थिति-लक्षण-क्षणिकता।
3. न्यायमंजरी, पृ० 450।

कहा जा सकता है। यह चलायमान स्वलक्षणों की अनन्त संख्या का अस्तित्व मानता है और उन्हें बाह्य जगत् का एकमात्र आधार बताता है। वे सब परस्पर भिन्न हैं और उनके नीचे कोई एकता नही है। यही कारण है कि उन्हें 'स्वलक्षण' कहा गया है। इस शब्द से यह प्रकट होता है कि उनमें से प्रत्येक अनुपम है और केवल अपनी ही असाधारण विशेषताओं से बताया जा सकता है।[1] प्रत्येक स्वलक्षण अपनी सन्तान के पूर्ववर्ती स्वलक्षण से उत्पन्न होता है और उसी सन्तान में अनुवर्ती स्वलक्षण को उत्पन्न करता है; लेकिन बाहर की किसी चीज से वह बिलकुल स्वतन्त्र और असम्बन्धित होता है।[2] चूंकि इन स्वलक्षणों को ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अव्यवहित रूप से ज्ञात माना जाता है, इस-लिए इन्हें शुद्ध संवेदन की सामग्री कहा जा सकता है। जब इनका प्रत्यक्ष होता है, तब उस प्रत्यक्ष मे सदैव कुछ कल्पनाएँ भी शामिल रहती हैं, जिनके ये पांच वर्ग बताये गए हैं: जाति (सामान्य), गुण, कर्म, नाम और द्रव्य या शब्दान्तर से, अन्य द्रव्यों से सम्बन्ध।[3] इन्हें हम 'पदार्थ' कह सकते हैं, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि ये केवल विचार के पदार्थ हैं। प्रत्येक चीज, जो हमें दिखाई देती है, इन्ही के माध्यम से दिखाई देती है। वह शुद्ध स्वलक्षण के रूप में नही दिखाई देती, बल्कि किसी जाति मे सम्बन्ध रखनेवाली या किसी नाम से पुकारी जानेवाली के रूप मे, किसी गुण से विशिष्ट द्रव्य या अन्य द्रव्य से सम्बन्धित द्रव्य के रूप में दिखाई देती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष मे उसके अलावा जो वस्तुत: ज्ञानेन्द्रियों के सम्मुख होता है, बहुत-कुछ शामिल हो जाता है। जो बातें शामिल होती है, वे भौतिक गुण नही बल्कि बने-बनाए मानसिक आकार मात्र होते है, जिनका स्वलक्षणों पर अध्यारोप कर दिया जाता है। यद्यपि वे अवास्तविक होते हैं, तथापि व्यावहारिक जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्व के होते हैं, क्योंकि वस्तुओ के पारस्परिक साम्य और वैषम्य के आधार पर ही हमारे दैनिक कार्य चलते हैं और उन्हें हम इन कल्पनाओं की सहायता से ही कर पाते हैं। काल और देश भी इन्ही के समान मानसिक आकार है और कोई भी स्वलक्षण विस्तार या अवधि से विशिष्ट नहीं होता।[4]

---

1. स्वं असाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्—न्यायबिन्दुटीका, पृ० 15।
2. देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 30।
3. न्यायमंजरी, पृ० 93-4। देखिए, Prof. H. N. Randle: Fragments from Diṅnaga, पृ० 71।
4. न्यायमंजरी, पृ० 450-1; Prof. Stcherbatsky: The Conception of Buddhistic Nirvaṇa, पृ० 142, टिप्पणी।

लेकिन इनकी कल्पनाओं में पृथक् गणना नहीं की गई है, क्योंकि ये सम्बन्ध-मूलक हैं और इसलिए अन्तिम पदार्थ के अन्तर्गत शामिल हैं।

यहाँ तक हमने प्रत्यक्ष के द्वारा प्रकट होनेवाले बाह्य जगत् की बात कही है। यह वास्तविकता पर आधारित होने के बावजूद अधिकांशतः मनस्तन्त्र है, और इस प्रकार बौद्ध वास्तववाद ऋजु वास्तववाद से कहीं भिन्न है। लेकिन जिन-स्वलक्षणों की यहाँ हमने चर्चा की है, वे अन्तिम वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि कुछ मूल तत्त्वों से निर्मित होने के कारण व्युत्पन्न हैं। वास्तविकता के अन्तिम तत्त्व या भूत, जिनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है (पृ० 145-46), अणुमय बताये गए हैं और इस प्रकार वैभाषिक की विश्व-विषयक धारणा को अणुवादी कहा जा सकता है। लेकिन यहाँ अणु को हमें कोई नित्य वस्तु नहीं समझना चाहिए,[1] जैसा कि उन्हें जैन या वैशेषिक-दर्शन में माना गया है। मन के आन्तरिक जगत् में भी भूत और भौतिक के समकक्ष चित्त और चैत माने गए हैं। व्यक्तित्व को जिन पाँच स्कन्धों से निर्मित माना गया है (पृ० 140), उनमें से विज्ञान-स्कन्ध चित्त है और अन्य चार चैत्त अर्थात् चित्त से व्युत्पन्न हैं। विचार यह है कि आत्म-चेतना क्षणिक प्रत्ययों की सन्तान के रूप में आधारभूत है और अन्य मानसिक लक्षण उसी के रूप-भेद हैं।[2] वे अपने प्रकट होने के समय बाहर विद्यमान कारकों पर ही निर्भर नहीं होते, अपितु व्यक्ति की पूर्ववृत्तियों पर भी निर्भर होते हैं, और इस प्रकार मानसिक जीवन में वर्तमान को निर्धारित करने में भूत का सदैव अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हाथ होता है।[3] वेदना, संज्ञा (प्रत्यक्ष) और संस्कार को चैत्त कहना तो बिलकुल समझ में आता है; पर रूप-स्कन्ध को, जो भौतिक ढाँचे का सूचक है और इसलिए जिसे मानसिक नहीं माना जा सकता है, चैत्त कहना समझ में नहीं आता। हिन्दू ग्रन्थकारों ने इस कठिनाई को समझा है और इसका यह स्पष्टी-

1. यह हिन्दू ग्रन्थों के दृष्टिकोण से कहा गया है। उदाहरणार्थ, देखिए वेदान्तसूत्र 2.2.22 पर शंकर का भाष्य, जहाँ एक उद्धरण के द्वारा यह दिखाया गया है कि सब भाव क्षणिक हैं। बौद्ध-दर्शन के ऊपर लिखे हुए कुछ आधुनिक ग्रन्थों के अनुसार ये मूल तत्त्व नित्य और अपरिवर्तनशील हैं, हालाँकि इनसे व्युत्पन्न प्रत्येक वस्तु अनित्य और परिवर्तनशील है। ऐसा मत वैभाषिक सिद्धान्त को शायद एक अधिक दृढ़ आधार तो प्रदान करता है, लेकिन प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म की प्रवृत्ति से, जो कि परिवर्तन को आधारभूत समझने का आग्रह करती है, उसे बहुत दूर भटका देता है। देखिए Aristotelian Society Proceedings (1919-20), पृ० 161।
2. न्यायमंजरी, पृ० 74; प्रकरणपंचिका, पृ० 48।
3. देखिए, भामती, 2.2.18।

करण दिया है—क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ, जो कि विचार के उपकरण हैं, भौतिक हैं, इसलिए भूतद्रव्य को ज्ञाता के अन्दर शामिल करना उचित हो सकता है। अथवा, शायद यह कहना अधिक उचित होगा कि इसके समावेश से व्यक्तित्व की बौद्ध धारणा के अन्तर्गत न केवल मन और उसके उपकरण आ जाते हैं बल्कि भौतिक जगत् का वह पक्ष भी आ जाता है जिसका व्यक्ति को प्रत्यक्ष होता है और इसलिए जिसे उसके प्रयोजनों से सम्बन्धित होने के कारण उसका व्यक्तिगत जगत् माना जा सकता है।[1]

वैभाषिक विश्व-दृष्टि की एक आलोचना स्पष्टतः यह है कि वह जिस प्रकार के स्वलक्षण को मानती है वह असत् के बराबर है और उसे छोड़ा जा सकता है। जैसा कि अन्य भारतीय दर्शनों के प्रवक्ताओं ने कहा है, वह एक व्यर्थ प्रपंच है जिसके बारे में न कुछ कहा जा सकता है और न कुछ जाना जा सकता है। निस्सन्देह वैभाषिक उसके ज्ञेय होने का दावा करता है; परन्तु, जैसा कि उद्योतकर ने कहा है, उसका ज्ञान गूँगे के स्वप्न के समान है।[2] फिर भी, वैभाषिक का सिद्धान्त जहाँ तक बाह्य जगत् के अस्तित्व में विश्वास बनाए रखता है, वहाँ तक बुद्ध के पुराने उपदेश के प्रति योगाचार के विज्ञानवाद की अपेक्षा अधिक निष्ठावान् है, हालाँकि बाह्यार्थ की छानबीन के लिए छानबीन करते हुए यह भी उससे कुछ दूर भटक जाता है। इसकी छानबीन उस तरह व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक मात्र नहीं है जिस तरह प्रारम्भिक बौद्ध-दर्शन में थी, बल्कि तर्कशास्त्रीय और तत्त्वमीमांसीय भी है। दूसरे शब्दों में, अब मनुष्य के अध्ययन के साथ-साथ भूतद्रव्य का भी अध्ययन होने लगा था। अन्य बौद्धों की तरह वैभाषिक ने भी गौतम के उपदेश के विवक्षित अभिप्रायों को प्रकट करने का प्रयत्न किया था; परन्तु ऐसा लगता है कि कहीं उसका अनर्थ न हो जाए, इस आशंका से वह अन्तिम से पहले के चरण में ही रुक गया, जबकि अन्य सम्प्रदाय छानबीन में अन्त तक पहुँच गए। अपने परम्परागत आधार की दृष्टि से नहीं, बल्कि स्वतः ही इसमें एक असन्तोषजनक बात इस कारण आ गई है कि इसने देश और काल की सत्ता को बाह्य जगत् से हटाकर वास्तविकता के बारे में सोचने की कोशिश की है। इसके आयामहीन स्वलक्षणों में कोई सचाई नहीं हो सकती। यही इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है और इसी ने योगाचार को विशुद्ध विज्ञानवाद सुझाया होगा। सामान्यलक्षणों की बौद्ध

1. देखिए, Prof. Stcherbatsky : Central Conception of Buddhism, पृ० 7।
2. मूकस्वप्नसदृशम्—न्यायवार्तिक, पृ० 43।

धारणा की भी आलोचनाएँ हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों मे मिलती हैं; परन्तु ये आलोचनाएँ प्रायः ऐसे अभ्युपगमों पर आधारित हैं जो अलग-अलग तन्त्रों में अलग-अलग हैं और उन सभी को समान रूप से स्वीकार्य भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए, 'जाति' के मामले में स्वयं हिन्दू सम्प्रदायों में ही मतभेद है—कुछ तो इसे एक बाह्यार्थ मानते हैं और कुछ अनेक वस्तुओं की समान विशेषताओं को सुविधापूर्वक एकसाथ जोड़नेवाला एक प्रत्यय मात्र मानते हैं। अतः वैभाषिक दर्शन के इस पहलू पर आलोचना के बतौर हमें जो कुछ कहना है उसे उन तन्त्रों से सम्बन्धित बाद के अध्यायों के लिए छोड़ देना अधिक सुविधाजनक होगा।

अगले दो सम्प्रदायों के बारे में कहने के लिए कुछ अधिक नहीं है। सौत्रान्तिक मत वैसे तो वैभाषिक मत से अभिन्न है, लेकिन थोड़ा-सा अन्तर यह है कि स्वलक्षणों के अस्तित्व को एक राद्धान्त के रूप मे मानने के बजाय वह अनुभव की व्याख्या के लिए केवल एक प्राक्कल्पना के रूप में उन्हे स्वीकार करता है। शायद सौत्रान्तिक ने साभिप्राय वैभाषिक मत में सुधार किया है, क्योंकि यह ज्ञात है कि वैभाषिक अपने सिद्धान्त को सौत्रान्तिक से पहले तन्त्र-बद्ध कर चुका था।[1] योगाचार-मत मौलिक बातों में भिन्न है; पर वह अधिक संगतिपूर्ण है, क्योंकि वह सम्पूर्ण बाह्य जगत् को मन की सृष्टि बताता है और इस प्रकार स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण के तार्किक भेद को मिटा देता है। यदि सौत्रान्तिक का यह कहना सही है कि आकार या प्रत्यय मन और उसकी वस्तु को जोड़नेवाली आवश्यक कड़ी है, तो वस्तु को मानने की कोई जरूरत नहीं है, बशर्ते उसके बिना हम मन में प्रकट होनेवाले आकार या प्रत्यय की व्याख्या कर सकें। ठीक यही योगाचार का मत है। सौत्रान्तिक जिस प्राक्कल्पित बाह्य जगत् को मानता है, उसे वह यह मानकर हटा देता है कि स्वयं मन ही वस्तुओं के प्रत्ययों का निर्माण कर सकता है। योगाचार के मत से वस्तुएँ मन के बाहर नहीं होतीं, बल्कि वही उनकी सृष्टि करता है। इस मत में न केवल जाति, गुण इत्यादि को, बल्कि स्वयं बाह्यत्व के प्रत्यय को भी मनस्तन्त्र बताया गया है; और एकमात्र सत्ता 'विज्ञान' की मानी गई है, जिसे 'आन्तरिक' कहा जा सकता है, बशर्ते किसी की भी बाह्य सत्ता के स्वीकार न किए जाने के बावजूद इस शब्द का प्रयोग उचित हो। तब प्रत्येक विज्ञान के अन्दर ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का काल्पनिक भेद मानना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप विषय और विषयी विज्ञान के ही पहलू बन जाते हैं। हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि विज्ञान-सन्तानों की संख्या अनन्त है; और

1. देखिए, Encyclopaedia of Religion & Ethics, जि० 11, पृ० 213।

इस प्रकार योगाचार सिद्धान्त प्रत्ययवादी होने के साथ बहुवादी भी है। परन्तु यदि उसके 'बाह्यत्व' को मन की एक कल्पना मात्र मानने के सिद्धान्त के अनुसार चला जाए, तो एक से अधिक आत्माओं को मानना असम्भव हो जाता है और हम अहंमात्रवाद में पहुँच जाते हैं।[1] इसके बावजूद भी जीवन और उसके सामान्य कार्यकलाप की स्वप्न से उपमा देकर व्याख्या करने के लिए अनेक आत्माओं की व्यावहारिक स्तर पर सत्ता मानी जा सकती है। संस्कृत के ग्रन्थों में इस बात के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं मिलता कि योगाचार-दर्शन ने इसे सिद्धान्त के रूप में अपना लिया था। फिर भी उनसे यह प्रकट होता है कि उसके कुछ अनुयायी एक पारमार्थिक विज्ञान-सन्तान[2] को मानते थे और प्रत्येक वस्तु को उसका आभास मात्र समझते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि योगाचार-सिद्धान्त को विज्ञानाद्वैत[3] कहा गया है और उसे शंकर के आत्माद्वैत-जैसे एकवादी सिद्धान्तों के वर्ग में रखा गया है। अतः योगाचार-सिद्धान्त का भारत के बाहर बाद में जिस परमार्थवाद के रूप में विकास हुआ वह भारतीय बौद्ध-दर्शन को पहले से ज्ञात था और उसे उसके भारत से बाहर के इतिहास की विशेषता मानना ठीक नहीं है। इसके स्वरूप से ही उपनिषदों का प्रभाव झलकता है; परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह पारमार्थिक विज्ञान भी परिवर्तनशील मात्र है।

अन्तिम सम्प्रदाय, जिस पर विचार करना शेष है, माध्यमिक है, जो किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं मानता और इसलिए शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। तत्त्वमीमांसा का जहाँ तक सम्बन्ध है, इसका सामान्य दृष्टिकोण ज्ञान में पूर्ण अनास्था का है, और सामान्य अनुभव की वस्तुओं की सूक्ष्म परीक्षा करके तथा यह दिखाकर कि इस परीक्षा से कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं होती, यह इस अनास्था में पहुँचा है। इसे समझाने का सर्वोत्तम तरीका यह स्पष्ट करना होगा कि प्रतीत्यसमुत्पाद (पृ० 144) की पुरानी धारणा को यहाँ किस रूप में समझा गया है। अन्य बौद्ध-सम्प्रदाय वस्तुओं की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं, हालांकि कारणता की उनकी धारणा बिलकुल ही विलक्षण है। माध्यमिक उत्पत्ति की सम्भावना का ही निषेध कर देता है। नागार्जुन की 'कारिका' का पहला ही श्लोक इस धारणा को खण्डनात्मक तर्क की कसौटी पर कसकर हिला देता है।

1. देखिए, गुणरत्नः षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक 56 : तर्हि बहिरर्थवत् स्वज्ञानसंतानात् अन्यानि सन्तानान्तराण्यपि विशीर्येरन्।
2. उदाहरणार्थ देखिए, विद्यारण्यः विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 80।
3. देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 526 और 537।

"किसी का भी कहीं अस्तित्व नहीं है, चाहे हम उसे स्वयं से उत्पन्न मानें, या दूसरे से उत्पन्न मानें, या दोनों से उत्पन्न मानें, या किसी भी कारण से उत्पन्न न मानें।" इसका अर्थ यह है कि कारणता की धारणा एक भ्रम है; और चूँकि बुद्ध का सिद्धान्त किसी भी चीज को अकारण नहीं मानता, इसलिए सम्पूर्ण जगत् भ्रममूलक है। इस प्रकार माध्यमिक सिद्धान्त पूर्णतः निषेधात्मक है। सारा अनुभव भ्रम है,[1] और विश्व मिथ्या सम्बन्ध रखनेवाली मिथ्या वस्तुओं का जाल मात्र है। इस बात को भारतीय लोक-साहित्य के साहसी वीर, उदयन, के नकली हाथी के द्वारा मारे जाने के दृष्टान्त से समझाया गया है।[2] यह माना गया है कि यह मत अनुभव की सामान्य वस्तुओं को 'संवृति-सत्य' मानने के विरुद्ध नहीं है। वे सब व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए तो सत्य हैं, परन्तु जब ये दार्शनिक विश्लेषण की कसौटी पर कसी जाती हैं, तब वे धुन्ध की तरह लुप्त हो जाती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से वे बोधगम्य हो सकती हैं, पर दार्शनिक कसौटी पर वे खरी नहीं उतरतीं, क्योंकि उनका स्वरूप पूर्णतः स्वव्याघाती है।

माध्यमिक के इस उग्र दृष्टिकोण के बावजूद यह बता दिया जाना चाहिए कि शेष तीन सम्प्रदायों से इसका अन्तर कितना अल्प है। उन सभी के अनुसार साधारण ज्ञान में ऐसे तत्त्व होते हैं जिनका वस्तुओं पर अध्यारोप मन के द्वारा किया जाता है। जैसे, उनमें से कोई भी गोत्व इत्यादि सामान्यलक्षणों को वास्तविक नहीं मानता। प्रत्येक इन्हें पूरी तरह से विचारमूलक मानता है। योगाचार-सम्प्रदाय सम्पूर्ण भौतिक जगत् को ही भ्रममूलक मान बैठता है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के सभी सम्प्रदाय साधारण ज्ञान को अधिकांशतः केवल व्यावहारिक रूप में सत्य मानते हैं। माध्यमिक इतना-भर और करता है कि इस सिद्धान्त को सारे अनुभव पर लागू कर देता है। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि क्या वह किसी भावात्मक परम सत्ता की धारणा से बिलकुल ही शून्य है? चूँकि यहाँ हमारा उद्देश्य उत्तरकालीन बौद्ध-दर्शन को मुख्यतः उस रूप में प्रस्तुत करना है जिस रूप में हिन्दू विचारकों ने उसे समझा था और उनके ग्रन्थों में उसका वर्णन पाया जाता है, इसलिए इस प्रश्न का उत्तर देना आसान है। वे इस बात में बिलकुल एकमत हैं कि माध्यमिक के अनुसार शून्य ही एकमात्र सत्य है। और इस बिलकुल ही हास्यास्पद लगने वाले सिद्धान्त का खण्डन करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। कुछ तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि ऐसे सिद्धान्त के खण्डन में गम्भीर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं

1. अनुभव एव मृषा—नागार्जुन की कारिका (सेंट पीटर्सबर्ग संस्करण), टीका, पृ० 58।
2. वही, 13.1, टीका।

है, क्योंकि यह स्वयं ही खण्डित है।[1] हमें यह लगेगा कि, किसी भावात्मक आधार के बिना प्रत्येक चीज़ का निषेध करते जाना असम्भव है और इसलिए परम सत्य शून्य नहीं हो सकता। यदि सत्य कुछ भी नहीं है, तो किसी भी चीज़ को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। यही बात हिन्दू दार्शनिकों ने माध्यमिक की आलोचना के बतौर कही है।[2] अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके मत से माध्यमिक शाब्दिक अर्थ में शून्यवादी था।[3] बौद्ध-ग्रन्थों में पाए जाने वाले कुछ कथनों से ऐसा लगता है कि कम-से-कम माध्यमिक सिद्धान्त के इतिहास के एक चरण में स्वयं माध्यमिक का भी मत इससे भिन्न नहीं था। एक कथन इस प्रकार है : जब माध्यमिक पर शून्यवादी होने का आरोप लगाया जाता है, तब चन्द्रकीर्ति, जो सातवीं शताब्दी में हुआ था और जिसने नागार्जुन की कारिका पर टीका लिखी है, इस आरोप का निराकरण करने के बजाय केवल इतना कहता है कि माध्यमिक सिद्धान्त साधारण शून्यवाद से भिन्न है।[4] इससे स्पष्ट है कि माध्यमिक मत निषेधात्मक है, हालांकि साधारणतः शून्यवाद का जो अर्थ लिया जाता है हू-ब-हू वैसा वह शायद नहीं है। साधारण शून्यवाद से इसका अन्तर यह बताया गया है कि इसका निषेध एक सैद्धान्तिक या मनमौजी निषेध मात्र न होकर अनुभव की तार्किक परीक्षा का फल है। इस अन्तर को समझाने के लिए माध्यमिक की उस साक्षी से तुलना की गई है जो न्यायालय में चोर के विरुद्ध गवाही पूरी तरह यह जानते हुए देता है कि उसने चोरी की है, तथा साधारण शून्यवादी की उस साक्षी से तुलना की गई है जो चोर के विरुद्ध झूठी गवाही तो नहीं देता, लेकिन जिसकी गवाही अपने ज्ञान पर नहीं

1. देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.31 पर शांकर भाष्य और बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकर भाष्य, पृ० 577।
2. उदाहरणार्थ, देखिए भामती 2.2.31। इस आलोचना से माध्यमिक बहुत बेचैन हो जाता है और आलोचक को भावात्मक के प्रति असाध्य पक्षपात से ग्रस्त कह बैठता है। चन्द्रकीर्ति ने एक ऐसे व्यक्ति से तुलना करके उसका उपहास किया है जिसे कहा जाता है कि उसे कुछ नहीं मिलेगा, फिर भी जो इस आशा में रहता है कि उसे वस्तुतः 'कुछ नहीं' दिया जाएगा। देखिए नागार्जुन की कारिका पर टीका, 13.8।
3. हिन्दू दर्शन-ग्रन्थों में माध्यमिक के जो उल्लेख पाए जाते हैं, उनसे एकमात्र यही निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि माध्यमिक का उद्देश्य केवल अन्य दार्शनिकों के द्वारा दी हुई विश्व की विभिन्न व्याख्याओं को अस्वीकार्य सिद्ध करना था, लेकिन इसका कोई समाधान उसके पास देने के लिए नहीं था। कहीं-कहीं उसे जो वैतण्डिक कहा गया है, उसका यही अर्थ है।
4. नागार्जुन की कारिका, 18.7, टीका।

बल्कि किसी पूर्वग्रह पर आधारित होती है। कुछ आधुनिक विद्वानों का विश्वास है कि माध्यमिक वास्तव में शून्यवादी नहीं रहा होगा, बल्कि उसने अवश्य ही किसी भावात्मक परम सत्ता को भी माना होगा, और उस परम सत्ता को शून्य कहने का अर्थ केवल यह रहा होगा कि व्यावहारिक दृष्टि से वह शून्य-जैसी ही है।[1] लेकिन हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थों से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर हम ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। और केवल हिन्दू ही नहीं बल्कि जैन भी[2] माध्यमिक को शून्यवादी मानते हैं।

: 3 :

यह कहा गया है कि बौद्ध-धर्म के अन्दर ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा के एक के बाद एक अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ, लेकिन उसका व्यावहारिक उपदेश प्रायः अपरिवर्तित बना रहा। यह बात हीनयान के बारे में सही हो सकती है, लेकिन महायान के बारे मे सही नही है। यह विश्वास कि सब दुःखमय है और सुख 'दुःख की अल्प मात्रा' ही है तथा सम्यक् ज्ञान उसे दूर करने का उपाय है, महायान मे भी बना रहा। निर्वाण की प्राप्ति के लिए निर्धारित साधना-क्रम भी वही पहले-जैसा अंशतः नैतिक और अंशतः बौद्धिक है। परन्तु जीवन के आदर्श की धारणा यहाँ बहुत ही बदल जाती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो आदर्श बहुत पहले से प्रचलित हो गए थे। अनेक अन्य नास्तिक मतों की तरह हीनयान ने निवृत्ति का आदर्श अपनाया, जबकि महायान ने अधिकांशतः हिन्दू विचारधारा के प्रभाव से अपने व्यावहारिक उपदेश को प्रवृत्ति के आदर्श के अनुसार ढाला। यद्यपि अपना निर्वाण अब भी जीवन का लक्ष्य बना रहता है, तथापि अब यह स्वयं साध्य नही रहता, बल्कि दूसरों के निर्वाण के लिए प्रयत्न करने की योग्यता लानेवाला मात्र समझा जाता है। यही बोधिसत्व का आदर्श है, जो हीनयान के अर्हत् के आदर्श से भिन्न है। अपने को पूर्ण बनाकर बोधिसत्त्व अन्यों के आध्यात्मिक हित के लिए अपने निर्वाण का त्याग कर देता है। वह अपने ही बुद्धत्व से सन्तुष्ट न रहकर अपने साथ के दुःखी प्राणियों की सहायता के लिए उत्सुक रहता है और उनके लिए कोई भी त्याग करने के लिए तैयार रहता है। वास्तव में आत्म-त्याग से युक्त प्रेम अथवा निष्काम कर्म को महायान-धर्म का मूल कहा जा सकता है। इस प्रकार यह विश्वास किया जाता है कि नागार्जुन यहाँ जन्म लेने से पहले एक सुखी लोक में रहनेवाला

1. उदाहरणार्थ देखिए, Indian Philosophy, जि० 1, पृ० 662-6।
2. देखिए, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (बनारस संस्करण), 1.15, टीका : सर्वशून्यतैव परं तत्त्वम्। प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णय-सागर प्रेस), पृ० 25 भी द्रष्टव्य है।

देवता था और बुद्ध के महान् उपदेश का प्रचार करने के लिए उसने इस पृथ्वी पर अवतार लिया था। जातक-कथाओं में भी यही भावना ओत-प्रोत है। ये बुद्ध के पूर्व-जन्मों के चरित्रों के वर्णन होने का दावा करती हैं। परोपकार-वृत्ति महायान-धर्म की इतनी प्रमुख विशेषता बन गई थी कि हम कवियों और नाटककारों को महायान से प्रभावित पात्रों का परिचय देते समय इसके ऊपर विशेष रूप से बल देते हुए पाते हैं। इस प्रकार सातवीं शताब्दी ईसवी के एक संस्कृत नाटक नागानंद[1] में, जो एक बौद्ध आख्यान पर आधारित है, नायक संसार से दूर भागनेवाले और अपनी ही शान्ति की चिन्ता करनेवाले साधु की निन्दा करते हुए कहता है : "तापस निस्सन्देह वन में सुखी रहता है—उसकी तृणों की शैया होती है, शुभ्र शिला उसका पर्यंक होती है, छायादार वृक्ष के नीचे उसका निवास होता है, झरने का शीतल जल उसका पेय होता है और हरिण उसके साथी होते हैं। परन्तु ऐसे जीवन मे एक त्रुटि होती है। बिलकुल एकाकी रहने से उसे अन्य मनुष्यों की सहायता करने का अवसर सुलभ नहीं होता और इसलिए उसका जीवन निरुद्देश्य रहता है।" इस प्रसंग में कर्म की बौद्ध धारणा मे भी एक बड़ा परिवर्तन आ जाता है; और इस नियम की कठोरता कि किसी भी परिस्थिति में आदमी अपने किये हुए कर्मों के फल भोगने से नहीं बच सकता, इस विश्वास से घट जाती है कि बोधिसत्व अपने शुभ कर्मों को अन्यों को दे सकता है और इस प्रकार दुःख से मुक्ति पाने के प्रयत्न में उनकी सहायता कर सकता है। वह अपने पुण्यों को अपने साथियों की मुक्ति के हेतु समर्पित कर सकता है। शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से इस प्रकार अपने पुण्यों को दूसरों को देने के बारे मे चाहे जो कहा जाए, यह नवीनता बौद्ध धर्म में एक विशेष आकर्षण पैदा कर देती है, और श्रद्धालु व्यक्ति को उदारचेता और करुणा करनेवाले बोधिसत्व के प्रति पूर्ण भक्ति प्रदर्शित करने के लिए प्रेरित करती है। कुछ और भी नई बातें पैदा हुई, जैसे, बुद्ध को देवता बना दिया गया। इन नई बातो का व्यावहारिक जीवन पर महान् प्रभाव पड़ा। परन्तु उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म की ये नवीनताएँ चाहे जितनी रोचक हों, वे हमारे क्षेत्र के बाहर हैं और उनकी चर्चा के लिए हम नहीं रुकेंगे।

---

1. अंक 4.2, भवभूति-कृत मालतीमाधव, 10-21 भी द्रष्टव्य है।

अध्याय 10

न्याय-वैशेषिक

अब हम उन दर्शनों का अध्ययन शुरू करते हैं जिन्हें सामान्यतः आस्तिक कहा जाता है।[1] न्याय और वैशेषिक, जो इस अध्याय के विषय हैं, अलग-अलग शुरू हुए थे। यहाँ हमारा उन्हें इकट्ठा कर देने का औचित्य यह है कि वे अपने वास्तववादी और दुःखवादी दृष्टिकोण के कारण घनिष्ठ रूप से जुड़ गए हैं और स्वयं उन्हीं के प्रवक्ताओं ने कालान्तर में उन्हें वस्तुतः एक में मिला दिया था। इस प्रकार अन्नंभट्ट के तर्कसंग्रह और विश्वनाथ के भाषा-परिच्छेद या कारिकावली नामक लोकप्रिय ग्रन्थों में, जो लगभग एक ही काल (1650 ई०) की रचनाएँ हैं, इन दोनों दर्शनों का एक साथ प्रतिपादन किया गया है। इन रचनाओं में जो संहतिवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है वह बहुत प्राचीन है और वात्स्यायन[2] तक में पाई जा सकती है, जिसका भाष्य गौतम के सूत्र पर मिलने वाली सबसे प्राचीन व्याख्या है। परन्तु इन दोनों दर्शनों का विधिवत् एकीकरण दसवीं शताब्दी के आस-पास हुआ, जब शिवादित्य-कृत सप्तपदार्थी-जैसे ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इन दर्शनों के इतिहास में इन दो चरणों के अलावा शायद एक तीसरा चरण भी दिखाई देगा, जिसमें न्याय-वैशेषिक का स्वतन्त्र विश्व-दर्शन लगभग भुला दिया गया और इन्हें तर्कशास्त्र मात्र मानकर सामान्य रूप से दर्शन के और विशेष रूप से वेदान्त के अध्ययन के सहायक की कम प्रतिष्ठित स्थिति प्रदान कर दी गई। इन दो दर्शनों के तर्कशास्त्रों में कुछ उल्लेखनीय अन्तर हैं और तर्कशास्त्र के इतिहास के अलग-अलग कालों में भी अलग-अलग सिद्धान्त माने गए। आगे हम अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तरों की ओर ध्यान खींचेंगे। 'वैशेषिक' शब्द 'विशेष'[3] से निकला है, जिसका अर्थ 'अन्तर' है और इस दर्शन का यह नाम इसलिए हुआ कि

1. देखिए, पीछे पृ० 183, टिप्पणी 3।
2. देखिए, 1.1.9.
3. पाणिनि, 5.4.34. देखिए Encyclopaedia of Religion and Ethics, जि० 12, पृ० 570.

इसके अनुसार एकता नहीं बल्कि भिन्नता विश्व के मूल में है। 'न्याय' शब्द का अर्थ सामान्यतः 'वादविवाद करना' माना जाता है (धात्वर्थ, पीछे जाना)। यह इस दर्शन के द्वारा अपनाई गई प्रणाली का सूचक है, जो प्रधानतः तर्कनिष्ठ और विश्लेषणात्मक है; और यह तथ्य इसके लिए कभी-कभी प्रयुक्त 'हेतुविद्या' (कारणों का विज्ञान) जैसे अन्य नामों से भी प्रकट होता है। इसकी इस विशेषता के कारण ही इसमें आकारी तर्कशास्त्र की समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है, और वास्तव में इसे साधारणतः आकारी तर्कशास्त्र ही भ्रमवश माना भी जाता है। इस प्रकार 'न्याय-वैशेषिक' का संयुक्त नाम इस तन्त्र में अपनाई गई प्रणाली का और साथ ही उस प्रणाली से अन्त में प्राप्त परिणाम, बहुवादी वास्तववाद, का सूचक है। न्याय और वैशेषिक के तथिक सम्बन्ध के बारे में कोई निश्चित बात कहना कठिन है। यदि उन सूत्रों को छोड़कर, जिनमें इनके सिद्धान्त समाविष्ट हैं, केवल तन्त्रों की बात की जाए, तो शायद वैशेषिक न्याय से पुराना है।

न्याय-वैशेषिक का साहित्य विस्तार में केवल वेदान्त के साहित्य से पीछे है। यहाँ केवल सबसे प्रमुख ग्रन्थों में से थोड़े ही गिने जाएँगे। कणाद का वैशेषिक-सूत्र दस अध्यायों में है, जिनमें से प्रत्येक दो पादों में विभक्त है। यद्यपि इसमें वैशेषिक-दर्शन में माने हुए विभिन्न पदार्थों की व्याख्या ही मुख्य उद्देश्य है, तथापि अनुषंगतः कई सामान्य दार्शनिक समस्याओं की भी चर्चा है। इस पर सबसे प्राचीन व्याख्या जो उपलब्ध है, प्रशस्तपाद का भाष्य है। यह शायद पाँचवीं शताब्दी ई० की रचना है, लेकिन इसमें विषय-विवेचन सूत्रों के क्रम से नहीं हुआ है। यह एक व्याख्या होने के बजाय वैशेषिक मत का नये रूप में प्रतिपादन है और उसका काफ़ी विस्तार कर देता है। उदाहरणार्थ, वैशेषिक-दर्शन के इतिहास में इसमें पहली बार सृष्टि-सिद्धान्त और ईश्वर के स्रष्टा होने का स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। ऐसी नवीनताओं के कारण इस ग्रन्थ को एक भाष्य के बजाय वैशेषिक मत के एक स्वतन्त्र प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में देखना अधिक उचित है। अनेक लेखकों ने इसकी व्याख्या की है, जिनमें सबसे अधिक महत्त्व उदयन और श्रीधर का है। ये दोनों समसामयिक थे। उदयन (984 ई०) अधिक विख्यात है, विशेष रूप से अपनी कुसुमाञ्जलि के कारण, जो भारतीय ईश्वरवाद का वरेण्य ग्रन्थ बन चुका है। उसकी व्याख्या किरणावली के नाम से प्रसिद्ध है, जबकि श्रीधर की व्याख्या का नाम कन्दली है। दोनों ही वैशेषिक मत का सबसे स्पष्ट वर्णन करते हैं। शंकर मिश्र (1650 ई०) का उपस्कार कणाद के सूत्र पर सामान्य अर्थ में टीका है, परन्तु इसके रचयिता ने

बहुत बाद के होने के कारण इसे मूल की सर्वत्र सही व्याख्या नही माना जा सकता। गौतम का न्यायसूत्र पाँच अध्यायो में है और प्रत्येक अध्याय दो पादों में विभक्त है। इसका भाष्य वात्स्यायन (400 ई०) ने लिखा है। वात्स्यायन ने पहले के नैयायिकों का भी उल्लेख किया है, जिनसे उसने मतभेद प्रकट किया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध बौद्ध-विचारक दिङ्नाग ने वात्स्यायन की कटु आलोचना की थी और उद्योतकर ने अपने वार्तिक में इस आलोचना का उत्तर दिया था। उद्योतकर शायद हर्षवर्धन के शासन-काल (608-648 ई०) मे हुआ था और सम्भवतः उसका आश्रित था। उसके वार्तिक की व्याख्या वाचस्पति (841 ई०) ने तात्पर्यटीका मे की है। वाचस्पति अद्वैतवादी था, पर उसने सभी तन्त्रों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे है। इस पर पूर्वोक्त उदयन ने तात्पर्यटीका-परिशुद्धि नामक टीका लिखी। एक अन्य लेखक जयन्त भट्ट का भी नाम लिया जा सकता है, जिसका काल ठीक-ठीक ज्ञात नही है। उसकी 'न्यायमंजरी' प्रकटतः गौतम के सूत्रो मे से कुछ चुने हुओं की ही व्याख्या है, परन्तु यह उस काल के भारतीय दार्शनिक विचारों के बारे मे एकत्रित सूचनाओं का विशाल कोश है। यहाँ तक न्याय के इतिहास का प्राचीन युग है। उसका नवीन युग[2] बारहवी शताब्दी के आस-पास पूर्वी बंगाल के निवासी गंगेश के युगान्तरकारी ग्रन्थ तत्त्व-चिन्तामणि से शुरू होता है। इस महान् ग्रन्थ ने धीरे-धीरे पिछले ग्रन्थों को, जिनमें दो सूत्र-ग्रन्थ भी शामिल हैं, पृष्ठभूमि में धकेल दिया। हाल मे ही, जब प्राचीन भारत मे लोगों की दिलचस्पी बढ़ी है, तभी इन्हें न्याय-वैशेषिक के अध्ययन में उचित स्थान पुनः प्राप्त हो सका है। यह कहा गया है कि गंगेश के हाथो से न्याय के तर्कशास्त्र को अन्तिम रूप प्राप्त हुआ है। उसके बाद एक स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में न्याय का अध्ययन घटता गया। लेकिन इसने एक दिशा मे जो खोया उसे दूसरी दिशा में पा भी लिया, क्योंकि नव्य न्याय ने सब दार्शनिक तन्त्रो को प्रभावित किया है। विशेष रूप से यह विचार और भाषा में यथार्थता लाने में सहायक हुआ है। लेकिन इसके बाद वादविवाद विस्तार की सूक्ष्मताओ तक ही अधिकाधिक सीमित होता गया और आकारिक पूर्णता मुख्य ध्येय बन गया। ये वादविवाद चाहे जितने तीव्र रहे हो और बौद्धिक अनुशासन के साधन के रूप मे इनका चाहे जो

1. देखिए, 1.1.32.
2. प्राचीन' और 'नवीन' शब्द न्याय के इतिहास के उन्हा कालों के लिए सदैव प्रयुक्त नहीं होते। एक काल मे जो 'नवीन' कहलाता है वह कालान्तर मे 'प्राचीन' कहला सकता है।

महत्त्व रहा हो, दार्शनिक ज्ञान की दृष्टि से इन्हें अधिकांश में निष्फल ही कहना पड़ेगा। इनमें गहराई कम है और बारीकी अधिक। तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर अनेक टीकाएँ और उपटीकाएँ लिखी गईं। इनमें से केवल दो का उल्लेख पर्याप्त है। एक वासुदेव सार्वभौम के द्वारा लिखी गई है और दूसरी रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा। वासुदेव सार्वभौम (1500 ई०) नैयायिकों की प्रसिद्ध 'नदिया-शाखा' का प्रथम नैयायिक था और रघुनाथ शिरोमणि तथा बंगाल के प्रसिद्ध धर्मगुरु चैतन्य उसके शिष्य थे। गंगेश के ग्रन्थ पर रघुनाथ की टीका, दीधिति, सर्वोत्तम है। गदाधर ने, जो इसी शाखा से सम्बन्धित था, इस पर एक टीका लिखी; और तभी से यह टीका अपने विभिन्न वादों में न केवल बंगाल की बल्कि सारे देश की न्याय पढ़ानेवाली पाठशालाओं में उच्च अध्ययन की प्रधान पाठ्य-पुस्तक बन गई। गदाधर को भारतीय तार्किकों का सम्राट् कहा गया है। मोटे तौर से वह उसी समय हुआ जिस समय लार्ड बेकन हुआ था। एक आधुनिक लेखक के अनुसार बेकन की मध्यकालीन यूरोपीय दर्शन की आलोचनाओं को "अत्यधिक औचित्य के साथ गदाधर की रचनाओं के उद्धरणों से पुष्ट किया जा सकता है।" न्याय के अनेक लघु ग्रन्थों में से दो सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, तर्कसंग्रह और कारिकावली हैं, जिन पर स्वयं उन्हीं के रचयिताओं ने क्रमशः दीपिका और सिद्धान्त मुक्तावली नामक टीकाएँ लिखी हैं।

: 1 :

इस दर्शन का प्रारम्भिक अभ्युपगम यह है कि ज्ञान स्वरूपतः एक ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है जो उसके बाहर और उससे स्वतन्त्र है।[1] इन वस्तुओं को न केवल ज्ञान से, बल्कि परस्पर भी स्वतन्त्र बताया गया है। अतः इस सिद्धान्त को बहुवादी वास्तववाद कहा जा सकता है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञान की सामग्री बिलकुल ही असम्बद्ध होती है। अनुभव की विविध वस्तुएँ कुछ वर्गों में रखी जा सकती हैं, जिनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण द्रव्य है। द्रव्यों की संख्या नौ है: (1) पृथ्वी, (2) अप्, (3) तेजस्, (4) वायु, (5) आकाश, (6) काल, (7) दिक्, (8) आत्मा, और (9) मनस्। सम्पूर्ण जगत् इनसे और इनके विभिन्न गुणों तथा सम्बन्धों से बना हुआ है। ये सब नित्य हैं और या तो विभु हैं या अणु हैं। सावयव वस्तुओं को अनिवार्यतः अनित्य माना गया है। ये द्रव्य सब-के-सब भौतिक नहीं हैं और इसलिए न्याय-वैशेषिक चार्वाक की तरह भौतिकवादी नहीं है। इसके बावजूद यह दर्शन सब द्रव्यों को

1. न ज्ञानेन कदाचिदुपलब्धिः—न्यायसूत्रभाष्य, 4.1.32।

समान दृष्टि से देखता है। आत्मा तक को यह अन्य वस्तुओं की तरह एक वस्तु मानता है, जो उन्हीं के समान गुणों और सम्बन्धों से युक्त तथा ज्ञेय है। सबसे अच्छा यह होगा कि इन नौ द्रव्यों का शुरू में ही वर्णन कर दिया जाए :

(1) से (4) तक : पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु—इन चार को हम सामान्य अनुभव की वे स्थूल चीज़ें न समझें जिनको इन नामों से पुकारा जाता है। ये तो उनके अन्तिम उपादान-कारण हैं, जो अतीन्द्रिय हैं और निरवयव तथा नित्य परमाणुओं की शक्ल में रहते हैं। घट इत्यादि वस्तुएँ ऐसे ही परमाणुओं से निर्मित हैं। ये वस्तुएँ उत्पत्ति-नाशशील हैं। इनकी उत्पत्ति के प्रकार को हम अभी समझाएँगे।

(5) आकाश—यह और ऊपर के चार द्रव्य 'भूत' कहलाते हैं; लेकिन ये चार द्रव्य मूल और गौण, दो रूपों में मिलते हैं, जबकि आकाश केवल एक रूप में मिलता है। यह निरवयव और विभु है और इसलिए इससे कोई वस्तु पैदा नहीं होती, जबकि अन्य भूतों के अतिसूक्ष्म परमाणुओं से अन्य चीज़ें बनती हैं।

(6) और (7) : काल और दिक्— ये बाह्यार्थ माने गए हैं और आकाश की ही तरह विभु और निरवयव है। काल को मापा नहीं जा सकता। सूर्य की गति इत्यादि सावयव साधनों से केवल परोक्ष रूप में उसे मापा जाता है। इसी प्रकार दिक् भी अपरिमेय है और ध्रुव इत्यादि परिमित वस्तुओं से उसका निर्धारण होता है। दूसरे शब्दों में, काल और दिक् परमाणुमय नहीं हैं; और क्षण तथा बिन्दु उनके कृत्रिम विभाग मात्र हैं। मूल द्रव्य काल और दिक् से अवच्छिन्न नहीं हैं, जबकि गौण या व्युत्पन्न वस्तुएँ, जैसे घट, अनिवार्यतः दिक्कालावच्छिन्न हैं। यह बता देना चाहिए कि दिक् और आकाश एक चीज़ नहीं हैं। आकाश यहाँ दिक् में भरा हुआ कोई ईथर-जैसा द्रव्य है, शब्द जिसका विशेष गुण माना गया है।[1] असल में शब्द-गुण के आश्रय के रूप में ही आकाश की कल्पना की गई है, क्योंकि गुण का अस्तित्व किसी द्रव्य में ही हो सकता है। पहले चार द्रव्यों से इसकी बन्धुता उनके साथ ही इसके भी एक भूत माने जाने से प्रकट है।

(8) आत्मा—ये अनेक हैं और प्रत्येक को सर्वव्यापी और नित्य माना गया है। सैद्धान्तिक रूप से सर्वत्र विद्यमान होने पर भी आत्मा के भाव, विचार और संकल्प केवल उस भौतिक शरीर तक ही सीमित होते हैं जिससे उसका उनकी उत्पत्ति के समय सम्बन्ध होता है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा की वहाँ स्थिति होती है जहाँ वह सक्रिय होता है। न्याय-वैशेषिक का एक

1. न्यायवार्तिक, 3,1.72।

विचित्र मत यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है और वह भी आवश्यक नहीं बल्कि आगन्तुक मात्र है। इसे आगन्तुक इसलिए माना गया है कि स्वप्नरहित नींद में आत्मा तो रहता है, लेकिन उसमें ज्ञान का अभाव रहता है। इस प्रकार आत्मा का जड़द्रव्य से अन्तर केवल इस बात में है कि वह चैतन्य से युक्त हो सकता है, इस बात में नहीं कि चैतन्य उसका स्वरूप है। इसके दो अन्य गुण इच्छा और यत्न भी लगभग इसी तरह आगन्तुक माने गए हैं। ये भी ज्ञान की तरह ही सविषयक हैं और विषयों से सम्बन्ध के बिना निरर्थक हैं। इस प्रकार इस दर्शन में असली अजड़ तत्त्व आत्मा नहीं, बल्कि ये तीन गुण हैं, जो सब अनित्य हैं। हमें अपने आत्मा का अव्यवहित ज्ञान होता है; लेकिन अन्य आत्माओं का ज्ञान केवल व्यवहित रूप में उनके व्यवहार इत्यादि से ही हो सकता है।[1] चाहे आत्मा अपना हो चाहे दूसरे का, उसका स्वरूपतः ज्ञान कभी नहीं होता, बल्कि सर्दैव कुछ विषयों के उद्देश्य के रूप में, जैसे 'मैं सुखी हूँ', 'वह भूखा है' इत्यादि के रूप में, होता है।

(9) मनस्—यह अणु और नित्य है, परन्तु पहले चार द्रव्यों के विपरीत इससे कोई चीज उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना मनस् होता है। यह ज्ञान का एक साधन-मात्र है और इसलिए अन्य इन्द्रियों की तरह ही जड़ है।[2] ज्ञान चाहे बाह्य वस्तुओं का हो, चाहे आन्तरिक अवस्थाओं का, उसकी उत्पत्ति के लिए मनस् एक अनिवार्य सहायक कारण है। कभी-कभी आंखों और कानों के खुले होने पर भी हमें कुछ दिखाई-सुनाई नहीं देता। इस तथ्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इनसे भिन्न और सामान्य कोई चीज होनी चाहिए, जो सारे ज्ञान की सहायक हो। यही चीज मनस् बताई गई है।[3] उदाहरणार्थ, कभी-कभी हम समय जानने के उद्देश्य से घड़ी देखते हैं, पर हमें समय नहीं दिखाई देता, क्योंकि हमारा मनस् उस समय किसी अन्य काम में लगा होता है। इस प्रकार मनस् के दो व्यापार माने जा सकते हैं: वह आत्मा की ज्ञान-प्राप्ति में सहायता करता है; परन्तु साथ ही वह ज्ञान के क्षेत्र को एक ही वस्तु या वस्तुओं के एक ही समूह तक सीमित करके प्रतिबन्धक का काम भी करता है। मनस् के द्वारा ही आत्मा का इन्द्रिय और शरीर से सम्बन्ध स्थापित होता है; और इनके द्वारा उसका बाह्य जगत् से सम्बन्ध होता है। आत्मा के सांसारिक बन्धन में पड़ने का मूल कारण निश्चय ही उसका मनस् से

1. सिद्धान्तमुक्तावली (निर्णय सागर), पृ० 209।
2. अतः अंग्रेजी में 'मनस्' के लिए 'माइन्ड' शब्द का प्रयोग गलत है।
3. न्यायसूत्र 1.1.16।

सम्बद्ध होना है;[1] क्योंकि यद्यपि शरीर और इन्द्रियाँ भी अनेक जन्मों में आत्मा के साथ रहते हैं, तथापि ये प्रत्येक जन्म में बिलकुल नये हो जाते हैं जबकि मनस् वही बना रहता है।

अकेले द्रव्यों से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण नहीं होता। उनसे तो उसका ढांचा मात्र बनता है। और इसलिए अब उनके विभिन्न गुणों और सम्बन्धों को बताना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अब हमें द्रव्य के अलावा अन्य पदार्थों पर विचार करना होगा। एक को छोड़कर, जिसकी ओर हम शीघ्र ही ध्यान आकर्षित करेंगे, शेष पदार्थ ऐसे वर्ग हैं जिनमें वस्तुओं का विभाजन किया जा सकता है। वे विधेयों के प्रकार मात्र नहीं हैं। द्रव्य के अलावा अन्य पदार्थ ये हैं : गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। ये वैशेषिक के सात पदार्थ हैं और न्याय को भी स्वीकृत हैं।[2] शुरू में अभाव-पदार्थ को छोड़कर छ: पदार्थ शायद माने गए थे।[3] द्रव्य के बारे में हम पहले ही बता चुके हैं। अब हम शेष छः के बारे में थोड़ा-थोड़ा कहेंगे।

गुण—ये एक या अधिक द्रव्यों में पाए जाते हैं और बौद्ध-दर्शन की तरह इन्हें स्वतः वस्तु नहीं माना गया है। यद्यपि ये द्रव्य पर आश्रित होते हैं, तथापि उससे बिलकुल पृथक् माने जाते हैं, क्योंकि ये स्वतः जाने जा सकते हैं और इसलिए इस दर्शन[4] के अनुसार इन्हे स्वतन्त्र सत्ताएँ होना चाहिए। इनका जो भी स्वरूप है वह प्रत्येक वस्तु से, उन द्रव्यों से भी जिनसे इनका सम्बन्ध है, बिलकुल स्वतन्त्र है; लेकिन ये नित्य नहीं हैं।[5] फिर भी सरल और अविश्लेष्य होने के कारण इन्हें विश्व के मूलभूत घटकों में शामिल कर दिया गया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमे से किसी को भी मनस्तन्त्र नहीं माना गया है। न्याय-वैशेषिक कुछ सत्ताओं को मनस्तन्त्र और कुछ को स्वतन्त्र मानने को स्वव्याघाती समझता है। चौबीस गुण बताये गए हैं, जिनमें न केवल भौतिक गुण बल्कि चेतन गुण भी शामिल हैं, जो आत्म-द्रव्य में रहते हैं। इस मनमानी संख्या से प्रकट होता है कि गुण-पदार्थ कृत्रिम है। सब गुणों का उल्लेख आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनका दार्शनिक महत्त्व उतना

1. बन्धनिमित्तं मनः—न्यायमंजरी, पृ० 499।
2. न्यायसूत्रभाष्य, 1.1.9।
3. वैशेषिकसूत्र 1.1-4।
4. प्रतीतिभेदात् भेदोऽस्ति—न्यायमंजरी, पृ० 312।
5. नित्य द्रव्यों के गुण नित्य होते हैं। नित्यगतं नित्यं, अनित्यगतं अनित्यम्—तर्कसंग्रह, पृ० 16।

नहीं है जितना वैज्ञानिक महत्व है। केवल इतना उल्लेख कर देना चाहिए कि परिमाण इत्यादि अनेक गुण दो या अधिक द्रव्यों में पाए जाने से सामान्य हैं, जबकि कुछ विशेष-विशेष द्रव्यों में ही पाए जाते हैं और इसलिए 'विशेष गुण' कहलाते हैं। गन्ध पृथ्वी का, रस अप् का, रूप तेजस का, स्पर्श वायु का और शब्द आकाश का विशेष गुण है।[1] ये तथाकथित गौण गुण हैं। यह दर्शन इन्हें न केवल वास्तविक मानता है, बल्कि अपने बहुवादी दृष्टिकोण के अनुसार यह भी मानता है कि द्रव्यों का असली स्वरूप उन गुणों से प्रकट होता है जिनमें वे भिन्न होते हैं, न कि उन गुणों से जिनमें वे समान होते हैं। शेष द्रव्यों में से केवल आत्मा के ही विशेष गुण होते हैं, जिन्हें बाद में बताया जाएगा।

कर्म—इस पदार्थ के अन्दर विभिन्न प्रकार की गतियाँ आती हैं। ये केवल द्रव्यों मे ही पाई जाती हैं और उनसे इनका सम्बन्ध ठीक वही है जो गुणों का है। इनकी स्वतन्त्र सत्ता भी उसी प्रकार समझी जानी चाहिए जिस प्रकार गुणों की। इन्हें एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने का अर्थ यह है कि न्याय-वैशेषिक स्थिरता को वास्तविकता का एक सम्भव लक्षण मानता है। इस बात में यह सांख्य इत्यादि कुछ अन्य दर्शनों से भिन्नता रखता है। सांख्य भौतिक जगत् में वस्तुओं को बिलकुल भी स्थिर नहीं मानता। न्याय-वैशेषिक के अनुसार विभु द्रव्य हमेशा गतिहीन होते है, क्योंकि वह केवल स्थान-परिवर्तन (परिस्पन्द) को मानता है, रूप-परिवर्तन (परिणाम) को नहीं मानता। परमाणु और परिच्छिन आकारवाले द्रव्य गतिहीन या गतिशील दोनों हो सकते हैं।

सामान्य—यहाँ तक जिन नाना वस्तुओं का उल्लेख हुआ है, उन्हें घटाकर प्ररूपों में रखा जा सकता है। उनमें व्यवस्था पाई जाती है, जो उनके अन्दर रहनेवाले लक्षणों के कारण है, न कि प्रत्यक्षकर्ता की बुद्धि के अध्यारोप का फल। इसी व्यवस्था की बदौलत वस्तुओं का द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीन वर्गों के अलावा गाय, लालिमा, उड़ना इत्यादि उपवर्गों में भी विभाजन किया जा सकता है। पाठक को इस बारे मे सतर्क करना आवश्यक है कि वह सामान्य का मतलब 'जीनस' (genus) न समझ बैठे। यह केवल उस लक्षण या गुण का नाम है जो दो या अधिक चीजों में समान रूप से पाया जाता है। यह जीनस की तरह नहीहै, जो इस तरह के लक्षण प्रदर्शित करने वाली चीजों के वर्ग का नाम है। द्रव्य-पदार्थ में घट, पट इत्यादि का समावेश होता है; लेकिन द्रव्यत्व-सामान्य मे, जो कि प्रत्येक द्रव्य का लक्षण है, घटत्व, पटत्व इत्यादि

1. देखिए, सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक 90-2। पृथ्वी में रूप, रस और स्पर्श भी हैं; जल में रूप और स्पर्श भी हैं; तेजस् में स्पर्श भी है।

अपर सामान्यों का समावेश नहीं होता। सामान्य का ठीक अंग्रेज़ी पर्याय 'यूनिवर्सल' है और यह प्लेटो के 'आइडिया' से मिलता-जुलता है, लेकिन पूरी तरह से नहीं।[1] यह सबमें और प्रत्येक में होता है; फिर भी भिन्न-भिन्न व्यष्टियों में भिन्न नहीं होता। इस प्रकार गोत्व एक है और अविश्लेष्य है। यह नित्य है, पर इसका प्रत्यक्ष स्वतः नहीं बल्कि केवल एक विशेष गाय के माध्यम से ही हो सकता है। यद्यपि गाय और गोत्व एक साथ ही दिखाई देते हैं, तथापि इन्हें दो भिन्न वस्तुएँ माना गया है।[2] इन सामान्यों में सत्ता पर या सर्वोच्च है, क्योंकि यह वस्तुओं की अधिकतम संख्या की विशेषता है; इसके नीचे अवरोही क्रम में अन्य सामान्य आते हैं, जैसे द्रव्यत्व, पृथिवीत्व और घटत्व; गुणत्व और शुक्लत्व; इत्यादि। इन अपर सामान्यों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर कम संख्या वाली वस्तुओं में पाया जाता है।

सामान्य के बारे में हम सबसे अधिक तीव्र विवाद देखते हैं। कुछ, जैसे जैन, बाह्य जगत् में इसका एक आधार मानते हैं, लेकिन वे इसे एक नित्य सत्ता नहीं मानते। उदाहरण के लिए, गोत्व का वस्तुगत अस्तित्व है, पर यह उनके लिए पुद्गल की एक विशेष वृत्ति मात्र है, जो गाय के, जिसमें यह पाया जाता है, लोप के साथ लुप्त हो जाता है।[3] दूसरी ओर, बौद्ध इसका बिलकुल निषेध करते हैं और इसे कल्पना मात्र मानते हैं (पृ० 204)। वे पूछते हैं कि एक पर्वत और एक सरसों के बीज में, जिन्हें एक साथ पृथ्वी के वर्ग में रखा जाता है, समान क्या है ? उनका कहना है कि यदि सामान्य को न्याय-वैशेषिक के अर्थ में स्वीकार कर लिया जाए, तो अनेक तर्कविरुद्ध बातों को मानना पड़ेगा। सबसे पहली कठिनाई यह है कि इससे अनेक में एक की उपस्थिति की कोई सन्तोषप्रद व्याख्या प्राप्त नहीं होती। फिर हम यह भी नहीं बता सकते कि तथाकथित सामान्य, जो सर्वगत माना जाता है, सर्वत्र व्याप्त होने से ऐसा है (सर्वसर्वगत) या व्यक्तियों में सीमित रहते हुए सर्वगत (व्यक्तिसर्वगत) है। पहले विकल्प से केवल अव्यवस्था ही हाथ आएगी, क्योंकि तब एक गाय में न केवल गोत्व रहेगा बल्कि अश्वत्व इत्यादि भी रहेंगे, जो अभ्युपगम के अनुसार सर्वत्र विद्यमान हैं। दूसरे विकल्प से उसके एक नये व्यक्ति

1. जैसे, यहाँ व्यष्टियों को सामान्य के अनुकरण नहीं माना गया है।
2. यहाँ हम केवल सामान्य के अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार 'जाति' का ही विचार कर रहे हैं। एक अन्य प्रकार भी माना गया है, जिसे 'उपाधि' कहते हैं, जैसे 'नीलघटत्व' है। ऊपर का वर्णन इस पर लागू नहीं होता।
3. देखिए, परीक्षामुखसूत्र, 4.4।

में एकाएक आ जाने का स्पष्टीकरण देना कठिन हो जाएगा, क्योंकि नया व्यक्ति तो एक ऐसी जगह में उत्पन्न हुआ है जहाँ उससे सम्बन्धित सामान्य पहले विद्यमान नहीं था और अभ्युपगम के अनुसार गति करने में असमर्थ होने के कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह जिस जगह पर था वहाँ से चलकर नये व्यक्ति से जुड़ गया होगा। बौद्ध यह मानता है कि हम कुछ वस्तुओं को अन्यों की अपेक्षा अधिक सदृश पाते हैं; लेकिन यह उसके मत से ज्ञाता की बुद्धि की मध्यस्थता का फल है और इसकी निषेधात्मक व्याख्या देनी होगी, अर्थात् इसे वास्तविक एकता न मानकर अन्यों से भिन्न होने का सूचक मानना पड़ेगा, क्योंकि वस्तुओं को जानने के लिए भेद ही पर्याप्त है। जब हम एक जानवर को गाय कहते है, तब हमारा मतलब यह नहीं होता कि उसमें गोत्व-नामक कोई भावात्मक लक्षण है, बल्कि यह होता है कि उसमे अश्वत्व इत्यादि लक्षण नहीं हैं।[1] ऐसी आपत्तियों का न्याय-वैशेषिक जो उत्तर देता है उसमें मुख्य बात यह है कि ये आपत्तियाँ सामान्यों की स्थानपरक धारणा पर आधारित हैं—इस पर कि व्यक्ति सामान्य का स्थान है। परन्तु व्यक्ति सामान्य का स्थान नहीं होता; वह तो सामान्य का व्यंजक मात्र है, जिससे हम सामान्य को सर्वत्र रहने वाला भी मान सकते हैं और जहाँ उससे सम्बन्धित व्यक्ति हैं केवल वहीं रहने वाला भी।[2]

विशेष—यह उन नित्य वस्तुओं का व्यवच्छेदक है जो अन्यथा एक-जैसी होती हैं। इस प्रकार पृथ्वी के दो परमाणु या दो आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में प्रत्येक दृष्टि से परस्पर सदृश होते हैं और यदि फिर भी वे दो हैं, तो प्रत्येक में कोई पृथक् लक्षण होना चाहिए। यही लक्षण उसका विशेष है। इसकी आवश्यकता केवल उन वस्तुओं के लिए होती है, जिनमें अन्यथा कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता, और जो नित्य होती हैं, जैसी वे जिनका अभी हमने उल्लेख किया है। दो घट आकार, रंग इत्यादि में बिलकुल एक-जैसे हो सकते हैं, परन्तु जिस उपादान से वे निर्मित हैं, उसकी पृथक्ता से उन्हें एक-दूसरे से अलग पहचाना जा सकता है। इसलिए उनके लिए विशेषों को मानना जरूरी नहीं है। अप् के एक परमाणु और पृथ्वी के एक परमाणु इत्यादि नित्य वस्तुओं के भेद के लिए भी उन्हें मानना जरूरी नहीं है, क्योंकि उनके गुणों का भेद ही इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त है। अब निश्चय ही यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि विशेषों का एक-दूसरे से क्या अन्तर है। इसका इससे अधिक सन्तोषजनक

1 देखिए, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 13-14।

2. न्यायमंजरी, पृ० 312-13।

कोई जवाब नही है कि वे न केवल उन नित्य वस्तुओं को, जिनमें वे होते हैं, एक-दूसरी से पृथक् करते हैं, बल्कि स्वयं को भी परस्पर पृथक् करते हैं (स्वतो व्यावर्तक)। विशेष-पदार्थ इस दर्शन के बाद के अनुयायियो ने छोड़ दिया था।[1]

समवाय—हम बता चुके है कि इस दर्शन में सम्बन्धों को बाह्यार्थ माना गया है। इन्हे सामान्यतः गुणों के अन्दर शामिल किया जाता है;[2] लेकिन एक सम्बन्ध ऐसा है जिसे एक स्वतन्त्र पदार्थ मान लिया गया है। केवल समवाय को ही आन्तरिक या आत्मीय सम्बन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा सम्बन्धित वस्तुओं के पृथक् होने का मतलब अनिवार्यतः उनमें से कम-से-कम एक का नष्ट हो जाना है। ऐसी वस्तुओं को अयुतसिद्ध कहा गया है, जिसका मतलब यह है कि उनमें से एक सदैव दूसरी के साथ ही पाई जाती है। अयुत-सिद्ध वस्तुओं के पांच प्रकार है और केवल इन्हीं में समवाय-सम्बन्ध होता है। वे प्रकार ये हैं : (1) द्रव्य और गुण, (2) द्रव्य और कर्म, (3) व्यष्टि और सामान्य, (4) नित्य वस्तु और विशेष, तथा (5) अवयवी और अवयव, अथवा शब्दान्तर से, उपादान-कारण और उसका कार्य। पाठक देखेगा कि एक, यानी अन्तिम, मामले में दोनों ही सम्बन्धित वस्तुएँ द्रव्य है और एक, यानी तीसरे, में दोनों का द्रव्य होना आवश्यक नही है, क्योकि गुण और कर्म भी इस दर्शन में व्यष्टि है तथा सामान्यों को अभिव्यक्त करते हैं। समवाय-पदार्थ को मानने की जरूरत इस दर्शन के बहुवादी अभ्युपगम से पैदा हुई है, जो 'अलग पहचाने जा सकने' को 'भिन्न' होने के बराबर मानता है। यदि द्रव्य अपने गुणों से, व्यष्टि सामान्य से, उपादान-कारण अपने कार्य से एकदम भिन्न है और इसके बावजूद ये साथ पाए जाते हैं, तो इनका सम्बन्ध होना चाहिए; और इस सम्बन्ध को विलक्षण होना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक जोड़े में से कम-से-कम एक दूसरे से पृथक् अस्तित्व नही रखता। इस सम्बन्ध को ठीक तरह से समझने के लिए संयोग से, जिसे गुण के वर्ग में रखा गया है और जो एक कादाचित्क या वियोज्य सम्बन्ध है, इसका अन्तर जान लेना आवश्यक है। संयोग केवल द्रव्यों के मध्य होता है, जबकि समवाय, जैसा कि हम देख चुके है, द्रव्यों के मध्य हो

1. देखिए, Prof Keith: Indian Logic and Atomism, पृ० 196, टिप्पणी। सामान्य और विशेष के बारे में सूत्र का मत हमने नहीं दिया है। उसके मत में कुछ अस्पष्टता है।
2. जैसे 'अपरत्व' को। फिर भी यदि कड़ाई से देखा जाए, तो एकमात्र संयोग का सम्बन्ध ही गुणों के अन्दर शामिल किया गया है, जो 'समवाय' से मिलता-जुलता है। केवल ये ही दो मामले ऐसे हैं, जिनमें सम्बन्धित वस्तुओं में से एक का दूसरी में होना कहा जा सकता है।

भी सकता है और नहीं भी। फिर समवाय केवल ऐसी वस्तुओं के बीच होता है जो कभी एक-दूसरी से अलग नहीं पाई जातीं, जबकि संयोग सामान्यतः एक-दूसरी से पृथक् रहनेवाली चीजों (युतसिद्ध) के बीच होता है। जो दो वस्तुएँ इस समय संयुक्त हैं, वे कभी अवश्य ही पृथक् रही होंगी और फिर भी पृथक् हो सकती हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप संयुक्त या पृथक् होने की प्रक्रिया से अप्रभावित बना रहता है। इस कारण से, यानी सम्बन्धित वस्तुओं के अप्रभावित रहने से, संयोग को एक बाह्य सम्बन्ध मानना चाहिए। यह कह देना जरूरी है कि समवाय को भी एक बाह्य सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा, हालाँकि न्याय-वैशेषिक के आधुनिक ग्रन्थों में इसे प्रायः एक आन्तरिक सम्बन्ध के रूप में दिखाया जाता है। लेकिन इसे आन्तरिक मानना इस दर्शन की प्रवृत्ति के विपरीत होगा, क्योंकि यह सम्बन्धित वस्तुओं को इस मामले में भी परस्पर उतना ही भिन्न मानता है जितना दूसरे में। निस्सन्देह यहाँ सम्बन्धित वस्तुओं में से एक दूसरी से अलग कभी नहीं पाई जाती। फिर भी, यह बात उनके भिन्न होने को असिद्ध नहीं करती। इस बात का कारण कि क्यों उनमें से एक दूसरी के बिना अस्तित्व रख सकती है जबकि दूसरी नहीं रख सकती, यह है कि जैसे ही यह उत्पन्न होती है वैसे ही अपने सम्बन्धी से सम्बन्धित हो जाती है। उदाहरण के लिए, हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि लाल रंग अस्तित्व में आने के बाद गुलाब का गुण बनता है। उसकी उत्पत्ति और उसका सम्बन्ध दोनों युगपत् होते हैं।[1] दूसरे शब्दों में, संयोग आगंतुक या औपाधिक है जबकि समवाय आवश्यक है, हालाँकि यह आवश्यकता एकांगी-मात्र है। लाल रंग गुलाब पर निर्भर है, किन्तु गुलाब लाल रंग पर नहीं, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार गुलाब इस सम्बन्ध के बिना भी अस्तित्व रख सकता है, भले ही केवल एक क्षण के लिए ऐसा हो।[2] अतः समवाय को एक बाह्य सम्बन्ध कहने का मतलब यह नहीं है कि संयोग की तरह ही इसमें भी दोनों सम्बन्धी एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं, बल्कि यह है कि उनमें से केवल एक स्वतन्त्र है।[3]

अभाव—यह पदार्थ बाद में जोड़ा गया था और इसका जोड़ा जाना न्याय-वैशेषिक की वास्तववादी प्राक्कल्पना में गर्भित बातों को पूरी तरह खोल

---

1. जातः सम्बद्धश्च इत्येकः कालः—न्यायवार्तिक, 2.1.33.
2. देखिए, तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 4 और 7 : उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं अगुणं अक्रियं च तिष्ठति।
3. इस विषय की और अधिक चर्चा के लिए देखिए, *Proceedings of the Indian Philosophical Congress*, जि० 3, पृ० 159-66.

देने के प्रयत्न का फल है। यदि ज्ञान सदैव किसी बाह्यार्थ की ओर संकेत करता है, तो अभाव के ज्ञान को भी किसी बाह्यार्थ का सूचक होना चाहिए। जैसे भाव-विषयक ज्ञान में, वैसे ही अभाव-विषयक ज्ञान में भी ज्ञान को ज्ञात से भिन्न होना चाहिए।[1] दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु का अभाव और उसके अभाव का ज्ञान एक ही बात नहीं है। लेकिन अभाव से केवल किसी चीज़ का किसी स्थान पर अभाव ही समझना चाहिए, न कि शून्य, जिसे न्याय-वैशेषिक अचिन्त्य या छद्म-प्रत्यय कहकर हटा देता है। हम एक घड़े या कपड़े के कमरे में या मेज पर अभाव की बात कह सकते हैं, लेकिन निरपेक्ष अभाव की कदापि नहीं। अतः यह पदार्थ अन्यों के विपरीत सापेक्ष समझा गया है। यह 'कमल नीला नहीं है', इस तरह के निषेधात्मक निर्णय के विधेय का संवादी तथ्य है, और इस तरह 'पदार्थ' का न्याय-वैशेषिक में जो अर्थ समझा गया है, उसका अपवाद है। अभाव के चार प्रकार माने गए हैं : घड़े के उदाहरण में पहले 'प्रागभाव' होता है, अर्थात् घड़े की उत्पत्ति से पहले जब केवल मिट्टी होती है या उसके दो अर्धांश (कपाल) होते हैं, उसका अभाव होता है। अभाव का यह प्रकार स्पष्टतः अनादि होता है; पर जब सम्बन्धित वस्तु उत्पन्न हो जाती है तब इसका अन्त हो जाता है। जब घड़ा नष्ट हो जाता है और उसके टुकड़े ही बाकी रह जाते हैं, तब उसका 'ध्वंसाभाव' होता है। यह सादि, लेकिन अनन्त होता है, क्योंकि ठीक वही घड़ा फिर कभी पैदा नहीं होगा। यह भी कह दिया जाना चाहिए कि ये दो अभाव क्रमशः मिट्टी और घड़े के टुकड़ों के विशेषण हैं। तीसरा प्रकार 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है, जैसे भूमि पर घड़े का न होना। यद्यपि यह वस्तुतः कालाधीन होता है, तथापि कुछ तकनीकी कारणों से, जिनकी चर्चा यहाँ नहीं की जाएगी, इसे अनादि-अनन्त माना गया है। अन्तिम प्रकार 'अन्योन्याभाव' है, जो कि अपने अलग-अलग स्वरूप रखनेवाली दो वस्तुओं के भेद का ही नाम है और इस तरह के निर्णयों में प्रकट होता है, जैसे 'घट पट नहीं है', 'क ख नहीं है' इत्यादि। यह तादात्म्य के नियम के अनुसार अनादि-अनन्त होता है।

हम देख चुके हैं कि पहले चार द्रव्यों के दो रूप होते हैं—एक परमाणुओं का और दूसरा उन स्थूल वस्तुओं का जो परमाणुओं से उत्पन्न होती हैं। ये उनसे कैसे उत्पन्न होती हैं ? इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद

1. बर्ट्रेंड रसेल के इस कथन से तुलना कीजिए : "'सुकरात जीवित नहीं है' का आधार कोई बाह्य तथ्य होना चाहिए। यह अभावात्मक तथ्य है। यदि सत्यता के संवाद-सिद्धान्त को सही होना है, तो अभावात्मक तथ्यों को मानना पड़ेगा।"

में मिलता है। इसके बारे में पहली महत्त्व की बात यह है कि जैन-सिद्धान्त के विपरीत यह परमाणुओं मे गुणात्मक अन्तर मानता है, जिससे किसी एक भूत के परमाणु केवल उसी भूत की वस्तुओं को उत्पन्न कर सकते हैं। निस्सन्देह सामान्यतः यह माना जाता है कि वस्तुओं के निर्माण मे एक से अधिक भूत शामिल होते हैं। लेकिन न्याय-वैशेषिक के अनुसार ऐसा मानना अनुचित है। उदाहरणार्थ, मानव-शरीर केवल पृथ्वी के परमाणुओं से ही निर्मित है, न कि उनके साथ-साथ जल इत्यादि अन्य भूतों के परमाणुओं से भी, हालांकि वे भी उसमें पाए जाते हैं। समवाय की धारणा के मूल में यही विश्वास है कि द्रव्यों के सम्बद्ध होने के तरीकों में अन्तर होता है। जब एक ही प्रकार के द्रव्य सम्बद्ध होते हैं और उनसे किसी नई चीज़ का निर्माण होता है, तब संयोग और समवाय दोनों होते हैं; लेकिन जब ऐसी वस्तु नहीं बनती, बल्कि केवल एक संघात बनता है, तब केवल संयोग होता है—सम्बद्ध द्रव्य चाहे एक प्रकार के हों, चाहे अलग-अलग प्रकार के। इस दर्शन के अनुसार नवीनता का निश्चय केवल प्रतीति के आधार पर होता है। यह नही सोचना चाहिए कि संघात यांत्रिक संयोग का और सृष्टि आंगिक वृद्धि का फल है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक ठीक बीज से उगने वाले पेड़ की तरह यांत्रिक रीति से निर्मित कपड़े में भी समवाय मानता है। जब एक कपड़ा बुना जाता है तब उसमें तागे संयुक्त होते हैं; और संयुक्त तागों से अस्तित्व मे आनेवाला कपड़ा एक नई चीज़ होता है। इस नई चीज़ का तागों से समवाय-सम्बन्ध होता है। परन्तु तागों के गुच्छे में केवल संयोग होता है, क्योंकि, जैसा कि सामान्यतः माना जाता है, उससे कोई नई चीज़ उत्पन्न नही होती। सामान्य अनुभव की सब भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति कपड़े के समान मानी गई है और इसलिए उन्हें नई समझना चाहिए। कारणता का यह सिद्धान्त जो पहले से अस्तित्व रखनेवाली चीज़ों की संख्या में नई-नई चीज़ों का जुड़ना सम्भव मानता है, 'आरम्भवाद', अर्थात् नवीन सृष्टि का सिद्धान्त, कहलाता है। इसे 'असत्कार्यवाद' भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार कार्य का उत्पत्ति से पहले अस्तित्व नहीं होता। इसका यह मतलब नही है कि कार्य कारण से पृथक् अस्तित्व रख सकता है। कार्य कारण मे उसी प्रकार समवेत होता है जिस प्रकार गुण का द्रव्य में समवेत होना माना जाता है। इस सिद्धान्त में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इस तरह से उत्पन्न सभी वस्तुएं अनित्य होती हैं।[1] अर्थात्, असत्कार्यवाद के अनुसार न केवल असत् वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, बल्कि उत्पत्ति के बाद

1. उत्पन्नं निरुध्यते—न्यायसूत्रभाष्य, 1.29।

उनका अस्तित्व जल्दी या देर में समाप्त भी हो जाता है। बौद्ध-मत के विपरीत यहाँ यह माना गया है कि किसी भी चीज का अस्तित्व दो क्षणों से कम समय तक नहीं रह सकता।[1] एक क्षण उत्पत्ति का और दूसरा बने रहने का होता है और इसलिए वस्तु का नाश जल्दी-से-जल्दी भी हुआ, तो केवल तीसरे ही क्षण में हो सकता है। अन्तिम बात यह है कि इस तरह से उत्पन्न सभी वस्तुएँ अनिवार्यतः दो या अधिक द्रव्यों में अवस्थित रहती हैं। उत्पन्न वस्तुओं के न केवल दिक् और काल में बल्कि द्रव्यों में भी अवस्थित रहने पर ज़ोर दिया जाना उल्लेखनीय है। जब हम देखते हैं कि गुण और कर्म भी—चाहे वे उत्पन्न हों या न हों—स्वरूपतः ऐसे ही हैं, तब यह प्रकट हो जाता है कि उत्पन्न जगत् सम्पूर्णतः नित्य द्रव्यों में अवस्थित है। न्याय-वैशेषिक में 'प्रपंच' शब्द का प्रयोग वैध नहीं है। फिर भी यदि इस शब्द का प्रयोग किया जा सके, तो कहा जा सकता है कि नित्य द्रव्य सारे प्रपंच के मूलाधार हैं। इस प्रकार विश्व में दो जगत् शामिल हैं : (1) मूल जगत् जो नित्य है, जिसकी कभी सृष्टि नहीं हुई और जिसका कभी नाश नहीं होगा; यह विभिन्न प्रकार के परमाणुओं, आत्मा इत्यादि अन्य द्रव्यों, सामान्यों इत्यादि से बना हुआ है; और (2) व्युत्पन्न जगत् जो मूल जगत् पर आश्रित है और हमारे साधारण अनुभव का जगत् है। अनुषंगतः यह सिद्धान्त परिवर्तन की प्रसिद्ध समस्या को हल करने का भी प्रयत्न करता है। हल यह है कि वस्तु की एकता के अन्दर निरन्तर विक्रिया होती हो, इस अर्थ में परिवर्तन वास्तव में नहीं होता। कुछ चीज़ें तो ऐसी हैं जो कभी बदलती ही नहीं। केवल उनसे उत्पन्न अनित्य चीज़ें ही बदलती हैं। इस प्रकार यह हल अब तक बताये गए इन दो हलों से भिन्न है : बौद्ध-मत के अनुसार परिवर्तन पूरी वस्तु का होता है और प्रतिक्षण होता रहता है तथा जैन-मत के अनुसार नित्य द्रव्य के अन्दर परिवर्तन होता है।[2]

परमाणुओं की सत्ता का अनुमान दृश्य भौतिक वस्तुओं की विभाज्यता से किया गया है। कहा गया है कि एक ऐसी अवस्था होनी चाहिए जिसके बाद वस्तुओं का विभाजन नहीं हो सकेगा, क्योंकि यदि सभी वस्तुएँ समान रूप से यावदनंत विभाज्य हों, तो उनमें जो परिमाण-भेद दिखाई देता है उसका स्पष्टीकरण मुश्किल हो जाएगा। विभाजन की इस प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था में परमाणु प्राप्त होते हैं, जो भौतिक जगत् में पाई जानेवाली सब अनित्य

1. द्रव्य के-साथ-साथ अन्य उत्पन्न होने वाले पदार्थों पर भी यह बात लागू होती है। जैसे, ज्ञान केवल दो क्षणों तक बना रहता है (सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 425)।
2. धर्मधर्मिणोः परिणामयोः निरासात्—उपस्कार, 7.2.9।

वस्तुओं के कारण हैं और स्वयं किसी कारण से उद्भूत नहीं हैं। वे सरल और निरवयव हैं और उनका आकार सूक्ष्मतम होता है, जिससे आकाश में उनकी उपस्थिति उसके सर्वगतत्व में बाधक नहीं बनती। उनमें अन्दर और बाहर का भेद नहीं होता, और पृथ्वी इत्यादि चार भूतों में उनकी संख्या अनन्त है। वस्तुओं की उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है : पृथ्वी इत्यादि के दो परमाणु संयुक्त होते हैं और उनसे एक द्व्यणुक बनता है, जो परमाणु की तरह ही आकार में अति सूक्ष्म होता है और इसलिए अतीन्द्रिय है। तीन द्व्यणुकों के संयोग से एक त्र्यणुक बनता है।[1] यह वह अल्पतम वस्तु है जो आँखों से दिखाई देती है। सूर्य के प्रकाश में नाचता दिखाई देनेवाला धूल का कण त्र्यणुक है। इसका परिमाण स्थूल होता है और सब स्थूल वस्तुएँ ऐसे ही त्र्यणुकों से निर्मित होती हैं। त्र्यणुक का स्थूल परिमाण परमाणुओं के अतिसूक्ष्म परिमाण से कैसे उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का यह उत्तर दिया जाता है कि उसका परिमाण उन परमाणुओं की संख्या पर निर्भर है जिनसे वह निर्मित होता है, जबकि साधारण वस्तुओं का परिमाण उनके घटकों के परिमाण पर निर्भर होता है। लेकिन यह उत्तर बहुत स्पष्ट नहीं है और अन्य दर्शनों के अनुयायियों ने इसकी तीखी आलोचना की है।[2] जब द्व्यणुकों से ऊपर की भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, तब उनके गुण भी उत्पन्न होते हैं और ये गुण उन कारणभूत द्रव्यों के गुणों से निर्धारित होते हैं जिनसे वे उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार कपड़े का सफ़ेद रंग उन तागों के सफ़ेद रंग से निर्धारित होता है जिनसे वह बनाया जाता है। कपड़े का सफ़ेद रंग न केवल कपड़े से भिन्न होता है बल्कि तागों के सफ़ेद रंग से भी उतना ही भिन्न होता है। इस प्रकार कई सफ़ेद रंग होते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ये सफ़ेद रंग के विशेष दृष्टान्त हैं, जो सब-के-सब शुक्लत्व-सामान्य को प्रदर्शित करते हैं। वस्तुओं के जगत् का एकमात्र अन्य पक्ष जो उत्पन्न किया जा सकता है, कर्म है। कर्म के मामले में भी प्रत्येक प्रकार के अनेक विशेष दृष्टान्त माने गए हैं। इस प्रकार एक पक्षी का उड़ना हू-ब-हू वैसा नहीं है जैसा दूसरे पक्षी का उड़ना, हालाँकि दोनों एक ही वर्ग के हैं। विनाश की प्रक्रिया की, जो कि सृष्टि-प्रक्रिया की उल्टी है, न्याय-वैशेषिक के पुराने और नये प्रवक्ताओं ने कुछ अलग-अलग व्याख्याएँ दी हैं।[3] पुराने प्रवक्ताओं के अनुसार जिन कपालों (आधे भाग) से

1. इस विषय में अन्य मत भी हैं।
2. जैसे देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.11 पर शांकर-भाष्य।
3. तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 10।

घट बना होता है, उसके विनाश के एक क्षण बाद घट का विनाश होता है। इस क्रम का एकमात्र अपवाद सर्वप्रथम कार्य, अर्थात् द्वयणुक होता है। चूँकि इसका उपादान-कारण अविनाशी होता है, इसलिए द्वयणुक का विनाश उसके घटकभूत परमाणुओं के वियोजन मात्र से मान लिया जाता है। इस मत में कठिनाई इस बात की सन्तोषप्रद व्याख्या देने की है कि उपादान-कारण के नष्ट हो जाने के बाद थोड़े समय के लिए भी कार्य क्यों बना रहता है। इस कठिनाई से बचने के लिए तथा साथ ही व्याख्या में एकरूपता लाने के लिए बाद के प्रवक्ताओं ने उपादान-कारण के विभिन्न भागों के वियोजन को ही सर्वत्र कार्य के विनाश का कारण मान लिया और इस प्रकार उपादान-कारण का विनाश, जहाँ वह होता हो, कार्य के विनाश के उपरान्त होता है।

इस प्रसंग में न्याय-वैशेषिक की ईश्वर की धारणा की ओर भी ध्यान खींचना जरूरी है। कणाद के सूत्र में इसका कहीं उल्लेख नहीं है, हालांकि टीकाकारों ने उसे वहाँ दिखाया है। गौतम ने ईश्वर का नाममात्र के लिए उल्लेख किया है और कुछ लोगों को तो इस बात मे सन्देह है कि न्याय शुरू मे ईश्वरवादी था। लेकिन प्रशस्तपाद और वात्स्यायन दोनो ईश्वर को मानते हैं[1] और बाद मे यह विश्वास इस दर्शन का एक स्वीकृत अंग बन गया। उदाहरण के लिए, श्रीधर ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है; और उदयन ने तो ईश्वर की समस्या और उसके समाधान को जिस रूप मे प्रस्तुत किया है, उसे सर्वोत्कृष्ट माना जा सकता है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। यह तो एक ऐतिहासिक बात हुई। तार्किक दृष्टि से भी इस दर्शन को निस्सन्देह एक सर्वशक्तिमान् सत्ता की आवश्यकता है, जो जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया को शुरू कर सके[2]। हो सकता है कि न्याय-वैशेषिक के प्रारम्भिक सिद्धान्त मे अनिवार्य रूप से गर्भित इस विश्वास को वात्स्यायन इत्यादि ने स्पष्ट और विकसित किया हो। ईश्वर को आत्मा के वर्ग मे रखा गया है और जीवात्माओं से उसका भेद करने के लिए उसे परमात्मा कहा गया है। ईश्वर अन्य आत्माओं की तरह सर्वव्यापी और नित्य है; लेकिन चैतन्य इत्यादि गुण जीवात्मा में सदैव चाहे रहें या न रहें, ईश्वर में वे सदैव रहते है। ईश्वर का ज्ञान न केवल नित्य है, वल्कि सर्वग्राही और पूर्ण भी है। वह इच्छा और सकल्प कर सकता है, परन्तु जीव के विपरीत

1. न्यायसूत्रभाष्य, 4.1.21; प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 48-9।
2. देखिए, वेदान्तसूत्र 2.2.12, शांकर भाष्य।

सुख-दुःख से रहित है[1] तथा बुरी इच्छा और द्वेष से प्रेरित नहीं होता। उसे विश्व की सृष्टि करने वाला माना गया है। सृष्टि से यहाँ मतलब केवल मूल वस्तुओं यानी परमाणुओं इत्यादि का उपयुक्त विन्यास ही मानना चाहिए, हालांकि इस दर्शन में कारण के बारे में जो मत अपनाया गया है, उसके अनुसार ये विन्यास स्वयं ही नई वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। ईश्वर न केवल सृष्टि करता है, बल्कि जगत् का परिरक्षण और यथासमय विनाश भी करता है, जिसके बाद पुनः सृष्टि होती है। यह सारी प्रक्रिया उन जीवों के पिछले कर्मों के अनुसार चलती है जिन्हें एक विशेष कल्प में जगत् के रंगमंच पर अपनी-अपनी भूमिकाएं खेलनी हैं। यह कहना मुश्किल है कि यहाँ ईश्वर की पुरुष-रूप में कल्पना है; परन्तु उसे इच्छा-शक्ति से युक्त मानना यह प्रकट करता है कि पुरुषत्व का उसमें निषेध भी नहीं किया गया है। निस्सन्देह ईश्वर को यहाँ मनुष्य की आकृति के अनुसार कल्पित नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसे आत्मा कहने से उसका मनुष्य के स्वरूप से कुछ साम्य झलकता है। यहाँ ईश्वर की धारणा में एक विशेष बात यह है कि उसकी सत्ता को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया गया है, वेदान्त की तरह शब्द-प्रमाण से नहीं। इस प्रकार यह दर्शन अपनी सामान्य तर्कनावादी प्रवृत्ति के अनुसार ही अन्य बातों की तरह यहाँ भी तर्कना को प्रधानता देता है। यदि हम इसके विशेष अभ्युपगमों पर आधारित तर्कों को[2] छोड़ दें, तो शेष सामान्य प्रकार के हैं और उनकी चर्चा में अधिक समय नहीं लगेगा। हम यहाँ उनमें से मुख्य तर्कों को उदयन के अनुसार प्रस्तुत करेंगे। वे ये हैं: (1) जगत् एक कार्य है और सभी अन्य कार्यों की तरह अन्य प्रकार के कारणों के साथ-साथ एक निमित्त-कारण, यानी ऐसे कर्ता की ओर भी संकेत करता है, जो ज्ञान और शक्ति की दृष्टि से इतने महान् कार्य को करने में समर्थ हो। (2) सृष्टि में एक भौतिक व्यवस्था दिखाई देती है, जो एक नियन्ता या विधाता का अस्तित्व प्रकट करती है। (3) जगत् की नैतिक व्यवस्था के पीछे एक ऐसा व्यवस्थापक होना चाहिए जो योग्यता के अनुसार न्याय करता हो। एक अन्य तर्क का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो कुछ असाधारण है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में उदयन विरोधी प्रमाण के अभाव का भी पूरा लाभ उठाता है। कुसुमांजलि के पाँच अध्यायों में से एक पूरा इस बात के

1. न्यायसूत्रभाष्य, पृ० 200-1। बाद के कुछ नैयायिक वेदान्त की ओर झुकते हुए ईश्वर को शाश्वत आनन्द से युक्त मानते हैं। सिद्धान्तमुक्तावली की दिनकरी टीका, पृ० 467 देखिए।
2. देखिए, कीथ का पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 268।

विवेचन को दिया गया है और यह दिखाता है कि कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं दिया जा सकता जो यह सिद्ध करे कि ईश्वर नहीं है। निस्सन्देह इस तर्क का केवल वाद-विवाद में ही महत्त्व है; फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह तर्क कुछ शक्ति रखता है, विशेष रूप से उन लोगों के विरुद्ध जो इस आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का विरोध करते हैं कि उसे कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अब इस दर्शन के कारण-विषयक सिद्धान्त के बारे में कुछ शब्द कह देना जरूरी है। कारण को कार्य का पूर्ववर्ती होना चाहिए, अर्थात् उसका अस्तित्व कार्य के ठीक पहले के क्षण में होना चाहिए। उसे उसका नियत पूर्ववर्ती भी होना चाहिए। लेकिन यह वर्णन अतिव्याप्त है, क्योंकि यह अनेक ऐसी बातों पर भी लागू होता है जिन्हें कारण नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, जब घड़ा बनाया जा रहा होता है, तब कुम्हार की लकड़ी के मिट्टी से टकराते रहने से एक आवाज भी होती रहती है; लेकिन इसके नियत पूर्ववर्ती होने के बावजूद इसके घड़े का कारण होने की बिलकुल भी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः कारण की उपर्युक्त परिभाषा को यथार्थ बनाने के लिए कुछ अपवाद बताये गए हैं, जिन्हें अन्यथासिद्ध कहा गया है। इन्हें छोड़ने के बाद जो भी किसी कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो, वह उसका कारण है। अन्यथासिद्ध पाँच प्रकार के माने गए हैं, लेकिन उनका अन्तर अस्पष्ट और अनिश्चित है और इसलिए उन सभी को एक शीर्षक के अन्तर्गत लाकर औपाधिक बातें कहा जा सकता है, जैसा कि जे० एस० मिल ने किया है। अन्यथासिद्धों की पंचविध योजना के सामान्य स्वरूप को बताने के लिए एक या दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। (1) कारण के गुण कार्य के कारण नहीं हैं। जैसे, डंडा घड़े का कारण है, परन्तु डंडे का रंग उसका कारण नहीं है। (2) कारण का कारण भी कारण नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि कुम्हार घड़े का कारण है, पर कुम्हार का बाप उसका कारण नहीं है। स्पष्ट है कि ये 'औपाधिक' बातें हैं, क्योंकि इनकी नियत पूर्ववृत्ति अन्य बातों पर निर्भर है, जैसे ऊपर के उदाहरणों में क्रमशः डंडे और कुम्हार पर। अन्य दर्शनों में सब भावात्मक कार्यों के दो प्रकार के कारण माने गए हैं—एक उपादान-कारण और दूसरा निमित्त-कारण। लेकिन यहाँ निमित्त-कारण तो उसी तरह माना गया है, पर उपादान-कारण के स्थान पर द्रव्य और उसके गुणों में भेद मानने के अनुसार समवायि-कारण और असमवायि-कारण माने गए हैं। समवायि-कारण सदैव कोई द्रव्य होता है; और असमवायि-कारण कोई गुण या कर्म होता है। तदनुसार न्याय-वैशेषिक भावात्मक

कार्य के दो के बजाय तीन कारण कहता है। उदाहरण के लिए, कपड़े के मामले में तागे समवायि-कारण हैं और उनका संयोग, जो कि एक गुण है, असमवायि-कारण है। कपड़े के सफेद रंग के मामले में स्वयं कपड़ा समवायि-कारण है और तागों का सफेद रंग असमवायि-कारण है, तथा यह भी माना गया है कि कपड़े में सफेद रंग की उत्पत्ति कपड़े की उत्पत्ति के एक क्षण बाद होती है। अभावात्मक कार्य के लिए इनमें से किसी भी प्रकार के कारण की जरूरत नहीं है, बल्कि केवल निमित्त-कारण की जरूरत है, जैसे घड़े को तोड़ने के लिए एक डंडे मात्र की।

अब हम न्याय और वैशेषिक पर अलग-अलग दर्शनों के रूप में विचार करके उनके सामान्य दृष्टिकोणों के एक महत्त्वपूर्ण अन्तर की ओर ध्यान खींचेंगे। वैशेषिक विश्व को तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से देखता है, जबकि न्याय उसे ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण से देखता है। यह उन पदार्थों के स्वरूप से स्पष्ट हो जाता है जो इन दर्शनों ने स्वीकार किए हैं। हम वैशेषिक के सात पदार्थों का वर्णन कर चुके हैं। न्याय सोलह पदार्थ मानता है; और वैशेषिक के सातो पदार्थों को यहाँ केवल दूसरे, प्रमेय, के अन्दर शामिल कर दिया गया है। पहला पदार्थ प्रमाण है। प्रमाण और प्रमेय—ये दो पदार्थ न्याय के विशेष दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। न्याय यह जिज्ञासा नहीं रखता कि वस्तुएँ स्वत: क्या हैं, बल्कि इस बात में रुचि लेता है कि कैसे उनकी जानकारी या सिद्धि होती है। इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि न्याय को वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व में कोई सन्देह था। उसने उनका स्वतन्त्र अस्तित्व वैशेषिक की तरह ही नि:संकोच मान लिया, परन्तु ऐसा महसूस किया कि ज्ञान हमें आसानी से भ्रम में डाल सकता है, और इसलिए वह यथार्थ विचार के नियमों की छानबीन में लग गया। यह दृष्टिकोण शेष चौदह पदार्थों[1] के स्वरूप से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि ये सब-के-सब या तो सत्य की खोज में सहायक हैं या अतर्कोचित आक्रमणों से उसे बचाने में उपयोगी हैं।

इस प्रकार न्याय का उद्देश्य पहले सत्य के क्षेत्र पर आधिपत्य करना और फिर भ्रम और कुतर्क के आक्रमण के विरुद्ध तर्कों की चहारदीवारी के

---

1. ये हैं : संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव (अनुमान के अंग), तर्क (ऊहा, कल्पना), निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति (गलत सादृश्य), और निग्रहस्थान।

अन्दर उसे सुरक्षित रखना है।[1] तदनुसार न्याय कोरा तर्कशास्त्र नहीं है, बल्कि वाद-विवाद की कला के आधारभूत सिद्धान्तों का शास्त्र भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में इसका तर्कशास्त्रीय अंश वाद-विवाद में काम आने वाले उपायों के बोझ के नीचे कुछ दब गया था; परन्तु कालान्तर में यह बोझ काफी घट गया और इसे पूरी प्रधानता प्राप्त हो गई। भासर्वज्ञ-रचित न्यायसार-जैसे ग्रन्थों ने अपनी विषय-वस्तु का एक नया वर्गीकरण अपनाकर और उसका प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान—ये सब गौतम के प्रथम पदार्थ, प्रमाण, के अन्दर समाविष्ट हैं—नामक चार शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन करके यह परिवर्तन प्रदर्शित किया है। यह परिवर्तन गगेश के तत्त्वचिन्तामणि में पूरा हो जाता है, जिसमें वादविद्या की अपनी विशेषताओं को अधिकांश में त्यागकर न्याय मुख्य रूप से प्रमाणशास्त्र बन जाता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही न्याय जिस ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण को लेकर चला था, वह अब फिर जोर पकड़ गया और गौतम की योजना का जितना भी वादशास्त्रीय स्वरूप बच रहा वह उसकी अपेक्षा गौण बन गया।

: 2 :

हम देख चुके है कि भारत में मनोविज्ञान कभी भी दर्शन से अपने को मुक्त करने में सफल नहीं हो पाया। फलतः प्रत्येक दर्शन का अपना अलग-अलग मनोविज्ञान है, जो उसकी तत्त्वमीमांसा से प्रभावित है। न्याय-वैशेषिक एक नित्य आत्मा में विश्वास करता है और चैतन्य को, जिसे वह जीवन के कार्यकलाप का आधार कहता है,[2] उसका एक सम्भव गुण मानता है। इसके अतिरिक्त आत्मा के पांच अन्य सम्भव गुण माने गए हैं, जो उसके मनोविज्ञान को प्रभावित करते हैं। ये गुण हैं : राग, द्वेष, सुख, दु:ख और यत्न।[3] राग और द्वेष क्रमशः सुख और दुःख के फल हैं। हम उन चीजों से राग करते हैं जिनसे हमें सुख मिलता है और उन चीजों से द्वेष करते है जिन्हें हम दु:खदायी समझते हैं। लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान तो मन के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक पक्षों को वस्तुतः अलग नहीं मानता और मन को एक इकाई के रूप में देखता है, जबकि न्याय-वैशेषिक इनके भेद को आधारभूत मानता है।

1. न्यायसूत्र, 4.2 50. यह. रोचक बात है कि स्टोइकों ने भी इसी उपमा का प्रयोग किया था।
2. तर्कसंग्रह, पृ० 21।
3. आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में ज्ञान 'कॉग्निशन' है, यत्न 'कोनेशन' है और शेष चार मोटे तौर से 'एफ़ेक्शन' में समाविष्ट हैं।

ज्ञान, इच्छा और यत्न के तीन गुणों को आत्मा में एक विशेष क्रम से प्रकट होनेवाले समझा गया है : पहले ज्ञान होता है, फिर इच्छा और अन्त मे यत्न।[1] किसी चीज के लिए इच्छा उत्पन्न होने से पहले हमें उसका ज्ञान होना जरूरी है; और उस इच्छा को पूरा करने के लिए ही हम कर्म मे प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार भाव ज्ञान और यत्न का मध्यवर्ती है। भाव और यत्न के बारे में इस दर्शन में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व की बातें अधिक नहीं मिलती हैं। वह नैतिक दृष्टि मात्र से इन पर विचार करके सन्तुष्ट हो जाता है। बाद मे हम इसका उल्लेख करेंगे। इनके विपरीत, ज्ञान का पूरी तरह मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। ज्ञान का वर्णन करने से पहले अनुभव और स्मृति का अन्तर जान लेना चाहिए। अनुभव सामान्यतः अपनी निशानी छोड़ जाता है, जिसे भावना या संस्कार कहते हैं। यह आत्मा में रहता है और इसके जाग्रत होने पर वह बात याद हो आती है जिसका पहले अनुभव हुआ था। यह स्मृति है। भावना आत्मा का सातवाँ विशेष गुण है।

अनुभव को मोटे तौर से व्यवहित और अव्यवहित मे विभाजित किया जा सकता है और दोनो में ही मनस् आवश्यक रूप से सहायक होता है। अव्यवहित अनुभव को प्रत्यक्ष कहा गया है और व्यवहित अनुभव, जैसे अनुमान, को परोक्ष कहा गया है, जो प्रत्यक्ष पर आधारित होता है और जिसका इस अनुच्छेद में वर्णन नही किया जाएगा। प्रत्यक्ष के मौलिक ज्ञान होने के कारण उसे किसी अन्य ज्ञान पर आधारित न रहनेवाला ज्ञान परिभाषित किया गया है। जब हम पर्वत पर अग्नि के होने का अनुमान करते हैं, तब हमने पहले वहाँ धुएँ का होना देख लिया होगा और धुएँ और अग्नि की व्याप्ति से हमारा परिचित होना तो आवश्यक है ही। लेकिन नीलत्व को देखने के लिए पहले इस प्रकार का कोई ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। कहने का मतलब यह है कि मौलिक प्रत्यय हमे ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होते हैं। एक और परिभाषा भी है जो प्रत्यक्ष के मनोविज्ञान को समझने के लिए अधिक सहायक है। उसके अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रिय का वस्तु से सन्निकर्ष (संयोग) होने से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। ऐसा सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का एकमात्र हेतु नहीं है, परन्तु उसका विशेष लक्षण है। प्रत्यक्ष-प्रक्रिया का प्रायः यह वर्णन दिया जाता है : आत्मा का मनस् से संयोग होता है; मनस् का ज्ञानेन्द्रिय से संयोग होता है; ज्ञानेन्द्रिय का वस्तु से, और तब, जब पर्याप्त प्रकाश इत्यादि कुछ बाह्य शर्तें भी मौजूद रहती हैं

1. जानाति इच्छति यतते।

प्रत्यक्ष होता है।[1] स्पष्ट है कि यह वर्णन केवल उन्हीं मामलों में लागू होता है जिनमें ऐच्छिक ध्यान शामिल रहता है। जब आदमी सोकर उठता है और अनायास अपने आस-पास की वस्तुओं को देखता है, तब इस प्रक्रिया का क्रम उलट जाता है।[2] 'इन्द्रिय' शब्द से यहाँ अन्य भारतीय दर्शनों में मानी हुई पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अलावा मनस् भी अभिप्रेत है। मनस् सुख, दुःख, भूख इत्यादि के अनुभव का साधन है। इस प्रकार मनस् न केवल अन्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करने में सहायक है, बल्कि कुछ आन्तरिक अवस्थाओं की आत्मा को सीधी जानकारी कराने का भी साधन है। मनस् को, जो कि निरवयव और नित्य है, छोड़कर शेष ज्ञानेन्द्रियों को यहाँ अलग-अलग भूतों से उत्पन्न माना गया है। दृष्टि की ज्ञानेन्द्रिय तेजस् के परमाणुओं से, स्वाद की ज्ञानेन्द्रिय अप् के परमाणुओं से, स्पर्श की ज्ञानेन्द्रिय वायु के परमाणुओं से और गन्ध की ज्ञानेन्द्रिय पृथ्वी के परमाणुओं से बनी हुई है। श्रवणेन्द्रिय स्वयं कर्ण-शष्कुलि से परिच्छिन्न आकाश है। इस मत का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि केवल सदृश ही सदृश को प्रभावित कर सकता है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय और उसके विषय के मध्य सादृश्य हुए बिना उसकी विशेष क्षमता की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, केवल चक्षु ही रूप को ग्रहण करता है, क्योंकि केवल वही तेजस् के परमाणुओं से, जिनका विशेष गुण रूप है, निर्मित है। अनुषंगतः यह कह दिया जाए कि यह दर्शन इसी उपाय से गौण गुणों के बाह्यत्व को, जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, बनाए रखता है।

वस्तुओं के कौन-से प्रकार हैं जो प्रत्यक्ष के द्वारा जाने जा सकते हैं? इस बात का विशेष उल्लेख करने की जरूरत नहीं है कि सात पदार्थों में से कुछ गुणों और कर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। लेकिन क्या शेष पदार्थों के अन्तर्गत आने वाली कोई चीज़ है जो प्रत्यक्ष के द्वारा जानी जा सकती हो? इस बारे में इस दर्शन के कुछ विचित्र मत हैं, जिन पर यहाँ विचार किया जाएगा : (1) वास्तववादी सामान्यतः यह मानते हैं कि द्रव्यों के अस्तित्व का ज्ञान उनके गुणों के प्रत्यक्ष के बाद परोक्षतः अनुमान से होता है। न्याय-वैशेषिक का मत यह है कि द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। लेकिन सब ज्ञानेन्द्रियाँ इस ज्ञान की क्षमता नहीं रखतीं। बाह्य द्रव्यों को ग्रहण करने की क्षमता केवल दृष्टि और स्पर्श की इन्द्रियों में ही होती है और आन्तरिक द्रव्य यानी आत्मा का प्रत्यक्ष केवल मनस् ही कर सकता है। द्रव्य का प्रत्यक्ष ज्ञान

1. न्यायसूत्रभाष्य, I.1.4।
2. न्यायसूत्र, 2.1.26।

खाली माना नहीं गया है, बल्कि इस तरह के अनुभवों का हवाला देकर इसका समर्थन करने का भी प्रयत्न किया गया है, जैसे यह है : 'मैंने जो देखा था उसको इस समय मैं छू रहा हूँ।' यहाँ दो इन्द्रियाँ जिन चीज़ों को ग्रहण करने में समर्थ हैं, वे स्पष्टतः भिन्न हैं; लेकिन एक अभेद का भी अनुभव होता है, जिससे प्रकट होता है कि दृष्टि और स्पर्श के उक्त दो क्षणों में नीचे रहने वाले द्रव्य का भी समान रूप से प्रत्यक्ष होता है।[1] (2) पिछले अनुच्छेद में हम देख चुके हैं कि न्याय-वैशेषिक सामान्यों को स्वतन्त्र सत्ताएँ मानता है। उनको ग्रहण करने का साधन भी वही है जो उन व्यष्टियों को ग्रहण करने का साधन है जिनमें वे समवेत होते हैं। इसलिए जब व्यष्टि प्रत्यक्ष-योग्य होते हैं, तब उनके सामान्य भी प्रत्यक्ष-योग्य होते हैं। कहने का मतलब यह है कि कुछ सामान्यों का प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है। हम आँख से देखते हैं कि गुलाब लाल है और यही इन्द्रिय लाल रंग के सामान्य, रक्तत्व, को भी दिखाने में समर्थ है। फिर मान लीजिए कि हम स्पर्श से एक पशु को गाय जानते हैं। तो यही इन्द्रिय हमें गोत्व-सामान्य की भी प्रत्यक्ष जानकारी देती है। (3) कुछ गुणों और कर्मों के अतिरिक्त न केवल हम द्रव्यों और सामान्यों को प्रत्यक्षतः जान सकते है, बल्कि अभाव को भी, बशर्ते वह प्रत्यक्ष-योग्य वस्तुओं का हो। और इसका साधन भी वही ज्ञानेन्द्रिय है जो उसकी प्रतियोगी वस्तुओं के प्रत्यक्ष का है। घड़ा आँख से देखा जा सकता है और उसका अभाव भी इसी ज्ञानेन्द्रिय से देखा जा सकता है।[2] परन्तु जो वस्तुएँ अतीन्द्रिय हैं, उनका अभाव भी प्रत्यक्ष के लिए अगम्य होता है, जैसे परमाणुओं का। ऐसी वस्तुएँ अनुमान या अन्य प्रमाणों से जानी जा सकती हैं। इस मत के समर्थन में यह तर्क दिया गया है कि ऐसी वस्तुओं के अभाव के ज्ञान के पहले सदैव उनसे सम्बन्धित ज्ञानेन्द्रियाँ सक्रिय होती है। उदाहरणार्थ, कोई भी व्यक्ति कमरे में कुर्सी के न होने की बात अपनी आँखों या किसी अन्य उपयुक्त ज्ञानेन्द्रिय का उपयोग किए बिना नहीं कह सकता। हम यह प्रसंग फिर मीमांसा के अध्याय मे उठाएँगे। मीमांसा अभाव के ज्ञान के लिए एक पृथक् प्रमाण मानती है।

प्रत्यक्ष के ये सब प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं। न्याय-वैशेषिक प्रत्यक्ष का एक अन्य प्रकार भी मानता है, जो अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके तीन भेद हैं : (1) हम कह चुके हैं कि जब एक गाय दिखाई देती है, तब उसमें रहनेवाला गोत्व भी ठीक उसी के समान दिखाई देता है। प्रत्यक्ष

1. न्यायसूत्रभाष्य, 1.1.30।
2. येनेन्द्रियेन या व्यक्तिः गृह्यते तेनैवेन्द्रियेन तज्जातिः तदभावोऽपि गृह्यते।

का दायरा इससे भी अधिक व्यापक। न्याय-वैशेषिक के अनुसार गोत्व-सामान्य के ज्ञान की सहायता से हमें उन सभी गायों का अव्यवहित परन्तु अलौकिक ज्ञान हो सकता है जो वर्तमान में अस्तित्व रखती हैं या भूतकाल में थीं या भविष्य में होंगी, हालांकि उनका ज्ञान गाय-वर्ग के सदस्यों के रूप में ही होता है। सामान्य के प्रत्यक्षगम्य होने पर उसके अन्तर्गत आनेवाले सब व्यष्टियों का यह ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष का एक उदाहरण माना जाता है। (2) फिर जब हम दूर से एक गुलाब को देखते हैं, तब हम उसके लाल रंग, आकृति इत्यादि को प्रत्यक्ष देखते हैं; और उस समय हमें गुलाब की सुगन्ध के पिछले अनुभवों से मन में उसके संस्कार के बने रहने के कारण उसका भी बोध हो सकता है। लेकिन चूँकि गुलाब बहुत दूरी पर है, इसलिए उसकी सुगन्ध का बोध साधारण प्रत्यक्ष से नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यह भी अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है। यहाँ मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि सभी प्रत्यक्ष अंशतः अनुभवात्मक और अंशतः स्मरणात्मक होते हैं। (3) अलौकिक प्रत्यक्ष का अन्तिम प्रकार यौगिक प्रत्यक्ष है। इसमें मनुष्य को परमाणु, धर्म इत्यादि अतीन्द्रिय वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान होता है। इसकी क्षमता तब प्राप्त होती है जब एक लम्बे नैतिक और आध्यात्मिक साधना-क्रम के अभ्यास से यौगिक शक्ति का विकास हो जाता है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार न होने पर भी इसे प्रत्यक्ष इसलिए कहा गया है कि इसमें ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह ही पूर्णतः स्पष्ट माना जाता है।

अभी सविकल्पक प्रत्यक्ष और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अन्तर बताना शेष है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान निर्णय के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जो निरा प्रत्यक्ष लगता है, वह भी वास्तव में एक निर्णय के रूप में होता है—अर्थात् उसमें भी किसी उद्देश्य के बारे में किसी विधेय का कथन होता है। उदाहरणार्थ, 'एक घोड़ा' का अर्थ है 'एक वस्तु जिसमें अश्वत्व की विशेषता विद्यमान है'। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष के जिस रूप से हम परिचित हैं उसका स्वरूप जटिल होता है, और इसलिए उसे सविकल्पक कहा गया है। इस दर्शन के परमाणुवादी दृष्टिकोण के अनुसार सब जटिल वस्तुएँ सरल घटकों के योग के फल हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष पर भी यह नियम लागू किया गया है और यह मान लिया गया है कि इसके पहले अनिवार्यतः एक सरल यानी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, जिसमें निर्विशेष वस्तु मात्र का ग्रहण होता है।[1] इस प्रकार यदि किसी समय हमें यह ज्ञान होता है कि गाय सफ़ेद है,

1. सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 255।

प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त शब्द और उपमान को भी प्रमाण मानता है, जबकि वैशेषिक बौद्ध की तरह केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही मानता है। अब इन प्रमाणों पर क्रम से विचार किया जाएगा :

(1) प्रत्यक्ष—ज्ञान के इस रूप के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर पहले ही विचार किया जा चुका है और अब केवल इसके तार्किक पक्ष पर ही विचार किया जाएगा। इसके बारे में समझने की मुख्य बात यह है कि केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही अपने से बाहर वस्तुतः अस्तित्व रखनेवाली वस्तु की ओर संकेत करनेवाला माना गया है। इसकी सामग्री कदापि मिथ्या नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें हमारा वास्तविकता से सीधा सम्पर्क होता है और हमें उसका अव्यवहित ज्ञान होता है। निर्विकल्पक को मिथ्या कहना वदतोव्याघात है। लेकिन जब हम निर्विकल्पक से ज्ञात दो या अधिक वस्तुओं को सम्बन्धित करते हैं, तब ग़लती हो सकती है, क्योंकि यद्यपि तब जितनी भी चीज़ों के बारे में हम सोचते होते हैं वे अलग-अलग वहाँ हो सकती हैं, तथापि उनके संयोग के रूप में हमारे ज्ञान की विषयवस्तु मिथ्या हो सकती है। दूसरे शब्दों में, हमारा जो संश्लिष्ट निर्णय होता है वह, यानी सविकल्पक प्रत्यक्ष, तर्कशास्त्र का विषय है। यदि हमारे ज्ञान की संश्लिष्ट विषयवस्तु से संवाद रखनेवाली कोई जटिल चीज़ बाह्य जगत् में है, तो हमारा ज्ञान सत्य है; अन्यथा असत्य है। इस प्रकार जब कोई पीलिया के कारण शंख को पीला देखता है, तब शंख, पीला रंग और उनका समवाय-सम्बन्ध सब-के-सब बाह्य जगत् में अस्तित्व रखनेवाले तथ्य हैं और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ज्ञात हैं, लेकिन पीलेपन के शंख में समवेत न होने के बावजूद ज्ञान में ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए यह एक भ्रम है। जब लाल गुलाब ऐसा ही दिखाई देता है, तब मानसिक प्रत्यय और वास्तविक तथ्य में ऐक्य होता है; और इसलिए यह ज्ञान सत्य है। भ्रम में हमारे निर्णय में शामिल तीन घटकोंवाली वस्तु के अनुरूप कोई एक जटिल वस्तु बाह्य-जगत् में नहीं होती, जबकि हमें वह प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसके विपरीत, सत्य ज्ञान में, वे न केवल एक जटिल साकल्य के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं बल्कि वस्तुतः वैसे होते भी हैं। भ्रम की इस व्याख्या को विस्तार की कुछ बातों में तब बदल देना होगा जब हम अन्य उदाहरणों को लेंगे। शंख के पीले दिखाई देने और लाल फूल के निकट रखे हुए श्वेत स्फटिक के लाल दिखाई देने के उदाहरणों में प्रतीयमान वस्तु के अनेक घटक बुद्धि के आगे साधारण या लौकिक अर्थ में प्रस्तुत होते हैं; परन्तु भ्रम के कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें ऐसी बात नहीं होती, जैसे शुक्ति-रजत का प्रायः दिया गया उदाहरण है। यहाँ भी

तो यह मान लिया जाता है कि हम पहले अवश्य ही गाय को अलग से और सफेदी को अलग से देख चुके होंगे और साथ ही उनके समवाय-सम्बन्ध को भी अलग से देख चुके होंगे।[1] अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष "एक राशि के अन्दर की चीजों को अलग-अलग करने की प्रक्रिया" न होकर अलग-अलग दी हुई इकाइयों को संयुक्त करने की प्रक्रिया बन जाता है।[2] लेकिन यह माना गया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अव्यवहित ज्ञान का विषय नहीं है; केवल इस दर्शन के एक आधारभूत अभ्युपगम से अनुमान करके ही उसका ज्ञान होना माना गया है। इसके विपरीत, सविकल्पक प्रत्यक्ष अवलोकनगम्य है और अन्तर्दर्शन से जाना जाता है। जब यह होता है तब तो नहीं, पर इसके अनन्तर एक दूसरे ज्ञान से, जिसे 'अनुव्यवसाय' कहा गया है, इसका बोध होता है। पहले हमें वस्तु का बोध होता है, और तत्पश्चात् यदि हम चाहें तो इस बोध के होने का, अर्थात् इस बोध से विशिष्ट आत्मा का, बोध प्राप्त कर सकते हैं। यही आन्तरिक प्रत्यक्ष या आत्मचेतना है।

: 3 :

न्याय-वैशेषिक की विलक्षण बातों में से एक यह विश्वास है कि जो भी चीज अस्तित्व रखती है वह ज्ञेय है। यह दर्शन न केवल यह मानता है कि वास्तविकता ज्ञानबाह्य है, बल्कि यह भी कि उसे जाना जा सकता है। वास्तव में यह दर्शन किसी चीज को अज्ञेय कहना उसके अस्तित्व का निषेध करने के बराबर मानता है। इस मत के अनुसार ज्ञान भी ज्ञेय है और इस प्रकार ज्ञान न केवल वस्तुओं का होता है बल्कि ज्ञान का भी होता है। परन्तु ज्ञान प्रथमतः वस्तुविषयक होता है और इसलिए वस्तु का ज्ञान ज्ञाता या ज्ञान के ज्ञान के पहले होता है। ज्ञाता और ज्ञान का ज्ञान बाद में आत्मचेतना या अनुव्यवसाय से होता है। इस प्रकार यद्यपि बाह्य जगत् की वास्तविकता स्वतःसिद्ध है, तथापि ज्ञान उस तक पहुँचने का अनिवार्य साधन है; और इसीलिए न्याय-वैशेषिक तर्कशास्त्र की समस्याओं पर विचार करने में प्रवृत्त होता है। न्याय

---

1. यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय को उस तरह स्वलक्षण तक ही सीमित नहीं किया गया है जिस तरह बौद्ध-दर्शन में किया गया है। देखिए, पृ० 204।
2. इस सिद्धान्त के आधुनिक वर्णनों में केवल विशेषणांश का ज्ञान ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जरूरी बताया गया है : विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यम् (तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 30; सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 253 भी द्रष्टव्य है।)। लेकिन यह प्रतीत होता है कि पहले कभी अन्य अंशों का ज्ञान भी आवश्यक माना गया था। देखिए, न्याय-मंजरी, पृ० 93, 95।

के उस प्रयोजन के बीच मे आने से होता है जो ज्ञान के अनन्तर मन में उपस्थित हो जाता है। प्रयोजन के अभाव में ज्ञान व्यावहारिक फल से रहित रहेगा. परन्तु इस कारण से उसका प्रामाण्य संदिग्ध नहीं हो जाता।

(2) अनुमान—इस दर्शन में व्याप्ति की धारणा बौद्ध धारणा की तुलना मे बहुत व्यापक हो जाती है। इस प्रकार हम न केवल धूम से अग्नि का अनुमान कर सकते हैं, बल्कि फटे खुरों से सींगों का भी अनुमान कर सकते हैं, हालांकि, जहां तक हम जानते हैं, ये विशेषताएँ आवश्यक रूप से सम्बन्धित नहीं हैं[1] (पृ० 201)। ऐसा लगता है कि बौद्धो ने इस दूसरे प्रकार के दृष्टान्तों को भी कारणता के नीचे लाने का प्रयत्न किया था।[2] यह बिलकुल सम्भव है कि फटे खुरों और सींगों का साहचर्य आवश्यक हो, हालांकि हमें ज्ञात नही है कि वह आवश्यक क्यों है। फिर भी न्याय-वैशेषिक सिद्धान्ततः नियत साहचर्य को व्याप्ति की कसोटी मानता है, और इसका हेतु यह बताता है कि विचाराधीन विशेषताओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध मानने पर भी 'वह व्यक्ति, जो इनमें आगमनिक सम्बन्ध जोड़ता है, ऐसा करते समय उस कार्य-कारण-सम्बन्ध का बोध नही रखता। चार्वाक की इस धारणा का कि न सामान्यों मे और न विशेषों में इस प्रकार सम्बन्ध जोडा जा सकता है, न्याय-वैशेषिक यह जवाब देता है कि यह सम्बन्ध होता तो विशेषों के बीच है, लेकिन ये विशेष निरे विशेष नहीं होते बल्कि अपने-अपने वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। ऐसा मानने का औचित्य इस बात से प्रकट होता है कि सामान्य को एक अलग ही प्रकार का वास्तविक पदार्थ माना गया है और यह विश्वास किया गया है कि किसी सामान्य के ज्ञान से अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सभी सम्बन्धित विशेषों का ज्ञान हो जाता है।

गौतम ने अनुमान के तीन वर्ग बताए हैं। इन तीन वर्गों के नाम—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट—अनिश्चित अर्थ रखते हैं और उनके अर्थों के बारे में वात्स्यायन के समय से ही अनिश्चितता चली आ रही है। यह वर्गीकरण स्वतः बहुत महत्त्व का नही है, फिर भी हम वात्स्यायन की दी गई व्याख्याओं मे से एक की चर्चा करेंगे, क्योंकि इससे अनुमान की, जैसा कि उसे इस दर्शन में समझा गया है, एक विशेषता बहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाती है। इसके अनुसार पूर्ववत् उस अनुमान का नाम है जो भूतकाल में (पूर्व) देखी

1. अतः यहाँ 'हेतु' और 'साध्य' के स्थान पर, जो कि कड़ाई से विचार करने पर कारणता के ऊपर आधारित दृष्टान्तों में ही उपयुक्त लगते हैं, क्रमशः 'लिंग' और 'लिंगी' का, जो अधिक व्यापक अर्थ रखते हैं, सामान्यतः प्रयोग किया गया है।

2. प्रकरणपञ्चिका, पृ० 67।

न केवल उद्देश्य को बल्कि विधेयांश को भी 'अनुभूत' माना गया है। विधेयांश का अनुभव अलौकिक प्रकार का बताया गया है—दूसरे अलौकिक प्रकार का, जिसमें किसी वस्तु के पिछले अनुभव का संस्कार उसे पुनः मन में प्रस्तुत करने का साधन बन जाता है। रजत यहाँ नहीं है, बल्कि अन्यत्र है। जैसा कि कहा गया है, वह आपणस्थ यानी दुकान में है। इस प्रकार ऐसे मामलों में भी भ्रम केवल अनुभूत वस्तुओं के गलत संश्लेषण के कारण ही होता है। यह तर्क कुछ बनावटी लग सकता है, परन्तु मतलब इतना मात्र है कि भ्रम की विषयवस्तु का भी पूरा बाह्य आधार होता है और जो नितान्त असत् है उसका कभी ज्ञान हो ही नहीं सकता। किसी भ्रमपूर्ण निर्णय का जो उद्देश्य ('यह') होता है उसका वास्तव में अस्तित्व होता है; उसका विधेय भी सत् ही होता है, हालाँकि यहाँ नहीं बल्कि अन्यत्र। यह सिद्धान्त माध्यमिक के इस सिद्धान्त का बिलकुल उलटा है कि असत् का प्रत्यक्ष होता है (असत्ख्यातिवाद), और 'अन्यथाख्यातिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है, जिससे प्रकट होता है कि भ्रम में अयथार्थता विधेयांश में होती है।[1]

यह पूछा जा सकता है कि वास्तविकता से संवाद, जो कि सत्यता का लक्षण माना गया है, कैसे ज्ञात हो सकता है? स्पष्ट है कि संवाद की सीधी जानकारी नहीं हो सकती, क्योंकि अपने ज्ञान के बाहर हम जा नहीं सकते। अतः न्याय-वैशेषिक सत्यता की एक परोक्ष परीक्षा का प्रस्ताव करता है और विवादाधीन ज्ञान के अनुसार व्यवहार करके देखने के लिए कहता है। यदि जिस चीज़ को हम पानी के रूप में देखते हैं, उसके वस्तुतः पानी होने में हमें सन्देह हो, तो हमें देखना होगा कि उससे हमारी प्यास बुझती है या नहीं। खीर की वास्तविकता का प्रमाण उसे खाने में मिलेगा। इसे 'संवादि-प्रवृत्ति' अर्थात् सफल क्रिया कहा गया है। यहाँ ज्ञान का सत्यापन व्यवहार से माना गया है; परन्तु यह याद रखने की बात है कि सत्यता की परिभाषा इस तरह से नहीं की गई है। सत्य वह है जो वास्तविकता के अनुरूप हो, वह नहीं जो व्यवहार में काम दे। ज्ञान स्वहेतुक होता है; यह आवश्यक नहीं है कि वह सदैव किसी व्यावहारिक लक्ष्य को सामने रखे।[2] बौद्धों के विपरीत न्याय-वैशेषिक के अनुयायी ज्ञान की ज्ञापकता पर बल देते हैं। व्यवहार तो उसका फल-मात्र है। उसके बाद जो व्यवहार होता है वह इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार

1. अन्यथा का मतलब है अन्य प्रकार से। सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं, प्रकारे तु विपर्ययः —सप्तपदार्थी (विजयनगरम्), पृ॰ 25।
2. न्यायमंजरी, पृ॰ 171।

ने इस प्रकार कहा है : "भारतीय तर्कशास्त्र आन्तरिक विचार-प्रक्रिया के रूप में स्वार्थानुमान का अध्ययन करता है और इसे परार्थानुमान से, अर्थात् शाब्दिक अभिव्यक्ति और वाद-विवाद के न्यूनाधिक रूप से सामान्य परन्तु सदैव अस्वाभाविक और अनावश्यक रूपों से, पृथक् मानता है। उसे ऐसे सत्य की सम्भावना की, जो मात्र तार्किक और आकारगत हो और तथ्यत: असत्य भी हो सकता हो, कल्पना भी नहीं है (हमारे ग्रन्थों में अब भी यह दोष बना हुआ है)। वह निर्णय पर कोई विचार नहीं करता, अथवा जो निर्णय कहलाता है और वस्तुत: तर्कवाक्य है उसे ज्ञान का शाब्दिक परिधान-मात्र समझता है; वह उद्देश्य, संयोजक और विधेय का कोई शाब्दिक भेद नहीं करता; वह निरुपाधिक और सोपाधिक, विधानात्मक और निषेधात्मक निर्णयों के वर्ग नहीं मानता। ये सब तर्कशास्त्र के बाहर की बातें हैं; तर्कशास्त्र का लक्ष्य तो सदैव केवल ज्ञान के ऊपर विचार करना है।"[1]

भारतीय अनुमान का नमूना यह है :

1. पर्वत पर अग्नि है।
2. क्योंकि उसमें धूम है।
3. जहाँ भी धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे भट्ठी में।
4. पर्वत में वैसा ही धूम है जिसके साथ नियत रूप से अग्नि पाई जाती है।
5. इसलिए पर्वत पर अग्नि है।

यह उसका उदाहरण है जिसे ऊपर परार्थानुमान, यानी दूसरों को विश्वास दिलाने के लिए प्रयुक्त तर्क, कहा गया है। इसीलिए पहले वाक्य को, जो निष्कर्ष ही है, प्रतिज्ञा कहा गया है। इसका उद्देश्य विचाराधीन बात की ओर ध्यान खींचना और विवाद को मर्यादा के अन्दर रखना है। यह माना गया है कि शुद्ध अनुमान में—जो वाद की दृष्टि से उपयोगी उपांगों से रहित होता है—उक्त पाँच अवयवों में से पहले या अन्तिम दो अवयवों को छोड़ा जा सकता है। पहले दो को छोड़कर बाद के तीन अवयवों को लेते हुए हम भारतीय अनुमान का प्रसिद्ध अरस्तवी हेत्वनुमान से वैषम्य दिखाएँगे :

(i) पहला साध्य-वाक्य है। यह अकेला नहीं होता, बल्कि एक उदाहरण द्वारा इसका समर्थन भी किया जाता है। अनुमान के इस चरण में शायद शुरू में केवल उदाहरण ही होता था। अब भी इस अवयव को 'उदाहरण' कहा जाता है। उदाहरण के साथ सामान्य उक्ति (व्याप्ति) बाद में दी जाने

1. देखिए Logic, पृ० 584-5।

हुई घटना से सादृश्य पर आधारित होता है, जैसे पिछले अनुभव के बल पर पर्वत पर धुआँ होने के ज्ञान से वहाँ आग होने का अनुमान करने में। यह अनुमान का सामान्य रूप है। शेषवत् निरसन-प्रणाली के द्वारा अनुमान है। यह उस तरह की परोक्ष उपपत्ति है जो कहीं-कहीं यूक्लिड के 'एलिमेंट्स' में दिखाई देती है। तीसरे प्रकार का अनुमान, सामान्यतोदृष्ट, वह है जिसमें प्रत्यक्षगम्य वस्तुओं के क्षेत्र में देखी हुई किसी बात के आधार पर अतीन्द्रिय वस्तुओं के क्षेत्र के तुल्य मामलों के बारे में अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि कुल्हाड़ी-जैसे उपकरण से काम लेने के लिए उसे चलानेवाली कोई चेतन शक्ति चाहिए। अब यदि हम मनस् को ऐसा ही एक उपकरण मानते हैं, तो उसके व्यापार की व्याख्या के लिए हम एक चेतन शक्ति—आत्मा—का अनुमान कर सकते हैं, हालाँकि मनस् और आत्मा दोनों में से कोई भी प्रत्यक्षगोचर नहीं है। ऐसा मालूम पड़ेगा कि यह साम्यानुमान मात्र है, और न्याय-वैशेषिक के द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए दिये हुए तर्क इसी प्रकार के हैं। जैसाकि हमने पहले उल्लेख किया था (पृ० 188), अनुमान के इसी क्षेत्र-विस्तार को चार्वाक ने चुनौती दी थी। यहाँ न्याय-वैशेषिक निस्सन्देह अनुमान से उचित से अधिक आशा करता है, क्योंकि वह निरे सादृश्य को साक्ष्य मान लेने की गलती कर बैठता है। वह वस्तुतः, जैसाकि हम शीघ्र ही देखेंगे, अनुमान के इस प्रकार को प्रमाणों की अपनी योजना में उससे मिलता-जुलता स्थान देता है जो मीमांसा ने श्रुति को दिया है।

अनुमान के दो रूप हैं—एक है स्वार्थानुमान जो अपने ही मन के संशय को दूर करने के लिए होता है, और दूसरा है परार्थानुमान जो दूसरे के मन के संशय को दूर करने के लिए होता है।[1] परार्थानुमान अनिवार्यतः भाषा में व्यक्त होता है, लेकिन उसका शाब्दिक रूप स्वतः अनुमान-प्रक्रिया का कोई अंग नहीं होता। उसका काम केवल श्रोता के मन को अपेक्षित ढंग से सोचने में लगाना है और इस प्रकार उसके मन में वही विचार-प्रक्रिया पैदा करना है जो वक्ता के मन में है। अतः शाब्दिक रूप को अनुमान केवल उदारतावश ही कहा जा सकता है। इस प्रकार तर्कशास्त्र के बारे में पश्चिम में प्रचलित शब्दपरक दृष्टिकोण को यहाँ अस्वीकृत कर दिया गया है। भारत में यह बात कभी नहीं भुलाई गई कि तर्कशास्त्र की विषयवस्तु विचार है, वे भाषायी रूप किसी भी तरह नहीं जिनमें विचार अभिव्यक्ति पा सकता है। भारतीय तर्कशास्त्र के इस शब्दविरोधपरक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए इटली के दार्शनिक क्रोचे

1. तर्कसंग्रह, पृ० 37।

यह अनुमान करते हैं कि वे वक्ता के किसी अन्वित अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। अथवा प्रकारान्तर से यह कहा जाएगा कि बोले हुए शब्दों को हम वक्ता के मन के विचारों के लिंग (सूचक) के रूप में लेते हैं; और चूँकि लिंग से सदैव हम लिंगी में पहुँच सकते हैं, इसलिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वक्ता के मन में शब्द के अनुरूप कोई विचार होना चाहिए। वह विचार ठीक-ठीक क्या है, इस बात का निर्धारण बोले हुए शब्दों के अर्थ से होता है। इस तर्क का उत्तर प्रायः यह कहकर दिया जाता है कि अन्तर्दर्शन से प्रकट होता है कि अनुमान और अर्थबोध की दो प्रक्रियाएँ अभिन्न नहीं हैं।[1]

वैशेषिक के विपरीत न्याय शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है और उसे आप्त का वचन परिभाषित करता है—आप्त वह है जो सत्य का ज्ञाता और सत्य का वक्ता हो।[2] किसी पुरुष के आप्तत्व का ज्ञान उसके वचनों की सत्यता से और उसकी निःस्वार्थता से होता है।[3] इस प्रकार शब्द का एक प्रमाण के रूप में मूल्य वक्ता की गुणवत्ता—उसकी ईमानदारी और योग्यता, पर निर्भर होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेद के वचन प्रमाण हैं, क्योंकि उसका कर्ता, ईश्वर, सर्वज्ञ है।[4] इस मत में कोई अन्योन्याश्रय-दोष नहीं है, क्योंकि न्याय ईश्वर के अस्तित्व को वेदान्त की तरह श्रुति पर नहीं बल्कि तर्क पर आधारित करता है। दूसरी ओर, मीमांसा वेद को नित्य और उसके प्रामाण्य को स्वतः मानती है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। लेकिन यह भी कह देना चाहिए कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए न्याय 'सामान्यतोदृष्ट' का प्रयोग करता है, जो अनुमान का एक ऐसा रूप है जिसके प्रामाण्य को आसानी से चुनौती दी जा सकती है। इसके अनुमान से आवश्यक बातों में भिन्न होने के कारण यदि इसे अनुमान न माना जाए, तो न्याय-वैशेषिक में हमें एक अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा, जिसकी स्थिति बिलकुल वैसी ही अनुभवोत्तर होगी जैसी मीमांसा में श्रुति की है। इस प्रकार अन्त में वेद के बारे में इन दो दर्शनों की जो धारणाएँ हैं, उनमें तार्किक दृष्टि से कम ही अन्तर प्रतीत होता है।[5]

1. तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 54; सिद्धान्तमुक्तावली, श्लो० 140-41।
2. तर्कसंग्रह, पृ० 50।
3. यहाँ तक की प्रक्रिया को न्याय भी अनुमान मानता है। देखिए सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 155। विरोध इस मत का किया जाता है कि सुने हुए शब्दों से वक्ता के मन के विचार तक पहुँचने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी अनुमान ही है।
4. न्यायसूत्र, 2·1·68।
5. इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि इस बात की पूरी सम्भावना है कि न ईश्वर में विश्वास और न वेद में विश्वास शुरू में न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का अंग था।

लगी। इसका मतलब यह है कि प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्री इन्द्रियगोचर वस्तुओं के क्षेत्र की सीमाओं के अन्दर रहकर अनुमान को विशेषों से विशेषों की ओर चलने वाला मानते थे। साध्य-वाक्य के वर्तमान रूप से प्रकट होता है कि कालान्तर में यह समझ लिया गया था कि अनुमान विशेषों से विशेषों की ओर सामान्य के माध्यम से चलता है। अब सामान्यतः यह माना जाता है कि इस नवीनता को लानेवाला बौद्ध तर्कशास्त्री दिङ्नाग था।[1]

(ii) भारतीय तर्कशास्त्री सामान्य तर्कवाक्य को अकेला नहीं देता, बल्कि उसका एक उदाहरण भी साथ में दे देता है। यह निस्सन्देह एक ऐतिहासिक हेतु का, अर्थात् अनुमान-प्रक्रिया के स्वरूप के बारे में पुरानी धारणा के बदल जाने का, फल है। लेकिन बदले हुए रूप में जो साध्य-वाक्य में उदाहरण को बनाए रखकर यह यह बताना चाहता है कि साध्य-वाक्य विशेष दृष्टान्तों के अवलोकन से प्राप्त सामान्यीकरण है। दूसरे शब्दों में, ऊपर अनुमान-प्रक्रिया जिस रूप में रखी गई है वह मात्र निगमनात्मक नहीं है, बल्कि निगमनागमनात्मक है।

(iii) अगले चरण में साध्य-वाक्य और हेतु-वाक्य दोनों का संश्लिष्ट रूप दिखाई देता है। अरस्तू के हेत्वनुमान में साध्य-वाक्य और हेतु-वाक्य अलग-अलग दिए जाते हैं, हालांकि दोनों को जोड़नेवाला एक मध्यपद होता है। न्याय-वैशेषिक तीनों पदों को एक ही तर्कवाक्य में इकट्ठे देकर उनके सम्बन्ध को बिलकुल स्पष्ट कर देता है। इस प्रकार निष्कर्ष को निकालना बहुत ही सरल हो जाता है। यह दर्शन उनके संश्लेषण पर विशेष रूप से ज़ोर देता है, परन्तु वेदान्त-जैसे अन्य दर्शन इस बात में उससे मतभेद रखते हैं[2] और इस संश्लेषण को आवश्यक मानने से इन्कार कर देते हैं।

(3) शब्द—हम पहले ही (पृ० 178) शब्द-प्रमाण और शब्द-प्रमेय का अन्तर दिखा चुके हैं और अन्यों के तथा स्वयं अपने ज्ञान की वृद्धि के एक साधन के रूप में शब्द-प्रमाण का महत्त्व दिखा चुके हैं। हम यह भी कह चुके हैं कि कुछ भारतीय तर्कशास्त्री, जैसे बौद्ध, शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते (पृ० 209)। वे इसे अनुमान में ही शामिल करते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार किसी वाक्य के अर्थ का निर्धारण अनुमान-प्रक्रिया से कतइ भिन्न नहीं है। जब हम किसी के द्वारा वाक्य के रूप में परस्पर अन्वित सार्थक शब्दों का प्रयोग सुनते हैं, तब हम अपने पिछले अनुभव के आधार पर

1. देखिए, कीथ का पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० 109।
2. वेदान्तपरिभाषा, पृ० 191 (वेंकटेश्वर प्रेस)।

यह अनुमान करते हैं कि वे वक्ता के किसी अन्वित अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। अथवा प्रकारान्तर से यह कहा जाएगा कि बोले हुए शब्दों को हम वक्ता के मन के विचारों के लिंग (सूचक) के रूप में लेते है; और चूँकि लिंग से सदैव हम लिंगी में पहुँच सकते हैं, इसलिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वक्ता के मन में शब्द के अनुरूप कोई विचार होना चाहिए। वह विचार ठीक-ठीक क्या है, इस बात का निर्धारण बोले हुए शब्दों के अर्थ में होता है। इस तर्क का उत्तर प्रायः यह कहकर दिया जाता है कि अन्तर्दर्शन से प्रकट होता है कि अनुमान और अर्थबोध की दो प्रक्रियाएँ अभिन्न नहीं है।[1]

वैशेषिक के विपरीत न्याय शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है और उसे आप्त का वचन परिभाषित करता है—आप्त वह है जो सत्य का ज्ञाता और सत्य का वक्ता हो।[2] किसी पुरुष के आप्तत्व का ज्ञान उसके वचनों की सत्यता से और उसकी निःस्वार्थता से होता है।[3] इस प्रकार शब्द का एक प्रमाण के रूप में मूल्य वक्ता की गुणवत्ता—उसकी ईमानदारी और योग्यता, पर निर्भर होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेद के वचन प्रमाण हैं, क्योंकि उसका कर्ता, ईश्वर, सर्वज्ञ है।[4] इस मत में कोई अन्योन्याश्रय-दोष नहीं है, क्योंकि न्याय ईश्वर के अस्तित्व को वेदान्त की तरह श्रुति पर नहीं बल्कि तर्क पर आधारित करता है। दूसरी ओर, मीमांसा वेद को नित्य और उसके प्रामाण्य को स्वतः मानती है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। लेकिन यह भी कह देना चाहिए कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए न्याय 'सामान्यतोदृष्ट' का प्रयोग करता है, जो अनुमान का एक ऐसा रूप है जिसके प्रामाण्य को आसानी से चुनौती दी जा सकती है। इसके अनुमान से आवश्यक बातों में भिन्न होने के कारण यदि इसे अनुमान न माना जाए, तो न्याय-वैशेषिक में हमें एक अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा, जिसकी स्थिति बिलकुल वैसी ही अनुभवोत्तर होगी जैसी मीमांसा में श्रुति की है। इस प्रकार अन्त में वेद के बारे में इन दो दर्शनों की जो धारणाएँ हैं, उनमें तार्किक दृष्टि से कम ही अन्तर प्रतीत होता है।[5]

1. तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 54; सिद्धान्तमुक्तावली, श्लो० 140-41।
2. तर्कसंग्रह, पृ० 50।
3. यहाँ तक की प्रक्रिया को न्याय भी अनुमान मानता है। देखिए सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 155। विरोध इस मत का किया जाता है कि सुने हुए शब्दों से वक्ता के मन के विचार तक पहुँचने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी अनुमान ही है।
4. न्यायसूत्र, 2·1·68।
5. इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि इस बात की पूरी सम्भावना है कि न ईश्वर में विश्वास और न वेद में विश्वास शुरू में न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का अंग था।

(4) उपमान[1]—न्याय की उपमान की धारणा को एक उदाहरण की सहायता से समझाना उत्तम होगा। मान लीजिए कि हम एक वस्तु अ से परिचित हैं और उसके सदृश एक अन्य वस्तु आ है। यह भी मान लीजिए कि हम आ को तो नहीं जानते, पर अ और आ दोनों को जाननेवाला कोई व्यक्ति हमें बताता है कि आ अ के सदृश है। अब यदि आ अकस्मात् हमारे सामने पड़ जाता है, तो हम उसका अ से सादृश्य देख लेते हैं और जो हमें बताया गया है उसे याद करते हुए हम तुरन्त जान लेते हैं कि इसी वस्तु का नाम आ है। नाम और नामी का यह सम्बन्ध ही उपमान का एकमात्र विषय है; और इसे 'उपमान' कहने का कारण यह है कि यह दो वस्तुओं के सादृश्य की पूर्व जानकारी से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का कि अमुक वस्तु का नाम ही आ है, तात्कालिक कारण (करण) अ से उसका सादृश्य होने की जानकारी के बाद उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होना है। इस प्रमाण का क्षेत्र बहुत संकीर्ण है। फिर भी, व्यवहार में यह बहुत उपयोगी है, जैसे शब्दों की सोदाहरण व्याख्याओं से अपना भाषा-ज्ञान बढ़ाने में।

प्रत्यक्ष के प्रसंग में हमने बताया था कि न्याय-वैशेषिक में सत्यता का स्वरूप क्या समझा गया है। वह ज्ञान सत्य है जो वस्तु को उसके वास्तविक रूप में दिखाता है।[2] इससे सम्बन्धित दो बातें और हैं जिन पर भारतीय दर्शन में प्रायः विचार किया गया है और जिनका हमने केवल अनुषंगतः उल्लेख किया है (पृ० 210)। क्योंकि केवल निर्णय ही सत्य होते हैं, इसलिए हम सत्यता को सविकल्पक ज्ञान का गुण मान सकते हैं; लेकिन यह उसका आवश्यक या सहज गुण नहीं प्रतीत होता। अतः यह सवाल पैदा होता है कि ज्ञान में सत्यता कैसे आती है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति जिस तरह होती है उसे हम जानते हैं, हालांकि यह बात समझ में नहीं आती कि जब उसकी उत्पत्ति के कारक—आत्मा, मनस्, इन्द्रियां और वस्तु—बिलकुल जड़ हैं तब वह ज्ञान हुआ ही कैसे।[3] अब निर्णय इस बात का करना है कि ज्ञान में सत्यता की जो अतिरिक्त विशेषता आ जाती है उसके निर्धारक हेतु क्या हैं। ऊपर जिन दो बातों पर विचार करने की बात कही गई है, उनमें से यह पहली है। कुछ लोग यह मानते हैं कि जैसी हमने कल्पना कर ली है उस तरह ज्ञान

1. अंग्रेजी में प्रायः इसका अनुवाद 'अनालोजी' शब्द से किया जाता है, लेकिन उपमान 'अनालोजी' से बिलकुल भिन्न है।
2. तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा—तर्कसंग्रह, पृ० 23; किरणावली, श्लो० 135।
3. यहाँ न्याय-वैशेषिक की स्थिति का चार्वाक से अन्तर करना मुश्किल ही है।

में सत्यता कहीं से आती नहीं, बल्कि यह उसका स्वरूप ही है, और उसका अन्यथा होना, यानी उसकी असत्यता, बाहरी बाधाओं का फल है। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, लेकिन किसी बाधक तत्त्व के कारण उसमें अप्रमाणत्व आ सकता है। कहने का मतलब यह है कि कारण की आवश्यकता प्रामाण्य को नहीं बल्कि केवल अप्रामाण्य को है। यह मत बौद्धों के इस मत के विरुद्ध है कि ज्ञान जब तक प्रमाण सिद्ध न हो जाए तब तक अप्रमाण होता है। इसे स्वतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है और बाद में मीमांसा के अध्याय में हम इस पर विचार करेंगे। यहाँ हम केवल न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त तक ही अपने को सीमित रखेंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार न प्रामाण्य ही ज्ञान का स्वाभाविक गुण है और न अप्रामाण्य ही। किसी भी ज्ञान का प्रमाण या अप्रमाण होना पूर्णतः उसकी उत्पत्ति के कारणों से भिन्न कारणों पर निर्भर होता है। सामान्य रूप में इस बात को इस प्रकार कहा जा सकता है : यदि क, ख और ग ज्ञान के कारण हैं, तो उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य का कारण इनसे भिन्न कोई चीज़ म या न है। लेकिन यह अतिरिक्त चीज ऐसी नहीं है जो ज्ञान के कारणों से बिलकुल पृथक् हो, बल्कि उनमें रहने वाला कोई गुण या दोष मात्र है।[1] और चूँकि न्याय-वैशेषिक ज्ञान के कारणों में इन विशेषताओं में से किसी एक का होना आवश्यक मानता है, इसलिए ज्ञान उत्पत्ति के क्षण से ही प्रमाण या अप्रमाण होता है और फलतः कभी भी ऐसे ज्ञान का अस्तित्व नहीं होता जिसे तटस्थ कहा जा सके।[2] प्रामाण्य की कसौटी के बारे में, यानी इस बारे में कि किसी ज्ञान के प्रमाण होने का ज्ञान कैसे होता है (ज्ञप्ती प्रामाण्य), भी इसी तरह का विवाद चलता है। यह ऊपर उल्लिखित दो बातों में से दूसरी है। यहाँ सवाल यह नहीं है कि ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है, बल्कि यह है कि हमें उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य की ज्ञप्ति कैसे होती है। इसके भी भारतीय तर्कशास्त्रियों ने दो उत्तर दिए हैं, लेकिन यहाँ केवल न्याय-वैशेषिक के उत्तर का ही उल्लेख किया जाएगा। इसके अनुसार ज्ञान के प्रामाण्याप्रामाण्य का ज्ञान ज्ञान का ज्ञान कराने वाले अनुव्यवसाय से नहीं होता। उससे तो केवल ज्ञान की अपरोक्ष जानकारी मिलती है। यह जानने के लिए कि इस प्रकार से ज्ञात ज्ञान सही है या नहीं, एक और साधन की जरूरत होती है और यह साधन, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संवादि-प्रवृत्ति यानी

1. तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 55-6; कारिकावली, श्लो० 131।
2. देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 171 : निर्दोषं निर्गुणं वापि न समस्त्येव कारणम्। वही पृ० 161 भी द्रष्टव्य है।

सफल व्यवहार है। कहने का मतलब यह है कि जब हमें ज्ञान का ज्ञान होता है तब यह ज्ञान नहीं होता कि उसका तात्त्विक मूल्य क्या है। उसका ज्ञान तो बाद में तब होता है जब हम उसके अनुसार व्यवहार करके देखते हैं कि फल अनुकूल होता है या प्रतिकूल। ऐसा भी हो सकता है कि ज्ञान का ज्ञान हो गया हो, लेकिन उसकी सत्यता या असत्यता का अभी पता न चला हो, अर्थात् वह संशयग्रस्त हो। यह मत कि ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दृष्टियों से किसी बाहरी बात पर निर्भर होता है, परतःप्रामाण्यवाद कहलाता है।

: 4 :

न्याय-वैशेषिक के व्यावहारिक उपदेश को बताने से पहले धर्म और अधर्म की धारणाओं के बारे में कुछ कह देना जरूरी है। इन्हें सभी भारतीय दर्शनों ने एक या दूसरे ढंग से आत्मा से सम्बद्ध किया है, जिससे प्रकट होता है कि मानव-जीवन का न केवल एक मानसिक पक्ष है बल्कि एक नैतिक या आध्यात्मिक पक्ष भी है। न्याय-वैशेषिक पहले उल्लिखित सात विशेष गुणों के अतिरिक्त धर्म और अधर्म को भी आत्मा के विशेष गुण मानता है। लेकिन यहाँ इन शब्दों का अर्थ सत्कर्म और असत्कर्म न होकर पुण्य और पाप है, जो क्रमशः सत्कर्म करने और असत्कर्म में रत रहने के फल हैं।[1] मीमांसा और वेदान्त ने अच्छाई का एक बाह्य मानक अपनाया है, क्योंकि ये सदसत् का प्रमाण वेद को मानते है। लेकिन न्याय-वैशेषिक में हमें व्यवहार के क्षेत्र में मर्यादा के अन्दर रखने वाले नियम को अंततः आन्तरिक माना गया है। य दर्शन धर्म और अधर्म को प्रत्यक्षगोचर मानता है। लेकिन इनके अन्त को जानने की सामर्थ्य हर किसी के अन्दर नहीं होती, बल्कि केवल उसके अन्दर होती है जिसने निरन्तर आत्म-संयम का अभ्यास करके अपनी प्रकृति को निर्मल कर लिया हो और जो यौगिक शक्ति का विकास करने में सफल हो गया हो। अतः उनके प्रत्यक्ष को अलौकिक कहा गया है—ऊपर उल्लिखित तीन प्रकारों में से तीसरा। हमने कहा है कि न्याय-वैशेषिक की धारणा के अनुसार नैतिकता एक आन्तरिक नियम का अनुपालन करना है। इस आन्तरिक नियम से हमारा तात्पर्य ऐसे ही 'ऋषियों' के आप्त-प्रज्ञ निर्णयों का है। केवल वे ही सच्चे आत्मा की आवाज से कुछ कह सकते है। औसत मनुष्य के लिए, जो विशेष वस्तुओं की इच्छाओं और मनोवेगों के अधीन बना रहता है, नैतिक मानक बाह्य ही है, क्योंकि उसका धर्म का ज्ञान—अधर्म को हम फिलहाल छोड़ देते है—दूसरे से प्राप्त और परोक्ष होता है। एक काफी विचित्र बात यह है कि

1. तर्कसंग्रह, पृ० 58-9।

न्याय-वैशेषिक अपने वर्तमान रूप में धर्म के मामले में वेद को भी प्रमाण मानता है, जैसा कि वेद में विहित सम्पूर्ण कर्मकाण्ड के उसके द्वारा अपनाए जाने से प्रकट होता है।[1] और धर्म के ज्ञान के लिए इन दो प्रमाणों की आवश्यकता को यह मानकर उचित बनाया गया है कि केवल वेद से धर्म का ज्ञान होने के बाद ही उसकी अन्तःप्रज्ञा हो सकती है।[2] लेकिन यदि हम यह स्मरण रखें कि धर्म का एक बार ज्ञान हो जाने के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण बात, जो हमें करनी है, उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना न होकर उसका व्यवहार में अनुसरण करना है, तो इन दो प्रमाणों में से एक स्पष्टतः व्यर्थ लगता है। और यदि हम न्याय-वैशेषिक की सामान्य प्रवृत्ति के तथा वैशेषिक के द्वारा शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानने का विरोध करने के आधार पर कुछ कह सकें, तो वेद को ही व्यर्थ कहना पड़ेगा।

न्याय-वैशेषिक में उपदिष्ट प्रारम्भिक साधना का जहाँ तक सम्बन्ध है, उस पर हम गीता का प्रभाव प्रशस्तपाद के समय से देख सकते हैं।[3] लेकिन न्याय-वैशेषिक के दर्शन ने जिस साधना की सगति है और जिसका शुरू में इसमें उपदेश किया गया था, वह उससे मिलती-जुलती है जिसे हम नास्तिक दर्शनों के प्रसंग में एक पिछले अध्याय में (पृ० 113-14) बता चुके हैं। फिर भी, इसका उद्देश्य वही सत्त्वशुद्धि है जो कर्मयोग का भी उद्देश्य है, जैसा कि गौतम के 'आत्मसंस्कार' के प्रयोग से स्पष्ट है; और इस उद्देश्य की प्राप्ति सकीर्ण राग और द्वेष के त्याग से हो सकती है। अन्तर इतना मात्र है कि यहाँ जिस आचरण का विधान किया गया है वह गीतोक्त निष्काम कर्म नहीं बल्कि यम और नियम का अभ्यास है।[4] न्याय-वैशेषिक में इन शब्दों का मूल अर्थ क्या था, इस विषय में कुछ अनिश्चितता है। परन्तु इस दर्शन के बाद के ग्रन्थों में ये शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं जिनमें सांख्य-योग में।[5] इसलिए हम इनको अगले अध्याय में समझाएँगे और यहाँ केवल इतना कहेंगे कि ये नैतिक साधना के क्रमशः भावात्मक और अभावात्मक पक्ष हैं। राग-द्वेष कम या अधिक मात्रा में सब मनुष्यों में पाए जाते हैं; और ये अपने कारणों—सुख और दुःख

1. वैशेषिक-सूत्र-भाष्य, पृ० 7 और 272-3।
2. न्यायमंजरी, पृ० 108।
3. देखिए पृ० 280। तर्कसंग्रहदीपिका, पृ० 67।
4. न्यायसूत्र, 4. 2. 46।
5. देखिए, न्यायसूत्र-भाष्य, 4. 2. 46; वाचस्पति : तात्पर्यटीका, 4. 2. 46; न्याय-कंदली, पृ० 278।

के सहित सांसारिक अवस्था में आत्मा के विशेष गुण माने गए हैं। सम्पूर्ण ऐच्छिक व्यवहार के मूल कारण ये ही बताये गए हैं और इस तरह न्याय-वैशेषिक के आचरण-विषयक दृष्टिकोण को सुखवादी कहा जा सकता है। सिर्फ यह बात हमें नहीं भुलानी चाहिए कि दुःख से बचने की इच्छा को यह कर्म का उतना ही प्रबल अभिप्रेरक मानता है जितना सुख को प्राप्त करने की इच्छा को।[1] सकीर्ण राग-द्वेष जिस स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति को जन्म देते है, वह दु.ख और सुख का कारण बनती है और ये फिर राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सामान्यत. जीवन का दुश्चक्र चलता रहता है, जिसका कही से भी शुरू होना नही कहा जा सकता। यम और नियम मे जो अभ्यास विवक्षित है, वह मनुष्य को कुछ कामों को करने से रोककर और उसे कुछ भावात्मक सद्गुणों की प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करके इस दुश्चक्र से नाता तोड़ने और जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाले मार्ग का अबाध रूप मे अनुसरण करने में सहायता देता है।

चरम लक्ष्य का स्वरूप न्याय-वैशेषिक के उस दुःखवादी दृष्टिकोण से निर्धारित होता है जिससे वह सम्पूर्ण जीवन को देखता है। यह दर्शन एक भावात्मक अनुभव के रूप में सुख की वास्तविकता का निषेध नहीं करता;[2] परन्तु यह दु:ख को भी उतना ही वास्तविक मानता है और सुख-दु:ख को इस तरह अवियोज्य रूप से जुड़े हुए मानता है कि दुःख से बचने के लिए सुख का त्याग भी जरूरी हो जाता है। फिर यह भी माना गया है कि सुख जीवन में इतना अनिश्चित है और दु.ख की मात्रा उससे इतनी अधिक है कि सुख की प्राप्ति का प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। साथ ही यह भी बात है कि सुख के अनित्य होने से—ज्ञान की तरह सुख भी केवल दो क्षणों तक बना रहता है—सतत सुख केवल निरन्तर प्रयत्न करते रहने से ही मिल सकता है। अतः जीवन का आदर्श 'अपवर्ग' अर्थात् ससार से छुटकारा पाना माना गया है। यह निषेधात्मक आदर्श है और इसका मतलब सुख की प्राप्ति नहीं बल्कि दुःख का परिहार है। यह परिहार ध्वसाभाव-स्वरूप होने से अनन्त होगा और इस अवस्था से भ्रंश नही होगा। इस तरह का आदर्श काफी शक्तिशाली है, क्योंकि, न्याय-वैशेषिक के अनुसार आदमी कर्म मे सुख की प्राप्ति की इच्छा से जितना अधिक प्रवृत्त होता है उतना ही दु.ख से बचने की इच्छा से भी होता है, और सम्पूर्ण दु:ख से हमेशा के लिए छुटकारा पा लेने की प्रत्याशा

1. कारिकावली, श्लो० 146 इत्यादि।
2. न्यायसूत्र 1. 1. 9; 4. 1. 56।

संसार के दुःखमय होने मे दृढ़ विश्वास रखनेवाले व्यक्ति को इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु अधिकतम प्रयत्न लगाने में प्रवृत्त करने में काफी समर्थ है। परन्तु जीवन के लक्ष्य को न केवल चाहने के योग्य होना चाहिए, बल्कि उसकी प्राप्ति भी सम्भव होनी चाहिए, और जैसा कि हम जानते हैं, न्याय-वैशेषिक बुराई को सत्य मानते हुए भी उसका परिहार सम्भव मानता है।[1] कारण यह है कि सुख की तरह दुःख भी आत्मा का एक आगन्तुक गुण है और इसके नाश से आत्मा के स्वरूप की कोई हानि नहीं होगी। उदाहरण के लिए, गहरी नींद मे आत्मा इन दोनों से रहित होता है और यह बात मोक्ष की सम्भावना को प्रकट करती है, जो इसी अवस्था का स्थायी हो जाना है।[2] न केवल सुख और दुःख बल्कि ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न इत्यादि सभी आत्मा के आगन्तुक गुण हैं और इसलिए मोक्ष की अवस्था ऐसी होती है जिसमे आत्मा अपने सभी नौ विशेष गुणों का त्याग कर देता है। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था मे आत्मा न केवल संसार से परे पहुँच जाता है, बल्कि सब प्रकार के अनुभवों से रहित भी हो जाता है।

इस आदर्श की बौद्ध धर्म के आदर्श से तुलना करना उपयोगी होगा। बुद्ध का उपदेश यह था कि सुख और दुःख या स्वार्थपरता से छुटकारा तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हम आत्मा की नित्य सत्ता में विश्वास करना नही छोड़ते। न्याय-वैशेषिक इसके विपरीत आत्मा को नित्य तो मानता है, परन्तु इस बात पर जोर देता है कि जीवन का आदर्श तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक हमे यह विश्वास न हो जाए कि आत्मा वास्तव में सारे अनुभवों से परे है। इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार बुराई का मूल हमारा नित्य आत्मा में विश्वास करना नहीं है, बल्कि यह विश्वास करना है कि उसे सुख या दुःख का अवश्य अनुभव होना चाहिए जबकि वह स्वरूपतः इन दोनों से शून्य है। आत्मा के विषय में इस प्रकार की मिथ्या धारणा राग-द्वेष को पैदा करती है, और जीवन मे किए जानेवाले सारे स्वार्थपरक कर्म इन्हीं के फल होते हैं। यह सिद्धान्त वैशेषिक के कर्म के हेतुओं के राग (सुख की इच्छा) और द्वेष (दुःख की अनिच्छा) मे विश्लेषण में अस्पष्ट रूप मे दिखाई देता है, परन्तु न्याय राग और द्वेष से भी अधिक मौलिक मोह (भ्रम) को बताकर इस सिद्धान्त को स्पष्ट कर देता है।[3] हमारा लक्ष्य आत्मा के सच्चे स्वरूप को

1. न्यायसूत्र, 1. 1. 20-1; न्यायमंजरी, पृ० 501.
2. न्यायसूत्र, 4. 1. 63।
3. न्यायसूत्र, 4.1. 3-8; न्यायमंजरी, पृ० 500-11

समझकर इस मिथ्या विश्वास के प्रभाव से स्वयं को मुक्त करना होना चाहिए। यह मूलभूत मोह या मिथ्या ज्ञान सही ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है।[1] इसे द्विविध कहा जा सकता है : (i) जो चीजें वस्तुतः आत्मा की अपनी नहीं हैं, जैसे मनस्, शरीर इत्यादि, उन्हें भ्रमवश उसकी मान लेना; और (ii) उन गुणों को गलती से आत्मा के तात्त्विक लक्षण मान लेना जो अतात्त्विक या आगन्तुक हैं, जैसे ज्ञान, सुख और दुःख, जिनकी उत्पत्ति आत्मा का शरीर इत्यादि से साहचर्य होने मे होती है। न पहले प्रकार की चीज़ों से अलग किए जाने पर आत्मा की अखंडता पर असर होता है और न दूसरे प्रकार की बातों के हटने पर। लेकिन मनुष्य सामान्यतः इस तथ्य को नज़र-अन्दाज कर देता है और यह महसूस करता है कि इनकी कमी से उसके अन्दर कमी आ जाएगी। संक्षेप में, ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे आत्मा को अपने लिए प्राप्त करना है या जो वह अपने लिए प्राप्त कर सकता है। और इस तथ्य का ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है।[2] लेकिन यदि इसे मोह को दूर करने मे सफल होना है, तो निरन्तर मनन से इसका अपरोक्ष अन्तःप्रज्ञा मे परिपाक हो जाना आवश्यक है। कोरे तर्क पर आधारित विश्वास किसी काम का नहीं है। इस प्रकार सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति और योग का अभ्यास मोक्ष की सीधी प्राप्ति करानेवाली साधना की मुख्य बातें हैं। मोक्ष दिलानेवाले ज्ञान की प्राप्ति का उपाय यह है: (1) दर्शन का विधिवत् अध्ययन, जिसे किसी ऐसे योग्य गुरु की सहायता मे चलना चाहिए जो तत्त्व की उचित रूप से जानकारी करा सके; और (2) इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त हो उस पर मनन करना, ताकि उसमे दृढ आस्था पैदा हो जाए। इन दो चरणों मे परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। तब (3) आत्मा के सच्चे स्वरूप का ध्यान किया जाता है।[3] इससे तत्त्व का अपरोक्षानुभव हो जाता है, जो तत्काल अज्ञान को दूर कर देता है। ऐसा माना जाता है कि जिस व्यक्ति को यह अनुभव हो जाता है, वह मृत्यु के बाद भौतिक देह से सम्बन्ध टूटते ही जीवन के अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है।

जीवन के इस लक्ष्य को अपनाकर न्याय-वैशेषिक प्रच्छन्न रूप से इस

1. न तत्त्वज्ञानस्य अनुत्पत्तिमात्रम्—न्यायसूत्र-भाष्य, 4.2.1।
2. न्यायसूत्र, 1.1.1।
3. न्यायसूत्र-भाष्य, 4 2.38 और 47-9। ये उपनिषदों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के समकक्ष हैं और न्यायकंदली, पृ० 282 में इन्हीं नामों का प्रयोग किया भी गया है।

बात से इन्कार करता है कि आत्मा और जड़द्रव्य के बीच कोई अन्तर है। जो आत्मा इस लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है, वह हर प्रकार के अनुभव से रहित हो जाता है और तब उसे अपनी चेतना तक नहीं रहती। सिद्धान्त-रूप में ऐसे आदर्श का कोई औचित्य हो या न हो, साधारण बुद्धि को यह निश्चय ही नहीं रुचता। यह हमें बुराई से बचाने में भले ही सफल हो, पर ऐसी सफलता असफलता से भी बुरी होगी। मोक्ष की अवस्था में आत्मा के अचेतन होने की इस आडम्बरपूर्ण स्वीकारोक्ति से तो बौद्ध का आत्मोच्छेद का सीधा प्रयत्न कहीं अधिक अच्छा है। और मोक्ष की प्राप्ति भी केवल परलोक में ही हो सकती है। तत्त्वज्ञानी के आत्मा से उसके सारे विशेष गुणों का पूर्णतः अलग हो जाना केवल मरने के बाद ही माना गया है। जहाँ तक वर्तमान जीवन का सम्बन्ध है, उसमें इन्हें दूर करने को न केवल लक्ष्य नहीं बनाया गया है बल्कि असम्भव भी माना गया है। अब अपनी योजना के अनुसार (पृ० 184) यदि हम न्याय-वैशेषिक के जीवन के आदर्श को लौकिक दृष्टि से निर्धारित करें, तो अधिकतर अनिष्ट बातें उससे दूर हो जाती हैं। यहाँ निस्सन्देह जीवन्मुक्ति को उस प्रकार सिद्धान्त-रूप में स्वीकार नहीं किया गया है जिस प्रकार कुछ अन्य दर्शनों में, पर वात्स्यायन और उद्योतकर दोनों इसके समकक्ष एक अवस्था को मानते हैं (पृ० 15), जिसमें मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर चुका होता है, हालाँकि अभी वह तकनीकी अर्थ में 'मुक्त' नहीं हुआ होता। ऐसा मनुष्य अपनी भौतिक और मानसिक उपाधियों से पृथक् नहीं होगा; लेकिन संकीर्ण राग-द्वेष और उनसे उत्पन्न स्वार्थपरक प्रवृत्तियों का उसके अन्दर लोप हो चुका होगा। और यदि हम गौतम (न्यायसूत्र, 4.1.64) के इस कथन को ध्यान में रखें कि कर्म केवल तभी आत्मा को दूषित करता है जब वह स्वार्थ से प्रेरित होता है, तो ऐसे मनुष्य का जीवन निष्क्रिय भी नहीं होगा। इसे न्याय-वैशेषिक के जीवन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने को सबसे अच्छा समर्थन उसकी ईश्वर की धारणा से प्राप्त होता है। ईश्वर को परमात्मा कहा गया है। वह ज्ञान या इच्छा से रहित नहीं है, बल्कि केवल सुख-दुःख तथा राग-द्वेष से रहित है और इसलिए सदैव सक्रिय रहता हुआ भी कदापि स्वार्थपूर्ण कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतः इस दृष्टिकोण से संसार में मनुष्य का प्रयत्न तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, स्वार्थपरता का पूर्णतः त्याग करके इच्छा के परिष्कार, दुःख को सहने और द्वेष के पूर्ण उन्मूलन के लिए होना चाहिए। यह एक ऐसा आदर्श है जिसका परलोक में चाहे जो फल हो लेकिन इस लोक में भी जो अच्छाई से रिक्त नहीं है।

अध्याय 11

सांख्य-योग

सांख्य-योग के महाभारत इत्यादि में पाए जाने वाले उल्लेखों से पता चलता है कि इस दर्शन का किसी समय व्यापक प्रभाव था,[1] परन्तु अब इसकी, विशेषत. सांख्य की, लोकप्रियता बहुत नही रही।[2] इसके साहित्य का जितना अंश नष्ट होने से बच गया है, वह भी अपेक्षाकृत अल्प है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं (पृ० 107, 132-33), आधुनिक विद्वान् इसके प्रारम्भ के बारे में मतभेद रखते है। यह तो सब मानते हैं कि उपनिषदों में, विशेष रूप से उनमें जो बाद के है, सांख्य-योग-सिद्धान्त के उल्लेख हुए हैं। लेकिन कुछ लोगों का यह मत है कि इस दर्शन का प्रारम्भ स्वतन्त्र रूप से हुआ था और जितने पुराने उपनिषद् है लगभग उतना ही पुराना यह भी है, तथा कुछ इसे इन प्राचीन ग्रन्थों के उपदेशों से फूटी हुई एक शाखा मानते हैं। एक उपनिषद्[3] में निश्चय ही कपिल ऋषि का नाम आया है, जिसे परम्परा सांख्य का प्रवर्तक मानती है, परन्तु प्राचीन भारतीय विचारक[4] और आधुनिक विद्वान्[5] सब इसे आभासी-मात्र मानते हैं। इस शब्द का अर्थ वहाँ कपिल नामक ऋषि नहीं है, जैसा कि प्रथम दृष्टि मे लगता है, और इसका प्रयोग किसी वास्तविक पुरुष के लिए बिलकुल नहीं हुआ है, बल्कि हिरण्यगर्भ या किसी अन्य पौराणिक पुरुष के लिए हुआ है। क्योंकि इस प्रश्न के विस्तृत विवेचन के लिए इस दर्शन की सूक्ष्म बातों की जानकारी आवश्यक है, इसलिए अभी हम इसमें नही पड़ सकते। हम चलते-चलते केवल इतना कहेंगे कि इस दर्शन का प्रारम्भ जैसे भी हुआ हो, इसके इतिहास के एक चरण में इसके अनुयायी इसे उपनिषदों से उद्भूत मानते थे। जैसाकि सर्वविदित है, बादरायण ने वेदान्तसूत्र में उपनिषदों

1. देखिए, Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 227।
2. Encyclopaedia of Religion and Ethics, जि० 11, पृ० 189।
3. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5.2।
4. देखिए वेदान्तसूत्र, 2. 1.1 पर शाङ्कर भाष्य।
5. देखिए, Philosophy of the Upnisads, पृ० 200; Keith: The Sāṅkhya System, पृ० 8, 40।

के सिद्धान्तों को व्यवस्थाबद्ध किया था और एक प्रश्न, जिसकी उसने बार-बार चर्चा की है, यह है कि सांख्य उपनिषद्मूलक है या नहीं।[1] उसका निष्कर्ष यह है कि यह उपनिषद्मूलक नहीं है, और उसके द्वारा बार-बार इस प्रश्न के उठाए जाने का एकमात्र सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण यह है कि उसके समय में कुछ ऐसे विचारक ऐसे थे जो सांख्य-सिद्धान्त को उपनिषद्मूलक मानते थे। सोलहवीं शताब्दी-जितने बाद के काल तक में सांख्यसूत्र की व्याख्या, सांख्य-प्रवचन-भाष्य, के रचयिता विज्ञानभिक्षु का भी ऐसा ही मत था। निश्चय ही, यह सांख्य के बाद के आचार्यों के इस प्रयत्न का फल हो सकता है कि अपने मत की पुष्टि उपनिषदों से, जिनका प्रामाण्य सर्वस्वीकृत हो चुका था, की जाए। लेकिन यह उनकी इस इच्छा का भी सूचक हो सकता है कि सांख्य का वास्तविक उद्गम ढूंढा जाए, भले ही बाद के संशोधनों से उसका स्वरूप अत्यधिक बदल गया हो।

सांख्य और योग के सम्बन्ध का निर्णय करना भी कठिन है। इतना तक स्पष्ट नहीं है कि इनमें से कौन बाद का है, क्योंकि, सम्भव है, मूल सिद्धान्त एक ही रहा हो और उसमें आ जानेवाले भेदों के कारण बाद में एक ही दर्शन ने दो का रूप ले लिया हो। जिस रूप में ये हम तक पहुँचे हैं, उसमें निस्सन्देह योग बाद का है। यदि यहाँ स्वीकृत यह मत सही हो कि सांख्य-योग उपनिषदों से निकला है, तो अधिक सम्भावना इस बात की प्रतीत होती है कि इसकी शुरुआत एक आद्य सांख्य-योग से हुई होगी, जिसमें ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता माना गया था और पुरुषों (जीवों) तथा प्रकृति को, जो इस भौतिक जगत् का मूल है, एक-दूसरे से पृथक् मानते हुए ईश्वर के अधीन माना गया था। कारण यह है कि ऐसा सिद्धान्त दर्शनयुगीन निरीश्वरवादी सांख्य और ईश्वरवादी होने के बावजूद द्वैतवाद को माननेवाले योग की अपेक्षा उपनिषदों के उपदेश के अधिक निकट है।[2] हमें यह मान लेना पड़ेगा कि स्वभाववाद-जैसे सिद्धान्त के प्रभाव से जगत् को उत्पन्न करने की क्षमता पूरी तरह से प्रकृति के अन्दर मान ली गई, जिससे ईश्वर की धारणा व्यर्थ हो गई, और बाद में योग

1. देखिए, वेदान्तसूत्र, 1.1.5-11 और 2.1.1-3 पर शांकर भाष्य। यहाँ जो खण्डन किया गया है वह वेदान्तसूत्र 2.2.1-10 के खण्डन से, जहाँ सांख्य की तार्किक आधार पर आलोचना की गई है, भिन्न है।
2. देखिए, Belvalkar : Bhandarkar Commemoration Volume, पृ० 183-4।

के व्याख्याताओं ने ऐसे सांख्य में ईश्वरवाद की कलम बांध दी,[1] जो शायद 'ईश्वरवादियों को सन्तुष्ट करने और विश्व के सांख्य-सम्मत सिद्धान्त के प्रचार को आसान बनाने के'[2] एक कार्यसाधक उपाय के बतौर किया गया। जब हम सांख्य-योग के प्रारम्भ की खोज करेंगे और वेदान्त से इसका सम्बन्ध बताएंगे, तब यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सांख्य-दर्शन का सबसे प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ जो सम्प्रति उपलब्ध है, सांख्य-कारिका है। यह पांचवीं शताब्दी ई० के आस-पास की रचना है। मोटे तौर से हम इसके रचयिता ईश्वरकृष्ण को कालिदास का समसामयिक मान सकते है। इसमें सत्तर श्लोक है और इसी कारण इसे कभी-कभी 'सांख्य-सप्तति' भी कहा जाता है। इसमें सांख्य के सैद्धान्तिक पक्ष का संक्षिप्त परन्तु अत्यधिक स्पष्ट वर्णन है और इसे भारत के सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य का रत्न' कहा गया है। इस पर अनेक ने, जिनमें नवीं शताब्दी ई० के प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य वाचस्पति भी शामिल है, टीकाएँ लिखी हैं। एक टीका के सहित, जिसकी ठीक-ठीक पहचान नही हो पाई है, इस पुस्तक का चीनी भाषा मे उज्जैन के एक परमार्थ नामक ब्राह्मण ने, जो 546 ई० में चीन के तत्कालीन सम्राट् के निमन्त्रण पर वहां गया था और मृत्युपर्यन्त वहीं रहा, 'स्वर्णिम सप्तति-प्रवचन' नाम से अनुवाद किया था। सांख्य पर एक अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ तत्त्वसमास है, जो कि अपने नाम के अनुसार ही बहुत संक्षिप्त है। कहा गया है कि यह 'मुश्किल से एक विषय-सूची के बराबर' है। मैक्सम्यूलर ने इसे सांख्य की प्राचीनतम कृति कहा है।[3] लेकिन इस मत को अब सामान्यतः स्वीकार नहीं किया जाता।[4] एक तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सांख्य-सूत्र है, जिसे स्वयं कपिल द्वारा रचित माना जाता है। यद्यपि शायद इसकी अधिकांश सामग्री वस्तुतः प्राचीन है, तथापि स्पष्टतः यह बहुत बाद की रचना है और इसे चौदहवीं शताब्दी से पहले का नहीं माना जा सकता। इसमें छः अध्याय हैं, जिनमे से चार इस दर्शन के सिद्धान्त का विवरण देते हैं, एक विपक्षी दर्शनों की आलोचना करता है और एक मे इस दर्शन की मुख्य बातों का समर्थन करनेवाली

1. भामती (2.1.3) में वाचस्पति योग के इतिहास के दो ऐसे चरणों के समर्थक प्रतीत होते हैं।
2. Encyclopaedia of Religion and Ethics, जि० 12, पृ० 831।
3. Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 242।
4. कीथ का पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० 89। देखिए Journal of Oriental Research (Madras), अप्रैल. 1928, पृ० 145-7।

आख्यायिकाएँ हैं, जो कि किसी सूत्र-ग्रन्थ में देखी जानेवाली एक नई बात है। इस पर कई औरों के साथ-साथ पूर्वोक्त विज्ञानभिक्षु ने भी भाष्य लिखा है। इस भाष्य में सांख्य काफी बदला हुआ दिखाई देता है और इस बदले हुए रूप के फलस्वरूप सांख्य वेदान्त के और निकट आ जाता है, जो कि इसे बदलने का उद्देश्य मालूम पड़ता है। इसे हम परवर्ती सांख्य कह सकते हैं। पूर्ववर्ती सांख्य से इसके जो अन्तर महत्त्व के लगेंगे उनकी यथास्थान चर्चा कर दी जाएगी। योग-दर्शन का स्वीकृत पाठ्य-ग्रन्थ पतंजलि का योग-सूत्र है। इसका समय पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त के आस-पास माना गया है;[1] और यदि यह तिथि सही है तो यह परम्परागत विश्वास कि इसका रचयिता वैयाकरण पतंजलि था, निराधार हो जाता है, क्योंकि वैयाकरण पतंजलि का दूसरी शताब्दी ई० पू० में होना सिद्ध है। इसमें चार पाद हैं, जिनके विषय क्रमश समाधि, उसकी प्राप्ति का उपाय (साधन), उससे प्राप्त होने वाली अलौकिक शक्तियाँ (विभूति) और जीवन के लक्ष्य का स्वरूप (कैवल्य) है। इस पर कई व्याख्याएँ लिखी गई हैं, जिनमें व्यास[2] (500 ई०) और राजा भोज (1000 ई०) की भी शामिल हैं। पहली पर एक बहुत अच्छी टीका वाचस्पति ने लिखी है और दूसरी विज्ञानभिक्षु ने।

: 1 :

न्याय-वैशेषिक की तरह सांख्य-योग भी अनेक आत्माओं को, जिन्हें पुरुष कहा गया है, मानता है और उसी की तरह वास्तववादी भी है, क्योंकि यह वस्तुओं के अस्तित्व को उनको जानने वाली बुद्धि से स्वतन्त्र मानता है। लेकिन एक अन्तर यह है कि न्याय-वैशेषिक भौतिक जगत् के अनेक कारण मानता है जबकि सांख्य-योग उसका मूल एकमात्र प्रकृति को मानता है। दूसरे शब्दों में, यदि हम फिलहाल पुरुषों के अनेकत्व की बात छोड़ दें, तो न्याय-वैशेषिक के विपरीत सांख्य-योग द्वैतवादी है और केवल प्रकृति और पुरुष को दो अन्तिम तत्त्व मानता है। अब हम कुछ विस्तार से इनके बारे में बताएँगे :

(1) प्रकृति—यह विश्व का—केवल उत्पत्ति-नाशहीन पुरुष को छोड़कर बाकी सबका—मूल कारण है। जो कुछ भी भौतिक है वह, यानी भूत-द्रव्य और शक्ति दोनों ही, इससे उत्पन्न हैं। इसी से सम्पूर्ण विविधताओं से युक्त यह विश्व उद्भूत होता है। इसलिए यह सिद्धान्त परिणामवाद अर्थात्

1. Prof. Jacobi : Dates of Philosophical Sutras, JAOS (1911).
2. यह कहना कठिन है कि यह व्यास कौन था। परम्परा उसे महाभारत का रचयिता व्यास मानती है।

पूर्ण है और प्रकृति उसकी परिचारिका मात्र है। यद्यपि इस व्याख्या को प्राचीन आचार्यों[1] के कुछ कथनों से समर्थन मिलता है, तथापि यह एक चरम सत्ता को दूसरी चरम सत्ता का आश्रित बनाकर सांख्य-योग के स्वीकृत द्वैतवादी स्वरूप को समाप्त कर देगी। इन गुणों का स्वरूप इस प्रकार है: जो कुछ भी सूक्ष्म या हल्का है वह सत्त्व है; जो कुछ स्थूल या गुरु है वह तमस् है; और जो कुछ गतिशील है वह रजस् है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि इन गुणों की धारणा जगत् के भौतिक और यान्त्रिक पक्षों में दिखाई देने वाली विविधता की व्याख्या के लिए एक प्राक्कल्पना के रूप में बनाई गई है। इन्हें तीन मानना केवल इस बात का सूचक है कि ऐसी व्याख्या के लिए आवश्यक तत्त्वों की संख्या इससे कम नहीं की जा सकती।[2] यदि केवल एक गुण माना जाता, तो विविधता की उससे व्याख्या न हो पाती। यदि दो माने जाते, तो या तो वे एक-दूसरे को प्रभावहीन कर देते, जिससे किसी भी तरह का परिणाम न हो पाता, या एक सदैव दूसरे से प्रधान बना रहता, जिससे एक ही दिशा में एक ही प्रकार की गति होती रहती। बाद के सांख्य में एक महत्त्वपूर्ण नई बात यह आ गई कि तीन गुणों में से प्रत्येक को बहुविध मान लिया गया और प्रकृति की अनन्तता को उनकी अपरिमित संख्या का फल माना गया। ऐसी दशा में तीन की संख्या समान गुणों के अलग-अलग तीन समूहों की सूचक होगी। निस्सन्देह इस मत से अनुभव के जगत् में दिखाई देनेवाली विषमता और विविधता की अधिक अच्छी व्याख्या होती है। लेकिन तब साथ ही यह दर्शन वैशेषिक[3] की तरह, जो गुणात्मक भेद-युक्त अनन्त परमाणुओं को मानता है, अधिक हो जाता है।

गुण परिवर्तन के आधार हैं और परिवर्तन को बौद्ध-दर्शन की तरह सदैव होता रहनेवाला माना गया है। लेकिन यहाँ परिवर्तन को निरन्वय नहीं माना गया है, बल्कि गुणों को स्थायी और केवल उनके विकारों को प्रकट और लुप्त होनेवाले माना गया है। परिवर्तन की समस्या के इस हल के अनुसार सब वस्तुओं की दो अवस्थाएँ माननी पड़ेंगी—एक अव्यक्त अवस्था और दूसरी व्यक्त अवस्था। जब प्रकृति के सब विकार अव्यक्त अवस्था में होते हैं, तब

1. योगसूत्र, 2.23; योगसूत्रभाष्य, 1.4।
2. यहाँ गुणों की धारणा आयुर्वेद के त्रिधातु-सिद्धान्त से यदि नहीं ली गई है तो कम-से-कम उसके समकक्ष तो है ही। देखिए सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 13।
3. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1. 127-8। गुण-सिद्धान्त की प्राचीनता के बारे में देखिए Original Sanskrit Texts, जि० 5, पृ० 377। यह सिद्धान्त अथर्ववेद-जितना प्राचीन है और महाभारत में इसके उल्लेख भरे पड़े हैं।

प्रलय की दशा रहती है और दूसरी अवस्था सर्ग में होती है। प्रलय की दशा में भी प्रकृति को परिवर्तनशील माना गया है; केवल यह अन्तर है कि तब उसका विजातीय परिणाम न होकर सजातीय परिणाम होता है। इस प्रकार जहाँ तक भौतिक जगत् का सम्बन्ध है, वहाँ तक नित्य गतिशीलता इस दर्शन का एक मूलभूत अभ्युपगम बन जाता है (पृ० 232)।[1] प्रकृति को नित्य गतिशील इस आधार पर माना गया है कि यदि किसी भी समय उसकी गति रुक गई तो दुबारा उसमें गति प्रकट होने की व्याख्या करना असम्भव हो जाएगा। इससे प्रकट होता है कि सांख्य-योग को न्यूटन के प्रथम गति-नियम की सचाई ज्ञात थी, जिसके अनुसार कोई भी गतिमान् या स्थिर पिंड तब तक वैसा ही बना रहेगा जब तक कोई बाहरी शक्ति उसमें बाधा न दे। इस दर्शन में कोई ऐसी बाहरी शक्ति नहीं है जो प्रकृति की गति को बाधित करे। निस्सन्देह प्रलय की अवस्था से सर्ग की अवस्था में परिवर्तन एक बाह्य प्रभाव, यानी पुरुष की सन्निधि, से माना गया है[2]; परन्तु यह व्याख्या आधे मन से दी गई है और जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह इस दर्शन के कम-से-कम सांख्य-भाग की एक त्रुटि है।

इस दर्शन की सर्ग की धारणा में कुछ विशेषताएँ हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह है कि यह भूतद्रव्य की अविनश्वरता और ऊर्जा की नित्यता के विश्वास पर आधारित है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती; और जो कुछ सत् है वह हमेशा से सत् था। उत्पत्ति नई सृष्टि (आरम्भ) नहीं है, बल्कि जो पहले अव्यक्त अवस्था में था उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। किसी वस्तु के प्रारम्भ की जो बात प्राय: कही जाती है वह उसके इतिहास की एक घटना मात्र है; वस्तु स्वयं न उत्पन्न होती है और न की जा सकती है। इसी प्रकार नाश का अर्थ केवल आकृति का बदलना है, क्योंकि पूर्ण विनाश सम्भव नहीं है। दूसरी विशेषता यह है कि सर्ग को आवर्ती माना गया है। अर्थात्, सर्ग और प्रलय के काल एक के बाद एक आते हैं। फलत: प्रकृति में परिवर्तन लगातार केवल एक दिशा में नहीं होते। ऐसा भी लगेगा कि प्रलय सामान्य अवस्था है, क्योंकि प्रकृति में सर्ग-प्रक्रिया के दौरान पुन: इस अवस्था में लौट आने की स्थायी प्रवृत्ति दिखाई देती है। तीसरी विशेषता यह है कि सर्ग को यहाँ सप्रयोजन माना गया है; लेकिन चूँकि प्राक्कल्पना के अनुसार प्रकृति चेतन नहीं है, इस

1. प्रतिक्षण-परिणामिनो हि सर्वे एव भावा ऋते चितिशक्तेः —सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 5।
2. सांख्यप्रवचनसूत्र, 1.96।

लिए हम उसे पूर्णतः सप्रयोजन नहीं मान सकते। उसे प्रयोजनाभासी कहा जा सकता है, हालांकि इस शब्द का अर्थ समझना मुश्किल है। मतलब यह है कि पूरी सर्ग-प्रक्रिया किसी उद्देश्य को पूरा करती है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति को उसकी चेतना है और वह जान-बूझकर उसका अनुसरण करती है। अन्तिम विशेषता यह है कि सर्ग, जहाँ तक वह सप्रयोजन है, व्यक्ति के लिए होता है, जाति के लिए नहीं। उसका प्रयोजन व्यक्ति के हित का बलिदान करके जाति का सुधार करना नहीं है, बल्कि व्यक्ति को भोग प्रदान करना या संसार के बन्धन से उसे मुक्त करना (अपवर्ग) है। प्रकृति के जगत् के रूप में परिणत होने में निहित इस द्वैध प्रयोजन का सम्भाव्य अर्थ हम बाद में समझाएँगे।

इस दर्शन के द्वारा स्वीकृत चौबीस तत्त्वों के, जिनमें परिवर्तन से परे रहनेवाले पुरुष शामिल नहीं हैं, उत्पन्न होने का क्रम नीचे दिया जा रहा है :

इस योजना का और इसमें प्रयुक्त विभिन्न नामों का पूरा अर्थ आगे स्पष्ट हो जाएगा। फिलहाल इसकी केवल कुछ ही बातों की चर्चा पर्याप्त होगी :

(i) प्रकृति के विकारों के इस क्रम में पाँच सूक्ष्म (तन्मात्रों) और पाँच स्थूल भूतों के अतिरिक्त, जो स्पष्टतः जड़ हैं, मनस् इत्यादि कुछ और तत्त्व भी शामिल हैं, जो चेतन प्रतीत होते हैं; और प्रकृति को, जो अभ्युपगम के अनुसार अचेतन है, इनका मूल मानना व्याघाती लगेगा। लेकिन वास्तव में यहाँ व्याघात है नहीं, क्योंकि मनस् इत्यादि स्वतः चेतन नहीं हैं, बल्कि पुरुष के प्रभाव से ऐसे हैं, जिसे इस दर्शन में एकमात्र चेतन तत्त्व माना गया है। इस बात में सांख्य-योग की स्थिति एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाएगी। एक दर्पण हमारे प्रतिबिम्ब को दिखा सकता है, लेकिन जिस दीवार पर वह टंगा है वह नहीं। फिर भी दोनों भौतिक वस्तुएँ हैं। यही बात उपर्युक्त दो प्रकार के तत्त्वों

पर भी लागू होती है। एक ही प्रकृति से उत्पन्न होकर भी वे पुरुष के प्रति दो प्रकार से व्यवहार करते हैं—एक प्रकार के तत्त्व उसके प्रभाव को तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं और दूसरे प्रकार के नहीं करते। अतः उनमें अन्तर मात्रा का है, स्वरूप का नहीं। 'चेतन' तत्त्वों की वस्तुतः शरीर के अन्दर के तन्त्रिका-तन्त्र से तुलना की भी गई है।[1]

(ii) प्रलय की अवस्था में प्रकृति के तीन गुण नित्य सक्रिय होने के बावजूद पूर्ण साम्यावस्था में रहते हैं। सर्ग के आरम्भ में यह अवस्था समाप्त हो जाती है और तदुपरान्त सत्त्व की प्रधानता की अवस्था आती है। यह विजातीय परिणाम की शुरुआत है, जिसमें 'महत्' नामक तत्त्व, यानी बुद्धि, की उत्पत्ति होती है। योग के अनुसार इस परिवर्तन के प्रारम्भ की प्रेरणा ईश्वर से मिलती है।[2] इसके विपरीत, सांख्य में, जो ऐसी कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं मानता, इस परिवर्तन को पुरुष के 'सान्निध्य मात्र'[3] से होनेवाला कहा गया है; और नित्य निष्क्रिय रहनेवाले पुरुष से प्रकृति के प्रभावित होने की सम्भावना को लोहे को आकर्षित करनेवाले चुम्बक के दृष्टान्त से समझाया गया है। यह व्याख्या बिलकुल भी सन्तोषजनक नहीं है। पहली बात यह है कि पुरुष प्रकृति की तरह ही सर्वव्यापी और नित्य है, जिससे प्रकृति के सर्ग के प्रारम्भ होने की शर्त हमेशा पूरी हुई रहती है, जब कि सर्ग के बीच-बीच में प्रलय के काल भी माने गए हैं। सर्ग के क्रम के बीच-बीच में टूटते रहने की व्याख्या पुरुषों के पिछले कर्मों के आधार पर करना काफी नहीं होगा, क्योंकि पुरुष को तो वास्तव में शुभाशुभ का स्पर्श ही नहीं होता और इसलिए कर्म और उसके फलों को बुद्धि के लक्षण और फलतः प्रकृति की स्वकीय बातें मानना पड़ता है।[4] फिर पुरुष के सान्निध्य का ठीक अर्थ समझने में अनेक पुरुषों को मानने से भी कठिनाई आ जाती है—सान्निध्य एक पुरुष का विवक्षित है या सब पुरुषों का? विज्ञानभिक्षु[5] की तरह यह मान लेना कि प्रत्येक कल्प में एक मुख्य पुरुष के प्रभाव से सर्ग होता है, सांख्य के अनीश्वरवाद को छोड़ देने के बराबर होगा और योग का पक्ष ग्रहण करना होगा।

(iii) अब सर्ग के अन्तिम वर्ग, भूतों, के बारे में कुछ कहना है। जब

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics, जि॰ 11, पृ॰ 190।
2. देखिए, योगसूत्र पर भोजवृत्ति, 1.24।
3. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.96।
4. सांख्यप्रवचनसूत्र, 1.16।
5. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.96।

हम यह याद करते हैं कि ये ही भूत न्याय-वैशेषिक के अनुसार कार्य-जगत् के अन्तिम घटक हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य-योग छानबीन करते-करते उससे भी कहीं पीछे पहुँच जाता है और जगत् का एक ही मूल कारण मानता है। ये भूत कैसे उत्पन्न होते हैं और इनके क्या लक्षण हैं ? इनके साक्षात् कारण पाँच तन्मात्र है, जिनके नाम उनके अवच्छेदक लक्षणों के अनुसार शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र इत्यादि हैं। इनसे जो स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं, उनमें उत्तरोत्तर अधिक विभेदन दिखाई देता है। उनकी उत्पत्ति का प्रकार यह है : शब्द-तन्मात्र से आकाश उत्पन्न होता है, जिसका व्यक्त गुण शब्द है। शब्द-तन्मात्र और स्पर्श-तन्मात्र के संयोग से वायु उत्पन्न होता है, जिसमें शब्द और स्पर्श दो गुण होते हैं। इन दोनों के साथ रूप-तन्मात्र के संयोग से तेजस् उत्पन्न होता है, जिसमें शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण होते है। इन तीनों के साथ रस-तन्मात्र के संयोग से अप् उत्पन्न होता है, जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण होते हैं। अन्तिम भूत पृथ्वी पाँचों तन्मात्रों के संयोग से उत्पन्न होती है और इसलिए इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों गुण होते हैं। आकाश से लेकर पृथ्वी तक भूत उत्तरोत्तर अधिक स्थूल हैं। इनमें से प्रत्येक को बहुविध माना गया है और प्रत्येक परिच्छिन्न और पृथक् प्रकार के परमाणुओं से निर्मित है।[1] 'परमाणु' का यहाँ हू-ब-हू वह अर्थ नहीं है जो न्याय-वैशेषिक में है। हमारे अनुभव का सम्पूर्ण जगत् इन्हीं से बना हुआ है।

(iv) इस योजना में केवल मुख्य सर्ग दिखाया गया है। सर्ग यहीं समाप्त नहीं हो जाता। वह और आगे चलता है, जैसा कि पृथ्वी से आगे पेड़[2] के या इल्ली से तितली के उत्पन्न होने से प्रकट होता है। वस्तुतः यही गौण सर्ग हमें दिखाई देता है और यह एक ही कल्प के अन्दर होता है। जब किसी वस्तु का, जिसका इस अर्थ में सर्ग हुआ था, ध्वंस होता है, तब वह स्थूल भूतों की शक्ल में आ जाती है और प्रलय की प्रक्रिया इससे आगे तब तक नहीं बढ़ती जब तक स्वयं सर्ग का सम्बन्धित कल्प ही समाप्त नहीं हो जाता। मुख्य सर्ग को 'तत्त्वान्तर-परिणाम' यानी पृथक्-पृथक् तत्त्वों का विभेदन कहा गया है;[3] लेकिन 'तत्त्वान्तर' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया है। फिर भी स्पष्ट है कि यह परिवर्तन की अलग-अलग कोटियाँ मानने के बराबर है।

---

1. देखिए, योगसूत्रभाष्य, 1.40,45; 3.44, 52।
2. यहाँ यांत्रिक और आंगिक उत्पादों में उस तरह अन्तर नहीं रखा गया है जिस तरह न्याय-वैशेषिक में।
3. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 3।

(1) इस दर्शन में न केवल प्रकृति के स्वरूप को बल्कि उसके अस्तित्व को भी तर्क की सहायता से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यह दो सिद्धान्तों पर आश्रित है, जिन्हें इस दर्शन में अभ्युपगमों के रूप में अपनाया गया है। इनमें से पहले का हम उल्लेख कर चुके हैं और वह सत्कार्यवाद कहलाता है। उसके अनुसार कोई भी नई चीज पैदा नहीं हो सकती। स्पष्टतः यह सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद के विरुद्ध है। जो कुछ इस समय अस्तित्ववान् है वह सब एकदम शुरू से ही ऐसा है। लेकिन जो भी है वह अव्यक्त या व्यक्त हो सकता है। अव्यक्त रूप कारण है और व्यक्त रूप कार्य। घट का सदा से अस्तित्व रहा है और वह वस्तुतः नित्य है; लेकिन अव्यक्त अवस्था में वह दिखाई नहीं देता। दूसरे शब्दों में, एक वस्तु का अपने लिए अस्तित्व सदा रहता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि हमारे लिए भी उसका अस्तित्व हो।[1] भले ही उसका व्यक्त रूप में अस्तित्व कुछ ही समय तक रहे, अवस्थिति उसकी हमेशा रहती है। और व्यक्त रूप में अस्तित्व अनिवार्यतः अवस्थिति का सूचक होता है। प्रस्तुत प्रश्न पर इस अभ्युपगम का यह प्रभाव पड़ता है कि इस समय जो भौतिक जगत् व्यक्त है, उसका पहले अव्यक्त अवस्था में होना मानना पड़ता है। और यह अव्यक्त अवस्था ही प्रकृति है। प्रकृति के लिए कभी-कभी प्रयुक्त 'प्रधान' ('वह जो पहले से है') शब्द का यही अर्थ है।[2] दूसरा अभ्युपगम यह है कि परिच्छिन्न सदैव अपरिच्छिन्न की ओर संकेत करता है, जो हेगेल की इस अभ्युक्ति की याद दिलाता है कि परिच्छिन्न स्वातिगामी होता है। इस दर्शन में परिच्छिन्नता का प्रत्यय कुछ स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। सांख्य-योग में वस्तुओं को देश या काल से परिच्छिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें से किसी को भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं माना गया है। अतः 'परिच्छिन्न' का अर्थ यहाँ 'वह जो स्वनिर्भर न हो' समझना चाहिए। इस अर्थ में 'अव्यापिन्'[3] शब्द का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, आकाश इस अर्थ में परिच्छिन्न है, क्योंकि सर्ग-प्रक्रिया में इससे जो भी चीजें उत्पन्न होती हैं वे तो इस पर निर्भर हैं, लेकिन यह स्वयं अपने कारण, शब्द-तन्मात्र, पर निर्भर है। फिर यह तन्मात्र भी एक अन्य अधिक आधारभूत तत्त्व के अस्तित्व का सूचक है, जिस पर यह निर्भर है। इस प्रकार पीछे चलते-चलते हम एक ऐसी सत्ता में पहुँच जाते हैं जो सर्वव्यापी और स्वनिर्भर है। यही

1. योगसूत्र, 3.13।
2. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.125।
3. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 15-16।

सत्ता प्रकृति है। शायद हम सोचें कि स्वयं प्रकृति के अन्दर अथवा उसके तीन गुणों में परस्पर व्यावर्तकता है, क्योंकि इनमें कोई भी अन्य से उत्पन्न नहीं है, और इसलिए ये सब अव्यापी हैं। लेकिन सिद्धान्त यह है कि यद्यपि ये कारण-कार्य के रूप में सम्बन्धित नहीं हैं, तथापि पूरी तरह से परस्पर निर्भर हैं (अन्योन्याश्रय-वृत्ति)[1] और इनमें से कोई भी स्वनिर्भर नहीं है। अन्य शब्दों में यह कहा जाएगा कि प्रकृति एक संघात मात्र नहीं है, बल्कि ऐसे अवयवों की व्यवस्थाबद्ध एकता है जिनमें से प्रत्येक का सम्पूर्ण के अन्दर अपना विशिष्ट स्थान और कार्य है। अनुषंगतः, इससे यह प्रकट होता है कि भौतिक जगत् के कारण की खोज की एक सीमा है, क्योंकि यदि हम और पीछे चलें तो हमें प्रकृति के अलावा और कुछ नहीं मिलता। इसलिए प्रकृति को 'पर अव्यक्त'[2] (अन्तिम अव्यक्त), अर्थात् वह प्रथम कारण जिसका अस्तित्व निरुपाधिक और आवश्यक है, कहा गया है। पाठक देखेगा कि यहाँ तर्क सामान्य वस्तुओं को अपने-अपने उपादान-कारणों से उत्पन्न होते और फिर उन्हीं में लीन होते देखने पर आधारित है। एक घड़ा मिट्टी से बनता है और जब वह नष्ट होता है तब मिट्टी में ही बदल जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति और लय की सीमा यहाँ मिट्टी है। प्रकृति में पहुँचने के लिए केवल इतनी जरूरत है कि हम इस तर्क प्रक्रिया को दृश्य भौतिक जगत् के बाहर भी लागू कर दें। प्रकारान्तर से यह कहा जाएगा कि गौण सर्ग के साम्य पर मुख्य सर्ग की कल्पना कर ली गई है। यदि यह मान भी लिया जाए कि जो सिद्धान्त अनुभव के आधार पर बनाया गया है उसे अनुभवातीत पर लागू किया जा सकता है, तो भी यह पूछा जा सकता है कि अनुभव से ज्ञात होनेवाली एकमात्र वस्तुओं, भूतों, की व्याख्या के लिए केवल महत्, अहंकार और तन्मात्र—ये ही और इतने ही तत्त्व क्यों माने जाएँ? यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि इन तत्त्वों को मानने का आधार अनुमान नहीं, बल्कि आप्तागम यानी सांख्य-योग के आचार्यों के वचनों को कहा गया है।[3] यह स्वभाववाद का सिद्धान्त है (पृ० 106) कि भौतिक जगत् कुछ भूतों या शायद एक भूत से, जिनका या जिसका ज्ञान अनुभव से

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 12; योगसूत्रभाष्य, 2.15। वैसे मत के विरुद्ध निश्चय ही यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि पुरुष न तो गुणों को व्याप्त करता है और न उनसे व्याप्त है, इसलिए प्रकृति और पुरुष दोनों ही अव्यापी हैं। देखिए, भामती, 2.2.1।
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 15, 16।
3. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 6।

होता है, उत्पन्न हुआ है; लेकिन सृष्टि-क्रम में महत् इत्यादि नये मध्यवर्ती तत्त्वों का सांख्य-योग में माना जाना यह प्रकट करता है कि यह सिद्धान्त किसी अन्य स्रोत से आया होगा। आगे हम देखेंगे कि इसका स्रोत उपनिषदों को किन कारणों से माना जा सकता है।

(2) पुरुष—पुरुष चिन्मात्र है। वह अपरिणामी, नित्य और सर्वव्यापी है। साथ ही वह बिलकुल निष्क्रिय भी है। केवल प्रकृति को ही सक्रिय माना गया है। तदनुसार इसे व्यक्तित्व का भावात्मक या ग्रहणात्मक पक्ष कहा जा सकता है। पुरुष को कर्ता न मानते हुए भोक्ता कहा गया है। प्रकृति की तरह पुरुष को भी तर्कना की सहायता से ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विभिन्न युक्तियाँ दी गई हैं।[1] सबसे पहली युक्ति यह है कि भौतिक जगत् जड़ है और एक ऐसा चेतन तत्त्व होना चाहिए जो इसका अनुभव करे, अथवा यह कि विषयों का अस्तित्व विषयी के अस्तित्व का सूचक है, हालाँकि इस तरह की युक्ति प्रकृति और पुरुष के मध्य आवश्यक सम्बन्ध मानकर सांख्य-योग के आधारभूत द्वैतवाद के प्रतिकूल जाती है। इतनी ही प्रतिकूल यह दूसरी युक्ति भी जाती है कि प्रकृति जटिल है और इसलिए उसके विपरीत किसी सरल चीज़ यानी पुरुष का अस्तित्व होना चाहिए। फिर प्रकृति में, विशेष रूप से जीवित देह में, जो व्यवस्था[2] पाई जाती है, उससे भी यही निष्कर्ष निकाला गया है। यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य वह तरीका है जिससे 'व्यवस्था पर आश्रित युक्ति' का उपयोग किया गया है। इसे व्यवस्थापक का नहीं बल्कि व्यवस्था से लाभान्वित होनेवाले का सूचक माना गया है। प्रकृति में साध्य-विशेषों के अनुकूल साधनों की उपस्थिति को देखकर सांख्य उनके कर्ता ईश्वर का नहीं बल्कि पुरुष का अनुमान करता है, जिसके लिए उनका अस्तित्व माना गया है। इस अनुमान को ईश्वर के अनुमान की बराबरी का माना जा सकता है, क्योंकि योजना-बनानेवाले की दृष्टि में अवश्य ही कोई होना चाहिए जिसके लिए उसकी योजना उपयोगी हो। उदाहरणार्थ, कोई घड़ियाँ न बनाता, यदि उनका प्रयोग करनेवाला कोई न होता। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि क्यों न इसे योजना बनानेवाले ईश्वर के अस्तित्व का सूचक भी समान रूप से माना जाए, जिसे कि निरीश्वरवादी सांख्य मानने से इन्कार करता है। यहाँ सांख्य की एक बहुत महत्त्व की बात सामने आती है, जो उसका न्याय-वैशेषिक से विशेष रूप से वैषम्य प्रकट करती है। न्याय-वैशेषिक

1. सांख्यकारिका, श्लो॰ 17।
2. इस युक्ति का पूर्वाभास उपनिषदों में मिलता है। देखिए पीछे पृ॰ 65।

के अनुसार दृश्य जगत् जिस सामग्री से निर्मित है उसमें स्वतःप्रवृत्ति नहीं है। इसलिए उसके भागों को एक साथ जोड़ने और जोड़े रखने के लिए किसी बाहरी तत्त्व—ईश्वर, कर्म या दोनों ही—का होना जरूरी है। लेकिन सांख्य की प्रकृति की धारणा इस बात में बहुत उन्नत है कि उसे शरीर की तरह की एक स्वतः विकासशील सत्ता माना गया है।[1] ऐसी सत्ता को किसी बाहरी व्यवस्थापक की जरूरत नहीं है। यही बात सांख्य के निरीश्वरवाद के मूल में है और सांख्य मे ईश्वरवाद को लाने के विज्ञानभिक्षु इत्यादि के प्रयत्नों की निष्फलता प्रदर्शित करती है।[2] लेकिन यद्यपि प्रकृति की धारणा न्याय-वैशेषिक के परमाणुओं से भिन्न है, तथापि उसका विकास स्वयं अपने लिए नहीं होता और इसलिए वह चेतन पुरुष की ओर संकेत करती है। प्रकृति में निहित इसी प्रयोजनवत्ता का व्यवस्थाश्रित युक्ति यहाँ उपयोग करती है। यही सांख्य स्वभाववाद से, जिससे उसका काफी साम्य है, दूर हो जाता है और यह अनुषंगतः सांख्य-योग में पुरुष का ही एकमात्र सच्चा अन्तिम तत्त्व होना प्रकट करती है। पुरुष प्रकृति की तरह सावयव नहीं है और न उसकी तरह अचेतन है। अतः वह अपने से बाहर किसी चीज की ओर संकेत नहीं करता। चौथी युक्ति मनुष्य की संसार से दूर होने की चाह अर्थात् मुक्ति की सहज प्रवृत्ति पर आधारित है। जो मुक्त होना चाहता है उसे उससे, जिससे वह मुक्त होना चाहता है, यानी प्रकृति से, भिन्न होना चाहिए। पुरुषों को अनेक माना गया है और इसके समर्थन में कई युक्तियाँ दी गई हैं,[3] जैसे मनुष्यों के जीवनवृत्तों में भिन्नता होना और उनकी भौतिक, नैतिक तथा बौद्धिक शक्तियों में अन्तर होना। लेकिन यह तर्क केवल सांसारिक जीवों का अनेकत्व ही सिद्ध करता है। स्वरूपतः पुरुषों में भिन्नता पाना कठिन है। यहाँ उस तरह की व्याख्या का भी आभास नहीं दिखाई देता जिस तरह की न्याय-वैशेषिक में, जहाँ प्रत्येक आत्मा में सहज रूप से अपने-अपने विशेष का होना कहा गया है, दी गई है।

सांख्य-योग का कारण-विषयक मत न्याय-वैशेषिक मत का बिलकुल उलटा है। उसे सत्कार्यवाद कहा गया है, क्योंकि उसके अनुसार कार्य सदैव अपने उपादान-कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। यह याद रखने की बात है कि असत्कार्यवाद की तरह सत्कार्यवाद भी केवल उपादान-कारण तक ही सीमित है। सांख्य-योग दो अन्य प्रकार के कारण भी मानता है। ये हैं: निमित्त-

1. सांख्यकारिका, श्लो॰ 57।
2. सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.92-8।
3. सांख्यकारिका, श्लो॰ 18।

कारण और प्रयोजक कारण। प्रयोजक कारण अर्थात् प्रयोजन प्रकृति के क्षेत्र के बाहर की चीज है। पुरुष को भोग या अपवर्ग प्रदान करना ही जगत् का प्रयोजक कारण है। लेकिन इस कथन का यह अर्थ नहीं प्रतीत होता कि सृष्टि का अन्तिम लक्ष्य द्विविध है। न्याय-वैशेषिक की तरह यहाँ भी अपवर्ग का मतलब पुरुष का सदा के लिए अपनी स्वाभाविक अवस्था में लौट आना है। अपवर्ग का लाभ कराने के लिए ही प्रकृति का परिणाम होता है और जिस पुरुष को यह प्राप्त हो जाता है उसके लिए प्रकृति का परिणाम समाप्त हो जाता है। जब इस बात को हम पहले उल्लिखित इस बात से मिलाकर देखते हैं कि प्रकृति की सामान्य अवस्था सर्ग न होकर प्रलय है, तब केवल अपवर्ग ही सच्चा प्रयोजन प्रतीत होता है। दूसरे प्रयोजन, भोग, को अपवर्ग का आवश्यक पूर्ववर्ती माना जा सकता है। यदि इन दो प्रयोजनों को परस्पर स्वतन्त्र माना जाए, तो यह समझाना असम्भव हो जाएगा कि सर्वशक्तिमान् होने के बावजूद जड़ मानी जानेवाली प्रकृति किस प्रकार उनमे से एक का चुनाव कर पाती है और यह निर्णय कर सकती है कि किस पुरुष को कब किसकी प्राप्ति करानी है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कर्म का आश्रय लेने से बात नहीं बनेगी, क्योंकि पिछले कर्म जो संस्कार छोड जाते हैं वे पुरुष के नहीं बल्कि बुद्धि के अन्दर बने रहते हैं और इसलिए प्रकृतिगत है। इस तरह की व्याख्या सांख्य-योग की प्रकृति की धारणा को स्वव्याघात के इस आरोप से बचा देती है कि एक ओर तो उसे जड़ माना गया है और दूसरी ओर उसमें ऐसी कार्य-शक्ति मानी गई है जिसमें ज्ञानपूर्वक चुनाव शामिल रहता है। प्रयोजक कारण सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है और एक दृष्टि से इसी को एकमात्र कारण कहा जा सकता है,[1] क्योंकि इसके न होने से प्रकृति में क्रमिक परिवर्तन बिलकुल न हुए होते। इसे मानने से प्रकृति अवयवों की एक व्यवस्थाबद्ध एकता अथवा एक प्रयोजनवत् साकल्य हो जाती है, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है। निमित्त-कारण को स्वरूपतः निवारणात्मक माना गया है। इसका काम केवल कार्योत्पत्ति के रास्ते की बाधाओं को हटाना है, उसमे कोई भावात्मक अंश जोड़ना नहीं, क्योंकि प्राक्कल्पना के अनुसार जो भी व्यक्त होता है वह पहले से उपादान-कारण मे विद्यमान होता है। प्रकृति सर्वशक्तिमान् है और उसके अन्दर सभी आकृतियो की सम्भावना मौजूद रहती है। वह कोई भी रूप ग्रहण कर सकती है। निमित्त-कारण का काम केवल यह है कि जिस दिशा मे प्रकृति को गतिमान् होना है, उसकी बाधाओं को हटाकर उसे निर्धारित कर दे।

1. सांख्यकारिका, श्लो० 31 : पुरुषार्थ एव हेतुः।

इसके उदाहरण के रूप में एक जलाशय को लिया जा सकता है, जिसमें भरा हुआ पानी सब ओर बाहर निकलने के लिए ज़ोर मारता रहता है और निकलता केवल वहीं से है जहाँ उसके ज़ोर को रोकनेवाली बाधा हटा दी जाती है।[1] अन्त में हमें यह कह देना चाहिए कि कारण-विषयक यह मत केवल प्रकृति और उसके परिणामों के दायरे के अन्दर ही लागू होता है। पुरुष वस्तुतः इसके बाहर रहता है। वह किसी का न कारण है और न कार्य है।

सांख्य और योग के मध्य सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि योग ईश्वर मे विश्वास करता है। कुछ प्राचीन और नवीन विद्वानों ने[2] यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कपिल का ईश्वर को न मानने का कोई इरादा नही था और उसका अभिप्राय केवल यह बताना था कि तर्क से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। लेकिन यह दर्शनयुगीन सांख्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतीत होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यहाँ इतना और कहा जा सकता है कि साम्य में ईश्वरवाद लाने का प्रयत्न उसके इतिहास मे बहुत बाद में किया गया। विज्ञानभिक्षु सांख्य में ईश्वर के लिए स्थान बनाने का बहुत उत्सुक है, लेकिन बाद के सूत्र-ग्रन्थ तक मे उसे बहुत अल्प समर्थन प्राप्त होता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि ईश्वर की धारणा योग में कैसे आई; और इसलिए यह कहना चाहिए कि ईश्वर की धारणा उससे केवल शिथिल रूप मे ही जुड़ी हुई है। पतंजलि के ग्रन्थ में जिस सूत्र मे ईश्वर का अभ्युपगम है, वह शेष ग्रन्थ से असम्बद्ध-सा है।[3] यहाँ उसको, अन्य पुरुषों की तरह एक पुरुष माना गया है, हालांकि वह पूर्ण है। वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है; परन्तु वेदान्त के ईश्वर के विपरीत वह प्रकृति और पुरुष दोनो के बाहर है। दूसरे शब्दों मे, वह एकमात्र परम सत्ता नहीं है और इस बात में न्याय-वैशेषिक के ईश्वर के सदृश है (पृ० 241)। दोनो मे मुख्य अन्तर यह है कि जिस उपादान से इन दो दर्शनों मे जगत् का निर्माण माना गया है, उसके बारे मे मतभेद होने के कारण जगत् की सृष्टि में ईश्वर की भूमिका दोनो में अलग-अलग है। पतंजलि ने अपने ईश्वरवाद के समर्थन मे केवल यह तर्क दिया है कि हमें ज्ञान, विवेक इत्यादि में मात्रा-भेद का अनुभव होता है, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त विवेक इत्यादि के अस्तित्व की ओर सकेत करता है। जिसमे ये हों वही ईश्वर है। परन्तु यह

1. योगसूत्र, 4.3।
2. देखिए सांख्यप्रवचनभाष्य, 1.92-8; 5.2-20; Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 302-4।
3. योगसूत्र, 1.23-9. Encyclopaedia of Religion and Ethics, जि० 12, पृ० 831।

पूछा जा सकता है कि जब ईश्वर भी पुरुष होने से प्रकृति से अलग रहता है, तब ये उत्कृष्ट गुण उसमें कैसे आ सकते हैं। इस आक्षेप से बचने के लिए योग ईश्वर को एक तरह का व्यक्तित्व प्रदान कर देता है और उसे एक भौतिक उपाधि से, जो मुख्यतः सत्त्व से निर्मित है और उसे बन्धन में नहीं डालती, युक्त मान लेता है। प्रकृति को सर्ग की प्रारम्भिक प्रेरणा देने के अलावा वह करुणापूर्वक अपने भक्तों की संसार से मुक्त होने में सहायता भी करता है। लेकिन ईश्वर की सहायता मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र उपाय नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, योग की सफल साधना भी इसका एक उपाय है।

इस अनुच्छेद को समाप्त करने से पहले सांख्य-योग के उन सारे अभ्युपगमों को, जिनका यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है, एकत्र दे देना अच्छा रहेगा। वे ये हैं :

(i) जो है वह हमेशा है; और जो नहीं है वह कभी नहीं है।

(ii) परिवर्तन किसी ऐसी चीज की ओर संकेत करता है जिसका परिवर्तन होता है।

(iii) कार्य तत्त्वतः अपने उपादान-कारण से अभिन्न होता है।

(iv) सम्पूर्ण नानात्व के मूल स्रोत तीन हैं, जो स्वतन्त्र नहीं बल्कि अन्योन्याश्रित हैं।

(v) जड़द्रव्य नित्य गतिशील है।

(vi) न पुरुष प्रकृति से उत्पन्न है और न प्रकृति पुरुष से उत्पन्न।

: 2 :

भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों की तरह यहाँ भी 'मनोविज्ञान' का अर्थ आत्मविज्ञान समझना चाहिए। लेकिन वह आत्मा क्या है जिसे इस तन्त्र में अनुभवकर्ता के रूप में समझा जाए? निस्सन्देह पुरुष को यहाँ माना गया है, पर वह वस्तुतः हर चीज से बाहर रहता है और इसलिए अनुभवकर्ता के स्थान पर नहीं समझा जा सकता। एक अन्य तत्त्व भी माना गया है जिसे महत् या बुद्धि कहते हैं, और यह ज्ञान-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण सहायता करता है; परन्तु यह भी अनुभवकर्ता होने के लिए उतना ही अनुपयुक्त है, हालाँकि कारण इस मामले में बिलकुल भिन्न है। यह प्रकृति का विकार होने से जड़ है और इसलिए इसे ज्ञाता नहीं माना जा सकता। कहा गया है कि यद्यपि पुरुष और बुद्धि में से अकेले किसी को भी ज्ञाता नहीं कहा जा सकता, तथापि दोनों मिलकर ज्ञाता का काम कर सकते हैं : ज्ञान-प्रक्रिया में जितनी भी सक्रियता शामिल है वह बुद्धि का दत्तांश है और जो चैतन्य शामिल है वह पुरुष का

दर्शाता है। पुरुष बुद्धि को प्रकाशित करता है अथवा उसमें प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि प्रकृति का विकार होने पर भी बुद्धि उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए पर्याप्त रूप से सूक्ष्म है। इस प्रकार प्रकाशित होने पर वह चेतन ज्ञाता का काम करती है। अतः बुद्धि को पुरुष की अभिव्यक्ति के लिए एक प्राकृत माध्यम के रूप में लिया जा सकता है। इस अर्थ में पुरुष और बुद्धि की एकता को हम पुरुष या अनुभवातीत आत्मा से अलग मानते हुए अनुभवशील आत्मा कह सकते हैं। इस प्रकार के साहचर्य के कारण अनुभवशील आत्मा के दो तत्त्वों में से प्रत्येक पूरी तरह से रूपान्तरित दिखाई देता है—जड बुद्धि चेतन-जैसी हो जाती है और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय-जैसा हो जाता है।[1] इस सम्बन्ध में प्रायः तप्त लोहे के गोले का दृष्टान्त दिया जाता है, जिसमें आग की आकार-हीन चमक गोलाकार दिखाई देती है और ठंडा लोहा गरम दिखाई देता है। प्रत्येक ज्ञान इसी प्रकार की एक मिश्रित अवस्था है। जब हम उसके दो अंशों पर अलग-अलग विचार करते हैं, तब बुद्धि का वह रूपान्तर जो ऐसी अवस्था में हो जाता है, वृत्ति कहलाता है और पुरुष का उसमें जो प्रतिबिम्ब होता है वह ज्ञान कहलाता है। इन दो अंशों में जो तादात्म्य प्रतीत होता है उसके कारण वृत्ति ही को कभी-कभी ज्ञान कह दिया जाता है।[2]

पाठक देख चुका होगा कि प्रकृति के परिणामों की योजना में ग्यारह इन्द्रियाँ, जिनमें मनस् भी एक है, अहंकार और बुद्धि शामिल हैं; लेकिन वहाँ वे प्रकृति से जगत् के उत्पन्न होने की प्रक्रिया के क्रमिक चरणों के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। इन तेरह तत्त्वों का एक अन्य पहलू भी है, जिससे हमारा इस समय विशेष रूप से सम्बन्ध है। इस पहलू में ये व्यक्ति को अनुभव प्राप्त करने में सहायता करते हैं, और सामूहिक रूप में ज्ञान के उपकरण का, जो सांसारिक दशा में प्रत्येक पुरुष को प्राप्त रहता है, काम करते हैं। इनके इन दो, ब्रह्माण्डगत और व्यष्टिगत पक्षों के बीच ठीक क्या-सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर हम तुरन्त ही ध्यान देंगे। फिलहाल उस स्पष्टीकरण को याद रखना काफी होगा, जो पहले इन तत्त्वों के लिए 'चेतन' शब्द के प्रयोग का दिया गया था। ये चेतन इस अर्थ में हैं कि प्रकृति के अन्य विकारों, यानी सूक्ष्म या स्थूल भूतों, के विपरीत ये पुरुष का प्रकाश ग्रहण कर सकते हैं। यही बात प्रकृति के परिणामों की उक्त दो श्रेणियों में, जिन्हें व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ श्रेणियाँ कहा जा सकता है, अन्तर पैदा करती है। ये पुरुष की आवश्यकताओं

1. सांख्यकारिका, श्लो० 20।
2. योगसूत्रभाष्य, 2 20; 4 22।

के अनुकूल स्वयं को ढालने की प्रकृति की चेष्टा के फल हैं।[1] दूसरे शब्दों में, जिन व्यापारों को हम मानसिक कहते हैं, वे वास्तव में भौतिक अंगों की, जो केवल पुरुष से प्रकाशित होने पर ही चेतन स्वरूप ग्रहण करते हैं, यांत्रिक प्रक्रियाएँ हैं। सांख्य-योग में इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न हैं, भूतों से नहीं, जैसा कि न्याय वैशेषिक में माना गया है। यद्यपि सभी इन्द्रियाँ एक ही मूल से उत्पन्न हैं, तथापि प्रत्येक का व्यापार अलग है—चक्षु रूप को ग्रहण करता है, श्रोत्र शब्द को, इत्यादि—और इसका कारण प्रत्येक में गुणों का अलग-अलग विन्यास है।

सौत्रान्तिक की तरह परन्तु न्याय-वैशेषिक के विपरीत सांख्य-योग यह मानता है कि प्रत्यक्ष एक मानसिक चिह्न अर्थात् सम्बन्धित वस्तु के आकार के माध्यम से उत्पन्न होता है। यह नहीं समझना चाहिए कि यह आकार कहीं से आकर बुद्धि पर आरोपित होता है और उसमें पाया जाता है। असल में स्वयं बुद्धि ही किसी उपयुक्त उद्दीपन के बाहर से मिलने पर वस्तु का आकार ग्रहण कर लेती है। विकारशील बुद्धि का रूपान्तर, वृत्ति, न केवल प्रत्यक्ष में पाई जाती है बल्कि चेतना के सभी रूपों में पाई जाती है, और जब वह पुरुष के द्वारा प्रकाशित होती है तब ज्ञान उत्पन्न होता है। पुरुष और बाह्य जगत् के सम्बन्ध में मध्यस्थ पूरा मानसिक उपकरण होता है और इसी के द्वारा पुरुष को संसार के अनुभव (भोग) प्राप्त होते हैं अथवा, यदि उपयुक्त समय आ पहुँचा हो तो, विवेक प्राप्त होकर अपवर्ग भी प्राप्त हो जाता है। जानने की प्रक्रिया विस्तार से यह है : पहले वस्तु एक या दूसरी इन्द्रिय को प्रभावित करती है और तदुपरान्त जो ज्ञान पैदा होता है वह बिलकुल अस्पष्ट और सामान्य होता है। यह 'आलोचन-मात्र' होता है और निर्विकल्पक अवस्था का सूचक है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की प्रथम अवस्था का विषय पृथक् और विविक्त विशेष नहीं है, जैसा कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार है (पृ० 250)। बाद में जब मनस् का अर्थबोधात्मक व्यापार होता है, तब यह विषय समुचित रूप से स्पष्ट हो जाता है और इसलिए 'सविकल्पक' कहलाता है। इस प्रकार यहाँ प्रत्यक्ष पृथक् घटकों से शुरू होकर उनके संश्लिष्ट रूप में नहीं पहुँचता, बल्कि अविविक्त साकल्य से शुरू होता है और बाद में उसमें व्यवस्था आती है।[2]

1. यह कहने के बजाय कि हम अपने पर्यावरण से अपना समंजन करते हैं, जो कि हम साधारणतः कहते हैं, यहाँ हमें यह कहना चाहिए कि प्रकृति हमारी आवश्यकताओं से अपना समंजन करती है।
2. सांख्यकारिका, श्लो० 27, 28 और 30। सांख्यतत्त्वकौमुदी पर आधारित इस मत को विज्ञानभिक्षु ने कुछ बदल दिया है। देखिए, सांख्यप्रवचनभाष्य, 2.32।

वस्तुनिष्ठ दृष्टि से प्रत्यक्ष की प्रक्रिया यहाँ समाप्त हो जाती है; लेकिन उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या आगे आनेवाले दो अन्य चरणों के बिना पूरी नहीं होती। पहला है अनुभव का अहंकार के द्वारा आत्मसात् किया जाना अर्थात् पुरुष से उसका सम्बन्धित होना। अब यदि प्रत्यक्ष को किसी कर्म में फलित होना है, तो बुद्धि हस्तक्षेप करती है और यह निश्चय करती है कि क्या कर्म करना है। तब वह किसी उपयुक्त कर्मेन्द्रिय को आदेश-सा देती है, जिसके फलस्वरूप कोई कर्म होता है या किसी कर्म का त्याग किया जाता है। इस प्रकार बुद्धि चेतनामय जीवन के संकल्प-पक्ष के तुल्य है। यदि चेतना के उपकरण के अन्तिम तीन तत्त्वों के लिए एक ही नाम, अन्तःकरण, का प्रयोग किया जाए, तो हम देखते हैं कि कैसे उद्दीपन की प्रतिक्रिया में ज्ञानेन्द्रियों के उद्दीप्त हो जाने के बाद अन्तःकरण अपनी एक या दूसरी अवस्था में सक्रिय होता है। पाठक देखेगा कि चेतना के अंग जिस क्रम से सक्रिय होते है, वह उस क्रम का विलोम है, जिसमें ऊपर प्रकृति के परिणामों की योजना में उनका उत्पन्न होना दिखाया गया है। सुख-दुःख आदि के आन्तर प्रत्यक्ष में और व्यवहित ज्ञान में भी प्रक्रिया ठीक यही होती है; केवल बाह्य ज्ञानेन्द्रियों का सहयोग इनमें जरूरी नहीं होता और इसलिए उनकी क्रिया नहीं होती। ज्ञान-प्रक्रिया का यह विश्लेषण, जो प्रत्यक्ष को *प्रस्तुत साकल्य के अधिकाधिक विभेदन* के रूप में लेता है, न्याय-वैशेषिक के विश्लेषण की अपेक्षा कहीं अधिक सही है; परन्तु चूँकि यहाँ बुद्धि और पुरुष के मध्य सीधी परस्परक्रिया का निषेध किया गया है, इसलिए इस बात को समझने में कठिनाई होती है कि शुद्ध भौतिक या शारीरिक प्रक्रिया से अनुभव का एकाएक उदय कैसे हो पाता है। लोहे के तप्त गोले का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि आग और लोहे के गोले का वस्तुतः सम्पर्क होता है, जबकि बुद्धि और पुरुष का नहीं माना गया है।

अब उन दो अर्थों पर विचार किया जाएगा जिनमें सूक्ष्म और स्थूल भूतों को छोड़कर उनके पहले के महदादि तीन तत्त्वों को समझा गया है। व्यक्ति के अनुभव के दृष्टिकोण से उनका अर्थ समझना मुश्किल नहीं है। ऊपर प्रत्यक्ष की प्रक्रिया जिस तरह बताई गई है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है। लेकिन उनके ब्रह्माण्डगत पक्ष के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। सांख्य-योग के आधार वाक्यों से यह जानना असम्भव है *कि इन मनोवैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग बाह्य* सत्ताओं के लिए क्यों हुआ है। इस गुत्थी को सुलझाने का एकमात्र तरीका एक विश्व-पुरुष की कल्पना कर लेना और सम्पूर्ण सर्ग-प्रक्रिया को उसके सामने प्रस्तुत एक प्रत्ययात्मक दृश्य के रूप में समझना है। इससे हमको तुरन्त विश्

के इन तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक भाषान्तर प्राप्त हो जाएगा। यदि हम महद्—चित्तत्त्व से प्रकाशित विश्व-बुद्धि—का इस पुरुष से तादात्म्य कर लें, तो सर्ग-क्रम में अगला चरण, अहंकार, उसमें उत्पन्न होनेवाले आत्माभिमान का सूचक होगा, जो एक ओर तो उसे उत्पन्न करता है जिसे हमने वस्तुगत श्रेणी या अनात्मा कहा है और दूसरी ओर व्यष्टिगत श्रेणी को, जिसे वस्तुगत श्रेणी को जानने के लिए उपयुक्त उपकरण कहना अधिक उचित होगा।[1] चूंकि ऐसे विश्व-द्रष्टा के सामने मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति का क्रम सर्ग के वास्तविक क्रम का सम्पाती है,[2] इसलिए उपर्युक्त कल्पना से उस क्रम की भी व्याख्या हो जाती है जिसमें सर्ग की योजना मे विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति होती है और जो उस क्रम का विलोम है जिसमें वे व्यष्टि के मानसिक जीवन में सक्रिय होते हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। जब हम यह याद करते हैं कि ठीक यही स्थिति उपनिषदों की भी है और वे भी पुरुषरूप ब्रह्म (महान् आत्मा) के द्वारा जगत् की सृष्टि के वर्णन में लगभग ये ही चरण बताते हैं,[3] तब यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य के द्वारा इन तत्त्वों का अपनी योजना में शामिल किया जाना अन्ततः उपनिषदों के मत का प्रभाव है। लेकिन अद्वैतवाद के विरोध में इस दर्शन ने विश्वात्मा की धारणा त्याग दी और उसे प्रकृति और पुरुष, इन दो तत्त्वों में तोड़कर इनमें से प्रत्येक को एक प्रत्याहार मात्र का रूप दे दिया है, क्योंकि प्रकृति की सक्रियता पुरुष के लिए निरर्थक है और पुरुष यदि प्रकृति से साहचर्य न रखता तो शून्य से मुश्किल से ही भिन्न होता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य द्वैतवादी होने का दावा तो करता है, पर उससे उपलक्षित बिलकुल उल्टी बात होती है।[4]

: 3 :

ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि-वृत्ति के माध्यम से मानने से योगाचार की तरह मनस्तन्त्र-प्रत्ययवाद में पहुँच जाना आसान है; लेकिन सांख्य-योग शुरू से ही

1. योगसूत्रभाष्य, 2.19 के अनुसार तन्मात्रों का अहंकार से नहीं बल्कि महद् से उत्पन्न होना प्रतीत होता है। ऐसा मत अनात्मा की धारणा को आत्मा की धारणा का समस्तरीय बना देता है। लेकिन योगसूत्रभाष्य, 1.45 भी द्रष्टव्य है।
2. देखिए, Indian Philosophy, जि० 2, पृ० 277; Keith : Religion and Philosophy of the Veda, पृ० 535 इत्यादि।
3. देखिए, कठ उप०, 1.3. 10-13, 2, 3.7-11; प्रश्न उप०, 4. 8; बृहदारण्यक उप०, 1.4.1.
4. सांख्य के प्रारम्भिक इतिहास के बारे में प्रो० दासगुप्त का History of Indian Philosophy, जि० 1, पृ० 213-22 द्रष्टव्य है।

इस अभ्युपगम को लेकर चलता है कि ज्ञान अनिवार्य रूप से बाह्यार्थ का सूचक होता है। पुरुषों के अनेकत्व में विश्वास, जो कि इस दर्शन का एक आवश्यक अंग है, इस अभ्युपगम को समर्थन प्रदान करता है, क्योंकि विभिन्न पुरुषों को होनेवाले अनुभवों के समान अंश को उस चीज के अस्तित्व का प्रमाण माना जा सकता है जो उसका मनोबाह्य आधार है।[1] तदनुसार बुद्धि-वृत्ति यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय को जोड़नेवाली कड़ी मात्र है, ज्ञेय को हटानेवाली चीज नहीं (पृ० 206)। इस मत का स्वाभाविक परिणाम सत्यता का संवाद-सिद्धान्त है। वह ज्ञान सत्य है जिसमें बुद्धि की वृत्ति वस्तु के रूप को सही ढंग से प्रकट करती है। यही न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त भी है, पर यहाँ वृत्तियों का प्रतिनिधान-सिद्धान्त नहीं माना गया है। एक अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर दोनों में यह है कि न्याय-वैशेषिक, जो मनस् को ज्ञान का एक कारण मात्र मानता है, ज्ञान को साधारणतः वस्तुओं को उसी रूप में दिखानेवाला मानता है जो वास्तव में उनका है, जबकि यहाँ इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि वह ऐसा ही करता है। बुद्धि, जो हमारे प्रस्तुत प्रयोजन के लिए न्याय-वैशेषिक के मनस् के तुल्य मानी जा सकती है,[2] सांख्य-योग में निष्क्रिय नहीं मानी गई है, बल्कि स्वतः क्रियाशील है और अनादि काल से होते रहनेवाले अनुभवों के असंख्य संस्कारों का अधिष्ठान है। इस बात के फलस्वरूप प्रत्येक बुद्धि का अपना विशेष झुकाव होता है और इसलिए विभिन्न पुरुषों का एक ही वस्तु से एक ही प्रकार से प्रभावित होना नहीं माना जा सकता। अलग-अलग प्रत्यक्षकर्ताओं की ऐसी अभिनतियों के कारण वस्तु एक होने के बावजूद प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में मानो 'अनेक' हो जाती है। वस्तु और प्रत्यक्षकर्ता का विशेष झुकाव, ये दो कारक सब ज्ञानों में एक साथ काम करते हैं और फलतः जो मानसिक प्रतिमा बनती है वह वस्तु की हूबहू नकल नहीं भी हो सकती, बल्कि प्रायः नहीं ही होती। बुद्धि के अन्दर वस्तु के साथ छेड़छाड़ करने की यह जो शक्ति है, उसी में हमें विपर्यय का कारण खोजना होगा। लेकिन यह शक्ति केवल इस वस्तु के एक के बजाय दूसरे पक्ष को अधिक बल देती है, उसमें कोई नई विशेषता नहीं जोड़ती। दूसरे शब्दों में, बुद्धि का व्यापार चयनात्मक होता है। सिद्धान्त यह है कि किसी वस्तु के स्वरूप का केवल उतना ही अंश ज्ञात होता है जितना द्रष्टा की

1. सांख्यकारिका, श्लो० 11 में प्रयुक्त 'विषय' और 'सामान्य' का यही तात्पर्य है। योगसूत्र, 4.15 भी देखिए।
2. असल में न्याय-वैशेषिक के मनस् के तुल्य नहीं, अन्तःकरण है, बुद्धि जिसका एक अंश मात्र है।

तत्कालीन मनोदशा से साम्य रखता है। सदृश् को सदृश् ही रुचता है।[1] इससे द्रष्टा को होनेवाले भ्रम का स्वरूप बहुत बदल जाता है। सांख्य-योग के अनुसार भ्रम किसी चीज़ के अज्ञान से होता है, न कि विपरीत ज्ञान से, जैसा कि न्याय-वैशेषिक मे माना गया है। जितनी जानकारी वह देता है, उतनी ठीक होती हैं। उसमें दोष केवल यह होता है कि वह पर्याप्त जानकारी नही देता। अतः वस्तु के सच्चे स्वरूप की जानकारी के लिए हमे अपनी व्यक्तिगत धारणा की कमी की पूर्ति अन्य सम्भव धारणाओं पर विचार करके करनी चाहिए। जैन दर्शन की तरह सांख्य-योग भी मानता है कि ऐसा पूर्ण ज्ञान[2] सम्भव है, लेकिन ऐसे ज्ञान की प्राप्ति केवल तभी हो सकती है जब बुद्धि निरन्तर आत्म-संयम करते रहने से शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार प्रायः हमारे प्रत्यक्ष केवल आंशिक रूप में ही सत्य होते हैं। अपूर्णता हमारे ज्ञान का एक सामान्य दोष है, और जीवन की अधिकांश बुराई का मूल कारण इस ज्ञान को पूर्ण मान लेना है। दो व्यक्ति किसी वस्तु के बारे में असहमत हो सकते हैं, हालांकि अंशतः दोनों का मत सही हो सकता है। उनकी असहमति का कारण यह होता है कि प्रत्येक भ्रमवश पूरे सत्य का ज्ञाता अपने को ही मान बैठता है। केवल जीवन्मुक्त पुरुष को छोड़कर शेष सब लोगों के ज्ञान मे एक अन्य त्रुटि भी होती है। क्योंकि इस दर्शन के अनुसार चेतन ज्ञाता न अकेली बुद्धि हो सकती है और न अकेला पुरुष, इसलिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, दोनों के साहचर्य में हमे ज्ञाता को खोजना पड़ता है, और अनुभव तब तक सम्भव नही है जब तक हम उन्हें एक समझने की गलती न कर दें, अथवा, अधिक सही यह कहना होगा कि, जब तक हम यह जानने में असमर्थ न रहें कि ज्ञाता दो तत्त्वों से बना है। यही असमर्थता, जिसे अविवेक[3] कहा गया है और जो स्वय भी अज्ञान के अर्थ में विपर्यय है, सारे अनुभव का आदि कारण है। इसके फलस्वरूप पुरुष और बुद्धि के बारे में यहाँ तक भ्रम हो जाता है कि प्रत्येक के लक्षणो को दूसरे पर आरोपित कर दिया जाता है और हम बुद्धि को ज्ञाता तथा पुरुष को कर्ता मान बैठते हैं। अनुषंगतः इतना और कह दिया जाए कि अनुभवशील आत्मा के इन

---

1. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 13 में एक तरुणी का उदाहरण दिया गया है, जो है तो एक परन्तु अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग दिखाई देती है।
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 4 में ऐसे ज्ञान को 'आर्ष ज्ञान' कहा गया है। देखिए योगसूत्र, 1.48।
3. इस शब्द और इसके पर्यायों का प्रयोग सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लो० 2, 21, 66 इत्यादि में हुआ है।

दो तत्वों का भेद पहचानकर (विवेक) इस भ्रम का निवारण करना ही सांख्य-योग जीवन का मुख्य लक्ष्य मानता है।

इस प्रकार भ्रम दो प्रकार का होता है : (1) वह जिसमे केवल एक वस्तु होती है और उसके एक अंश को पूरी वस्तु मान लिया जाता है, और (2) वह जिसमें दो वस्तुएँ होती हैं और उनके भेद की उपेक्षा होने से उनका वास्तव में तादात्म्य कर लिया जाता है। इन दो प्रकारों को घटाकर एक किया जा सकता है, क्योंकि दूसरे को पहले का ही एक विशेष रूप माना जा सकता है। चूँकि हम पुरुष या बुद्धि को पूर्णत: नहीं जानते, इसलिए एक को दूसरा समझ बैठते हैं। जब इनका पूर्ण ज्ञान हो जाएगा, तब यह भ्रम अपने-आप दूर हो जाएगा। इस प्रकार पहले की तरह इसे भी अपूर्ण ज्ञान का फल कहा जा सकता है। ऊपर दिये हुए मिथ्या ज्ञान के उदाहरणों को इकट्ठे 'मूल भ्रम' कहा जा सकता है। यह भ्रम सारे अनुभव में व्याप्त रहता है और इससे तब तक छुटकारा नहीं मिलता जब तक जीवन्मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। लेकिन इस आधारभूत भ्रम के अलावा, जिसका सामान्यत. मनुष्य को ज्ञान नहीं होता, एक दूसरा भ्रम भी होता है, जिससे वह सुपरिचित होता है, जैसे लाल पुष्प के पास रखे हुए स्फटिक का लाल दिखाई देना या दूर से किसी चीज़ का रजत दिखाई देना जबकि वह वस्तुत: शुक्ति है। इनकी व्याख्या भी पहली-जैसी है। लाल स्फटिक के उदाहरण में लाल पुष्प और श्वेत स्फटिक दोनों असली हैं, लेकिन हम इस तथ्य को नजर-अन्दाज कर देते हैं कि वे दो हैं, इसलिए हमे स्फटिक के रंग के बारे में भ्रम हो जाता है। यहाँ कारण उसी तरह का अविवेक है जिस तरह का पुरुष और बुद्धि के मामले में होता है और जो इस सांसारिक जीवन का कारण बनता है। ज्योंही हम समझ लेते हैं कि स्फटिक के अलावा फूल भी वहाँ है, त्योंही भ्रम समाप्त हो जाता है। शुक्ति-रजत के उदाहरण में केवल एक ही वस्तु, शुक्ति, सामने होती है और उसे रजत समझने के भ्रम का कारण उसकी उन विशेषताओं की जानकारी से आगे न बढ़ना है जो उसमें और रजत में समान रूप से पाई जाती है। इसका यह अर्थ हुआ कि यहाँ अपूर्ण ज्ञान उसी प्रकार भ्रम का जनक है जिस प्रकार उसमें जिसे हमने 'मूल भ्रम' कहा है। इस प्रकार यद्यपि साधारण भ्रम के ये दो रूप दूसरे के दो रूपों से मिलते-जुलते है, तथापि व्यावहारिक दृष्टिकोण से इनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बादवाले के निवारण के लिए पूर्ण ज्ञान आवश्यक है; परन्तु पहले-वाले के निवारण के लिए, सम्बन्धित वस्तुओं को एक-दूसरी से अलग पहचानने के लिए, आवश्यक विशेषता की जानकारी पर्याप्त है। शुक्ति-रजत के दृष्टान्त

में ऐसी विशेषता रजत के मुकाबले शुक्ति का हल्कापन है। क्योंकि हम यह भूल जाते हैं कि सामने जो वस्तु है वह रजत की तुलना मे बहुत हल्की है, इसलिए हमे भ्रम हो जाता है; और ज्योंही हमें इस बात का पता हो जाता है, त्योंही हमारा भ्रम दूर हो जाता है।

यद्यपि भ्रम के विभिन्न प्रकारों की व्याख्याओं में विस्तार की बातों मे कुछ अन्तर हो सकता है, तथापि उनका आधारभूत सिद्धान्त एक ही है। भ्रम पर्याप्त ज्ञान का अभाव (अख्याति) है,[1] न कि विपरीत ज्ञान (अन्यथाख्याति) जैसा कि न्याय-वैशेषिक में माना गया है (पृ० 252); और उसके निवारण का उपाय, यदि पूर्ण ज्ञान सम्भव न हो तो और अधिक ज्ञान प्राप्त करना है। इस व्याख्या में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि जब भ्रम का पता चल जाता है तब पहले जितना ज्ञान था उसका कोई भी अंश बाधित नही होता। ज्ञान मे जितना भी शामिल होता है वह सदैव और अनिवार्यतः तथ्य होता है; केवल यह हो सकता है कि वह पूरा तथ्य न हो। दूसरे शब्दों में, भ्रम का कोई भी अंश मनस्तन्त्र नही होता। सचाई तथाकथित भ्रम मे दी हुई किसी बात को हटाती नही बल्कि उसमें कुछ बढ़ाती मात्र है। सांख्ययोग के पहले के ग्रन्थों में प्रायः यही मत प्रकट किया गया है।[2] लेकिन सांख्य-सूत्र भ्रम की व्याख्या में विचार के अंश को मानकर इस मत में मौलिक परिवर्तन कर देता है।[3] इस प्रकार रक्त-स्फटिक के भ्रम में वहाँ स्फटिक और रक्तत्व के बीच एक भावात्मक सम्बन्ध माना गया है, जो दिया हुआ नहीं है बल्कि कल्पित है। इस तरह यहाँ सम्बन्धित वस्तुएँ तो सत्य हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध सत्य नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि भ्रम दिये हुए को भी दिखाता है और न दिये हुए को भी (सदसत्ख्याति)।[4] यह व्याख्या सांख्य-योग के आधारभूत अभ्युपगमों के विरुद्ध प्रतीत होती है।[5] जैसा कि हम आगे देखेंगे, भ्रम के विषय मे यह बाद का सांख्य-मत कुमारिल के मत (विपरीतख्याति) से बहुत

1. इसे सत्ख्याति भी कहा जा सकता है, क्योंकि भ्रम में कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जो प्रस्तुत न हो।
2. पृ० 288 की पाद-टिप्पणी 3 देखिए। योगसूत्र, 2.26 तथा योगसूत्र 4.33 पर भोजवृत्ति भी द्रष्टव्य है।
3. सांख्यप्रवचनसूत्र, 5.56।
4. सांख्यप्रवचनभाष्य, 5.26 और 56।
5. इस विषय की अधिक चर्चा Indian Philosophical Quarterly (1929), पृ० 99-105 में देखिए।

मिलता है, जब कि शुरू का सांख्य-मत प्रभाकर के मत (अख्याति) से साम्य रखता है।

सांख्य-योग में प्रमाण केवल ये तीन माने गए हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यह दर्शन अमौलिक है और इसलिए इसमें इनका स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने प्रमाणों से सम्बन्धित ये बातें न्याय-वैशेषिक से ले ली हैं जिनकी उसके तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से असंगति नहीं है।[1] केवल प्रत्यक्ष के बारे में इतना मतभेद है जिसका उल्लेख किया जा सके; और यह मतभेद भी सांख्य के ज्ञान-प्रक्रिया के बारे में अपना विशेष मत रखने के कारण है, जो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। अनुमान और शब्द के बारे में इस दर्शन का न्याय-वैशेषिक से लगभग पूरा मतैक्य है। प्रामाण्य के बारे में सांख्य-योग का मत न्याय-वैशेषिक के मत का ठीक उलटा है। यहाँ प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को ज्ञान की सहज विशेषताएँ कहा गया है,[2] क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार केवल अव्यक्त ही व्यक्त हो सकता है और जो किसी समय व्यक्त होता है उसे वहाँ पहले से विद्यमान मानना चाहिए। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ज्ञान में स्वतः होते हैं; और किसी समय इनमें से किसी एक का प्रकट होना उन परिस्थितियों से निर्धारित होता है जिनसे ज्ञान की उत्पत्ति या ज्ञप्ति सम्बन्धित होती है। यह मत स्वव्याघाती प्रतीत होता है; फिर भी यह सांख्य-योग के इस सिद्धान्त से असंगत नहीं है कि वास्तविकता का जो अंश हमारे सामने प्रकट होता है वह सदैव हमारे दृष्टिकोण का सापेक्ष होता है।

: 4 :

अन्य तन्त्रों की तरह सांख्य-योग भी कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। लेकिन पुनर्जन्म पुरुष का नहीं होता, क्योंकि वह तो सर्वव्यापी है और इसलिए उसका स्थान-परिवर्तन कभी नहीं हो सकता। पुनर्जन्म केवल लिंग-शरीर का होता है, जो ग्यारह ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि, अहंकार और पाँच तन्मात्रों से निर्मित होता है। प्रत्येक पुरुष के साथ एक लिंग-शरीर स्थायी रूप से जुड़ा होता है और केवल मोक्ष के प्राप्त होने पर ही वह उससे अलग होता है। जन्म और मृत्यु का अर्थ केवल स्थूल शरीर का बदलना है, सूक्ष्म शरीर का नहीं। सूक्ष्म शरीर में पिछले विचारों और कर्मों के सारे संस्कार सुरक्षित रहते हैं; और सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति इस सांसारिक परिधान की ओर विशेष

1. सांख्यकारिका, श्लो० 4; योगसूत्र, 1.7; सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लोक 5 भी देखिए।
2. शास्त्रदीपिका (निर्णयसागर), पृ० 20; सर्वदर्शनसंग्रह (कलकत्ता), पृ० 129।

रूप से इसके प्रधान अंग, बुद्धि की शुद्धि पर निर्भर होती है। धर्म और अधर्म को यहाँ न्याय-वैशेषिक की तरह पुरुष के गुण नहीं माना गया है, बल्कि बुद्धि की वृत्तियाँ मात्र माना गया है, जिन्हें पुरुष और बुद्धि के सहज अविवेक के कारण भ्रमवश पुरुष की मान लिया जाता है।[1] इसका मतलब यह हुआ कि अनुभव की तरह नैतिकता भी केवल संसार में ही अर्थ रखती है। स्वरूपतः न पुरुष को नैतिक कहा जा सकता है और न बुद्धि को। इसी तरह न्याय-वैशेषिक मे भी नैतिक जीवन को सांसारिक क्षेत्र में ही सीमित माना गया है। लेकिन वहाँ इसे आत्मा के इतिहास की एक अस्थायी परन्तु वास्तविक अवस्था माना गया है, जबकि यहाँ अच्छाई-बुराई पुरुष का स्पर्श तक नहीं करतीं। सदैव बिलकुल अविकृत बने रहना वस्तुतः यहाँ पुरुष का आवश्यक लक्षण है। कारिका (श्लोक 62) में कहा गया है, "कोई भी पुरुष बद्ध या मुक्त नहीं है; और न कोई पुनर्जन्म लेता है। बद्ध, मुक्त और पुनर्जन्म लेनेवाली केवल नाना रूपवाली प्रकृति है।"

यहाँ आदर्श कैवल्य अर्थात् प्रकृति और उसके सारे विकारो से अलग हो जाना है, जो कि सांख्य-योग के दुःखवादी दृष्टिकोण से पूरी संगति रखता है। इसे अपवर्ग भी कहा गया है, क्योंकि इस अवस्था मे पुरुष दुःखमय जगत से दूर पहुँच जाता है। लेकिन इस अवस्था में सुख का अनुभव नहीं माना गया है। इस अवस्था मे पुरुष न केवल सुख-दुःख के अनुभव से शून्य हो जाता है, बल्कि ज्ञान से भी शून्य हो जाता है, क्योंकि तब उसके पास बुद्धि और उसके सहायक, जो जानने के साधन हैं, नहीं रहते। यह न्याय वैशेषिक के आदर्श की याद दिलाता है। फिर भी, चूँकि यहाँ चैतन्य को पुरुष का स्वरूप माना गया है, इसलिए न्याय-वैशेषिक की तरह सांख्य-योग पर जड़वादी होने का आरोप नही लगाया जा सकता। कैवल्य का साक्षात् कारण विवेक यानी भेद का ज्ञान है, जो बन्धन के कारण का निवारण कर देता है। परन्तु इस ज्ञान को पुरुष के प्रकृति से भिन्न होने के कोरे विश्वास से कुछ अधिक होना चाहिए। इसे एक अपरोक्षानुभूति होना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि सत्य को सैद्धान्तिक तर्कना से नहीं, बल्कि व्यावहारिक तर्कना से ज्ञात होना चाहिए। सांख्य-योग में भी अज्ञान को दुःख का कारण माना गया है। यहाँ अज्ञान न्याय-वैशेषिक की तरह विपरीत ज्ञान नहीं है, बल्कि पिछले अनुच्छेद में वर्णित भ्रम-विषयक सिद्धान्त के अनुसार अपूर्ण ज्ञान है।

सांख्य, जिस रूप मे वह हम तक पहुँचा है, कैवल्य की साक्षात् प्राप्ति

1. देखिए, सांख्यप्रवचनसूत्र, 5,20-5।

कराने वाले अपरोक्षानुभव की सिद्धि के उपाय के बारे में प्रायः मौन है। उसके विपरीत योग का मुख्य विषय ही इस उपाय पर विस्तार से विचार करना है। शास्त्र के मूल ग्रन्थ, कारिका, में मोक्ष के साधन के बारे में केवल इतना उल्लेख मिलता है कि प्रकृति और पुरुष के परस्पर भिन्न होने का ध्यान करना चाहिए।[1] बाकी बातों की जानकारी योग-दर्शन से प्राप्त करनी चाहिए। कई अन्य दर्शनों की तरह मोक्ष का उपाय यहाँ भी वैराग्य और योग है।[2] शुरू में वैराग्य कच्चा होता है और अपर-वैराग्य कहलाता है। उसका परिपक्व रूप पर-वैराग्य कहलाता है और पूर्ण ज्ञान के बाद आता है। अपर-वैराग्य का साधारण जीवन के दुःखों की चेतना से उदय होता है और इसके बाद धीरे-धीरे पर-वैराग्य का उदय होता है, बशर्ते साधक इस बीच परम सत्य के ज्ञान और चिन्तन में भी अपने को लगाए रखे। इससे प्रकट होता है कि आदर्श को प्राप्त करने का उपाय बौद्धिक भी उतना ही है जितना नैतिक है। पतंजलि ने जो साधना बताई है उससे हम योग के नाम से सुपरिचित हैं। योगाभ्यास की सूक्ष्म बातों को समझने के लिए विशेष ज्ञान आवश्यक है। इसलिए हम उसकी बारीकियों में न जाकर केवल मोटी-मोटी बातों की ही चर्चा करेंगे।

(1) प्रारम्भिक नैतिक अभ्यास अष्टांग योग के दो अंगों, यम और नियम के अन्तर्गत, जिनका उल्लेख पहले (पृ० 262) किया जा चुका है, बताया गया है।[3] यम अधिकांशतः निषेधात्मक है। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी या दूसरे की सम्पत्ति का हरण न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सम्पत्ति का त्याग) का समावेश होता है।[4] नियम भावात्मक सद्गुणों का अभ्यास है। इसमें शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय (अध्ययन) और ईश्वर-प्रणिधान[5] आते हैं। इन्हें योग-दर्शन के दस महादेश कहा जा सकता है, और इनकी सामान्य प्रवृत्ति वैराग्यपरक है। यमों के वर्ग में अहिंसा सबसे

1. श्लोक 64।
2. योगसूत्र, 1.12-16।
3. योगसूत्र, 2.29 इत्यादि।
4. अभ्यास के इस अंग का जैन-धर्म के पाँच व्रतों से सादृश्य स्पष्ट है। पीछे पृ० 167-68 देखिए।
5. इसका अर्थ अपने हर काम को पूर्ण ईश्वरार्पण की भावना से करना बताया गया है, जो गीता के निष्काम कर्म के आदर्श का प्रभाव प्रकट करता है। यहाँ ईश्वर-प्रणिधान प्रारम्भिक अभ्यास का अंग प्रतीत होता है; लेकिन योगसूत्र, 1.23 में यह बताया गया है कि योगाभ्यास के स्थान पर अकेले ईश्वर-प्रणिधान से भी समाधि और समाधि से कैवल्य की प्राप्ति सम्भव है। इस व्याघात का एक सम्भव स्पष्टीकरण

महत्त्वपूर्ण है और इसे यम का प्रारम्भ और अन्त दोनों कहा गया है।[1] शेष चार यमों को अहिंसामूलक होने के साथ-साथ अहिंसा में पूर्णता लाने में सहायक भी होना चाहिए, ताकि अन्त में हर देश, काल और परिस्थिति में अहिंसा का व्यवहार स्वतः होने लगे।

(2) इस वैराग्य-प्रधान तैयारी के बाद असली योगाभ्यास शुरू होता है। साधना का यह रूप भारत में बहुत प्राचीन है और आस्तिक-नास्तिक दोनों ही वर्गों को ज्ञात था। उपनिषदों और बौद्ध-दर्शन इत्यादि में भी इसे प्रमुख स्थान मिला है। महाभारत में भी इसका उल्लेख होना यह प्रकट करता है कि इसका बहुत प्रचार था। लेकिन विभिन्न दर्शनों में इसके वर्णनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोग योग का अभ्यास सिद्धियों अर्थात् अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति के लिए करते थे और कुछ मोक्ष की प्राप्ति के लिए। मोक्ष के इच्छुकों में कुछ इसे ब्रह्म से एक होने का उपाय मानते थे और कुछ, जैसे योग-दर्शन के अनुयायी, प्रकृति के बन्धन को छुड़ाने मात्र का उपाय। पतंजलि ने योग का जो वर्णन किया है उसमें इसे बहुत ही तर्कपरक बना दिया है; और यद्यपि उन्होंने इससे कुछ सिद्धियों की प्राप्ति भी बताई है, तथापि उन्हें वस्तुतः आत्मलाभ के मार्ग के विघ्न[2] मानकर उपेक्षणीय कहा है। योग की आगे की साधना को दो चरणों में बांटा जा सकता है—पहले चरण मे आगे के तीन अंग—आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार (इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचना), शामिल हैं, जिनका लक्ष्य चित्त को भौतिक वस्तुओं की ओर जाने से रोकना है; और दूसरे चरण में शेष तीन अंग—धारणा, ध्यान और समाधि शामिल हैं, जो चित्त की एकाग्रता के विभिन्न रूप हैं और जिनका लक्ष्य सीधे चित्त का निरोध करना है। पूरी साधना का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि मनुष्य की शक्तियाँ लम्बे अभ्यास के कारण उसके सांसारिक लक्ष्यों की साधक बन गई हैं और उन्हें इस तरह बदल देना है कि वे पुरुष को उसकी असली अवस्था की पुनः प्राप्ति कराने के बिलकुल विपरीत लक्ष्य की साधक बन जाएं।[3] यौगिक पूर्णता की प्राप्ति के इन विभिन्न चरणों में से केवल अन्तिम, अर्थात् समाधि, के बारे में स्पष्टीकरण के

प्रो॰ दासगुप्त ने The Study of Patanjali (कलकत्ता विश्व॰ प्रेस), पृ॰ 166-7 में दिया है।

1. देखिए, योगसूत्र भाष्य, 2.30।
2. योगसूत्र, 3.27।
3. योगसूत्रभाष्य, 2.33।

बतौर कुछ अधिक बता देना आवश्यक है, क्योंकि इसके बाद सीधे कैवल्य की प्राप्ति होती है। इसके एक छोटा और एक बड़ा, दो रूप बताये गए हैं, जिनके नाम क्रमश: सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि हैं। असंप्रज्ञात समाधि लक्ष्य है[1] और संप्रज्ञात समाधि उसमे पहुँचने की एक सीढी है। दोनो में ही एकाग्रता की सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता है। संप्रज्ञात समाधि में बुद्धि का व्यापार बना रहता है, हालाँकि वह केवल एक विशेष वस्तु के चिन्तन मे पूरी तरह लीन रहती है और शेष किसी भी वस्तु का, यहाँ तक कि अपने एक ही वस्तु मे लीन रहने के तथ्य का भी; इसमें बोध नहीं रहता। इसीलिए इसे 'संप्रज्ञात' यानी वस्तु-विशेष के बोध से युक्त कहा गया है। इसमें चित्त-विक्षेप पैदा करने वाली सभी बातें दूर हो जाती है और बुद्धि सत्त्व-प्रधान होकर प्रकाशित होती है। असंप्रज्ञात समाधि में वस्तु की चेतना भी लुप्त हो जाती है और इसीलिए इसे 'असप्रज्ञात' यानी चेतना से ऊपर की अवस्था कहा गया है। तब बुद्धि का व्यापार शान्त हो जाता है। यह कहा गया है कि इस अवस्था में वृत्तियाँ निरुद्ध अर्थात् बुद्धि में लीन हो जाती हैं।[2] इस अवस्था मे न केवल रजस् और तमस् की प्रधानता से उत्पन्न होनेवाली निकृष्ट वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, बल्कि सत्त्व की प्रधानता से उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ भी। जब असंप्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था मे बुद्धि इस प्रकार पुरुष में एकाग्र हो जाती है, तब उसका सदा के लिए लोप हो जाता है और पुरुष पृथक् और अकेला रह जाता है। यदि हम अपनी साधारण मानसिक अवस्था की तुलना जलाशय के जल की असमान सतह से करें, जिसमे तटवर्ती वृक्ष इत्यादि की छाया विकृत दिखाई देती है, तो संप्रज्ञात समाधि उसकी शान्त सतह के समान होगी, जिसमें वृक्ष इत्यादि की छाया स्थिर और सही रूप में दिखाई देती है, और असंप्रज्ञात समाधि उस अवस्था के तुल्य होगी जिसमें जलाशय सूख चुका हो, वृक्ष इत्यादि का कहीं कोई प्रतिबिम्ब न हो, और केवल वृक्ष ही हो। इस प्रकार जीवन की कुल तीन ही अवस्थाएँ हैं जिन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है: पहली वह है जिसमे रजस् या तमस् प्रधान तत्त्व होता है; दूसरी वह है जिसमें सत्त्व की प्रधानता होती है; और तीसरी वह जो सत्त्व से भी ऊपर होती है। छोटी समाधि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुबोध है; परन्तु बड़ी समाधि में चित्त का निरोध हो जाता है और इसलिए यह सामान्य मानसिक स्थिति से ऊपर की अवस्था है। यहाँ हम रहस्यवाद के क्षेत्र मे पहुँच जाते हैं।

1. योगसूत्र, 1.3 और 4।
2 योगसूत्र, 1.2।

इस अवस्था मे पहुँचा हुआ व्यक्ति मरने के बाद सदा के लिए कैवल्य प्राप्त कर लेता है और वहाँ से उसकी कभी वापसी नही होती। लकिन यह तो जीवन का विदेह-मुक्ति का लक्ष्य है, जो इस लोक में प्राप्त नहीं होता। एक अन्य लक्ष्य भी है जो इसी लोक मे प्राप्तव्य है। यह जीवन्मुक्ति का लक्ष्य है और इस दर्शन में स्पष्टत: स्वीकार किया गया है।[1] इस अवस्था में पुरुष का बुद्धि से सम्बन्ध बना रहता है, लेकिन बुद्धि के सारे दोष दूर हो जाते हैं और वह चैतन्य के द्वारा पूरी तरह प्रकाशित होती है। संसार के प्रति जीवन्मुक्त का दृष्टिकोण बहुत-कुछ वैसा ही माना गया है जैसा न्याय-वैशेषिक के आदर्श के अनुसार पूर्णता-प्राप्त व्यक्ति का (पृ० 265)। वह सांसारिक जीवन मे भाग लेता है, परन्तु उससे विरक्त रहता है। वह संसार के अन्दर रहता हुआ भी ससारी नही होता।

1. सांख्यकारिका, श्लोक 67-8।

अध्याय 12

पूर्वमीमांसा

यहाँ तक जिन दर्शनों का वर्णन किया गया है उनकी तुलना में पूर्व-मीमांसा की विशेषता यह है कि यह वेद को स्वतः प्रमाण मानती है। हम देख चुके हैं कि जैन इत्यादि कुछ दर्शन वेद को कतई प्रमाण नहीं मानते और न्याय इत्यादि कुछ दर्शन वेद को अन्य प्रमाणों से गौण मानते हैं। मीमांसा इन सबसे इस बात में भिन्न है कि यह वेद या श्रुति को जो प्रतिष्ठा देती है वह किसी और दर्शन ने उसे नहीं दी है। यह जानने के लिए कि तर्क को इस दर्शन मे ठीक क्या स्थान दिया गया है, पाठक को वह देखना चाहिए जो एक पिछले अध्याय में (पृ० 180–2) कहा गया था। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि श्रुति स्वतः प्रमाण है, तथापि वह ऐसे शब्दों के माध्यम से हम तक पहुँची है जिनका अर्थ समझना आसान काम नहीं है। अतः उन सिद्धान्तों की मीमांसा या छानबीन करने की आवश्यकता पैदा हुई जिनके अनुसार वेद-वाक्यों का अर्थ करना है।[1] केवल इस प्रकार तर्क की सहायता पाकर ही वेद अपने सच्चे तात्पर्य को प्रकट करेगा। अतः ज्ञान की एक शाखा के रूप मे मीमांसा का मुख्य लक्ष्य शाब्दिक अभिव्यक्ति के पीछे रहने वाले विचार तक पहुँचना, भाषा और विचार के सम्बन्ध की महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान ढूंढना, कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ भाषा को उसका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति से स्वतन्त्र माना गया है,[2] इसलिए इस दर्शन में सामाजिक या लोक-मनोविज्ञान से सम्बन्धित चर्चाएँ बहुत हुई हैं। इस मनोवैज्ञानिक छान-बीन में काफ़ी अंश ऐसा है जो एक आधुनिक विज्ञान, शब्दार्थविज्ञान, के लिए, जिसमें अर्थ के भावार्थी रूपों से सम्बन्ध का विवेचन होता है, उपयोगी है। इस दृष्टि से मीमांसा अनिवार्य रूप से व्याकरण की पूरक है, क्योंकि व्याकरण में

1. देखिए, प्रकरणपंचिका, पृ० 104। मीमांसा को एक प्रकार का 'तर्क' माना गया है, क्योंकि वह एक प्रमाण की सहायक है। देखिए, पृ० 181, टिप्पणी 5।
2. देखिए, शास्त्रदीपिका : शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा वयं न स्वयं ईश्महे (पृ० 122)। यथालोकं च शब्दार्थावधारणं न यथेच्छम् (पृ० 127)।

शब्दो का विवेचन मुख्यतः आकार की दृष्टि से होता है। इस प्रकार मीमासा के अध्ययन का एक सर्वाधिक महत्त्व यह है कि उससे मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान के लिए उपयोगी कुछ सामग्री मिल जाती है। अर्थ-निरूपण के जो नियम जैमिनि और उसके अनुयायियों ने स्थिर किए हैं, वे बिलकुल सामान्य हैं और उन्हें जितना वेद पर लागू किया जा सकता है उतना ही वेदेतर ग्रन्थो पर भी। वास्तव मे उन्हें व्यापक रूप से अपनाया गया है और उनका उपयोग सभी प्राचीन ग्रन्थों, विशेषतः धर्मशास्त्रों, के अर्थ-निरूपण मे किया गया है।

मोटे तौर पर हम कह सकते है कि मीमांसा मन्त्रों की अपेक्षा ब्राह्मणों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है, जिसका मतलब यह है कि वह वेद को आवश्यक रूप से कर्मकाण्ड के एक ग्रन्थ के रूप में देखती है। वह न केवल शुरू के मन्त्रों को बल्कि बाद के उपनिषदों को भी गौण मानती है। इसका नाम 'पूर्वमीमांसा' इस बात का सूचक है कि यह वेद के उपनिषदों से पहले के भाग से सम्बन्धित है। उपनिषदो से सम्बन्धित दर्शन का नाम उत्तरमीमांसा है। यज्ञ-याग का विवेचन, जो मीमांसा का मुख्य विषय है, निस्सन्देह बहुत प्राचीन है। श्रौत-सूत्रों का मुख्य उद्देश्य यही है और यह ब्राह्मणो तक मे पाया जाता है। कर्मकाण्ड के बारे में संशय और वाद-विवाद का होना स्वाभाविक है और विशेष रूप से तब तो और भी स्वाभाविक होता है जब उसका प्रारम्भिक चरण बीत जाता है। मीमांसा पहले से चले आने वाले कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विवेचन के क्षेत्र में विस्तार मात्र कर देती है और उसे अधिक तन्त्रबद्ध कर देती है। इससे हमें यह नहीं समझना चाहिए कि वह यज्ञों को ठीक उसी रूप में लेती है जिस रूप में उनका ब्राह्मणों में विधान हुआ है। चूंकि मीमासा का प्रारम्भ शायद ब्राह्मणों से कई पीढ़ियों के बाद हुआ, इसलिए इसकी कर्मकाण्ड की धारणा ने उसका विकास और ह्रास दोनों ही देखे हैं। वास्तव मे मीमांसा में प्राचीन यज्ञ-पद्धति का नये सिरे से अर्थ किया गया है और इस प्रक्रिया मे यज्ञ का रूप काफी बदल गया है। मीमासा इस समय जिस रूप में है उसमें यज्ञों के सम्बन्ध मे एक कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण नवीनता यह दिखाई देती है कि यज्ञानुष्ठान को मोक्ष-प्राप्ति से गौण मान लिया गया है। प्रारम्भ मे जीवन का लक्ष्य मोटे तौर से स्वर्ग की प्राप्ति माना गया था। इस लक्ष्य के स्थान पर मोक्ष के आदर्श का प्रतिष्ठित हो जाना मीमांसा में मौलिक परिवर्तन होने का सूचक है। इस परिवर्तन से मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या मात्र न रह-कर एक दर्शन बन जाती है। इसलिए अपने वर्तमान रूप में मीमांसा उस रूप से कहीं अधिक भिन्न हो गई है जिसकी ओर इसका दूसरा नाम, कर्ममीमांसा,

संकेत करता है। 'कर्ममीमांसा' नाम यज्ञों के अनुष्ठान पर जो बल देता है वह यदि मीमांसा मे अब भी बना हुआ है तो नाम-भर का ही है, क्योंकि व्यवहार में अब यज्ञानुष्ठान बिलकुल गौण हो गया है। यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मीमांसा के बाद के प्रवक्ताओं की इस इच्छा के कारण हुआ होगा कि मीमांसा अन्य दर्शनों के साथ-साथ चले और उन धार्मिक अनुष्ठानों के विधि-विधानों का विवेचन मात्र न बना रहे जो तब तक निर्जीव-से हो गए थे। कल्प-सूत्रों में आत्म-लाभ का कहीं-कहीं जो उल्लेख हुआ है उसे यदि छोड़ दिया जाए, तो उनमें यह परिवर्तन नहीं आया था। लेकिन जैमिनिसूत्र के शुरू के व्याख्याकारों, उपवर्ष और शबरस्वामिन्, मे यह साफ दिखाई देता है और उनके बाद के मीमांसकों मे तो बहुत आम हो गया है। अतः मीमांसा का दार्शनिक पक्ष अपेक्षाकृत बाद का है। इसके मूल में रहने वाली परिकल्पना की प्रवृत्ति वैदिक साहित्य के लिए कोई नई बात नहीं है, क्योंकि यह उपनिषदों मे और कहीं-कहीं स्वयं *ब्राह्मणों में दी हुई यज्ञों की लाक्षणिक व्याख्याओं मे पाई जाती है।* परन्तु अब इसमें जो विशेष प्रकार का दार्शनिक सिद्धान्त आ गया, वह बिलकुल ही भिन्न दिशा में चला है। वह मन्त्रों के दार्शनिक सिद्धान्त से व्युत्पन्न नहीं है; और न वह उपनिषदों की चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा मे अग्रसर है। वह तो किसी वेदेतर मूल से आया होगा और इसलिए वह न तो प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का धर्म है और न ब्रह्मपरक दर्शन है। इसके कुछ छोटे सिद्धान्त उन बातों के सदृश लग सकते हैं जो वेद के दार्शनिक स्थलों में पाई जाती हैं; लेकिन यह कुछ विचित्र लगेगा कि इसके अधिकतर सिद्धान्त और उनमे जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं वे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, न्याय-वैशेषिक से लिये गए हैं। ब्राह्मणों की प्रवृत्ति मन्त्रों की सीधी-सादी प्रकृति-पूजा को हटाने की थी। पूर्ण विकास को प्राप्त मीमांसा की प्रवृत्ति ब्राह्मणों मे उपदिष्ट और बाद मे श्रौत-सूत्रों मे तन्त्रबद्ध कर्मकाण्डवाद को हटाने की है। लेकिन यह काम किसी भी चरण में पूरा नहीं हो पाया और फलतः आज हम मीमांसा का जो रूप पाते हैं वह तर्कनापरक और सैद्धान्तिक, लौकिक और लोकोत्तर, तथा आस्तिक और नास्तिक तत्त्वों का मिश्रण है। यहाँ हम मीमांसा के दार्शनिक पक्ष की चर्चा करेंगे, उसके कर्मकाण्डपरक सिद्धान्तों या अर्थनिरूपण-सम्बन्धी सिद्धान्तों की नहीं।

मीमांसा-विषयक जानकारी का मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ जैमिनि का मीमांसा-सूत्र है। अन्य दार्शनिक सूत्रों की तरह इसका रचना-काल भी बिलकुल अनिश्चित है; फिर भी आजकल इसे उनमें सबसे प्राचीन और लगभग 200 ई० का माना

जाता है। लेकिन पूर्वमीमांसा-दर्शन इससे भी बहुत पुराना है, क्योंकि इसका उल्लेख धर्मसूत्र[1]-जैसे प्राचीन ग्रन्थों और सम्भवतः पतंजलि (150 ई० पू०) के महाभाष्य[2] में भी हुआ है। इन सूत्रों की संख्या 2500 से बहुत ऊपर है और ये बारह अध्यायों तथा कुल साठ पादों में विभाजित हैं। इस ग्रन्थ में लगभग एक हजार अधिकरणों पर चर्चा हुई है और इस प्रकार यह दार्शनिक सूत्रों में सबसे बड़ा है। अपने वर्ग के अन्य ग्रन्थों की तरह यह भी सहायक ग्रन्थों के बिना पढ़े जाने पर अधिकांशतः समझ में नहीं आता और इसे समझने के लिए किसी टीका की, जिसमें इसका परम्परागत अर्थ सुरक्षित हो, सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी सहायता हमें शबरस्वामी के भाष्य से मिलती है, जो शायद 400 ई० के आस-पास लिखा गया था। परम्परा शबर का सम्राट् विक्रमादित्य से सम्बन्ध जोड़ती है, जिसका जीवनकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० माना जाता है; परन्तु इसमें कोई सचाई नहीं मालूम होती। मीमांसासूत्र पर कम-से-कम एक टीका, जिसका लेखक उपवर्ष (350 ई०) था, शबर के भाष्य से पहले लिखी गई थी; लेकिन शबर के भाष्य में आए हुए सम्भवतः एक उद्धरण[3] को छोड़कर इसका कोई भी अंश अब ज्ञात नहीं है। इस भाष्य की दो प्रकार से व्याख्या की गई है, एक प्रभाकर (650 ई०) के द्वारा और दूसरी कुमारिल भट्ट (700 ई०) के द्वारा। इन दो व्याख्याओं में कुछ आवश्यक बातों में मतभेद है। प्रभाकर की 'महान् टीका', बृहती, अभी पाण्डुलिपि के रूप में है। इसका केवल एक छोटा अंश अभी तक प्रकाशित हो पाया है। यही हाल बृहती के ऊपर शालिकनाथ की टीका, ऋजुविमला, का भी है। शालिकनाथ को प्रभाकर का शिष्य माना जाता है। अतः प्रभाकर-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की जानकारी शालिकनाथ के ही एक अन्य ग्रन्थ, प्रकरणपञ्चिका, से लेनी पड़ती है, हालांकि यह भी दुर्भाग्य से पूरा नहीं मिला है। भवनाथ इस सम्प्रदाय का एक अन्य प्रभावशाली लेखक था। उसका ग्रन्थ, नयविवेक, भी अभी अप्रकाशित है। दूसरा सम्प्रदाय लम्बे समय से पहले को लगभग हटा चुका है और इसके बारे में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। स्वयं कुमारिल का विशालकाय और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पूरा छप चुका है। इसका दार्शनिक भाग 'श्लोकवार्तिक' कहलाता है और शेष दो भाग क्रमशः 'तन्त्रवार्तिक' और 'टुप्टीका' कहलाते हैं। पहले भाग पर पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर के नाम से अत्यन्त सुबोध शैली

1. देखिए, Keith : Karma-mimamsa, पृ० 2।
2. देखिए, 4. 1. 14।
3. 1. 1. 5।

में टीका लिखी है। मण्डनमिश्र, जो शायद कुमारिल का शिष्य था, एक ...... विचारक था और उसे मीमांसा पर विधिविवेक और भावनाविवेक जैसे अनेक ग्रन्थों के रचयिता होने का श्रेय प्राप्त है। इस सम्प्रदाय के ऊपर और भी कई ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमे पार्थसारथि-कृत शास्त्रदीपिका, माधव-कृत न्यायमालाविस्तर (1350 ई०) और खण्डदेव-कृत भाट्टदीपिका (1650 ई०) उल्लेखनीय हैं। ये जैमिनि के सूत्रों के क्रम में लिखे गए हैं। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गए हैं, जो मीमांसा के कर्मकाण्डीय या अर्थनिरूपणात्मक पक्ष को समझने के लिए उपयोगी हैं। आपदेव (1650 ई०) का मीमांसा-न्याय-प्रकाश ऐसा ही एक ग्रन्थ है और एक अन्य लौगाक्षि भास्कर का अर्थसंग्रह है जो पूर्वोक्त का ही संक्षेप है अथवा कुछ विद्वानों के मत से उसका मुख्य आधार है।[1] कुमारिल-सम्प्रदाय या भाट्ट मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन करने वाला एक अन्य ग्रन्थ मानमेयोदय है। इसका पता काफी बाद में चला। इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी ई० के आस-पास के दो लेखकों ने की थी। हमारा मीमांसा का विवेचन सामान्य होगा; परन्तु उक्त दो सम्प्रदायों के बीच दार्शनिक दृष्टि से जहाँ महत्त्व-पूर्ण मतभेद होंगे, उनका उल्लेख कर दिया जाएगा। इन दो सम्प्रदायों का तैथिक सम्बन्ध अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राभाकर सम्प्रदाय अधिक पुराना है और उसमे मूल मीमांसा की विशिष्ट रूपरेखाएँ अधिक अच्छी तरह सुरक्षित हैं अथवा कम-से-कम उसका तात्पर्य दूसरे सम्प्रदाय की अपेक्षा मूल मीमांसा के अधिक निकट है।[2]

: 1 :

आत्मा की धारणा उक्त दो सम्प्रदायों में कुछ भिन्न है, लेकिन दोनों ही अनेक आत्माओं को मानने में एकमत हैं। कुमारिल के सम्प्रदाय में आत्मा का स्वरूप बहुत-कुछ वही है जो न्याय-वैशेषिक में है और उसे कर्ता और भोक्ता दोनों माना गया है। परन्तु न्याय-वैशेषिक आत्मा में कर्म को किसी भी रूप में नहीं मानता—न स्पन्द (स्थान-परिवर्तन) के रूप में और न परिणाम (रूप-परिवर्तन) के रूप में—जबकि यहाँ स्पन्द का तो निषेध किया गया है लेकिन परिणाम को माना गया है।[3] अर्थात् कुमारिल-सम्प्रदाय आत्मा में विकार की सम्भावना को स्वीकार करता है। आत्मा को विकारशील मानने के बावजूद नित्य माना गया है, क्योंकि कुमारिल आन्तरिक परिवर्तन को नित्यत्व का

1. Edgerton : Mimānsā-Nyāya-Prakāśa (Yale Uni. Pr.) पृ० 22-3।
2. कीथ का पूर्व उद्धृत ग्रंथ, पृ० 9-10।
3. श्लोकवार्तिक, पृ० 707, श्लोक 74।

विरोधी नहीं मानता। हम प्रतिदिन अनेक चीजें देखते हैं, जो प्रायः निरन्तर बदलती रहती हैं, फिर भी अपनी एकता को बनाए रखती हैं। ज्ञान आत्मा का एक विकार है। इसे एक क्रिया या व्यापार कहा गया है[1] और अतीन्द्रिय माना गया है, क्योंकि यह आत्मा-जैसे सूक्ष्म द्रव्य में पाया जाता है। आत्मा में होनेवाला यह परिवर्तन या विकार आत्मा का ज्ञात वस्तु से एक सम्बन्ध पैदा कर देता है। आत्मा प्राक्कल्पना के अनुसार सर्वव्यापक है और इसलिए सभी अस्तित्ववान् वस्तुओं से अनिवार्यतः सम्बन्धित है; लेकिन यह सम्बन्ध वह नहीं है जिस पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं। यदि यह वही होता तो सभी वस्तुओं का उनके अस्तित्व-काल में ज्ञान रहता। ज्ञान से पैदा होनेवाला सम्बन्ध विलक्षण प्रकार का है और उसे 'व्याप्तृ-व्याप्यत्व' कहा गया है। ज्ञान-क्रिया को 'सकर्मिका' माना गया है, जिसका फल उससे भिन्न चीज में ढूँढना चाहिए जिसके अन्दर यह प्रकट होती है। उदाहरणार्थ, पकाने की क्रिया पकाने वाले में दिखाई देती है, लेकिन इसका फल, 'विक्लेद' (मुलायम हो जाना), पकी हुई चीज, जैसे चावल, में दिखाई देता है। पहला कर्ता है और दूसरा कर्म है। जब आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है और यह उसे किसी वस्तु से सम्बन्धित करता है, तब वस्तु एक विशेष ढंग से प्रभावित होती है। इस प्रकार अनुभव केवल आत्मा का ही परिणाम नहीं है बल्कि साथ ही वस्तु का भी परिणाम है। वस्तु उससे 'प्रकाश-विशिष्ट' हो जाती है, और उसके प्राकट्य या ज्ञातता से यह अनुमान किया जाता है कि आत्मा को पहले ज्ञान हो चुका है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति केवल अनुमान से जानी जा सकती है। ज्ञान वस्तु को तो प्रकाशित करता है, परन्तु अपने को प्रकाशित करने की शक्ति नहीं रखता। ज्ञान का ज्ञान तो सम्भव है, परन्तु यहाँ न्याय-वैशेषिक की तरह उसे आन्तरिक प्रत्यक्ष या अनुव्यवसाय का विषय न मानकर परोक्ष ज्ञान यानी अनुमान का विषय माना गया है (पृ० 250)। किसी वस्तु के सम्बन्ध में आत्मा को ज्ञान होने के फलस्वरूप वस्तु में प्राकट्य नामक जो नवीन विशेषता पैदा हो जाती है वह वस्तु का परोक्षतः या अपरोक्षतः ज्ञात होना बताती है। फल के इस द्विविध स्वरूप के अनुसार ज्ञान या तो परोक्ष होता है या प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्ष वस्तु का साक्षात् ज्ञान (विशदावभास) कराता है और उसका आसन्न कारण इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सन्निकर्ष होना है। इस सन्निकर्ष से पहला ज्ञान जो हमें होता है, बिलकुल धुंधला और अनिश्चित होता है तथा जैसे सांख्य-योग में वैसे ही यहाँ भी 'आलोचन' कहलाता है। स्पष्टता

1. शास्त्रदीपिका, पृ० 56-7।

और निश्चितता इसमें बाद में आती है। इस प्रक्रिया की शुरू की अवस्था को 'निर्विकल्पक' और बाद की अवस्था को 'सविकल्पक' कहा गया है।[1] अतः यहाँ इन दो अवस्थाओं को न्याय-वैशेषिक से भिन्न रूप में समझा गया है। न्याय-वैशेषिक से एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर यहाँ यह है कि निर्विकल्पक यहाँ एक ऐसी सैद्धान्तिक कल्पना मात्र नहीं है जो सविकल्पक की व्याख्या करने के अतिरिक्त किसी व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उपयोगी न हो (पृ० 250)। इसका बहुत उपयोग है।[1] मीमांसक मानता है कि इसके आधार पर व्यवहार हो सकता है और वस्तुतः होता ही है। बच्चे और पशु, जिनका मानसिक विकास अपूर्ण होता है, प्रत्यक्ष की केवल इसी आदिम अवस्था से व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं और प्रौढ़ भी उत्तेजना के समय ऐसा ही करते हैं।[2] इससे प्रकट होता है कि यहाँ निर्विकल्पक ऐसी प्राक्कल्पना मात्र नहीं है जो अनुभव की किसी ज्ञात अवस्था की व्याख्या के लिए बनाई गई हो बल्कि सामान्य अनुभव का ही एक अंग है। न्याय वैशेषिक की तरह मीमांसा भी सर्वस्वीकृत पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मनस् को भी एक ज्ञानेन्द्रिय मानती है और सब तरह के ज्ञान के लिए इसके सहयोग को अपरिहार्य बताती है। ज्ञानेन्द्रियों की रचना के बारे में भी दोनों में सामान्य मतैक्य है। दृष्टि, रस, गन्ध और स्पर्श की पहली चार ज्ञानेन्द्रियों को उन भूतों से उत्पन्न माना गया है जिनके विशेष गुण क्रमशः इनके विषय हैं। मनस् के बारे में यह मत है कि वह भूतों से उत्पन्न हो भी सकता है और नहीं भी। अवशिष्ट इन्द्रिय, श्रोत्र, को मीमांसा श्रुति के इस वचन को प्रमाण मानकर कि 'श्रोत्र दिक् से उत्पन्न हुआ',[3] आकाश-रूप न मानकर कर्णावच्छिन्न दिक मानती है[4]। मनस् सहित ज्ञानेन्द्रियाँ, जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तुओं से सन्निकर्ष होता है और परोक्ष ज्ञान में नहीं होता, आत्मा में ज्ञान नामक परिणाम को उत्पन्न करने वाले बाह्य हेतु हैं; और न्याय-वैशेषिक की तरह यहाँ भी यह माना गया है कि मोक्ष में इनसे सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद होने पर आत्मा स्वतन्त्र हो जाता है।

यहाँ तक हमने जाग्रत् अवस्था के बारे में बताया है। स्वप्न में भी मोहा-

1. शास्त्रदीपिका, पृ० 36 और 40।
2. शास्त्रदीपिका, पृ० 40 (टीका)। पशुओं और बच्चों के व्यवहार की बात ध्यान देने योग्य है।
3. मुण्डक उप०, 1.1.4।
4. शास्त्रदीपिका, पृ० 36।

बहुत ऐसा ही होता है। केवल इतना अन्तर है कि पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ स्वप्न में निष्क्रिय हो जाती हैं। सुषुप्ति के बारे में कुमारिल का मत कुछ विचित्र है। वह अन्य भारतीय विचारकों की तरह यह तो मानता है कि आत्मा उसमें भी बना रहता है; परन्तु ज्ञानविषयक अपने विशिष्ट मत से संगति रखते हुए वह इस अवस्था में आत्मा को ज्ञानशक्ति-विशिष्ट मानता है। इस बात में उसका न्याय-वैशेषिक से मतभेद है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक सुषुप्ति में आत्मा को सब तरह के ज्ञान से शून्य मानता है। उपनिषदों से भी उसका मतभेद है, क्योंकि वह सुषुप्ति में आनन्द की अनुभूति नहीं मानता। वेदान्ती जागने पर सुख के जिस स्मरण की बात कहता है, उसे कुमारिल सुषुप्ति के समय दुःख की चेतना के नितान्त अभाव का फल मानता है। यदि उस समय परमानन्द का वस्तुतः उपभोग होता, तो, वह कहता है, उस व्यक्ति की पश्चात्ताप की अनुभूति की व्याख्या असम्भव हो जाती है जो जागने पर जानता है कि सोने के कारण वह एक साधारण सुख के उपभोग से वंचित रह गया है।[1]

इस प्रसग को समाप्त करने से पहले एक और बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। वह यह है कि कुमारिल के अनुसार आत्मा का ज्ञान कैसे होता है? कुमारिल आत्मा का ज्ञान सीधे 'अहं-प्रत्यय' (आत्म-चेतना) से होना मानता है।[2] मीमासा का यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है और स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। कुमारिल 'आत्म-चेतना' को अभिधार्थ में ग्रहण करता है और मानता है कि आत्मा एक साथ विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय (जड़बोधात्मक) हो सकता है। इसका प्रमाण वह 'मैं स्वयं को जानता हूँ', इस साधारण उक्ति को मानता है।[3] आत्मा को इस प्रकार स्वव्याघाती प्रतीत होनेवाले स्वरूप का मानना कुमारिल के दर्शन के प्रधान सिद्धान्त से बिलकुल संगति रखता है। वह सिद्धान्त, जैसाकि हम आगे देखेंगे, यह कहता है कि वस्तुओं के स्वरूप को नपे-तुले प्रत्ययों में नहीं बांधा जा सकता (भेदाभेदवाद)।[4] ज्ञान के इस तरह के एक नमूने में जैसे 'मैं घड़े को जानता हूँ', दो तत्त्व हैं—एक आत्मा को ग्रहण करनेवाला (अहं-वृत्ति) और दूसरा वस्तु को ग्रहण करनेवाला (घट-

1. शास्त्रदीपिका, पृ० 124।
2. वही, पृ० 122।
3. इस उक्ति को वस्तुतः अनुभव जैसा होता है उसके केवल एक अंश का सूचक मानना चाहिए, क्योंकि पूरे अनुभव में आत्मा के अलावा कोई वस्तु भी शामिल रहती है, जो इस उक्ति में शामिल नहीं है।
4. शास्त्रदीपिका, पृ० 101।

वृत्ति)। इसका मतलब यह है कि आत्म-चेतना निरन्तर बनी रहती है और सुषुप्ति को छोड़कर, जिसमें किसी वस्तु का बोध नहीं होता, चेतना की सभी दशाओं में विद्यमान रहती है। इस प्रकार आत्मा को सभी अनुभवों में ज्ञात मानने का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि आत्मा ज्ञान-क्रिया के कर्ता के रूप में ज्ञात होता है। ज्ञान-क्रिया जिस समय होती है उस समय ज्ञात नहीं होती, बल्कि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बाद में अनुमान से ज्ञात होती है। अतः उस समय आत्मा को ज्ञान से विशिष्ट या ज्ञान के कर्ता के रूप में नहीं जाना जा सकता। फिर भी, यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा अज्ञात रहता है, क्योंकि यह सभी अनुभवों में आत्मा के एक बने रहने की अनुभूति के विपरीत होगा। अतः यह माना गया है कि आत्मा का ज्ञान 'अहं-प्रत्यय' के कर्म के रूप में होता है। यदि इस मत को हम इस दूसरे मत से मिलाकर देखें कि आत्मा को अपना ज्ञान होने के लिए उस समय किसी वस्तु का बोध होना भी जरूरी है, तो हम देखेंगे कि कुमारिल के अनुसार आत्म-चेतना में न केवल एक आन्तरिक भेद—कर्ता के रूप में आत्मा और कर्म के रूप में आत्मा के बीच—रहता है, बल्कि एक बाह्य भेद भी रहता है, जिसमें आत्मा को अनात्मा से पृथक् किया जाता है।

आत्मा के बारे में प्रभाकर का मत दो मुख्य बातों में कुमारिल के मत से भिन्न है और दोनों ही में वह न्याय-वैशेषिक से सहमत है।[1] परिणाम में विश्वास न रखने से वह यह नहीं मानता कि आत्मा परिवर्तनशील है। दूसरी बात यह है कि वह आत्मा को 'ज्ञेय' कहना अनुचित समझता है और दृढ़ता-पूर्वक कहता है कि किसी भी क्रिया में कर्ता और कर्म कदापि एक नहीं हो सकते। ज्ञेय केवल वस्तुएँ ही होती हैं। उनके विपरीत आत्मा सदैव ज्ञाता होता है और सब ज्ञानों में ज्ञाता के रूप में ही प्रकट होता है। यदि वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ आत्मा का भी ज्ञान होना न माना जाए, तो एक आत्मा के ज्ञान और दूसरे आत्मा के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा स्वप्रकाश है। आत्मा तो बिलकुल 'जड़' है और इसलिए उसकी अभिव्यक्ति के लिए किसी ज्ञान का होना जरूरी है, जिसे स्वप्रकाश माना गया है।[2] इस प्रकार यद्यपि आत्मा अपने को प्रकट करने के लिए एक सहायक पर आश्रित है, तथापि इसके लिए एक अलग ही ज्ञान-क्रिया का होना जरूरी नहीं है, क्योंकि जब भी किसी वस्तु का ज्ञान होता है तब उसके साथ

1. देखिए, प्रकरणपंचिका, प्रकरण 8, विशेष रूप से पृ॰152 इत्यादि।
2. प्रकरणपंचिका, पृ॰ 51।

ही आत्मा का भी ज्ञान हो जाता है। प्रभाकर के अनुयायी ज्ञान या अनुभव के लिए 'संवित्' शब्द का प्रयोग करते हैं और उसे स्वप्रकाश मानकर उसके ज्ञान के लिए किसी साधन की जरूरत नहीं समझते। यद्यपि इस अर्थ में संवित् अन्तिम वस्तु है, तथापि वह नित्य नहीं है। वह उत्पन्न होती है, अपने साथ ही वस्तु और आत्मा को भी प्रकट करती है, और फिर लुप्त हो जाती है। इस त्रिविध अभिव्यक्ति को 'त्रिपुटीज्ञान' कहा गया है। अन्य मनोवैज्ञानिक बारीकियों के बारे में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी दृष्टि से प्रभाकर-मत भाट्ट मत की अपेक्षा न्याय-वैशेषिक के और भी अधिक निकट है।

: 2 :

मीमांसक का मुख्य लक्ष्य वेद के प्रामाण्य को स्थापित करना है; लेकिन उसे यह पसन्द नहीं है कि उसे केवल एक राद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाए और इसलिए वह वेद के प्रामाण्य को तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। उसका आग्रह है कि मीमांसा को निरा 'उपदेश-शास्त्र' अर्थात् स्थिर निर्णय देनेवाला न माना जाए, बल्कि 'परीक्षा-शास्त्र' अर्थात् तर्क-प्रक्रिया से प्राप्त निर्णय देनेवाला माना जाए।[1] प्रमाणों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ-साथ शब्द को रखने मात्र से यह बात प्रकट हो जाती है। वेद सत्य के ज्ञान का केवल एक विशेष साधन है; और मीमांसक मानता है कि उसका जो भी मूल्य हो वह उसके प्रत्यक्ष या अनुमान की तरह एक प्रमाण होने से है। इस प्रकार मीमांसक को तर्क के अखाड़े में उतरना पड़ता है; और यद्यपि पूरे अर्थ में वह तर्कनावादी भले ही न हो, तथापि उसे निरा राद्धान्त-प्रतिपादक भी नहीं कहा जा सकता।

मीमांसा का पहला अभ्युपगम यह है कि ज्ञान उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों की दृष्टि से स्वतः प्रमाण होता है।[2] यदि अ, ब और स ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु है, तो ये ही उसके प्रामाण्य के हेतु भी हैं। इसी तरह ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान भी तभी हो जाता है जब ज्ञान का ज्ञान होता है। इसके लिए किसी अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। उसका प्रामाण्य किसी हेतु पर निर्भर नहीं होता। हेतु जानने की आवश्यकता केवल तब होती है जब कोई ज्ञान अप्रमाण होता है। हम सदैव यह मानकर चलते हैं कि जो ज्ञान हमें हुआ है वह सही है; लेकिन यदि बाद में यह पता चले कि उसका कोई भाग सही नहीं है, तो हमें यह जिज्ञासा होती है कि वे कौन-सी वाह्य परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने

1. देखिए, शास्त्रदीपिका, पृ० 18 और जैमिनिसूत्र, 1. 1. 3।
2. शास्त्रदीपिका, पृ० 19-23 और 48-50; प्रकरण-पंचिका, चौथा प्रकरण।

उसके कारणों के व्यापार में बाधा डालकर उसमें अप्रामाण्य उत्पन्न किया है। अप्रामाण्य का कारण ज्ञान के कारण में रहने वाला कोई दोष होता है। कोई आदमी दृष्टि-दोष के कारण शुक्ति को रजत के रूप में देख सकता है। इसी कारण मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान के मिथ्यात्व का पता बाद के अनुभव से उसके असंगत होने से (बाधक-प्रत्यय) चलता है। जब कोई व्यक्ति, जो किसी दूरस्थ चीज को साँप समझे बैठा है, उसके निकट जाता है और देखता है कि यह तो रस्सी है, तब वह मान लेता है कि पहले उसे जो ज्ञान हुआ था वह मिथ्या था। इस प्रकार ज्ञान के अप्रामाण्य के बारे में मीमांसा न्याय-वैशेषिक से सहमत है, किन्तु उसके प्रामाण्य के बारे में वह उससे भिन्न मत रखती है। इस मतभेद का मुख्य कारण न्याय-वैशेषिक की सत्यता के स्वरूप की परिभाषा और उसके द्वारा प्रस्तावित ज्ञान के सत्यापन के तरीके के बीच पाया जाने वाला वैषम्य है। सत्यता को ज्ञान का वास्तविकता से संवाद माना गया है, लेकिन किसी भी परीक्षा से इस संवाद को सीधे नहीं जाना जा सकता। अतः न्याय-वैशेषिक एक परोक्ष परीक्षा—संवादि-प्रवृत्ति—का प्रस्ताव करता है। इस प्रकार जो कसौटी अपनाई गई है वह वास्तव में एक दूसरा अनुभव है, जैसे पहले दिये हुए पानी के ज्ञान के उदाहरण में प्यास बुझने का अनुभव। लेकिन यह दूसरा अनुभव भी जब तक स्वयं सत्य सिद्ध न हो, तब तक पहले अनुभव को सत्य सिद्ध नहीं कर सकता; और उसे सत्यापित करने का मतलब केवल यह होगा कि इसी तरह हम आगे भी अनन्त तक इस प्रक्रिया को चलाते रहें। यदि यह मान भी लिया जाए कि इस दूसरे अनुभव के सत्यापन की आवश्यकता नहीं है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि जल के ज्ञान की संवादी वस्तु का बाहर सचमुच अस्तित्व है। एक व्यक्ति पानी का स्वप्न और उसको पीकर प्यास बुझने का भी स्वप्न देख सकता है। यहाँ सवादि-प्रवृत्ति के होने पर भी बाहर सवादी वस्तु का अभाव है। संवादि-प्रवृत्ति की कसौटी से वास्तव में केवल यह मालूम होता है कि दो अनुभवों में संगति है। ऐसी कसौटी को पर्याप्त मानना वस्तुतः वास्तववाद को छोड़ देने के बराबर है, क्योंकि वास्तविकता से ज्ञान का जो संवाद मान लिया गया है वह बिलकुल असत्यापित रह जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि न्याय-वैशेषिक वास्तववाद को अपनाकर चलता है, तथापि वह प्रामाण्याप्रामाण्य की समस्या के, जो कि दर्शन की नाजुक समस्याओं में से एक है, समाधान में अपनी स्थिति को बनाए रखने में असफल रहता है। तथ्य यह है कि वास्तववाद को मानने वाला इस मत पर दृढ़ नहीं बना रह सकता कि प्रामाण्य बाहर से निर्धारित होता है (परतः प्रामाण्य)। इसी-

लिए मीमांसा, जो न्याय-वैशेषिक की तरह ही वास्तववादी है, परतःप्रामाण्य के विपरीत स्वतःप्रामाण्य को मानती है और ज्ञान को प्रमाण मानकर सामान्यतः उसकी जाँच करना आवश्यक नहीं समझती।

अब हम यह बताएँगे कि इस मत का वेद के प्रामाण्य पर, जो कि मीमांसक के लिए सबसे अधिक महत्त्व रखता है, क्या असर पड़ता है। वेद में न तो वह हेतु मौजूद है जो ज्ञान को अप्रमाण बनाता है और न वह हेतु जिससे अप्रामाण्य का पता चलता है। कारण-दोष यहाँ हो ही नहीं सकता, क्योंकि शब्द का कारण वक्ता या लेखक होता है, जबकि वेद को मीमांसक स्वयम्भू और अकर्तृक (अपौरुषेय) मानता है। यह सम्भावना भी नहीं है कि वेद का प्रत्यक्ष इत्यादि साधारण प्रमाणों से विरोध हो, क्योंकि प्राक्कल्पना के अनुसार वेद का विषय केवल पारलौकिक है और इसीलिए अनुभव से सत्यापनीय है ही नहीं (पृ० 180)। शायद यह सोचा जाए कि साधारण अनुभव के विरुद्ध होने का तो सवाल नहीं उठता, पर हो सकता है कि वेद एक जगह कुछ उपदेश दे और दूसरी जगह कुछ और तथा इस तरह स्वव्याघाती हो। लेकिन मीमांसक की धारणा है कि यदि वेद को उचित रूप से समझा जाए तो उसमें कोई स्वव्याघात नहीं दिखाई देगा। ऊपर हमने अर्थ-निरूपण के जिन नियमों की बात कही है, वे वेद को सम्यक् तरीके से समझने के लिए ही बनाये गए हैं। वेद के बारे में मीमांसा के इस विचित्र मत को कुछ और खोलकर स्पष्ट करने की जरूरत है

वेद को यहाँ उच्चरित शब्दों का एक रूप माना गया है और इसी अर्थ में मीमांसक उसे स्वयंभू मानता है। उसके मत का मुख्य आधार ये तर्क हैं :

(1) शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है और इसलिए आवश्यक और नित्य है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वस्तुओं का पहले से अस्तित्व था और नाम उनको बाद में दिये गए। शब्द और वह वस्तु, जिसका वह नाम है, सदा से सहचर हैं और यह कल्पना करना असम्भव है कि उनमें से किसी का कभी आरम्भ हुआ होगा।[1] लेकिन हमें सावधानी के साथ जान लेना चाहिए कि मीमांसा का 'शब्द' और 'वस्तु' से क्या मतलब है। 'शब्द' के स्वरूप को जानने के लिए पहले वर्ण और ध्वनि का अन्तर जान लेना जरूरी है। वर्ण एक सार्थक ध्वनि है। इसे निरवयव, सर्वगत और इसलिए नित्य भी माना गया है। किसी वर्ण का अनेक बार या अनेक प्रकार से उच्चारण किए जा सकने का यह

1. शास्त्रदीपिका, पृ० 90-7 और 116-17। पृ० 44, टीका भी देखिए।

अर्थ नहीं है कि अनेक वर्ण-व्यक्ति हैं जिनमें एक वर्ण-सामान्य व्याप्त होता है। इस प्रकार वर्ण के जो अनेक रूप दिखाई देते हैं वे आकस्मिक मात्र हैं; और उनमें चाहे जितनी भिन्नता हो, वर्ण सदैव अभिन्न बना रहता है। वर्ण के नित्यत्व के समर्थन में एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया गया है कि हम उसका अनेक बार उच्चारण होने पर भी उसे पहचान लेते हैं, जिसका यह मतलब है कि अनेक उच्चारणों के नीचे वर्ण वही रहता है। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि 'अ' वर्ण का दस बार उच्चारण हुआ है; यह नहीं कहते कि दस 'अ' वर्णों का उच्चारण हुआ है। यदि उन उच्चारणों का एक ही वर्ण से सम्बन्ध न हो, तो वर्ण की पहचान को हमें (पर्याप्त कारण के बिना ही) भ्रम मान लेना पड़ेगा, क्योंकि उच्चारण तो स्वयं अनित्य घटनाएँ हैं जिनमें कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। ध्वनि को नित्य वर्ण की अभिव्यक्ति का साधन माना गया है। उसकी लिखित प्रतीक से तुलना की जा सकती है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि जब वर्ण कई होते हैं तब उनकी ध्वनि उच्चारणों का एक कालिक अनुक्रम होता है और लिखित प्रतीक लिखित चिह्नों का एक-देशीय अनुक्रम होता है। जिन विभिन्न तरीकों से एक वर्ण का उच्चारण किया जा सकता है, जैसे बल में परिवर्तन करके, उन्हें उच्चारण के इस साधन में होने वाले अन्तरों का फल माना गया है। ध्वनि के स्वरूप की कई वैकल्पिक व्याख्याएँ दी गई हैं, लेकिन यहाँ उनकी विस्तृत चर्चा में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। हमारे प्रयोजन के लिए इतना कह देना पर्याप्त होगा कि ध्वनि वर्णों की अभिव्यक्ति का साधन है और इसलिए निश्चित रूप से उनसे भिन्न है। ध्वनि भी अनित्य है और केवल उसी स्थान में उसका अस्तित्व होता है जहाँ वह सुनाई देती है। शब्द दो या अधिक वर्णों से बनता है और एक समुदाय मात्र होता है, न कि एक अवयवी जो अपने अवयवों और उनके समूह से पृथक् होता है। इसके बावजूद प्रत्येक शब्द में वर्णों के एक विशिष्ट क्रम में होने की आवश्यकता को माना गया है। अन्यथा 'दीन' और 'नदी' शब्द, जिनमें वर्ण तो वही हैं पर उन्हें भिन्न क्रमों में रखा गया है, अर्थ में भिन्न नहीं हो पाएँगे। लेकिन यह क्रम केवल उनकी अभिव्यक्तियों का ही हो सकता है, स्वयं वर्णों का नहीं, जो प्राक्कल्पना के अनुसार सर्वगत और नित्य हैं। उनका क्रमिक उच्चारण शब्द की एकता में बाधक नहीं होता। यह वैसे ही है जैसे प्रत्यक्ष की प्रक्रिया, जो स्वयं क्रमिक होती है, अपने विषय पेड़ इत्यादि की एकता पर असर नहीं डालती। अब हम शब्दों के अभिधेयों पर आते हैं। उनके अभिधेय अनुभव की वे विशेष वस्तुएँ नहीं हैं जो उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं, बल्कि वे

सामान्य हैं जो नित्य हैं और नश्वर विशेष जिनके सूचक मात्र हैं। कहने का मतलब यह है कि शब्द का अर्थ सामान्य होता है,[1] हालांकि जब उसका वाक्य के अन्दर अन्य शब्दों से योग होता है तब वह विशेष का अभिधान कर सकता है। क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों ही नित्य हैं, इसलिए उनका सम्बन्ध भी अनिवार्यतः नित्य है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मीमांसक भाषा में संकेत का कोई अंश नहीं मानता। संकेत को वह एक आवश्यक परन्तु गौण स्थान देता है। उसके मतानुसार संकेत वही काम करता है जो देखने की क्रिया में प्रकाश करता है।[2] यदि संकेत का अंश स्वीकार न किया जाए, तो शब्दों के अर्थों को पहले से जानने वाले व्यक्ति के द्वारा न जानने वाले व्यक्ति को उनका सिखाया जाना, जो कि भाषा सीखने के लिए निस्सन्देह आवश्यक है, व्यर्थ हो जाएगा। यहाँ इस समस्या पर दार्शनिक ढंग से विचार किया गया है और उसका यह समाधान निकाला गया है कि भाषा किसी मनुष्य की बुद्धि की सृष्टि नहीं है, यहाँ तक कि किसी दैवी बुद्धि की सृष्टि भी नहीं है, बल्कि एक प्राकृतिक उपज है।[3] यह कह देना चाहिए कि प्राचीन न्याय भाषा को मानवीय बुद्धि की सृष्टि मानता है और नव्य न्याय दैवी बुद्धि की सृष्टि।[4] मीमांसकों का मत आधुनिक भाषाशास्त्रियों के पुराने सम्प्रदाय के मत से मिलता-जुलता है, जिसकी यह धारणा थी कि भाषाशास्त्र एक प्राकृतिक विज्ञान है।

(2) यदि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मान भी लिया जाए, तो भी इससे वेद की नित्यता सिद्ध नहीं होती। यह तो वेद की नित्यता को सिद्ध करने में केवल परोक्ष रूप से सहायक है, क्योंकि यदि कोई सहसा यह निष्कर्ष निकालना चाहे कि जो कुछ भी शाब्दिक रूप रखता है उसका अनिवार्यतः किसी समय प्रारम्भ हुआ होगा, तो शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता इस

1. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अर्थ संकेतित माना गया है (देखिए, प्रकरणपंचिका, पृ० 135-6 और श्लोकवार्तिक, पृ० 674, श्लो० 120)। परन्तु यहाँ भी अर्थ सामान्य ही होता है, जैसे 'देवदत्त' का अर्थ वह पुरुष नहीं है जिसका जीवन की किसी अवस्था-विशेष में यह नाम रखा गया है, बल्कि वह व्यक्ति है जो छोटे-मोटे परिवर्तनों के बावजूद आजीवन वही बना रहता है। देखिए मम्मट का काव्य-प्रकाश, 2.8।
2. शास्त्रदीपिका, पृ० 91।
3. स्वरा सामाजिक उपज भी है, क्योंकि उसमें संकेत का अंश भी होता है। वर्तमान भाषाओं की अनेकता को मूल आदर्श भाषा में भ्रष्टता आने का फल माना गया है। यह मत प्राकृतिक घटना-क्रम को उलट देने का दोषी है।
4. सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 361।

निष्कर्ष का निराकरण करती है। वेद शब्दात्मक है और इस बात में किसी भी अन्य साहित्यिक रचना की तरह है। यदि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को नित्यता की कसौटी माना जाए, तो सब साहित्यिक रचनाएँ, बल्कि वास्तव में सभी कहे हुए वाक्य समान रूप से नित्य हो जाएँगे। यदि केवल वेद ही नित्य हैं, न कि अन्य रचनाएँ भी, तो इस बात का आधार कोई ऐसी विशेषता होनी चाहिए जो केवल वेद में हो, और यह विशेषता वेद में आने वाले शब्दों का विशिष्ट क्रम (आनुपूर्वी) बताया गया है। जब मीमांसक यह कहता है कि वेद नित्य है, तब उसका मतलब उसके पाठ के स्थायित्व से रहता है। वह वेद को मनुष्य या ईश्वर किसी की भी रचना नहीं मानता। और उसकी यह धारणा है कि वेद अनादि काल से गुरु-शिष्य-परम्परा से, जिसमें अत्यधिक सतर्कता रखी गई है, अखण्ड रूप से सुरक्षित चला आ रहा है।[1] इस धारणा का आधार-यह तथ्य है कि अति प्राचीन काल से ही वेद के रचयिता के बारे में बिलकुल खामोशी बरती गई है, जबकि बौद्ध ग्रन्थों या महाभारत-जैसे अति प्राचीन ग्रन्थों तक का कोई-न-कोई रचयिता बताया गया है। उन ग्रन्थों के शब्दों का क्रम तो उनके रचयिताओं ने निर्धारित किया था, परन्तु वेद के शब्दों का क्रम स्वतः निर्धारित है। यह मान लेने के बावजूद कि अनुश्रुति वास्तव में वेद के रचयिता के बारे में मौन है, इस तर्क को भी निषेधात्मक ही माना जाएगा और इसलिए इससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

इस प्रकार मीमांसक का वेद को नित्य मानना उसके भाषा के बारे में एक विशेष सिद्धान्त को अपनाने और उसकी इस मान्यता पर आधारित है कि दीर्घकाल से चली आनेवाली अनुश्रुति में कहीं वेद के किसी एक या अधिक रचयिताओं के द्वारा रचे जाने का उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी आधार इतना दृढ़ नहीं है कि उससे वह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सके जो मीमांसकों ने निकाला है। अतएव वेद की नित्यता में विश्वास इस समय एक राद्धान्त से अधिक प्रतीत नहीं होता। इस 'धर्मग्रन्थ-पूजा' का उदय अपेक्षाकृत बाद में हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि पहले कभी वेद की विषय-वस्तु के बारे में जो धारणा थी उसके वेद के पाठ में लागू हो जाने का ही यह फल था। इसलिए तर्क के इस आडम्बर के नीचे छिपी हुई सचाई केवल यह है कि वेद शाश्वत सत्यों का आगार है। स्मृतियों के बारे में, जो कि श्रुति से भिन्न हैं, अभी तक यह माना जाता है कि उनकी विषयवस्तु दिव्य शक्ति के

1. जैमिनिसूत्र, 1.1.27-32।

द्वारा प्रकाशित सत्य है, हालांकि जिस मत पर यहां विचार किया जा रहा है उससे मिलते-जुलते मतों के प्रभाव से स्मृत्युक्त सत्य का मूल अन्ततः किसी ऐसी श्रुति में ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है जो अब लुप्त हो गई है (पृ० 91)। इस प्रसंग में दूसरी शताब्दी ई० पू० के प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि का यह मत उल्लेखनीय है कि वेद का अर्थ तो शाश्वत है, परन्तु उसके शब्दों का क्रम शाश्वत नहीं है। "क्या यह नहीं कहा गया है कि वेदों की किसी ने रचना नहीं की, बल्कि वे नित्य हैं? ठीक है; परन्तु उनका अर्थ नित्य है, उनके शब्दों का क्रम नहीं।"[1]

अब हम मीमांसा के ज्ञानविषयक सिद्धान्त की चर्चा करते हैं। कुमारिल और प्रभाकर दोनों ही-बाह्यार्थवादी हैं। कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जो अपने अनुरूप किसी वस्तु के बाह्य अस्तित्व की ओर इशारा न करे।[2] स्वतःप्रामाण्यवाद के अनुसार प्रत्येक ज्ञान सत्य माना गया है और उसकी परीक्षा की आवश्यकता केवल तभी बताई गई है जब उसकी सत्यता के बारे में संशय हो। *केवल एक प्रकार का ज्ञान स्वतःप्रमाण नहीं माना गया है* और वह है स्मृति। भाट्ट मत में नवीनता को प्रामाण्य का एक आवश्यक लक्षण बताया गया है और इसलिए स्मृति प्रमाण नहीं है।[3] प्रमाण को न केवल बाद में होने वाले किसी ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसकी वस्तु ऐसी भी होनी चाहिए जो पहले से ज्ञात न हो (अनधिगत)। प्रभाकर इस शर्त को नहीं मानता, क्योंकि ज्ञान की वस्तु चाहे पहले से ज्ञात हो या न हो, वह यदि 'अनुभूति' है, तो उसके मत से प्रमाण है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, तथाकथित भ्रम भी इस शर्त को पूरा करता है। इसके बावजूद प्रभाकर स्मृति को अनुभूति से भिन्न मानता है, क्योंकि स्मृति किसी पिछली अनुभूति के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान होने के कारण मौलिक ज्ञान नहीं है।[4] यदि अनुभूति सदा स्वरूपतः प्रमाण है, तो पूछा जा सकता है कि भ्रम क्यों होता है। इस प्रश्न का उत्तर कुमारिल और प्रभाकर ने बहुत भिन्न तरीकों से दिया है और उनके भ्रम-विषयक सिद्धान्त क्रमशः विपरीतख्याति और अख्याति के नाम से प्रसिद्ध हैं। अच्छा यह होगा कि पहले अख्याति का वर्णन किया जाए और बाद में अख्याति से वैषम्य दिखाते हुए विपरीतख्याति का वर्णन किया जाए।

1. 4.3.101।
2. देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 217, श्लो० 3; प्रकरणपंचिका, 4.66।
3. शास्त्रदीपिका, पृ० 45; श्लोकवार्तिक, पृ० 431, श्लो० 104-6।
4. प्रकरणपंचिका, पृ० 42-3, 127

(1) अख्याति—'ख्याति' शब्द का अर्थ ज्ञान है और 'अख्याति' शब्द, जिसका सीधा अर्थ 'ज्ञान का अभाव' है, प्रभाकर के सिद्धान्त के लिए इस अर्थ में प्रयुक्त होता है कि उसके अनुसार भ्रम एक ज्ञान[1] नहीं है, बल्कि दो ज्ञानों का योग है। जब शुक्तिका को भ्रमवश रजत मान लिया जाता है और हम अपने मन में कहते है कि 'यह रजत है', *तब 'यह' का और साथ ही शुक्तिका* की उन विशेषताओं का जो रजत में भी विद्यमान रहती हैं, वास्तव में प्रत्यक्ष होता है। इन विशेषताओं का ज्ञान हमारे मन में किसी पिछले अनुभव के संस्कार को जगा देता है और हमें रजत का स्मरण हो जाता है। इस तथाकथित भ्रम में वस्तुतः दो ज्ञान हैं—पहले प्रत्यक्ष होता है और उसके तुरन्त बाद स्मरण। पहला ज्ञान अपने-आप में तो सही है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। उसका विषय 'यह' बाद में होनेवाले ज्ञान से बाधित नहीं होता, क्योंकि भ्रम का पता चलने पर भी हम यही कहते हैं कि 'यह शुक्तिका है।' निश्चय ही दूसरे ज्ञान के बारे में यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका विषय, रजत, वहाँ नहीं पाया जाता। लेकिन यह तो उसका स्वाभाविक स्वरूप है, क्योंकि वह स्मृति है—हालाँकि उस समय उसके स्मृति होने का ध्यान नही रहता (स्मृति-प्रमोष)[2]—*और इसलिए अपने विषय का उस समय अस्तित्व नहीं बताता।* इस प्रकार पहला ज्ञान सत्य होने का दावा करता है और यह दावा उचित भी है; और दूसरा ज्ञान सत्य होने का दावा करता ही नहीं। वास्तव में प्रभाकर यह स्वीकार नहीं करता कि ज्ञान कभी अपने तार्किक स्वरूप के विपरीत दावा कर सकता है; और इसलिए भ्रम का साधारणतः जो अर्थ समझा जाता है उस अर्थ में वह भ्रम नहीं मानता। तथाकथित भ्रम में हम इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि दो ज्ञान हैं,[3] और इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि हमें उनके विषयों की पृथक्ता का ध्यान नहीं रहता। लेकिन ज्ञान का अभाव अकेला 'भ्रम' का कारण नही है; क्योंकि अगर ऐसा होता तो सुषुप्ति में,[4]

---

1. प्रयोग तो 'संवित्' का उचित है, लेकिन प्रमाण और भ्रम की चर्चा में शब्दावली को एकरूप रखने के लिए दोनों सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हम 'ज्ञान' का प्रयोग कर रहे हैं।
2. प्रभाकर के अनुसार स्वप्न स्मृति है, लेकिन जिस समय स्वप्न होता है उस समय यह चेतना नहीं रहती कि वह स्मृति है। देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 179।
3. प्रत्यभिज्ञा में भी प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों के अंश रहते हैं, परन्तु उसमें स्मृतिमूलक अंश का ज्ञाता को बोध रहता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा शुक्तिरजतज्ञान से भिन्न है। देखिए, शास्त्रदीपिका, पृ० 45
4. प्रकरणपंचिका, 4.5

जिसमें ज्ञान का अभाव रहता है, भी भ्रम होता। इसलिए भ्रम की उत्पत्ति का कारण इस अभावात्मक कारक का पहले उल्लिखित भावात्मक कारक, अर्थात् शुक्तिका और रजत में समान रूप से पाए जानेवाले लक्षणों से विशिष्ट 'यह' का प्रत्यक्ष, के साथ सक्रिय होना है। अतः जिसे साधारणतः भ्रम माना जाता है उसे अपूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है। लेकिन उसे अपूर्ण ज्ञान कहते हुए हमें विशेष रूप से यह ध्यान रखना चाहिए कि वह एक ज्ञान नहीं है। एक अन्य उदाहरण लीजिए : यदि लाल रंग के फूल के पास सफ़ेद स्फटिक रखा हो, तो भ्रमवश उसे लाल स्फटिक माना जा सकता है। यहाँ भी दो ज्ञान हैं। एक सच्चे रंग के बिना स्फटिक का प्रत्यक्ष ज्ञान है और दूसरा फूल की लालिमा मात्र का संवेदन। इनमें से प्रत्येक ज्ञान अपने-अपने स्थान में सही है और पिछले उदाहरण के विपरीत यहाँ दोनों ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त हैं। पहले उदाहरण की तरह यहाँ भी ये ज्ञान सम्बन्धित वस्तुओं, स्फटिक और फूल, के बारे में आंशिक सूचना देते हैं; लेकिन यहाँ पहले उदाहरण की तरह वस्तुओं का सादृश्य नहीं बल्कि उनका एक-दूसरी के निकट रहना भ्रम का कारण है। इसके अलावा, यहाँ एक के बजाय दो वस्तुएँ मूर्त रूप में सामने मौजूद हैं और जिन विशेषताओं का ज्ञान होता है वे उनकी अलग-अलग विशेषताएँ हैं, सामान्य विशेषताएँ नहीं। लेकिन पहले की तरह यहाँ भी दो ज्ञानों के और उनकी दो वस्तुओं के अन्तर का ज्ञान नहीं होता और इसलिए हमें भ्रम का होना कहा जाता है। यहाँ भी अख्यातिवाद के अनुसार भ्रम होने के दो हेतु हैं, जिनमें से एक भावात्मक है और दूसरा अभावात्मक—एक सामने रखी हुई चीज़ों का आंशिक ज्ञान है और दूसरा उनके भेद को न देख पाना है।[1]

(2) विपरीत ख्याति[2]—कुमारिल भी यह मानता है कि ज्ञान सर्दैव अपने से बाहर किसी चीज़ के अस्तित्व की ओर संकेत करता है। उदाहरणार्थ, शुक्ति-रजत में कोई वस्तु, 'यह', आँखों के सामने बाहर होती है; लेकिन रजत वहाँ नहीं होता। फिर भी, इस कारण यह नहीं मान लेना चाहिए कि रजत काल्पनिक या असत् है, क्योंकि इसका विचार किसी पिछले अनुभव से सूझा होता है और इसलिए अन्त में किसी बाह्यार्थ से ही जुड़ा होता है। पिछले मत की तरह यह मत भी भ्रम की वस्तु को दो भागों में बाँट देता है, जिनमें से एक 'यह' (विषय) है और दूसरा उसके अस्तित्व का प्रकार है, तथा दोनों की अलग-अलग तरह से व्याख्या करता है। पिछले मत की तरह यहाँ भी भ्रम के

1. पिछले अध्याय में वर्णित सांख्य के पुराने मत से तुलना कीजिए।
2. श्लोकवार्तिक, पृ० 242-6; शास्त्रदीपिका, पृ० 58-9।

दूर होने पर 'यह' का बाध नहीं माना गया है; और दूसरे भाग की भी स्मरणरूप नहीं व्याख्या की गई है। यद्यपि रजत इस समय सामने के स्थान में नहीं है, तथापि उसका पहले कभी अनुभव हुआ होगा, क्योंकि अन्यथा शुक्ति में उसका आरोप बिलकुल किया ही नहीं जा सकता था। इन दोनों मतों में अन्तर यह है कि अख्याति के अनुसार तो भ्रम का कारण इस तथ्य का ध्यान में न आना है कि अनुभूतांश और स्मृतांश परस्पर बिलकुल पृथक् हैं (असंसर्गाग्रह), जबकि विपरीतख्याति के अनुसार उसका कारण इन दो अंशों को परस्पर मिला देना है (संसर्गग्रह)। अख्यातिवाद भ्रम का, यदि इस शब्द का प्रयोग उचित हो तो, कारण अज्ञान को मानता है, क्योंकि उसमें प्रस्तुत वस्तु की कोई आवश्यक विशेषता ज्ञात होने से रह जाती है। इसलिए बाद में उसकी जानकारी होने का मतलब यह नहीं होता कि पहले से ज्ञात कोई विशेषता छोड़ देनी होगी। विपरीतख्यातिवाद में भ्रम का कारण विपरीत ज्ञान है, क्योंकि उसमें ऐसी बातें भी शामिल रहती हैं जिनका प्रस्तुत वस्तु में अभाव होता है। दूसरे शब्दों में यहाँ भ्रम में दो ज्ञानों के बजाय एक ज्ञान माना गया है। फलतः उसमें उद्देश्य और विधेय सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, जबकि वास्तव में वे असम्बन्धित होते हैं। लाल स्फटिक के उदाहरण में भी दो सम्बन्धी, स्फटिक और लाल रंग प्रस्तुत हैं, लेकिन वास्तव में संयुक्त न होने के बावजूद वे भ्रम में संयुक्त प्रतीत होते हैं। इसके परिणामस्वरूप फूल का लाल रंग स्फटिक से अलग न रहकर स्फटिक में दीख पड़ता है और उसे जैसा वह वास्तव में है उससे भिन्न (विपरीत) दिखाता है।[1] यह मत पिछले मत की अपेक्षा निस्सन्देह अनुभव से अधिक मेल रखता है, क्योंकि भ्रम में वस्तु एक संश्लिष्ट चीज के रूप में अनुभूत होती है। परन्तु इसमें एक सैद्धान्तिक कठिनाई ज्ञान की अन्तर्वस्तु में विचार के अंश को शामिल कर देने से आ गई है। अख्यातिवाद भले ही सही न लगे, पर वह भ्रम में विचार का कोई अंश न मानकर अपने आधारभूत यथार्थवादी अभ्युपगम के प्रति सच्चा बना रहता है। ज्ञान प्रस्तुत वस्तु की अपर्याप्त जानकारी भले ही न दे, परन्तु वह उसके बाहर कदापि नहीं जाता। इसके विपरीत यहाँ ज्ञान

1. अनुषंगतः इससे 'विपरीतख्याति' नाम देने का कारण स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है 'विपरीत दिखाई देना'। देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 243, श्लोक 117 और पृ० 312, श्लोक 160 (टीका)। भाट्ट-मत को सामान्यतः न्याय-वैशेषिक-मत से एक समझा जाता है। निस्सन्देह दोनों में काफी समानता है, लेकिन विस्तार की बातों में अन्तर भी है। उदाहरणार्थ, भाट्ट अलौकिक प्रत्यक्ष को नहीं मानता, जोकि शुक्ति-रजत जैसे भ्रमों की न्याय-वैशेषिक व्याख्या के लिए आवश्यक है।

गए थे।[1] दूसरे शब्दों में, भ्रम के पता लगने का प्रभाव चेतना के प्रतिक्रियात्मक पक्ष पर दिखाई देता है, उसके ग्रहणात्मक पक्ष पर नहीं। विपरीतख्याति के अनुसार भी भ्रम का पता लगना क्रिया को रोक देता है; लेकिन इसे उसका दूरस्थ प्रभाव समझा गया है। और तात्कालिक प्रभाव वस्तु के प्रति हमारी ज्ञानात्मक अभिवृत्ति मे परिवर्तन होना माना गया है। इस परिवर्तन का हमारे व्यवहार पर जो भी प्रभाव होगा वह उसके बाद ही होगा। इस प्रकार कुमारिल का ज्ञान के प्रति निष्पक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है; और प्रभाकर का दृष्टिकोण अर्थक्रियावादी है।

भाट्ट सम्प्रदाय के मीमांसक छः प्रमाण मानते हैं, जबकि अन्य मीमांसक केवल पाँच मानते हैं—

(1) प्रत्यक्ष—इसका पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

(2) अनुमान—इस विषय पर मीमांसा का न्याय-वैशेषिक से सामान्यतः मतैक्य है, जैसे, व्याप्ति के मामले में। लेकिन कुछ बातों मे मतभेद भी है। ऐसी बातों की ओर मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों के अनुमान-विषयक आपसी मतभेदों की चर्चा करना हमें अपने उद्देश्य से बहुत भटका देगा।

(3) शब्द[2]—मीमांसा में इस प्रमाण का स्थान पहले ही बताया जा चुका है और अब इस विषय में मीमांसा के दो सम्प्रदायों के एक या दो महत्त्वपूर्ण मतभेदों को बता देना बाकी रह जाता है। भाट्ट सम्प्रदाय के विपरीत प्राभाकर सम्प्रदाय शब्द-प्रमाण के बारे मे प्राचीनतम मत का अनुयायी प्रतीत होता है (पृ० 178)। वह शब्द के अन्तर्गत केवल वेद को मानता है और शब्द के अन्य रूपों को अनुमान मात्र मानता है (पृ० 256)।[3] कुमारिल के अनुसार वाक्य सिद्धवस्तु-विषयक हो सकता है और साध्यवस्तु-विषयक भी। उदाहरणार्थ, "अगले कमरे में फल रखे हैं", यह वाक्य पहले प्रकार का, यानी तथ्य-विषयक है, जबकि "गाय लाओ", यह वाक्य दूसरे प्रकार का, यानी किसी काम को करने के लिए कहने वाला है। इस प्रकार वाक्यों के दो प्रकार के अर्थ मानते हुए भी कुमारिल वेद को केवल साध्यविषयक मानता है।[4] प्रभाकर यह मानने से इन्कार करता है कि वाक्य, चाहे वे वैदिक हों चाहे

1. जहाँ भ्रम व्यवहार को रोक देता है, वहाँ सचाई का ज्ञान हमें व्यवहार में प्रवृत्त करता है।
2. शास्त्रदीपिका, पृ० 72-3; प्रकरणपंचिका, पृ० 87 इत्यादि।
3. देखिए, प्रकरणपंचिका, पृ० 94।
4. जैमिनि-सूत्र, 1.2.1-18।

लौकिक, कभी सिद्ध वस्तुओं मात्र के बारे में कह सकते हैं, और ज्ञान के बारे में उसने जो अर्थक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाया है उससे संगति रखते हुए वह वाक्यों को केवल साध्यार्थक मानता है। सभी वाक्य व्यावहारिक जीवन की परिस्थितियों के प्रसंग में कहे जाते हैं और इसलिए उनका अन्तिम अर्थ कार्य होता है। इस विषय में इन दो विचारकों के बीच जो भी मतभेद हो, हम देखते हैं कि कार्य को वेद का अन्तिम अर्थ मानने में वे सहमत हैं। वे कहते हैं कि वेद में जो सिद्धवस्तु-विषयक वाक्य पाए जाते हैं उनका पूरा अर्थ केवल तभी प्रकट होगा जब उनका अर्थ उस प्रसंग-विशेष में पाए जाने वाली किसी उपयुक्त विधि (या निषेध) से उन्हें जोड़कर किया जाए जिसमें उनका प्रयोग हुआ है। वेद का 'विधि' और 'अर्थवाद' (व्याख्यात्मक विमरण), इन दो मोटे भागों में जो विभाजन सर्वविदित है वह इसी मत पर आधारित है। तदनुसार अर्थवाद की, जिसमें अतीत या वर्तमान तथ्यों का वर्णन करनेवाले वाक्य शामिल हैं, कोई स्वतन्त्र तार्किक स्थिति नहीं है और इसलिए उसे विधि-भाग के वाक्यों का पूरक समझना चाहिए। विधि के पूरक के रूप में अर्थवाद उसकी स्तुति करता है जिसे करने को कहा गया है और निषेध के पूरक के रूप में वह उसकी निन्दा करता है जिसे न करने को कहा गया है।[1] वेदविषयक इस मत के अनुसार 'तत्त्वमसि' जैसे अविधिपरक उपनिषद्-वाक्यों का भी वेद के विधिपरक वाक्यों के प्रसंग में अर्थ करना होगा। इस बात पर हम वेदान्त के अध्याय में फिर चर्चा करेंगे।

(4) उपमान[2]—नैयायिक की तरह मीमांसक भी इस मत का विरोध करता है कि उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है और इसे पूर्णतः या अंशतः अन्य प्रमाणों में से एक या दूसरे के अन्तर्गत लाया जा सकता है। परन्तु मीमांसा में उपमान की धारणा न्याय की धारणा से बिलकुल भिन्न है। पाठक को याद होगा कि न्याय के अनुसार उपमान का विषय केवल शब्द और उसके अर्थ का, जो कुछ विशेष परिस्थितियों में सीखा जाता है, सम्बन्ध है (पृ० 258)।

---

1. इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण यह है : यजुर्वेद (2.1.1.1) में एक विधि है, "वायु को श्वेत (पशु) की बलि दे"। इसी प्रसंग में एक सिद्धार्थक वाक्य यह आया है कि "वायु सबसे तीव्रगामी देवता है"। यह वाक्य वायु की स्तुति करता है और उपयुक्त सिद्धान्त के अनुसार इसका पहले वाक्य से मिलाकर अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार अर्थ करने पर प्रकट होता है कि इस बलि को देना अच्छा है, क्योंकि इसका फल शीघ्र मिलेगा।
2. शास्त्रदीपिका, पृ० 74-6; प्रकरणपंचिका, पृ० 110-12।

मीमांसा में उपमान सादृश्य से सादृश्य का ज्ञान है। जब कोई व्यक्ति, जो गाय से परिचित है, अकस्मात् गवय को सामने देखता है और गवय को गाय के सदृश् पाता है, तब वह यह भी जान लेता है कि गाय गवय के सदृश् है। यह दूसरा सादृश्य, अथवा अधिक सही यह कहना होगा कि स्मृत गाय का इस दूसरे सादृश्य से विशिष्ट होना, ही उपमान का प्रमेय है। उपमान की यह धारणा निश्चय ही उसे अनुमान में समाविष्ट होने के योग्य बना देती है। लेकिन मीमांसक अपनी स्थिति को बचाने के लिए यह तर्क देता है कि यहाँ व्याप्ति की आवश्यकता नहीं है जबकि अनुमान के लिए वह आवश्यक होती है। यहाँ व्याप्ति यह हुई होती : यदि एक वस्तु, ब, एक अन्य वस्तु, अ, के सदृश् है, तो अ ब के सदृश् है। एक सामान्य सत्य की अभिव्यक्ति के रूप में इसका ज्ञान होने के लिए अ और ब का एक साथ अवलोकन आवश्यक है। लेकिन उपमान में यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जिसने दो सदृश् वस्तुओं को पहले कभी एक साथ नहीं देखा, बल्कि पहले गाय को देखा है और बाद में ऊपर कहे तरीके से गवय को देखा है, वह भी विवादाधीन निष्कर्ष को जान लेगा। यहाँ तत्त्वमीमांसीय महत्त्व की बात यह है कि अ से ब के सादृश्य को ब से अ के सादृश्य से भिन्न माना गया है।

(5) अर्थापत्ति[1]—जिस बात का अनुभव से विरोध प्रतीत होता हो, उसकी उपपत्ति के लिए किसी बात का अभ्युपगम कर लेना अर्थापत्ति है और इसलिए इसका स्वरूप प्राक्कल्पना का जैसा है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उस बात को व्यक्त कर देना है जो ऐसे दो तथ्यों में पहले से निहित है जो समुचित रूप से सत्यापित होने के बावजूद भी परस्पर असंगत लगते हैं। जैसे, यदि हम जानते हैं कि देवदत्त जीवित है, पर उसे हम घर के अन्दर नहीं पाते, तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह अन्यत्र कहीं होगा। अर्थापत्ति का एक अन्य प्रसिद्ध उदाहरण उस व्यक्ति का है जो दिन में न खाने के बावजूद भी मोटा-ताजा बना रहता है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह रात में खाता होगा। यह स्पष्टतः ज्ञात से अज्ञात को जानने का एक वैध तरीका है, लेकिन यह अनुमान से भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसलिए नैयायिक इत्यादि कुछ लोग इसका अनुमान में अन्तर्भाव कर देते हैं और इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। इसकी स्वतन्त्रता के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है : यहाँ निष्कर्ष को अनुमान से प्राप्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ हेतु है ही नहीं। पहले उदाहरण में 'जीवित होना' अकेला हेतु का काम

1. शास्त्रदीपिका 76-83; प्रकरणपंचिका, पृ० 113-18।

: 3 :

मीमांसक बाह्यार्थवादी है और उसके बाह्यार्थवाद में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। उदाहरणार्थ, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के विपरीत वह नित्य द्रव्यों के अस्तित्व को मानता है। ये गुणों के अधिष्ठान हैं, न कि क्षणिक ऐन्द्रिय दत्तों के समूह मात्र। यहाँ तक मीमांसा का न्याय-वैशेषिक से मतैक्य है। परन्तु उसका उससे मतभेद भी है। पहले हम भाट्ट-मत का उससे मतभेद बताते हैं। भाट्ट नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं मानता। इसके बजाय वह परिवर्तन के सिद्धान्त को मानता है। *प्रत्येक द्रव्य नित्य है और रूप तथा गुणों के बदलने पर भी* वही बना रहता है। सामने हम जिस मिट्टी को देखते हैं वह कभी घड़े का और कभी तश्तरी का आकार ग्रहण कर सकती है; वह इस समय भूरी और बाद में लाल हो सकती है। लेकिन इन सब रूपान्तरों में उपादान वही बना रहता है। द्रव्य स्थायी होता है; केवल उसके रूप ही आगमापायी होते हैं।[1] दूसरे शब्दों में, कुमारिल इस मत का निषेध करता है कि वस्तुएँ बिलकुल ही भेदशून्य हैं और बिलकुल एक-जैसी बनी रहती हैं।[2] वास्तविकता के बारे में यह धारणा सामान्य रूप से सांख्य-योग की धारणा से मिलती-जुलती है। यह परिणामवाद है, और यहाँ उपादान-कारण और कार्य का सम्बन्ध वहाँ की तरह ही भेदाभेद माना गया है। दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि यहाँ परिवर्तनशील द्रव्यों को अन्त में एक नहीं, बल्कि अनेक माना गया है। अनुषंगतः, एक अन्य अन्तर यह भी है कि कुमारिल परिणाम की धारणा को आत्मा में भी लागू कर देता है, जबकि सांख्य आत्मा को नितान्त अपरिणामी और निष्क्रिय मानता है। भौतिक जगत् में *परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। यह परिवर्तन न कभी शुरू* हुआ और न कभी समाप्त होगा। मीमांसा जगत् की सृष्टि और प्रलय को नहीं मानती।[3] कुमारिल कहता है कि जगत् कभी अन्यथा नहीं था (न कदाचिद् अनीदृशं जगत्)। वस्तुएँ निस्सन्देह आती-जाती रहती हैं; परन्तु इसकी व्याख्या वास्तविकता की स्वपरिणामिता से हो जाती है। जगत् में जो भी परिवर्तन किसी समय होता है उसकी प्रेरणा उस समय के जीवों के पिछले कर्मों से मिलती है। फलतः ईश्वर की धारणा के लिए इस तन्त्र में कोई स्थान नहीं रह जाता।[4] सबसे बड़ा आस्तिक होने का दावा करनेवाले दर्शन का निरीश्वरवादी होना

1. श्लोकवार्तिक, पृ० 443, श्लो० 32-3।
2. वही, पृ० 476, श्लो० 12।
3. वही, पृ० 673, श्लो० 113।
4. इसमें पौराणिक देवताओं का भी निषेध किया गया है। यज्ञों में जिन देवताओं को हवि दी जाती है उन्हें असली नहीं बल्कि कल्पित माना गया है। देखिए, पृ० 34।

वस्तुतः विचित्र लगता है। पूरे मीमांसा-मत को यदि एक शब्द मे व्यक्त किया जाए तो उसे शुद्ध इन्द्रियानुभववाद कहा जा सकता है।[1] केवल यह बात अपवादस्वरूप है कि यह इस लोक के अलावा परलोक को भी मानता है और श्रुति को भी प्रमाण मानता है। साधारण अनुभव के क्षेत्र में यह इतिहास में ज्ञात सभी प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को पछाड़ देता है। वास्तव में मीमांसा-दर्शन पर उसके विकास के कम-से-कम एक चरण में पूरी तरह भौतिकवादी होने का आरोप लगाया गया था।[2]

मीमांसा बहुवादी भी है और भौतिक जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों को मानती है।[3] कुमारिल का सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक के सभी नौ द्रव्यों को मानता है और उनके बारे मे लगभग वैसा ही मत रखता है। इनके अलावा 'तमस्' और 'शब्द', ये दो द्रव्य भी माने गए हैं।[4] काल प्रत्यक्षगम्य है[5] और सभी अनुभवों में, चाहे जिस इन्द्रिय से वे हों, काल का अनुभव शामिल माना गया है। लेकिन काल का स्वतः अनुभव नहीं हो सकता, बल्कि सदैव किसी अन्य वस्तु के विशेषण के रूप में होता है। केवल मनस् को छोड़कर अन्य द्रव्यों को भी प्रत्यक्षगम्य माना गया है। मनस् का परोक्षतः ज्ञात होना माना गया है।[6] न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर[7] तमस् को प्रकाश का अभाव मानते हैं। इसके विपरीत कुमारिल का तमस् को द्रव्य मानना विचित्र-सा लगता है। तर्क यह दिया गया है कि तमस् में रूप और गति पाए जाते हैं, जो केवल द्रव्यों में ही हो सकते हैं। लेकिन यह तर्क इतना अधिक अदार्शनिकोचित है कि स्वीकार नहीं किया जा सकता। शालिकनाथ ने इसे 'अभ्युत्पन्न' कहा है। यह तर्क भी कि तमस् अभाव नहीं हो सकता क्योंकि उसका प्रतियोगी प्रकाश है, पहले-जितना ही अविश्वसनीय है। इन द्रव्यों में से प्रथम चार और तमस् को परमाणुमय माना गया है और आत्मा-सहित शेष द्रव्यों को विभु और नित्य माना गया है। 'परमाणु' से यहाँ किसी अतीन्द्रिय सत्ता का तात्पर्य नहीं है, जैसा कि वैशेषिक में माना गया है, बल्कि सूर्य के प्रकाश मे दिखाई देने वाले

1. 'यथा संदृश्यते तथा'—श्लोकवार्तिक, पृ० 552, श्लो० 29।
2. श्लोकवार्तिक, पृ० 4, श्लो० 10।
3. 'विलक्षणस्वभावत्वात् भावानाम्'—शास्त्रदीपिका, पृ० 102।
4. मानमेयोदय, पृ० 66।
5. शास्त्रदीपिका, पृ० 45-6।
6. मानमेयोदय, पृ० 66।
7. वही, पृ० 68; प्रकरणपंचिका, पृ० 144 इत्यादि।

: 3 :

मीमांसक वाह्यार्थवादी है और उसके वाह्यार्थवाद मे अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। उदाहरणार्थ, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के विपरीत वह नित्य द्रव्यों के अस्तित्व को मानता है। ये गुणों के अधिष्ठान हैं, न कि क्षणिक ऐन्द्रिय दत्तों के समूह मात्र। यहाँ तक मीमांसा का न्याय-वैशेषिक से मतैक्य है। परन्तु उसका उससे मतभेद भी है। पहले हम भाट्ट-मत का उससे मतभेद बताते हैं। भाट्ट नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं मानता। इसके बजाय वह परिवर्तन के सिद्धान्त को मानता है। प्रत्येक द्रव्य नित्य है और रूप तथा गुणों के बदलने पर भी वही बना रहता है। सामने हम जिस मिट्टी को देखते हैं वह कभी घड़े का और कभी तश्तरी का आकार ग्रहण कर सकती है; वह इस समय भूरी और बाद में लाल हो सकती है। लेकिन इन सब रूपान्तरों मे उपादान वही बना रहता है। द्रव्य स्थायी होता है; केवल उसके रूप ही आगमापायी होते हैं।[1] दूसरे शब्दों मे, कुमारिल इस मत का निषेध करता है कि वस्तुएँ बिलकुल ही भेदशून्य हैं और बिलकुल एक-जैसी बनी रहती हैं।[2] वास्तविकता के बारे में यह धारणा सामान्य रूप से सांख्य-योग की धारणा से मिलती-जुलती है। यह परिणामवाद है, और यहां उपादान-कारण और कार्य का सम्बन्ध वहाँ की तरह ही भेदाभेद माना गया है। दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि यहाँ परिवर्तनशील द्रव्यो को अन्त मे एक नही, बल्कि अनेक माना गया है। अनुषगत:, एक अन्य अन्तर यह भी है कि कुमारिल परिणाम की धारणा को आत्मा मे भी लागू कर देता है, जबकि सांख्य आत्मा को नितान्त अपरिणामी और निष्क्रिय मानता है। भौतिक जगत् मे परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। यह परिवर्तन न कभी शुरू हुआ और न कभी समाप्त होगा। मीमांसा जगत् की सृष्टि और प्रलय को नही मानती।[3] कुमारिल कहता है कि जगत् कभी अन्यथा नही था (न कदाचिद् अनीदृशं जगत्)। वस्तुएँ निस्सन्देह आती-जाती रहती हैं; परन्तु इसकी व्याख्या वास्तविकता की स्वपरिणामिता से हो जाती है। जगत् मे जो भी परिवर्तन किसी समय होता है उसकी प्रेरणा उस समय के जीवों के पिछले कर्मों से मिलती है। फलतः ईश्वर की धारणा के-लिए इस तन्त्र मे कोई स्थान नही रह जाता।[4] सबसे बड़ा आस्तिक होने का दावा करनेवाले दर्शन का निरीश्वरवादी होना

1. श्लोकवार्तिक, पृ० 443, श्लो० 32-3।
2. वही, पृ० 476, श्लो० 12।
3. वही, पृ० 673, श्लो० 113।
4. इसमें पौराणिक देवताओं का भी निषेध किया गया है। यज्ञों में जिन देवताओं को हवि दी जाती है उन्हें असली नहीं बल्कि कल्पित माना गया है। देखिए, पृ० 34।

वस्तुतः विचित्र लगता है । पूरे मीमांसा-मत को यदि एक शब्द में व्यक्त किया जाए तो उसे शुद्ध इन्द्रियानुभववाद कहा जा सकता है ।[1] केवल यह बात अपवादस्वरूप है कि यह इस लोक के अलावा परलोक को भी मानता है और श्रुति को भी प्रमाण मानता है । साधारण अनुभव के क्षेत्र में यह इतिहास में ज्ञात सभी प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को पछाड़ देता है । वास्तव में मीमांसा-दर्शन पर उसके विकास के कम-से-कम एक चरण में पूरी तरह भौतिकवादी होने का आरोप लगाया गया था ।[2]

मीमांसा बहुवादी भी है और भौतिक जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों को मानती है ।[3] कुमारिल का सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक के सभी नौ द्रव्यों को मानता है और उनके बारे में लगभग वैसा ही मत रखता है । इनके अलावा 'तमस्' और 'शब्द', ये दो द्रव्य भी माने गए हैं ।[4] काल प्रत्यक्षगम्य है[5] और सभी अनुभवों में, चाहे जिस इन्द्रिय से वे हों, काल का अनुभव शामिल माना गया है । लेकिन काल का स्वतः अनुभव नहीं हो सकता, बल्कि सदैव किसी अन्य वस्तु के विशेषण के रूप में होता है । केवल मनस् को छोड़कर अन्य द्रव्यों को भी प्रत्यक्षगम्य माना गया है । मनस् का परोक्षतः ज्ञान होना माना गया है ।[6] न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर[7] तमस् को प्रकाश का अभाव मानते हैं । इसके विपरीत कुमारिल का तमस् को द्रव्य मानना विचित्र-सा लगता है । तर्क यह दिया गया है कि तमस् में रूप और गति पाए जाते हैं, जो केवल द्रव्यों में ही हो सकते हैं । लेकिन यह तर्क इतना अधिक अदार्शनिकोचित है कि स्वीकार नहीं किया जा सकता । शालिकनाथ ने इसे 'अव्युत्पन्न' कहा है । यह तर्क भी कि तमस् अभाव नहीं हो सकता क्योंकि उसका प्रतियोगी प्रकाश है, पहले-जितना ही अविश्वसनीय है । इन द्रव्यों में से प्रथम चार और तमस् को परमाणुमय माना गया है और आत्मा-सहित शेष द्रव्यों को विभु और नित्य माना गया है । 'परमाणु' से यहाँ किसी अतीन्द्रिय सत्ता का तात्पर्य नहीं है, जैसा कि वैशेषिक में माना गया है, बल्कि सूर्य के प्रकाश में दिखाई देने वाले

1. 'यथा संदृश्यते तथा'—श्लोकवार्तिक, पृ० 552, श्लो० 29 ।
2. श्लोकवार्तिक, पृ० 4, श्लो० 10 ।
3. 'विलक्षणस्वभावत्वात् भावानाम्'—शास्त्रदीपिका, पृ० 102 ।
4. मानमेयोदय, पृ० 66 ।
5. शास्त्रदीपिका, पृ० 45-6 ।
6. मानमेयोदय, पृ० 66 ।
7. वही, पृ० 68; प्रकरणपंचिका, पृ० 144 इत्यादि ।

धूल के उस कण का है जो वैशेषिक के अनुसार त्र्यणुक है। परमाणु की वैशेषिक धारणा को कल्पना मात्र बताया गया है, लेकिन यह नहीं लगता कि उसका बिलकुल निषेध कर दिया गया हो।[1] परमाणुमय द्रव्यों से विभिन्न परिमाण वाली वस्तुओं की उत्पत्ति न्याय-वैशेषिक की तरह ही मानी गई है। अन्तर केवल इतना है कि उपादान-कारण और उसके कार्य के बीच समवाय के बजाय भेदाभेद या तादात्म्य का सम्बन्ध माना गया है, जो भाट्ट सत्कार्यवाद के अनुसार ही है। ये द्रव्य केवल विश्व के आधार-जैसे हैं। विश्व में कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं जिन्हे गुण, कर्म और सामान्य (या जाति), इन तीन वर्गों में रखा गया है। द्रव्य-सहित ये कुमारिल-तन्त्र के चार भाव-पदार्थ हैं। लेकिन यह याद रखने की बात है कि ये जिन द्रव्यों में पाए जाते हैं उनसे बिलकुल भिन्न नही हैं। इनका सम्बन्ध वही भेदाभेद[2] है और इस प्रकार 'पदार्थ' का अर्थ यहाँ बिलकुल वह नही है जो न्याय-वैशेषिक में है। कुमारिल की सूची में अभाव-पदार्थ भी शामिल है और इस प्रकार कुल पाँच पदार्थ हैं।[3] इनमें से पहले पदार्थ का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। केवल इतना कह देना हमारे प्रयोजन के लिए पर्याप्त होगा कि अन्यों के बारे में अधिकांशतः वही मत अपनाया गया है जो न्याय-वैशेषिक का है।

प्रभाकर के अनुयायी चार और भाव-पदार्थ मानते हैं, जिनमें से केवल समवाय की चर्चा काफी होगी। इसे मानने का मतलब भाट्ट तन्त्र में स्वीकृत भेदाभेद-सम्बन्ध का बिलकुल निषेध कर देना है।[4] फलतः द्रव्य और गुण, सामान्य और विशेष, उपादान-कारण और कार्य प्राभाकर तन्त्र में परस्पर बिलकुल भिन्न हो जाते हैं और सत्कार्यवाद के लिए गुंजाइश नहीं रहती। अतः इन दोनों तन्त्रों की वास्तविकता की धारणाओं में बहुत अन्तर आ जाता है। समवाय को मानने में प्रभाकर के अनुयायी न्याय-वैशेषिक के साथ हैं, लेकिन अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ न मानने से वे उससे अलग हो जाते हैं। अभाव के बारे में उनका मत यह है कि इसे सदैव किसी भाव-वस्तु की उपस्थिति के रूप में समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, किसी कमरे मे घड़े का अभाव खाली कमरा मात्र है; घड़े का प्रागभाव मिट्टी मात्र है, इत्यादि।[5] प्राभाकर तन्त्र में स्वीकृत आठ भाव-पदार्थों में द्रव्यों की संख्या न्याय-वैशेषिक की तरह नौ मानी गई है और उनकी

1. श्लोकवार्तिक, पृ० 404, श्लो० 183-4।
2. मानमेयोदय, पृ० 6।
3. वही, पृ० 65।
4. प्रकरणपंचिका, पृ० 27।
5. शास्त्रदीपिका, पृ० 83 इत्यादि।

धारणा प्रायः वही है जो यहाँ है।

: 4 :

मीमांसा के सैद्धान्तिक पक्ष में हमने तर्क पर आधारित बातों का सैद्धान्तिक बातों से जो मिश्रण देखा है वह उसके व्यावहारिक पक्ष में भी समान रूप से दिखाई देता है। साधारण नैतिकता का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक मीमांसा का दृष्टिकोण एकदम लौकिक है और वह अच्छाई का मतलब व्यवहार को चेतन या अर्धचेतन रूप से परोपकार मे समंजित करना मानती है। शबर ने कहा है कि प्याऊ खोलना इत्यादि पुण्य के काम परोपकार के लिए होते हैं और इसलिए अच्छे हैं; फिर भी वे धर्म नहीं हैं।[1] अर्थात्, मीमांसा आचरण को उपयोगिता की दृष्टि से आँकती है; लेकिन वह स्वार्थवादी नहीं है और, जैसा कि ऊपर दिये हुए शबर के उदाहरण से स्पष्ट है, वह नैतिकता को मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की सिद्धि मानती है। ऐसे सिद्धान्त पर आधारित नैतिक पद्धति से मिलती-जुलती पद्धतियों का नीतिशास्त्र के इतिहास में अभाव नहीं है। परन्तु मीमासा में अनोखापन यह है कि वह ऐसी नैतिकता को जीवन का सर्वोच्च आदर्श नही मानती। जैसे तत्त्वमीमांसा मे वैसे ही यहाँ भी वह एक और कार्यक्षेत्र मानती है जो अनुभवातीत है, और धर्म को केवल उसी तक सीमित रखती है। मीमांसक के अनुसार साधारण नैतिकता एक विशुद्ध लौकिक मामला है, जिससे केवल अल्पज्ञ ही इन्कार करेगा। सच्ची आध्यात्मिकता धर्म की बातों में ध्यान लगाने में यानी ऐसे कर्तव्यों को करने में निहित है जो परलोक में फल देते हैं। शायद ऐसा प्रतीत हो कि इस जीवन से ध्यान हटाकर आगामी जीवन पर ध्यान केन्द्रित करने से नैतिकता पृष्ठभूमि में चली जाएगी और मनुष्य की दृष्टि मे उसका महत्त्व गिर जाएगा। लेकिन ऐसी बात नहीं है। मीमांसा की यज्ञनिष्ठ जीवन की धारणा में सामान्य नैतिकता को बाहर नहीं रखा गया है; बल्कि उलटे उसे इसके ऊपर आधारित किया गया है। "वेद आचारहीन को पवित्र नहीं करते।"[2] नैतिक शुद्धता को सर्वोच्च आदर्श तो नहीं माना गया है, पर उसे धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन का पूर्वहेतु और उसका अनिवार्य सहचारी अवश्य माना गया है। कभी-कभी, जैसे यज्ञ में पशु की हत्या करने में, सामान्य नैतिक बुद्धि के आदेशों की उपेक्षा कर दी गई प्रतीत होती है। लेकिन ऐसे कामों को नियम के अपवाद मात्र

1. शबरभाष्य, 1.3.2।
2. आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः—शंकर द्वारा अपने वेदान्तसूत्र-भाष्य 3.1.10 में उद्धृत।

बताया गया है। इन कर्मों का औचित्य बताने के लिए दी गई व्याख्याएं चाहे जितनी अविश्वसनीय हों, यह मानना होगा कि सामान्यतः वेद जिन निष्कर्षों का समर्थन करता है वे नैतिक दृष्टि से बिलकुल अपवादहीन हैं। उदाहरणार्थ, हत्या को वेद स्पष्टतः निषिद्ध बताता है : न हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

जब धर्म का यह असाधारण अर्थ समझा जाता है, तब स्वभावतः उसके ज्ञान के लिए एक असाधारण प्रमाण की जरूरत होती है (पृ० 109-10)। वही प्रमाण वेद है।[1] सामान्य नैतिकता के बारे मे निर्णय का मानक तो मानवीय है, परन्तु धर्म के बारे मे मानक अतिमानवीय है। कुमारिल का कथन है कि धर्म और मोक्ष से सम्बन्धित बातें अलग हैं और वेद से जानी जाती हैं, जबकि अर्थ और काम से सम्बन्धित बातें लोकाचार से ज्ञात होती हैं।[2] धर्म और अधर्म के मामले में न केवल साधारण मानवीय अनुभव काम नही देता, बल्कि न्याय-वैशेषिक इत्यादि दर्शनों के द्वारा इस मामले में प्रमाण माना हुआ यौगिक प्रत्यक्ष भी काम नहीं देता। प्रभाकर ने धर्म और अधर्म को एक ही नाम, अपूर्व[3], दिया है, जो इनके अन्य प्रमाणों के द्वारा अग्राह्य होने (मानान्तरापूर्व) पर जोर देता है। प्रभाकर अपूर्व को यज्ञ इत्यादि कर्मों का फल मानता है, स्वयं वे कर्म नहीं, जैसा कि न्याय-वैशेषिक में माना गया है। उसका अपूर्व न्याय-वैशेषिक के पुण्य-पाप के तुल्य है। यह पुण्य-पाप की तरह आत्मा में समवेत माना गया है और इसलिए इसे उन बाह्य कर्मों से, जो इसे उत्पन्न करते हैं, पृथक् एक आन्तरिक विशेषता मानना चाहिए। कुमारिल के अनुसार स्वयं ये बाह्य कर्म ही धर्म-अधर्म हैं[4]—धर्म वह कर्म है जिसे करना अनिवार्य बताया गया है, जैसे यज्ञ, और अधर्म निषिद्ध कर्म है, जैसे सुरापान या पशु-हत्या, तथा विहित और निषिद्ध कर्म को जानने के लिए ही हम वेद की शरण लेते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्वय धर्म और अधर्म कहे जानेवाले कर्मों में कोई अलौकिकता नही है, तथापि उनका अलौकिक श्रेय का साधन होना मनुष्य की

1. जैमिनि-सूत्र, 1.1.2।
2. तन्त्रवार्तिक, 1.3.2।
3. प्रकरणपंचिका, पृ० 187, 195।
4. यागादिरेव धर्मः—शास्त्रदीपिका, पृ० 25-6। 'याग' शब्द का असली अर्थ वह संकल्प है जो यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने से पहले किया जाता है और इसलिए उसे 'त्याग' अर्थात् जो अपना है उसे दूसरे को देने में समाविष्ट वृत्ति-विशेष कहा गया है (यज्ञ के समय बोला जानेवाला मन्त्र, 'न मम' ध्यान देने योग्य है)। देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः (न्यायमालाविस्तर, 4.2.27-8)। इस अर्थ में धर्म निश्चय ही कर्ता की विशेषता माना जाएगा।

बुद्धि के द्वारा नही जाना जा सकता। इसी अर्थ में उन्हें मीमांसा मे केवल श्रुति के द्वारा ज्ञेय कहा गया है।

मीमांसा के दोनों ही सम्प्रदायों के अनुसार वेद से धर्म का ज्ञान होता है। वह वैदिक विधि या नियोग का विषय है। मीमासा का सिद्धान्त यह है कि कर्म वेद का अन्तिम तात्पर्य है और तदनुसार विधि या नियोग किसी कर्म को करने का आदेश देता है, जो धर्म है। लेकिन दोनो सम्प्रदायो के बीच वैदिक आदेश के पालन के मूल में रहनेवाले प्रयोजन के बारे मे बहुत मतभेद है। वास्तव में इस प्रयोजन के प्रश्न ने ही मीमासकों को कई शिविरो मे विभक्त कर दिया है।[1] उन सबकी चर्चा करना जरूरी नही है।[2] हम केवल उक्त दो सम्प्रदायो के सामान्यतः स्वीकृत अन्तर को यहाँ बताएँगे। भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार वेद न केवल हमें धर्म और अधर्म की जानकारी देता है, बल्कि धर्म का अनुसरण करने और अधर्म से विरत होने से प्राप्त होनेवाले इष्ट फल, अर्थात् किसी विशेष सुख की प्राप्ति या किसी विशेष दुःख के परिहार की जानकारी भी देता है। ज्योतिष्टोम-यज्ञ के प्रायः दिए जानेवाले उदाहरण मे स्वर्ग को लक्ष्य माना गया है; हिंसा का निषेध नरक से बचने के लिए माना गया है। इस प्रकार भाट्ट-सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक की तरह केवल सुख और दुःख को अन्तिम अभिप्रेरक मानता है। कुमारिल ने एक तुल्य प्रसंग मे कहा है कि किसी प्रयोजन के बिना मूर्ख भी काम नही करता।[3] लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रयोजन नियोग मे शामिल रहता है और नियोग हमें सुख की प्राप्ति और दुःख के परिहार का आदेश देता है।[4] कल्याण की इच्छा मनुष्य के अन्दर स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है, और वेद इसे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार करके सुख की इष्टता या दुःख की अनिष्टता के बारे में कोई निर्णय नहीं देता। दूसरे शब्दों में, यहाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद को माना गया है, नैतिक मुखवाद को नही। लेकिन यह मानना होगा कि इस मत के अनुसार नियोग अपने को मनवाने के लिए कर्ता की स्वाभाविक इच्छा का उपयोग करता है। प्राभाकर-सम्प्रदाय वैदिक नियोग को प्रेरक शक्ति के लिए सुखवादी प्रयोजन की आवश्यकता को मानने मे सन्देह करता है। उसके

---

1. देखिए, तन्त्ररहस्य, अध्याय 4।
2. इस विषय का और एतत्सम्बन्धी अन्य बातों का विस्तृत विवेचन S. K. Maitra : Ethics of the Hindus (कलकत्ता यूनि॰ प्रेस) में किया गया है।
3. प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते—श्लोकवार्तिक, पृ॰ 653, श्लो॰ 55।
4. श्लोकवार्तिक, पृ॰ 125, श्लो॰ 266।

अनुसार[1] वेद इतना असमर्थ नहीं है कि अपने नियोगों को मनवाने के लिए किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा रखता हो। वह न किसी को ललचाता है और न भय दिखाता है; वह नियोग के प्रति आदरभाव को ही एकमात्र प्रयोजन मानकर चलता है। लेकिन वैदिक नियोग, जैसे 'यज्ञ करे (यजेत)', सब पर लागू नहीं होते। वे कुछ ही लोगों को सम्बोधित करते हैं, और उनमें पाए जानेवाले 'स्वर्गकाम' (स्वर्ग चाहनेवाला) जैसे शब्द उनका पालन करनेवाले को प्राप्त होने वाले किसी लाभ की ओर संकेत नहीं करते, जैसा कि भाट्ट-सम्प्रदाय के लोग मानते हैं, बल्कि केवल उन नियोज्यों का विशेष रूप से निर्देश करके, जिनका कर्तव्य वे नियोग बताते हैं, उन नियोगों के क्षेत्र को सीमित करते हैं।[2] किसी नियोग-विशेष का पालन केवल वे ही करेंगे जिन पर उसमें उल्लिखित विशेषण लागू होता हो। उन्हें कर्म में प्रवृत्त करानेवाली यह चेतना है कि उसे करना उनका कर्तव्य है (कार्यता-ज्ञान), यह आशा नहीं कि उनकी कोई इच्छा उस नियोग के अनुसरण से पूरी होगी (इष्टसाधकता-ज्ञान)[3]। तदनुसार नियोग के पालन से जो भी शुभ या अशुभ फल प्राप्त होगा उसे एक आनुषंगिक परिणाम माना गया है, न कि नियोग का पालन करने का साक्षात् लक्ष्य। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यहाँ यज्ञ से मिलनेवाले फल को भाट्ट-सम्प्रदाय की अपेक्षा और पीछे पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया है; परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से दोनों सम्प्रदायों का मत एक ही है, क्योंकि दोनों ही मानते हैं कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति होती है—उसका नाम वे चाहे जो बताएँ।[4] यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय महत्त्व की बात यह है कि दोनों ही सम्प्रदाय यह बताने की व्यग्रता प्रदर्शित करते हैं कि किसी लाभ की आशा या किसी दण्ड का भय दिलाना नियोग का आवश्यक लक्षण नहीं है और इसलिए वे वेद के मुख्य उपदेश से प्रतिफल के विचार को बाहर कर देते हैं, हालाँकि यज्ञों का एक-मात्र प्रयोजन शुरू में असन्दिग्ध रूप से प्रतिफल ही था।

यहाँ तक हमने काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों की बात कही है। ये कर्म सकाम नियोग के क्षेत्र में आते हैं और हम देख चुके हैं कि उनके प्रति भाट्ट-सम्प्रदाय और प्राभाकर-सम्प्रदाय के दृष्टिकोणों में व्यवहारतः कोई अन्तर नहीं

---

1. न्यायमंजरी, पृ० 350।
2. प्रकरणपंचिका, पृ० 191।
3. वही, पृ० 177 और 180।
4. इसे यहाँ 'फल' नहीं बल्कि 'नियोग-विशेषण' कहा गया है (प्रकरणपंचिका, पृ० 101)।

है। फिर भी दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है और यह सन्ध्या इत्यादि तीसरे प्रकार के यानी नित्य-कर्मों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, ये कर्म मीमांसा-दर्शन की नीति के आवश्यक अंग हैं। भाट्ट-सम्प्रदाय ने व्यवहार का आधार सुख-दुःख को माना है और तदनुसार ही वहाँ नित्य-कर्मों को एक लक्ष्य, दुरितक्षय (पिछले पापकर्मों के प्रभाव को नष्ट करना), का साधन माना गया है। साथ ही, नित्य-कर्मों को करते रहने से कर्ता उस पाप (प्रत्यवाय) से बचा रहता है जो उनकी उपेक्षा से निश्चित रूप से लगेगा।[1] दोनों ही मामलों मे उनके अनुष्ठान से कोई नवीन लाभ नहीं होता, फिर भी वे निष्प्रयोजन नही हैं। प्राभाकर-सम्प्रदाय के अनुसार ऐसे कर्मों का कोई भी फल नहीं होता और उनका केवल उन्ही के हेतु अनुष्ठान करना है। वे किसी साध्य के साधन न होकर स्वयं ही साध्य हैं।[2] भाट्ट-सम्प्रदाय के अनुसार तो नित्यकर्मों के रूप में भी धर्म केवल साधन-रूप मे ही महत्त्व रखता है, लेकिन इस सम्प्रदाय मे धर्म का अनुष्ठान स्वयं ही परम शुभ माना गया है और उसे अर्थ और काम अर्थात् लौकिक प्रयोजनों की समष्टि से निश्चित रूप से ऊँचा स्थान दिया गया है। यहाँ हम 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' की धारणा देखते हैं और उसे गीतोक्त निष्काम कर्म की धारणा से भी अधिक कठोर पाते हैं, क्योंकि 'आत्मशुद्धि' और 'ईश्वर के प्रयोजनों की पूर्ति' (पृ० 125) जैसे पवित्र प्रयोजनो तक का यहाँ निषेध कर दिया गया है तथा कर्तव्य को बिलकुल निष्काम भावना पर आधारित किया गया है। अतः धर्म का विधान करनेवाले नियम को यहाँ कांट के 'निष्काम नियोग' का समकक्ष कहा जा सकता है। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि यदि कोई ऐसे आदेशों का पालन न करे तो प्राभाकर-सम्प्रदाय के अनुसार उसे क्या दण्ड मिलेगा? इसका उत्तर हम तन्त्ररहस्य (पृ० 66), जो इस सम्प्रदाय के थोड़े-से प्रकाशित ग्रन्थों मे से एक है, के शब्दों मे देंगे :

> 'आप कहते हैं कि विधिलिङ् में 'तिङ्' प्रत्यय 'अपूर्व' का उपदेश करता है, जिसका धर्म के रूप मे अनुष्ठान करना है। उस अवस्था में धर्म मानते हुए भी शायद कोई उसका अनुष्ठान न करे, क्योंकि वह किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता।'
>
> 'काम्य कर्मों को भी, जिनका सप्रयोजन होना ज्ञात है, शायद कोई

1. शास्त्रदीपिका, पृ० 130।
2. 'अपूर्व' को सामान्य रूप में 'स्वयंप्रयोजनभूत' कहा गया है। देखिए, तन्त्ररहस्य, पृ० 70।

न करे। तो क्या किया जाए ? प्रमाण का काम अपने विषय को प्रकट करके समाप्त हो जाता है।'

'ठीक है। काम्य कर्मों के मामले में उनका अनुष्ठान न करने का मतलब उनके फल से वंचित रहना है और यही उसका दण्ड है। नित्य कर्मों के मामले में क्या दण्ड है ?'

'उस स्थिति में वेद के आदेश का पालन नहीं होगा।'

'इससे क्या हुआ ?'

'यह स्वयं ही दण्ड है, क्योंकि वैदिक आदेश का पालन करना स्वयं ही पुरुषार्थ है (सर्वोच्च मूल्य रखता है)। इन कर्मों को आधार मानते हुए हम कह सकते हैं कि जैसे इनमे वैसे ही काम्य-कर्मों के मामले में भी वेद के आदेश का पालन करना ही असली लक्ष्य है और तथाकथित फल आनुषंगिक मात्र है।'

'उनको न करना कैसे स्वयं दण्ड माना जा सकता है ?'

'इस प्रश्न का उत्तर वे शिष्ट लोग देंगे जो वेद के आदेश का पालन करनेवाले की प्रशंसा और उसका पालन न करनेवाले की निन्दा करते हैं। अथवा स्वयं अपना ही अन्तःकरण देगा, जो वेद मे निष्ठा न रखने से अपने को दोषी अनुभव करेगा।'

यहाँ हम देखते हैं कि पहले समुदाय की उत्कृष्ट बुद्धियों के निर्णय को और फिर स्वयं अपने ही अन्तःकरण को प्रमाण माना गया है।[1] परन्तु अन्तःकरण को यहाँ शुभाशुभ का स्वतन्त्र रूप से विवेक करानेवाला नहीं माना गया है, बल्कि धर्म का अन्य प्रमाण से ज्ञान होने के बाद उसका अनुसरण करने के लिए प्रेरित करनेवाला माना गया है। अन्तःकरण को मानने के बावजूद उचितानुचित की जानकारी एक बाह्य संहिता से मानी गई है। इस प्रकार धर्म के प्रमाण को अलग और उसके आचरण करने के लिए प्रेरित करनेवाली शक्ति को अलग मानने में यह धारणा गर्भित है कि मनुष्य न केवल स्वयं एक आध्यात्मिक सत्ता है बल्कि आध्यात्मिक सत्ताओं के समाज का एक सदस्य भी है।

स्पष्ट है कि एक महत्वपूर्ण बात मे मीमांसा का लक्ष्य अन्य दर्शनों के लक्ष्य से भिन्न होना चाहिए। उसे मोक्ष के बजाय धर्म के आदर्श का अनुसरण करना चाहिए—ऐसा चाहे उसे किसी साध्य के साधन के रूप में मानकर किया

1. इन दो व्याख्याओं में से पहली प्राभाकर-सम्प्रदाय के आदर्श से अधिक संगत लगती है; दूसरी गीतोक्त सत्त्वशुद्धि से शायद ही भिन्न लगे।

जाए, चाहे स्वयं साध्य मानकर किया जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इतिहास की एक अवस्था-विशेष में पहुँचने तक मीमांसा का यही आदर्श रहा। मीमांसा के विकास के उस प्रारम्भिक युग में धर्म, अर्थ और काम, केवल ये तीन ही पुरुषार्थ (त्रिवर्ग) माने गए थे और चौथे, मोक्ष, को छोड़ दिया गया था।[1] सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि धर्म अब भी कल्पसूत्रों का सर्वोच्च आदर्श बना हुआ है; लेकिन मीमांसा-दर्शन अपने वर्तमान रूप में इस आदर्श का लगभग पूर्णतया परित्याग कर चुका है और उसकी जगह पर मोक्ष के आदर्श को स्थापित कर चुका है। इस परिवर्तन का अर्थ अनेक वेद-विहित अनुष्ठानों को बिलकुल त्याग देना हो जाता है।[2] परन्तु यह परिवर्तन कुमारिल-सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक घातक प्राभाकर-सम्प्रदाय के लिए हुआ है। कुमारिल-सम्प्रदाय धर्म को किसी साध्य का साधन मानता है और मोक्ष के आदर्श को अपनाने का अर्थ यहाँ केवल एक साध्य की जगह दूसरे साध्य को प्रतिष्ठित कर देना है। यदि पुराना साध्य स्वर्ग था तो नया साध्य अपवर्ग हो गया। अर्थात् एक भावात्मक साध्य का स्थान अब एक अभावात्मक साध्य (संसार से छुटकारा पाना) ने ले लिया। लेकिन प्राभाकर-सम्प्रदाय में धर्म को स्वयं ही साध्य माना गया है और इसलिए उसकी जगह मोक्ष के नये आदर्श को अपनाने का अर्थ 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' के प्रिय सिद्धान्त का परित्याग और पूरी तरह से भाट्ट-पक्ष को ग्रहण कर लेना हो जाता है, क्योंकि, जैसा कि शालिकनाथ का मत है, मोक्ष की उसकी धारणा में एक लक्ष्य को पाने का अर्थात् संसार के दुःख-दर्दों से छुटकारा पाने का प्रयत्न भी शामिल है।[3]

अब हम संक्षेप में इस नये आदर्श और इसकी प्राप्ति के लिए बताये

1. देखिए, न्यायमंजरी, पृ० 514 इत्यादि; वेदान्तसूत्र, 3.4.18।
2. इस प्रसंग में मीमांसा के बाद के कुछ प्रवक्ताओं के मत की ओर ध्यान खींचा जा सकता है। इन्होंने गीता के उपदेश के अनुसार विभिन्न कर्मों के विभिन्न फलों की जगह केवल एक फल, उनके अनुष्ठान से ईश्वर को प्रसन्न करना, मान लिया (मीमांसा-न्याय-प्रकाश, पृ० 273)। यह परिवर्तन मीमांसा की निरीश्वरवादी प्रवृत्ति के बिलकुल विरुद्ध है और इस बात को प्रकट करता है कि गीता के आदर्श ने आस्तिक विचारधारा को कितना अधिक प्रभावित किया है।
3. प्रकरणपंचिका, पृ० 156-7। इस साफ दिखाई देनेवाली असंगति का स्पष्टीकरण केवल यह मानने से हो सकता है कि धर्म को परम पुरुषार्थ के रूप में महत्त्व देना, अर्थात् कर्तव्य और सुख को एक-दूसरे से जोड़ने की अनिच्छा, प्राभाकर-मत के विकास की प्रारम्भिक अवस्था की एक विशेषता थी और शालिकनाथ के इस मत के विवरण में यह एक अवशेष-मात्र के रूप में आया है। इस धारणा के समर्थन के लिए कि

हुए व्यावहारिक उपाय के स्वरूप की चर्चा करेंगे। इस प्रसंग में बन्ध और मोक्ष की न्याय-वैशेषिक धारणा बहुत उपयोगी रहेगी, क्योंकि दोनो के मतों में इस विषय में बहुत साम्य है। यह भी कह देना चाहिए कि दोनों के आदर्शों पर लगभग एक ही आलोचना लागू होती है। मीमांसा मे आत्मा को नित्य और विभु माना गया है; लेकिन वास्तव में वह बहुत-सी उपाधियों से युक्त है और ये उपाधियां उसके लिए अपरिहार्य बिलकुल भी नही हैं। इसके ऊपर संसार में तीन बन्धन हैं।[1] पहला बन्धन तो भौतिक शरीर है जो इसके सुख-दुःख के अनुभव की सीमाएँ बांधता है। दूसरा बन्धन ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो इसका बाह्य जगत् से सम्बन्ध जोड़ने के अकेले उपाय हैं। और तीसरा बन्धन स्वय यह जगत् है, जो यह निर्धारित करता है कि व्यक्ति को किन वस्तुओं का अनुभव होगा। आत्मा का अपने से भिन्न वस्तुओं से सम्बन्ध होना ही बन्ध है, और *मोक्ष उनसे सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना है*। *मीमांसक* वेदान्त के इस मत का खण्डन करता है कि मोक्ष मे भौतिक जगत् का लोप हो जाता है। वह यह भी नहीं मानता कि आत्मा और जगत् का सम्बन्ध मिथ्या है, जैसा कि *सांख्य-योग मानता है*। *उसका मत यह है कि जगत् सत्य है और आत्मा के* मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी ठीक पहले की तरह बना रहता है, और मोक्ष का मतलब केवल यह ज्ञान हो जाना है कि आत्मा का संसार से सम्बन्ध वास्तविक होते हुए भी आवश्यक नही है। मोक्ष की अवस्था को सब दु:खों और साथ ही सब सुखों से भी शून्य और इस प्रकार अभावरूप माना गया है।[2] फिर भी, कुमारिल के एक या अधिक टीकाकार ऐसे हुए हैं जो मोक्ष को आनन्द की अवस्था मानते थे।[3] इस मत का पार्थसारथि (शास्त्रदीपिका, पृ० 127-8) ने खण्डन किया है और मोक्ष के विषय मे कुमारिल के कथनों[4] पर विचार करने से पार्थसारथि की बात की पुष्टि होती भी है। प्राभाकर-सम्प्रदाय के अन्दर इस विषय मे कोई मतभेद प्रतीत नही होता। इस अवस्था में आत्मा के ज्ञान, सुख, दु.ख इत्यादि सब विशेष गुण लुप्त हो जाते हैं। उस समय आत्मा को अपनी भी चेतना नहीं रहती, क्योंकि तब मनस् का व्यापार

देखी एक अवस्था वस्तुत: कभी थी, देखिए, Journal of Oriental Research (Madras), 1930, पृ० 99-108।

1. शास्त्रदीपिका, पृ० 125।
2. वही, पृ० 126-7।
3. मानमेयोदय, पृ० 87-9।
4. श्लोकवार्तिक, पृ० 670, श्लो० 107।

समाप्त हो जाता है। परन्तु न्याय-वैशेषिक के विपरीत मीमांसा का भाट्ट-सम्प्रदाय यह मानता है कि ये विशेष गुण शक्ति-रूप में तब भी विद्यमान रहते हैं। न्याय-वैशेषिक से इतना मतभेद रखने का लाभ इससे अधिक कुछ नहीं है कि इससे इस सम्प्रदाय के द्वारा अपनाये गए परिणामवाद से सगति बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान, अनुभूति और क्रिया की शक्ति, जिसका तब अव्यक्त अवस्था में बना रहना माना गया है, फिर कभी व्यक्त नहीं होगी। इसके अलावा, इस तरह के मतभेद केवल मरने के बाद प्राप्त होनेवाली अवस्था में ही अन्तर लाते है। जहाँ तक ज्ञानी पुरुष की ऐहिक अवस्था की बात है, वहाँ तक मोक्ष की भाट्ट-धारणा न्याय-वैशेषिक धारणा से पूरी तरह मेल खाती है।

अन्य दर्शनों की तरह यहाँ भी सबसे पहले सासारिक बातों मे वैराग्य और इस दर्शन में श्रद्धा को आवश्यक माना गया है। इनके बिना मोक्ष-प्राप्ति की दिशा में गम्भीर प्रयत्न सम्भव नहीं है। मोक्ष का सीधा उपाय इस सामान्य भारतीय विश्वास से, जिसे मीमांसक भी स्वीकार करता है, निगमित किया गया है कि कर्म बन्ध का कारण है। जब कारण हट जाता है, तब कार्य भी निश्चित रूप से हट जाएगा। तदनुसार मीमासक यह मानता है कि कर्म से विरति स्वतः ही आत्मा को उसकी मूल अवस्था प्रदान कर देगी। लेकिन सब कर्मों से विरत नहीं होना है, बल्कि केवल उनसे विरत होना है जिन्हें काम्य और प्रतिषिद्ध कर्म कहा गया है। काम्य कर्म को करने से पुण्य मिलता है और प्रतिषिद्ध कर्म को करने से पाप लगता है। इस प्रकार ये बन्ध ही के कारण बनते हैं और मुमुक्षु को इनका त्याग करना ही होगा। तीसरे प्रकार के अर्थात् नित्य-कर्म मुमुक्षु को भी करने हैं, क्योंकि अन्यथा वह वेद के नियोग के उल्लंघन का दोषी बनेगा।[1] उन्हें न करना प्रतिषिद्ध कर्मों को करने के बराबर है। अन्तर केवल यह है कि नित्य कर्मों को न करना अकरण-पाप है और प्रतिषिद्ध कर्मों को करना करण-पाप है। इस अकरण-पाप के फलस्वरूप संसार के कष्टों मे फिर उलझने से यदि बचना है तो नित्य-कर्मों को करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार मीमांसा मे मोक्ष की द्विविध साधना बताई गई है: (1) काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों का त्याग और (2) नित्य-कर्मों का सदैव अनुष्ठान। यह याद रखने की बात है कि दोनों ही से कोई भावात्मक परिणाम पैदा नहीं होता, क्योंकि इस दर्शन में मोक्ष को अभाव-रूप अर्थात् आत्मा को उसकी स्वाभाविक अवस्था की पुनः प्राप्ति माना गया है। कुमारिल आत्म-ज्ञान का मोक्ष की प्राप्ति में ठीक क्या हाथ मानता है, यह श्लोकवार्तिक

1. केवल नित्य-कर्मों को करते रहने के उपदेश में भी गीता का प्रभाव स्पष्ट है

(पृ० 669 इत्यादि) और तन्त्रवार्तिक (1.3.25) में इस विषय में कुछ असंगति होने से निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। इस विषय पर हम विवाद मे पड़े बिना पार्थसारथि की टीका का अनुसरण करते हुए इतना-भर कहेंगे कि आत्म-ज्ञान—आत्मा के सच्चे स्वरूप का चिन्तन करने से प्राप्त अन्तर्दृष्टि कहना अधिक उचित होगा—मोक्ष की प्राप्ति में अंशतः सहायक है। इस प्रकार कुमारिल की नीति वही है जिसका शास्त्रीय नाम ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद है। प्रभाकर के अनुयायी इससे सहमत हैं। केवल इतना वे नहीं मानते कि नित्य-कर्मों को करने का कर्तव्य-पालन मात्र से अधिक कोई उद्देश्य है। मोक्ष के साधन के रूप में ज्ञान की आवश्यकता और नित्य-कर्मों के अनुष्ठान को उन्होंने बिलकुल स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[1]

1. प्रकरणपंचिका, पृ० 157।

उपनिषद् भी वेद के ही भाग हैं, इसलिए उन्हें ब्रह्म या अन्य किसी ऐसी परम सत्ता के प्रतिपादक नहीं माना जा सकता जिसकी प्राप्ति मनुष्य का लक्ष्य हो।[1] इस प्रकार वेदान्त में उपनिषदों के सिद्धान्तों को तन्त्रबद्ध करने के जो प्रयत्न किये गए हैं उनका कारण हमें उपनिषदों के अन्दर पहले से विद्यमान अनेकार्थकता में, वेद के पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड के मध्य स्पष्ट दिखाई देनेवाली असंगति में और इनके अतिरिक्त नास्तिक दर्शनों की बढ़ती हुई शक्ति में मिलता है।

इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि उपनिषदों के सिद्धान्तों में व्यवस्था एक से अधिक तरीकों से लाई गई। बादरायण के सूत्र में वेदान्त के सात आचार्यों का उल्लेख है। यह पता नहीं चलता कि वे सब उसके पहले हुए थे या समसामयिक थे। बादरायण ने कहा है कि मोक्ष के स्वरूप[2] और मुमुक्षु के लिए सन्यास की आवश्यकता[3] जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के बारे में उनमें मतभेद थे। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध के महत्त्वपूर्ण प्रश्न तक पर उसने अपने मत के अलावा दो और मतों का भी उल्लेख किया है[4], जिनसे उनके सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोणों में अत्यधिक अन्तर का होना ज्ञात होता है। आधारभूत मसलों पर इस तरह के मतभेदों का होना यह प्रकट करता है कि उपनिषदों के सिद्धान्तों का बहुत पहले से वेदान्त के आचार्य अलग-अलग तरीकों से अर्थ करते थे। बादरायण ने जो अर्थ किया है वह अनेक अर्थों में से एक है और इस बात की अत्यधिक सम्भावना है कि उनमें से वह सबसे अधिक प्रभावशाली था। वेदान्त के सब प्रचलित सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण बातों में आपस में मतभेद रखते हुए भी समान रूप से यह दावा करते हैं कि उनका मत ठीक वही है जिसका उपदेश स्वयं बादरायण ने किया था। उसके सूत्रों का अति संक्षिप्त होना ही अर्थ-निरूपण की इस विविधता का कारण है। वास्तव में, वे उपनिषदों से भी अधिक गूढ़ हैं और फलतः उनका अर्थ समझना इन प्राचीन ग्रन्थों का अर्थ समझने से कहीं अधिक कठिन है। इसका नतीजा यह हुआ है कि सबसे अधिक महत्त्व की बातों में भी अनिश्चितता आ गई है। उदाहरण के लिए, हम निश्चित रूप से नहीं जानते कि बादरायण जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानता

1. देखिए, वेदान्त-सूत्र, 1.1.4 और उस पर शंकर का भाष्य। शांकर-भाष्य की रामानन्दी टीका में मीमांसकों को 'ब्रह्मनास्तिक' (ब्रह्म का निषेध करनेवाले) कहा गया है।
2. वेदान्त-सूत्र, 4.4.5-7
3. वही, 3.4.18-20।
4. वही, 1.4.19-21।

है या उसका विवर्त (आभास) मात्र। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्त-सूत्र पर कभी ऐसे भाष्य[1] भी रचे गए थे जो इन दो मतों को उनके सारे छिपे हुए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अन्तरों के साथ मानते थे, लेकिन विवर्तवाद के प्रतिपादक शंकर के महान् भाष्य ने उन्हें पृष्ठभूमि में धकेल दिया और अब वे प्राप्त नहीं होते। बाद में भास्कर और यादवप्रकाश जैसे भाष्यकारों ने उनके परित्यक्त सिद्धान्तों में से कुछ को पूर्णत या अंशत पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की, लेकिन उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। यद्यपि ये भाष्य ईश्वर की धारणा को नहीं छोड़ते, तथापि ये ब्रह्म को निर्गुण रूप में देखना अधिक पसन्द करते हैं और इसलिए उनकी प्रवृत्ति को प्रधानत. दर्शननिष्ठ कहा जा सकता है। बादरायण के सूत्र की विशेष रूप से शंकर के बाद विशुद्ध धर्मपरक व्याख्याएँ भी की गई हैं, और उनमें भी इस बात में हम अन्तर पाते हैं कि कोई परमेश्वर का विष्णु से अभेद करती है तो कोई शिव से। उदाहरण के लिए, रामानुज और मध्व विष्णु को सर्वोच्च मानते हैं, जबकि श्रीकण्ठ शिव को विष्णु से भी उच्च मानता है। वेदान्त के इन विभिन्न सम्प्रदायों में से यहाँ हम केवल दो के ऊपर विचार करेंगे—एक शंकर का है, जो सूत्र की दर्शनपरक व्याख्या का प्रतिनिधि है और दूसरा रामानुज का है, जो धर्मपरक व्याख्या का प्रतिनिधि है। इनके ऊपर विचार शुरू करने से पहले हम थोड़ा-सा मीमांसा-सूत्र और वेदान्त-सूत्र के सम्बन्ध के बारे में कह दें। अब सभी वेदान्ती इन्हें एक-दूसरे के पूरक मानते हैं और दोनों को सम्मिलित रूप में सम्पूर्ण वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधि समझते हैं, हालांकि इस बात में उनमें मतभेद है कि वेदान्त की नीति में मीमांसोक्त कर्म को क्या स्थान दिया जाए। ऐतिहासिक दृष्टि से ये दो ग्रन्थ शायद स्वतन्त्र हैं और इनके रचयिता, जैमिनि और बादरायण, एक-दूसरे से भिन्न थे। बाद में किसी व्यास (व्यवस्थित करनेवाला)[2] नामक व्यक्ति ने उपयुक्त संशोधनों के साथ इन्हें इकट्ठा कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिकार उपवर्ष ने, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है, इस संयुक्त रूप में इन पर व्याख्या लिखी थी। सम्प्रति बादरायण के मूल ग्रन्थ की तिथि 400 ई० के आस-पास मानी जाती है।

अद्वैत

शंकर ने जिस विशेष प्रकार के एकवाद का उपदेश किया वह बहुत

1. देखिए, Dr. S. K. Belvalkar : Vedānta Philosophy (Poona), Lecture 5।
2. देखिए, Deussen : System of the Vedānta, पृ० 24-5 और 28।

प्राचीन है, हालांकि इसने अन्त में जो रूप धारण किया वह अधिकांश में शंकर के विचारों की उपज है। इसके सैद्धान्तिक पक्ष की सबसे प्रमुख विशेषता निर्गुण ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता मानना है, जिसमें यह विश्वास गर्भित है कि जगत् माया है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है और मोक्ष में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। व्यावहारिक पक्ष में यह कर्म-संन्यास का प्रतिपादन करता है और यह मानता है कि एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है। इस सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रतिपादन जो सम्प्रति मिलता है, गौड़पाद की कारिका में है, जिसका प्रकट अभिप्राय तो माण्डूक्य उपनिषद् के उपदेश को संक्षेप में बताना है, लेकिन जिसने असल में अद्वैतवाद का प्रशंसनीय ढंग से सार प्रस्तुत करके इससे भी कहीं बड़ा काम किया है। शंकर के दर्शन की मुख्य बातें—उसके आधारभूत सिद्धान्त, जैसे यह कि कारणता का प्रत्यय परम सत्ता में लागू नहीं किया जा सकता—कारिका में पहले से मौजूद है। शंकर के ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उसका वेदान्त-सूत्र पर लिखा हुआ भाष्य है। यह अपनी मनोहर शैली के लिए उतना ही प्रसिद्ध है जितना अपनी युक्तियों की तार्किक संगति के लिए। हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि इसमें शंकर ने विवर्तवाद का यानी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जगत् ब्रह्म का आभास है। शंकर का विचार है कि अद्वैत की स्थापना के लिए सांख्य के प्रकृतिपरिणामवाद का खण्डन उतना आवश्यक नहीं है जितना ब्रह्मपरिणामवाद का खण्डन। इस तथ्य के कारण कि जिस मूल ग्रन्थ पर शंकर ने भाष्य लिखा है उसमें अनेक बार सांख्य का उल्लेख हुआ है, शंकर ने सांख्य-सिद्धान्त पर भी विस्तार से विचार किया है और यह सिद्ध किया है कि वह उपनिषदों के सिद्धान्त से कितनी अधिक दूर है; परन्तु शंकर का वास्तविक उद्देश्य वेदान्त-सूत्र के कुछ भाष्यकारों, विशेष रूप से अपने पूर्ववर्ती भर्तृप्रपञ्चक, के परिणामवाद के विरुद्ध विवर्तवाद या मायावाद को स्थापित करना है। शंकर ने अपने भाष्य में एक अन्य उद्देश्य को भी सामने रखा है: उसके निर्गुण ब्रह्म के सिद्धान्त का बौद्ध प्रत्ययवाद के एक सम्प्रदाय, माध्यमिक के शून्यवाद से सादृश्य, जोकि ऊपरी मात्र है, होने के कारण[1], सम्भव है, कोई दोनों को अभिन्न समझे और अद्वैत को उपनिषद्-बाह्य माने। अतः उसने बार-बार जोर देकर कहा है कि उसके सिद्धान्त को निषेधवादी या शून्यवादी न माना जाए। हम आगे देखेंगे कि यह कहाँ तक ठीक है। उसने बौद्ध-दर्शन के इस पक्ष का एक स्थल को छोड़कर कहीं स्पष्ट

1. मध्व का यह वचन देखिए: यत् शून्यवादिनः शून्यं तदेव ब्रह्म मायिनः (वेदान्त-सूत्र, 2.2.29 पर अणुभाष्य)

उल्लेख नहीं किया है, और वहाँ भी उसने सरसरी तौर पर उसे टाल दिया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पूरे ग्रन्थ में वह कुछ वेदान्तियों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मपरिणामवाद और माध्यमिकों के शून्यवाद से, जो उसके सिद्धान्त के विरुद्ध होते हुए भी उससे काफ़ी मिलते-जुलते हैं, साफ़ बचकर चला है।

वेदान्त-सूत्र पर भाष्य लिखने के अलावा शंकर ने प्रधान उपनिषदों और भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखे हैं। विशेष रूप से बृहदारण्यक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् पर लिखे हुए भाष्यों में अनेक ऐसी बातों की भी चर्चा की गई है जिनकी सूत्र-भाष्य में विस्तार से चर्चा नहीं हुई है और जो अद्वैत-सिद्धान्त को भली भाँति समझने में अत्यधिक उपयोगी है। इनके अलावा उसने उपदेश-साहस्री भी लिखी है, जो कुछ संक्षिप्त होने के बावजूद उसके सिद्धान्तों की बहुत अच्छी जानकारी देती है। शंकर के बाद अनेक विचारकों ने उसके मत का समर्थन किया और विस्तार की बातों में उसका विकास किया। इससे उसके अनुयायियों में कुछ मतभेद भी पैदा हो गया। इस मतभेद के फलस्वरूप कई उपसम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिनमें से दो—विवरण-सम्प्रदाय और भामती-सम्प्रदाय—विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। विवरण-सम्प्रदाय का प्रारम्भ पंचपादिका से हुआ, जो शंकर के शिष्य पद्मपाद के द्वारा उसके सूत्र-भाष्य के ऊपर लिखी हुई टीका का एक खण्ड है। भामती-सम्प्रदाय कुछ बाद में वाचस्पति (841 ई०) ने शुरू किया। पंचपादिका पर प्रकाशात्मन् (1000 ई०) ने विवरण-नामक टीका लिखी, जिससे पहले सम्प्रदाय का नामकरण हुआ। विवरण पर अखण्डानन्द ने तत्त्वदीपन-नामक टीका लिखी और विद्यारण्य (1350 ई०) ने अपने विवरण-प्रमेय-संग्रह में इसके सिद्धान्त का भी अत्यधिक सुबोध शैली में सार दिया है। भामती की व्याख्या अमलानन्द (1250 ई०) ने अपने कल्पतरु में की है। कल्पतरु की व्याख्या अप्पय दीक्षित ने (1600 ई०) अपने परिमल में की है। सूत्र-भाष्य पर कम या अधिक महत्त्व की और भी अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, जैसे अद्वैतानन्द (1450 ई०) द्वारा रचित ब्रह्म-विद्याभरण। अद्वैत-दर्शन को समझाने के लिए जो अनेक स्वतन्त्र लघु ग्रन्थ रचे गए हैं उनमें से दो का उल्लेख किया जा सकता है: एक नैष्कर्म्य-सिद्धि है जिसे सुरेश्वर ने, जो पहले शायद एक मीमांसक था, लिखा है और दूसरा उसके शिष्य सर्वज्ञात्मन्-कृत संक्षेप-शारीरक है। विशेष महत्त्व का एक और ग्रन्थ विमुक्तात्मन् (1050 ई०) द्वारा लिखित इष्टसिद्धि है, जो मायावाद का विशेष रूप से वर्णन करता है। इनसे भी बाद के आनन्दबोध (1050 ई०) द्वारा रचित न्यायमार्तण्ड और विद्यारण्य-कृत पंचदशी है। पंचदशी एक लोकप्रिय ग्रन्थ है। अप्पय दीक्षित-कृत

सिद्धान्त-लेश-संग्रह उन मतभेदों का वर्णन करता है जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है और जो शंकर के बाद की शताब्दियों में अद्वैत-दर्शन में बहुत विस्तार हो जाने के फलस्वरूप उसमें पैदा हो गए थे। धर्मराज अध्वरीन्द्र-कृत वेदान्त-परिभाषा में अद्वैत का, विशेष रूप से उसके तर्कशास्त्रीय और ज्ञान-मीमांसीय सिद्धान्तों का, तकनीकी और सम्बद्ध वर्णन है। सदानन्द (1550 ई०) ने वेदान्तसार लिखा है, जो अद्वैत-दर्शन का एक सुबोध परिचयात्मक ग्रन्थ है। इस दर्शन पर केवल खण्डन-मण्डन की दृष्टि से जो ग्रन्थ लिखे गए हैं उनमें दो उल्लेखनीय हैं: एक नैषधीयचरित के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष (1100 ई०) का खण्डनखण्डखाद्य है और दूसरा है मधुसूदन सरस्वती (1650 ई०) का लिखा हुआ अद्वैतसिद्धि, जिसका अध्ययन आजकल पंडितों में अद्वैत में पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए अत्यावश्यक माना जाता है और जिस पर ब्रह्मानन्द ने लघुचन्द्रिका नाम से टीका लिखी है।

: 1 :

अद्वैत में बुद्धि इत्यादि ज्ञानांगों की धारणा लगभग वैसी ही है जैसी सांख्य-योग में है, और सांख्य-योग की ही तरह यहाँ भी ज्ञान का प्रतिनिधान-सिद्धान्त माना गया है। एकमात्र अन्तर यह दिखाई देता है कि सांख्य-योग के अनुसार दस इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न हैं, लेकिन यहाँ न्याय-वैशेषिक की तरह उन्हें भूतों से उत्पन्न माना गया है।[1] यहाँ अन्तःकरण को भी भौतिक माना गया है और पाँचों भूतों के अंश उसमें माने गए हैं। इसमें पाँचों भूतों के होने पर भी तेजस् का प्राधान्य रहता है, जिसके कारण इसे कभी-कभी तैजस भी कहा जाता है। इसलिए इसकी प्रकृति में अन्य भूतों की अपेक्षा तेजस् का अंश अधिक होता है और चंचलता होती है—यह अपने ही स्थान में रहते हुए या किसी इन्द्रिय से 'बाहर की ओर प्रवाहित होकर' जहाँ पहुँचता है वहाँ सदैव अपने आकार को बदलता रहता है। अर्थात् अन्तःकरण सदैव सक्रिय रहता है। केवल सुषुप्ति में यह भी सुषुप्त होकर निष्क्रिय हो जाता है। यह सक्रिय अवस्था में जो आकार धारण करता है, उन्हें सांख्य-योग की तरह यहाँ भी वृत्ति कहा गया है। ज्ञान के इन सब अंगों को भौतिक मानने में यह महत्त्व की बात गर्भित है कि चेतना की अभिव्यक्ति के लिए भौतिक सहायताएँ अपरिहार्य हैं। इन्हें अपरिहार्य मानने के बावजूद चेतन तत्त्व से इनकी पृथकता को बिलकुल भी नहीं भुलाया गया है। वास्तव में, जैसा कि हम देखेंगे, सामान्य अनुभव में

1. यह ध्यान रखना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक कर्मेन्द्रियों को नहीं मानता और उनके व्यापारों को प्राण के व्यापार मानता है।

निहित इन दो विरोधी तत्त्वों का सदैव साहचर्य रहना ही शंकर के अनुसार दर्शन की सबसे जटिल समस्या है।

चेतन तत्त्व के स्वरूप के बारे में भी अद्वैत-मत लगभग वही है जो सांख्य-योग का है। जो उपकरण इसकी अभिव्यक्ति में किसी गूढ़ तरीके से सहायता करता है उससे इसे भिन्न माना गया है। फिर भी सांख्य-योग की तरह यहाँ यह नहीं माना गया है कि यह इस उपकरण से परमार्थतः भिन्न है। कारण यह है कि अद्वैत के अनुसार इस उपकरण का भी अन्तिम मूल वही ब्रह्म है जिसे एकमात्र सत्य माना गया है। इस वजह से भौतिक उपकरण और चेतन तत्त्व की परस्परक्रिया की अद्वैती व्याख्या सांख्य-योग की व्याख्या से अधिक सन्तोषजनक है। लेकिन तत्त्वमीमांसीय अन्तर चाहे जो हो, इससे उस व्याख्या पर कोई असर नहीं पड़ता जिसमें इस अनुच्छेद में हमारा सम्बन्ध है। अतः अभी हम दोनों को उसी तरह परस्पर पृथक् मान सकते हैं जिस तरह सांख्य-योग में माना गया है। अद्वैत चेतन तत्त्व को बिलकुल निष्क्रिय मानता है। जो सक्रियता इसमें दिखाई देती है वह आभासी मात्र है और वस्तुतः इसके भौतिक सहचर, अन्तःकरण, का धर्म है। चेतन तत्त्व को 'साक्षी'[1] कहा गया है और यह सांख्य-योग के पुरुष का समकक्ष है। यह अन्तःकरण की वृत्तियों का निष्क्रिय द्रष्टा है। यह शुद्ध रूप में कभी नहीं दिखाई देता, बल्कि सदैव अन्तःकरण के साथ अव्यक्त या व्यक्त रूप में दिखाई देता है। विलोमतः अन्तःकरण की भी एक या दूसरे साक्षी से सम्बन्ध के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से केवल निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्तःकरण का संयुक्त रूप ही वास्तविक है। यही ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है। इस संग्रथित रूप में ही साक्षी जीव कहलाता है। तथाकथित आत्मचेतना में एक ही जीव के दो रूप—एक ज्ञाता का और दूसरा ज्ञेय का—प्रकट होते हैं और जो अन्यथा कतई समझ में न आ पाते, वे इस धारणा से सन्तोषजनक रूप से समझ में आ जाते हैं। यह कहा गया है कि यदि जीव के अन्दर अन्तः-करण-रूपी विषयांश न हो, तो आत्मचेतना की बात ही नहीं की जा सकती, क्योंकि ज्ञाता ज्ञेय से अभिन्न नहीं हो सकता। यह मत कुमारिल के इस मत के बिलकुल विपरीत है कि आत्मा निरवयव होते हुए भी आत्मचेतना में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों होता है (पृ० 304)। यह विश्वास किया जाता है कि यह संग्रथित सत्ता मोक्षपर्यन्त एक या दूसरे रूप में बनी रहती है। जब

1. इस शब्द का अर्थ है तटस्थ द्रष्टा। इस प्रकार साक्षी की धारणा सापेक्ष है और इसलिए साक्षी स्वरूपतः ब्रह्म नहीं है।

अन्त में यह भंग होती है तब अन्तःकरण अपने मूल कारण, माया, में लीन हो जाता है और साक्षी अपने साक्षित्व से हीन होकर, जैसा कि बाद में स्पष्ट हो जाएगा, ब्रह्म ही बन जाता है—माया को फिलहाल सांख्य-योग की प्रकृति के बराबर माना जा सकता है। इस प्रकार साक्षी और जीव एक नहीं हैं, हालांकि वे बिलकुल भिन्न भी नहीं हैं। जीव तो अपने अन्दर शामिल विषयांश के कारण आत्मचेतना में विषय बन सकता है, परन्तु साक्षी को विषय कहना गलत है, क्योंकि वह ज्ञान के सभी रूपों में शुद्ध चेतनांश बनकर विद्यमान रहता है और यदि उसे विषय माना जाएगा तो उसमें भी एक अन्य चेतनांश मानना पड़ेगा तथा इस कभी समाप्त न होनेवाली प्रक्रिया से अनवस्था-दोष पैदा हो जाएगा। परन्तु इस कारण साक्षी को अज्ञात नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वभाव से ही स्वयंप्रकाश होने से उसे अपना ज्ञान करानेवाली किसी चीज की जरूरत नहीं है। इसकी विद्यमानता और इसकी अभिव्यक्ति अनिवार्यतः एक ही बात है और इसलिए यह कभी परोक्ष नहीं होता। पंचदशी[1] में कहा गया है कि स्वयप्रकाश होना और किसी भी साधन के बिना प्रकट होना एक ही बात है। दूसरे शब्दों में, जीव *अन्तःकरण में व्याप्त चैतन्य* है और साक्षी *केवल चैतन्य* है।[2]

अद्वैत में ज्ञान का मतलब सामान्यतः न अन्तःकरण की वृत्ति है और न स्वय साक्षी, बल्कि दोनों का मिश्रण यानी साक्षी से अनुप्राणित वृत्ति है। इस प्रकार समझे जाने पर ज्ञान में वृत्ति का अंश औपाधिक है और दूसरा, यानी चैतन्य का तत्त्व, नित्य है। वह स्वरूपतः ब्रह्म है जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वृत्तियों से साहचर्य के कारण परिवर्तनशील प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में परिवर्तन से परे है। इसे कभी-कभी वृत्ति-ज्ञान से, जो विषय और विषयी की परस्पर-क्रिया का फल होता है, पृथक् करने के लिए साक्षि-ज्ञान कहा जाता है। यह सदैव विद्यमान रहता है और इसके अनस्तित्व की कल्पना असम्भव है। यह 'हमारी दृष्टि का प्रकाश' है और सुषुप्ति मे भी इसका लोप नही होता। वृत्ति-ज्ञान के अलावा सुख-दु.ख इत्यादि भी अन्त.करण के परिणाम हैं। असल में सभी आन्तरिक अवस्थाएँ अन्तःकरण के परिणाम मानी गई हैं। लेकिन *अद्वैत सिद्धान्ततः इन अन्य अवस्थाओं को* चेतना की अवस्थाएँ नहीं मानता, और इसलिए उनकी जानकारी के लिए वृत्ति-ज्ञान की आवश्यकता

1. 11,32।
2. वेदान्त-परिभाषा (पृ० 102) में इस प्रकार कहा गया है : अन्तःकरणविशिष्टो जीवः अन्तःकरणोपहितः साक्षी।

होती है। इस अन्तर का यह अर्थ नहीं है कि सुख-दुःख इत्यादि हों और फिर भी उनका अनुभव न हो, क्योंकि अन्तःकरण के परिणाम होने से ये अनिवार्यतः साक्षी के द्वारा प्रकाशित होते हैं और इसलिए ज्ञान की तरह उत्पत्ति के समय ही इनका भी ज्ञान हो जाता है।[1] इससे केवल इतना प्रकट होता है कि अद्वैत मन की ज्ञानात्मक अवस्था को अन्य अवस्थाओं से भिन्न मानता है। यदि इस स्पष्टीकरण को हम पहले कही हुई इस बात से जोड़ें कि सुषुप्ति इत्यादि के अलावा सब अवस्थाओं में अन्तःकरण अनवरत रूप से सक्रिय रहता है, तो हम देखते हैं कि जीव कभी भी किसी-न-किसी प्रकार के ज्ञान से रहित नहीं होता।

ज्ञान परोक्ष या अपरोक्ष होता है। इन दोनों में अन्तर यह है कि पहले में वस्तु का केवल अस्तित्व ही ज्ञात होता है जबकि दूसरे में उसका स्वरूप भी ज्ञात होता है।[2] दोनों ही प्रकार के ज्ञान समान रूप से अन्तःकरण की, जिसमें साक्षी व्याप्त रहता है, वृत्तियाँ हैं। वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान और इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान एक बात नहीं है, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियों के बिना भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, जीव का ज्ञान अपरोक्ष होता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी इन्द्रिय के द्वारा होता है। यदि नीचे लिखी शर्तें पूरी होती हों तो ज्ञान अपरोक्ष होगा, चाहे वह किसी इन्द्रिय से हो या किसी भी इन्द्रिय के बिना। पहली शर्त यह है कि वस्तु अपरोक्षतः ज्ञात होने के योग्य हो। उदाहरणार्थ, एक मेज़ इस योग्य है, पर धर्म नहीं। यह अपरोक्षता की शर्त उतनी नहीं है जितनी इस बात की सूचक कि यह कोई [illegible] नहीं है। दूसरी शर्त यह है कि वस्तु का ज्ञान-काल में अस्तित्व हो; अन्यथा अपरोक्षणीय वस्तु का भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं होगा। इसलिए इस समय अस्तित्व न रखनेवाले मेज़ का स्मरण अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। अन्तिम शर्त यह है कि ज्ञाता का सम्बन्धित ज्ञेय वस्तु से किसी प्रकार का अपरोक्ष सम्बन्ध स्थापित हो सके। ऐसा सम्बन्ध वृत्ति के द्वारा स्थापित होता है, जो बाह्य वस्तुओं के ज्ञान में बाहर की ओर प्रवाहित होती है।[3] लेकिन सुख-दुःख इत्यादि आन्तरिक

अवस्थाओं के ज्ञान में अन्दर जहाँ उत्पन्न होती है वहीं रहती है। इस शर्त का अर्थ समझने के लिए अपरोक्ष ज्ञान के पहले प्रकार को लेना सुविधाजनक रहेगा। यहाँ प्राक्कल्पना के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु एक-दूसरे से दूर हैं और देश में उनकी स्थितियाँ अलग हैं। उनको सम्बन्धित करनेवाली वृत्ति कुछ समय के लिए एक ऐसी बात पैदा कर देती है जिसे दोनों की 'एकदेशस्थता' कहा जा सकता है। इसके होने का ठीक तरीका इस प्रकार बताया गया है : जब किसी ज्ञानेन्द्रिय का किसी वस्तु से सम्पर्क होता है, तब अन्तःकरण प्रकाश की तरह बाहर निकलकर उसकी ओर जाता है और उस वस्तु के आकार में परिणत हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान होने से पहले वस्तु का अस्तित्व आवश्यक हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्धान्त वास्तववादी है। जब वृत्ति वस्तु से एकाकार होती है तब प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। क्योंकि वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है, इसलिए वृत्ति और वस्तु का एकाकार होना वास्तव में जीव और वस्तु का एकाकार होना है। इस प्रकार उनकी एक ही देश में स्थिति हो जाती है और वस्तु की स्थिति तब ज्ञाता की स्थिति से भिन्न नहीं रहती।[1] वस्तु के अपरोक्ष ज्ञान की तीसरी और अन्तिम शर्त यही ज्ञाता और ज्ञेय का तादात्म्य है। तदनुसार अद्वैत में प्रत्यक्ष को ज्ञाता और ज्ञेय के एकाकार होने का फल माना गया है और इसलिए वस्तु को ज्ञात कहने के बजाय 'स्पृष्ट' कहना अधिक उपयुक्त होगा।[2] आन्तरिक प्रत्यक्ष के मामले में जब पहली दो शर्तें पूरी हो जाती हैं, अर्थात् जब वस्तु प्रत्यक्ष-योग्य होती है और प्रत्यक्ष-काल में उसका अस्तित्व भी होता है, तब अन्तिम शर्त सदैव अपने-आप पूरी हो जाती है, क्योंकि सुख-दुःख इत्यादि आन्तरिक अवस्थाएँ, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वस्तुतः वृत्ति से, जिसके माध्यम से उनका अनुभव होना माना जाता है, भिन्न नहीं हैं। अतः यदि वे अवस्थाएँ प्रत्यक्ष-योग्य हैं,[3] तो जब भी वे उत्पन्न होंगी तभी उनका अपरोक्ष ज्ञान हो जाएगा। यदि इनमें से एक या अधिक शर्तें पूरी न हों तो जो ज्ञान होगा वह परोक्ष होगा। दीवार के उस तरफ़ का मेज केवल परोक्षतः ही जाना जा

---

1. वेदान्तपरिभाषा, पृ० 77।
2. 'अद्वैत वेदान्त का प्रत्यक्ष-सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ कच्चा है, हालाँकि इसमें जो तत्त्वमीमांसीय अन्तर्दृष्टि है वह महत्त्वपूर्ण है' (Indian Philosophy, जि० 2, पृ० 492-3)।
3. पुण्य और पाप को भी अन्तःकरण के परिणाम माना गया है, लेकिन पहली शर्त का उनके मामले में पूरा न होने से—यानी योग्यता के अभाव से उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इनका केवल अनुमान या शब्द-प्रमाण से ज्ञान होता है।

सकता है, क्योंकि उससे आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वृत्ति बाहर निकलकर उस तक नहीं पहुँच सकती—अन्तःकरण का वस्तु की ओर जाने के लिए वस्तु का एक या दूसरी इन्द्रिय से सन्निकर्ष होना एक आवश्यक शर्त है। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि यहाँ भी वृत्ति मानी गई है, हालाँकि वह अन्दर ही रहती है।

ज्ञान के उपरोक्त सिद्धान्त में वस्तुओं का अपरोक्षतः ज्ञेय और परोक्षतः ज्ञेय में वर्गीकरण गर्भित है। वे बाह्य जगत् में अस्तित्व रखनेवाली वस्तुएँ हो सकती हैं अथवा अन्तःकरण की अवस्थाएँ या परिणाम हो सकती हैं। बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्षगम्य हो सकती हैं और प्रत्यक्षकाल में विद्यमान हो सकती हैं; लेकिन उनका ज्ञान अपरोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी। इसके विपरीत, आन्तरिक अवस्थाओं का पहली दो शर्तों के पूरी होने पर अनिवार्यतः अपरोक्ष ज्ञान होता है। इन दो प्रकार की वस्तुओं के अलावा एक अन्य वस्तु भी होती है जिसका ज्ञान सदैव और अनिवार्यतः अपरोक्ष ही होता है। यह वस्तु जीव है, जिसे कभी-कभी अहम्-पदार्थ भी कहा जाता है। निस्सन्देह प्रायः ज्ञान के वस्तु-पक्ष पर ही सदैव ध्यान जाता है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसमें ज्ञाता की अभिव्यक्ति नहीं होती। हाँ, यह हो सकता है कि ज्ञाता उसमें सदैव अपने को बिलकुल स्पष्ट रूप में प्रकट न करे। प्राभाकर-सम्प्रदाय की तरह अद्वैत में भी यह माना गया है कि सब ज्ञानों में ज्ञाता प्रकट रहता है, और चूँकि यहाँ जीव को सदैव किसी-न-किसी ज्ञान से युक्त माना गया है, इसलिए आत्मा की चेतना सारे अनुभव में विद्यमान रहती है। आत्मा की इस चेतना के कारण ही एक व्यक्ति अपने अनुभव का दूसरे व्यक्ति के अनुभव से भेद कर पाता है। केवल सुषुप्ति और मूर्च्छा की अवस्थाओं में आत्मा की चेतना नहीं रहती।

यहाँ तक हमने जाग्रत अवस्था के ज्ञान का वर्णन किया है। लेकिन स्वप्न में भी अनुभव होता है और सुषुप्ति भी अनुभव से बिलकुल शून्य नहीं होती। अब हमें विशेष रूप से इन दो अवस्थाओं पर विचार करना है। जैसा कि पहले उपनिषदों के अध्याय में कहा जा चुका है, स्वप्न और जागने में आवश्यक अन्तर यह है कि दूसरे में ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया होती है जबकि पहले में नहीं होती। इसके अलावा, जागने के विपरीत स्वप्न में स्थूल शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भी स्वप्न में ऐसा महसूस होता है कि ज्ञानेन्द्रियाँ काम कर रही हैं और एक स्थूल शरीर, जिसका जाग्रत अवस्था के शरीर के सदृश होना आवश्यक नहीं है, भी है। हम स्वप्न में एक हाथी देख सकते हैं और हमें यह

महसूस हो सकता है कि हम उसकी सवारी कर रहे हैं। फलतः स्वप्न में हमें अनुभव होता है कि वस्तुएँ वास्तव में विद्यमान हैं। इस विचित्रता के कारण हम यह नहीं कह सकते कि स्वप्न पिछले संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने मात्र से होते हैं। वास्तव में स्वप्न उद्‌बुद्ध संस्कारों से कुछ अधिक ही होते हैं; वे नई सृष्टियाँ हैं। पिछले अनुभव के बचे हुए संस्कारों का जागना निश्चय ही स्वप्न के लिए आवश्यक है, लेकिन इससे उनका पूरा स्पष्टीकरण नहीं होता। स्वप्नों को, जहाँ तक वे अपरोक्ष अनुभव हैं, जाग्रत अवस्था की बराबरी का समझना चाहिए, और इसलिए यह मान लिया गया है कि स्वप्नावस्था में वस्तुओं का ज्ञान होने के अलावा वे वस्तुत. विद्यमान भी होती हैं। इसके विपरीत, स्मृति में ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसमें वस्तुओं के भूतकालीन अस्तित्व की ओर स्पष्टतः इशारा रहता है। फिर भी, स्वप्न की वस्तुओं का स्वरूप जाग्रत अनुभव की वस्तुओं के स्वरूप से भिन्न माना गया है। इस बात का स्पष्टीकरण हम अगले अनुच्छेद में करेंगे।

स्वप्नों में अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना ही काम करता है, लेकिन सुषुप्ति में वह भी शान्त हो जाता है। तब जीव के दो अंशों में से एक, यानी अन्तःकरण, अपने कारण, माया, में लीन हो जाता है। अधिक ठीक यह कहना होगा कि वह माया के उस भाग में लीन हो जाता है जिसे अविद्या कहा गया है और जो जीव की उपाधि है।[1] उस समय केवल अविद्या-सहित साक्षी बना रहता है, जिसे लिंग-शरीर से भिन्न कारण-शरीर कहा गया है।[2] फलतः सुषुप्ति में सामान्य ज्ञाता का अभाव रहता है और चेतना की वैसी अवस्थाएँ नहीं होतीं जैसी स्वप्न या जाग्रत अवस्था में होती हैं। इससे सुषुप्ति का 'अनुभव' विलक्षण होता है, हालाँकि वह सामान्य रूप में प्रायः सबको होता है। उस अवस्था में जीव नहीं होता, बल्कि अपनी अविद्या से युक्त साक्षी होता है और अन्तःकरण कुछ समय के लिए अविद्या में विलीन रहता है। हमें याद रखना चाहिए कि इस अवस्था में भी व्यष्टित्व बना रहता है; लेकिन इस व्यष्टित्व का कारण साक्षी का अन्तःकरण से नहीं बल्कि अविद्या से संयोग रहना है। सुषुप्ति में अविद्या केवल आंशिक रूप में सक्रिय होती है। वह सत्य के स्वरूप को आच्छादित तो किए रहती है, पर उसे स्वप्न और जाग्रत अवस्था की तरह

1. 'माया' और 'अविद्या' के प्रयोग के बारे में कुछ मतभेद है। हम यहाँ इनका प्रयोग अज्ञान के क्रमशः ब्रह्माण्डगत और व्यष्टिगत पक्षों के अर्थ में कर रहे हैं।
2. सांख्य-योग में पुरुष की जो दो उपाधियाँ मानी गई हैं उनकी जगह यहाँ ये तीन (1) कारण-शरीर, (2) लिंग-शरीर, और (3) स्थूल-शरीर।

माना नामरूपों में विभक्त नहीं करती, क्योंकि उस समय अन्तःकरण की अलग-अलग और परस्पर व्यावर्तक वृत्तियाँ नहीं होतीं। सुषुप्ति का अनुभव व्यष्टित्व का बने रहना और नानात्व का अभाव—इन दोनों बातों की ओर इशारा करता है, जैसा कि जागने पर होनेवाले इस स्मरण से प्रकट होता है कि मैं सोता रहा और मुझे कोई ज्ञान नहीं रहा।[1] इनके अलावा सुषुप्ति मे आनन्द का भी अनुभव होता है, जो अद्वैत के एक मूलभूत अभ्युपगम के अनुसार आत्मा का स्वरूप ही है और जो उस समय बाधाओं के बिलकुल न रहने से अभिव्यक्त हो जाता है। जागने पर भी कुछ समय तक शान्ति की जो अवस्था बनी रहती है उससे प्रकट होता है कि शुद्ध आनन्द की यह अवस्था जागने पर तुरन्त लुप्त नही होती। परन्तु ज्योंही आदमी पुनः सामान्य सांसारिक जीवन के भावर्त में फँस जाता है, त्योंही उसका लोप हो जाता है[2] (यह विश्वास वर्ड्सवर्थ का-सा लगता है)। "सब जीव दिनानुदिन उस ब्रह्मलोक की सैर करते रहते हैं, पर कोई भी इस बात को नही समझता।"[3] यह ध्यान देने की बात है कि सुषुप्ति की इन विशेषताओं में से किसी का भी 'ज्ञान' उस समय नही होता, क्योंकि अन्तःकरण के न होने पर परोक्ष या अपरोक्ष किसी भी तरह का ज्ञान सम्भव नही है। फिर भी, उस समय इनकी चेतना रहती है, जैसाकि बाद में उनके स्मरण से प्रकट होता है।

: 2 :

ज्ञान की वस्तु के बारे मे केवल दो ही मत सम्भव लगते हैं—या तो बौद्ध-दर्शन के योगाचार-सम्प्रदाय की तरह यह माना जा सकता है कि ज्ञान अपने से बाहर अस्तित्व रखनेवाली किसी वस्तु का निर्देश नहीं करता या यह कि ज्ञान सदैव किसी बाह्य वस्तु का निर्देश करता है। सत्य ज्ञान मे बाह्य वस्तु का अस्तित्व मानना और असत्य ज्ञान में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उसका निषेध करना स्वव्याघाती है। शंकर की दृष्टि में सामान्य रूप से ज्ञान का जो अर्थ समझा जाता है उसमे ज्ञान सदैव किसी बाह्यार्थ का सूचक होता है और साथ ही ज्ञाता का भी, और ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसमें ये दो चीजें न हों। जहाँ वस्तु न हो वहाँ ज्ञान भी नही हो सकता।[4] 'गोल वर्ग' और 'वन्ध्या-पुत्र'

1. साक्षी को जो अनुभव हुआ था उसका जीव को स्मरण होना इसलिए सम्भव है कि ये दो वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। देखिए, सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 155 6।
2. पंचदशी, 11, 74-5।
3. छान्दोग्य उपनिषद्, 8.3.2।
4. देखिए, वेदान्तसूत्र, 2.2.28 पर शांकर-भाष्य।

से प्रकट होता है।[1] दूसरी ओर, भ्रम की वस्तु तभी तक अस्तित्व रखती है जब तक हम उसे देखते रहते है और जब हमारा उसे देखना बन्द हो जाता है तब वह भी लुप्त हो जाती है। साधारण ज्ञान की वस्तु को व्यावहारिक और भ्रम की वस्तु को प्रातिभासिक कहा गया है। स्वप्न की वस्तुएँ, जिनका जाग्रत अवस्था की वस्तुओं से अन्तर बताया जा चुका है, दूसरे प्रकार की हैं।

यह याद रखना जरूरी है कि जिन वस्तुओ को हमने निजी कहा है, वे प्रत्यय मात्र यानी बिलकुल मनस्तन्त्र नही हैं। यदि वे ऐसी होती तो अद्वैत का ज्ञान-सिद्धान्त वही होता जो योगाचार का है, जिसका शंकर ने पूरी तरह खण्डन किया है[2] और जिसके अनुसार ज्ञान के बाहर वस्तु का अस्तित्व नही है तथा साधारणत: ज्ञान और वस्तु मे जो भेद किया जाता है वह असत्य है। निश्चय ही निजी वस्तु का इसके अलावा कोई अर्थ नहीं है कि वह किसी विशेष व्यक्ति पर आश्रित है। ध्यान देने की बात यह है कि वह मानसिक नही है बल्कि मन की वस्तु है। प्रातिभासिक वस्तुओ की उत्पत्ति और प्रकृति की व्याख्या मे, जिसकी चर्चा शीघ्र ही की जाएगी, यह स्पष्ट रूप से समझाया गया है। अभी सिर्फ यह बता दिया जाए कि यह सामान्य धारणा कितनी निर्मूल है कि शंकर दैनिक अनुभव की वस्तुओं को मिथ्या या असत् मानता है। यह तो दूर की बात है, शंकर भ्रम की वस्तुओ तक को एक प्रकार की सत्ता प्रदान कर देता है। उसकी दृष्टि मे दिखाई देने का मतलब अस्तित्ववान् होना है और इसलिए उसके सिद्धान्त को उस सिद्धान्त का उलटा कहा जा सकता है जो पाश्चात्य दर्शन में बर्कले के नाम के साथ जुड़ा है। इस व्याख्या मे एक बहुत बड़ा लाभ है। यह भ्रम के होने को ठीक-ठीक समझा देती है। भ्रम में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम 'साँप' या 'चाँदी' को देख रहे है। भ्रम के अन्य सिद्धान्त वस्तु के स्थान-विशेष और काल-विशेष में विद्यमान दिखाई देने के तथ्य को समझाने के बजाय तथ्य का ही निषेध कर देते है।

1. यह कहा जा सकता है कि यह विशेषता भ्रम में भी होती है, और इस सीमा तक साधारण ज्ञान की वस्तुओं का भ्रम की वस्तुओं से अन्तर नहीं रहता। उदाहरणार्थ एक बार देखा हुआ 'रज्जु-सर्प' कुछ समय के बाद भी पहचाना जा सकता है, बशर्ते इस बीच ग़लती को सुधार न लिया जाए। इस मत को ग़लत सिद्ध नहीं किया जा सकता; और ऐसे अद्वैती हुए हैं जिनका यह मत रहा है (देखिए, सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 105-6)। लेकिन यह हमें अन्त में अहंमात्रवाद में पहुँचा देगा और इसलिए यह सामान्य रूप से स्वीकृत अद्वैत-मत नहीं है।

2. वेदान्तसूत्र, 2.2.28-32।

असत् है और फलतः इसका वास्तविक ज्ञान के अलावा और कोई ज्ञान नहीं हो सकता। पर यह पूछा जा सकता है कि यदि सभी ज्ञान बाह्यार्थ के सूचक हैं तो भ्रम क्यों होता है? इस प्रश्न के उत्तर में पिछले अध्याय में अर्थापत्ति-प्रमाण को, जिसे अद्वैती भी मानते हैं, समझाने के सिलसिले में दिये हुए उदाहरण का उल्लेख करना जरूरी है। यदि देवदत्त दिन में भोजन न करने के बावजूद स्वस्थ और शक्तिशाली बना रहता है, तो हम एकाएक इस विश्वास को नहीं छोड़ देते या बदल देते कि प्राणियों के लिए भोजन आवश्यक है। इसके बजाय हम अनुभूत तथ्य को इस विश्वास से संगति बिठाने की कोशिश करते हैं और यह मान लेते हैं कि देवदत्त रात को अवश्य खाता होगा। कहने का मतलब यह है कि जब हमारे सामने किसी सुपरीक्षित मत का विरोधी कोई तथ्य आता है, तब हम तुरन्त उस मत में संशोधन नहीं करते, बल्कि किसी उपयुक्त प्राक्कल्पना के द्वारा नये तथ्य का उससे सामंजस्य बिठाने की कोशिश करते हैं। अब चूँकि यह नहीं सोचा जा सकता कि बाह्यार्थ के अभाव में उसका ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, इसलिए अद्वैती यह मान लेता है कि तथाकथित भ्रम में भी कोई बाह्यार्थ होता है; और भ्रम को निर्भ्रान्त ज्ञान से पृथक करने के लिए वह इनमें ज्ञात बाह्यार्थों में प्रकार-भेद की कल्पना कर लेता है। तदनुसार भ्रम और साधारण ज्ञान में अन्तर इस वजह से नहीं है कि पहले के द्वारा सूचित वस्तु का अस्तित्व नहीं है और दूसरे के द्वारा सूचित वस्तु का अस्तित्व है, बल्कि इस वजह से है कि इनकी वस्तुएँ प्रकारतः भिन्न हैं। भ्रम की वस्तुएँ बहुतों को या सबको समान रूप से ज्ञात नहीं होतीं, क्योंकि सामूहिक अनुभव उनके अस्तित्व की पुष्टि नहीं करता। उदाहरणार्थ, अँधेरे में जहाँ केवल एक रस्सी पड़ी हुई है, किसी व्यक्ति को दिखाई देनेवाला साँप उसके लिए *असाधारण है और शायद दूसरों को वह न दिखाई दे।* अतः उसे उसकी 'निजी' वस्तु कहा जा सकता है, जबकि साधारण ज्ञान की वस्तुएँ, जैसे वास्तविक साँप, 'सार्वजनिक' है, *क्योंकि अन्य लोग भी उन्हें* देखते हैं। उक्त दो प्रकार की वस्तुओं में एक दूसरा अन्तर यह है कि भ्रम की वस्तु केवल तभी तक रहती है जब तक उसका ज्ञान होता रहता है—*न उससे कम समय तक* और न अधिक समय तक—जबकि साधारण ज्ञान की वस्तु अधिक स्थायी होती है। साधारण ज्ञान की वस्तु ज्ञान से पहले से ही मौजूद रहती है और सामान्यतः[1] ज्ञान के बाद भी बनी रहती है, जैसा कि बाद में उसकी पहचान

1. देखिए, गौड़पाद-कारिका, 2.14। निश्चय ही यह भी हो सकता है कि ज्ञान-काल में ही वह लुप्त और नष्ट हो जाए।

से प्रकट होता है।[1] दूसरी ओर, भ्रम की वस्तु तभी तक अस्तित्व रखती है जब तक हम उसे देखते रहते हैं और जब हमारा उसे देखना बन्द हो जाता है तब वह भी लुप्त हो जाती है। साधारण ज्ञान की वस्तु को व्यावहारिक और भ्रम की वस्तु को प्रातिभासिक कहा गया है। स्वप्न की वस्तुएँ, जिनका जाग्रत अवस्था की वस्तुओं से अन्तर बताया जा चुका है, दूसरे प्रकार की हैं।

यह याद रखना जरूरी है कि जिन वस्तुओं को हमने निजी कहा है, वे प्रत्यय मात्र यानी बिलकुल मनस्तन्त्र नहीं है। यदि वे ऐसी होतीं तो अद्वैत का ज्ञान-सिद्धान्त वही होता जो योगाचार का है, जिसका शंकर ने पूरी तरह खण्डन किया है[2] और जिसके अनुसार ज्ञान के बाहर वस्तु का अस्तित्व नहीं है तथा साधारणतः ज्ञान और वस्तु में जो भेद किया जाता है वह असत्य है। निश्चय ही निजी वस्तु का इसके अलावा कोई अर्थ नहीं है कि वह किसी विशेष व्यक्ति पर आश्रित है। ध्यान देने की बात यह है कि वह मानसिक नहीं है बल्कि मन की वस्तु है। प्रातिभासिक वस्तुओं की उत्पत्ति और प्रकृति की व्याख्या में, जिसकी चर्चा शीघ्र ही की जाएगी, यह स्पष्ट रूप से समझाया गया है। अभी सिर्फ़ यह बता दिया जाए कि यह सामान्य धारणा कितनी निर्मूल है कि शंकर दैनिक अनुभव की वस्तुओं को मिथ्या या असत् मानता है। यह तो दूर की बात है, शंकर भ्रम की वस्तुओं तक को एक प्रकार की सत्ता प्रदान कर देता है। उसकी दृष्टि में दिखाई देने का मतलब अस्तित्ववान् होना है और इसलिए उसके सिद्धान्त को उस सिद्धान्त का उलटा कहा जा सकता है जो पाश्चात्य दर्शन में बर्कले के नाम के साथ जुड़ा है। इस व्याख्या में एक बहुत बड़ा लाभ है। यह भ्रम के होने को ठीक-ठीक समझा देती है। भ्रम में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम 'साँप' या 'चाँदी' को देख रहे हैं। भ्रम के अन्य सिद्धान्त वस्तु के स्थान-विशेष और काल-विशेष में विद्यमान दिखाई देने के तथ्य को समझाने के बजाय तथ्य का ही निषेध कर देते हैं।

---

1. यह कहा जा सकता है कि यह विशेषता भ्रम में भी होती है, और इस सीमा तक साधारण ज्ञान की वस्तुओं का भ्रम की वस्तुओं से अन्तर नहीं रहता। उदाहरणार्थ, एक बार देखा हुआ 'रज्जु-सर्प' कुछ समय के बाद भी पहचाना जा सकता है, बशर्ते इस बीच गलती को सुधार न लिया जाए। इस मत को गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता; और ऐसे अद्वैती हुए हैं जिनका यह मत रहा है (देखिए, सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 105-6)। लेकिन यह हमें अन्त में अहंमात्रवाद में पहुँचा देगा और इसलिए यह सामान्य रूप से स्वीकृत अद्वैत-मत नहीं है।
2. वेदान्तसूत्र, 2.2.28-32।

ज्ञान की वस्तुओं के इस प्रकार-भेद को दृष्टि में रखकर हम मिथ्या ज्ञान का कारण एक ही निर्णय मे भिन्न प्रकार की वस्तुओं का सम्बन्धित होना कह सकते हैं।[1] 'यह रजत है', इस उदाहरण में 'यह' (शुक्ति) व्यावहारिक अस्तित्व रखता है और 'रजत', जिसका उसके ऊपर आरोप किया गया है, केवल प्रातिभासिक अस्तित्व रखता है। दूसरे शब्दो मे, मिथ्या ज्ञान 'अनुचित अध्यारोप' अथवा, जैसा कि शंकर ने वेदान्त-सूत्र के अपने प्रसिद्ध उपोद्घात में कहा है, अध्यास है। यद्यपि व्यावहारिक और प्रातिभासिक दोनों ही बाह्यार्थ हैं, तथापि ऊपर बताये हुए हेतुओं से हम अध्यस्त वस्तु को उससे कम सत्य मानते हैं जिस पर उसका अध्यास किया जाता है। ऐसे ज्ञान के मिथ्यात्व का तब तक पता नही चलता जब तक हमे उसके द्वारा सम्बन्धित वस्तुओं के वैषम्य का बोध नही हो जाता। जब कोई व्यक्ति वहाँ रजत देखता है जहाँ केवल शुक्ति का अस्तित्व है, तब निश्चय ही वह नही जानता कि रजत मिथ्या है। इसके बजाय उसे पूरा विश्वास होता है कि उसका ज्ञान अन्य ज्ञानों की तरह ही प्रमाण है। लेकिन जब वह पास जाकर रजत प्रतीत होनेवाली वस्तु को उठाता है और देखता है कि वह रजत की अपेक्षा बहुत हलकी है, तब वह तुरन्त समझ जाता है कि उसे भ्रम हुआ है। अतः भ्रम का ज्ञान इस अन्य ज्ञान[2] से होता है और चूँकि इस ज्ञान की वस्तु व्यावहारिक प्रकार की है, इसलिए इसका पहले ज्ञान की तरह बाध नही होता।[3] अब प्रश्न यह उठता है कि मिथ्या ज्ञान के उद्देश्य और विधेय मे क्या सम्बन्ध है? अभेद का सम्बन्ध तो हो नही सकता, क्योंकि सत्ता के अलग-अलग स्तरो से सम्बन्धित वस्तुओं को अभिन्न नहीं कहा जा सकता। भेद भी नही हो सकता, क्योंकि तब एक ही वाक्य, 'यह रजत है', में वे उद्देश्य और विधेय के रूप मे नही आ सकते। भेदाभेद भी वह नहीं है, क्योंकि, जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में देखेंगे, यह प्रत्यय स्वव्याघाती है। अतः इस सम्बन्ध को विलक्षण माना गया है और तादात्म्य[4] कहा गया है। यह सम्बन्ध सत्य नहीं है, क्योंकि यह ऐसी वस्तुओं

---

1. देखिए, वेदान्त-परिभाषा, पृ० 153। सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्व-स्वीकारात्।
2. परतः एव अप्रामाण्यम्—वेदान्तपरिभाषा, पृ० 338।
3. इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि दुःख, सुख और अन्य अन्तःकरण-वृत्तियाँ यद्यपि 'निजी' हैं तथापि उनका इस प्रकार बाध नहीं होता, और इसलिए वे प्रातिभासिक नहीं हैं। अन्तःकरण पर भी यही बात लागू होती है।
4. न्याय-वैशेषिक में इस शब्द का प्रयोग किसी वस्तु का स्वयं से अभिन्न होने के अर्थ

के बीच है जो सत्ता की दो भिन्न कोटियों की हैं। स्वप्न में जो पानी पिया जाता है वह वास्तविक प्यास को नहीं बुझा पाएगा। लेकिन यह सम्बन्ध मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि इसका अनुभव होता है। इसलिए जिन वस्तुओं को यह सम्बन्धित करता है उनमें से निम्न कोटिवाली की तरह यह प्रातिभासिक है, व्यावहारिक नहीं। इतना और कहा जा सकता है कि यह सम्बन्ध ऐसा है कि सम्बन्धित दो वस्तुओं में से जो उच्च कोटि की है उसके निषेध से अनिवार्यतः उसका भी निषेध हो जाता है जो निम्न कोटि की है। लेकिन इसका विलोम सही नहीं है। यदि शुक्ति का निषेध किया जाए, तो रजत का भी निषेध हो जाता है; पर रजत के निषेध की शुक्ति के विधान के साथ बिलकुल संगति है।[1] यही प्रतिभास है। इसलिए हम शुक्ति को रजत का अधिष्ठान[2] और रजत को शुक्ति का प्रतिभास कहते हैं।

अध्यास के प्रत्यय को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इस तथ्य से कि जहाँ कहीं अध्यास होता है वहाँ सत्ता की दो कोटियों का अन्तर प्रतीत नहीं होता, यह निष्कर्ष निकलता है कि अध्यास अज्ञानमूलक होता है। क्योंकि हम शुक्ति को भूल जाते हैं, इसलिए उसकी जगह हमें रजत दिखाई देता है। अन्य कारण भी होते हैं, जैसे, रजत का पहले अनुभव हो चुका होना, दोषपूर्ण दृष्टि इत्यादि। परन्तु हमारे उद्देश्य के लिए इतना काफी होगा कि हम उनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण, अविद्या, पर ही ध्यान केन्द्रित रखें। अविद्या अज्ञान का ही दूसरा नाम है। ज्ञान की तरह ही इसका भी कोई व्यक्ति आश्रय होता है और कोई वस्तु इसका विषय होती है। ज्ञान का वर्णन तब तक पूरा नहीं होता जब तक उसका आश्रय, ज्ञाता, और उसका विषय, वस्तु, न बता दिया जाए। इसी तरह अविद्या के मामले में भी कोई व्यक्ति होना चाहिए जो उससे विशिष्ट हो और कोई विषय होना चाहिए जिसे उसमें गलत जाना गया हो। 'शुक्ति-रजत' भ्रम में वह व्यक्ति आश्रय है जो शुक्ति को रजत के रूप में देखता है और शुक्ति विषय है। इस प्रकार से अवच्छिन्न

में हुआ है। कुमारिल इत्यादि ने भेदाभेद के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है। यहाँ इसका इनमें से कोई भी अर्थ नहीं है।

1. इस कारण रजत को शुक्ति का अनन्य कहा गया है। इसका अर्थ शंकर के अनुसार वह है जो पृथक् अस्तित्व न रखे। अनन्यत्व व्यतिरेकेण अभावः। देखिए, वेदान्त-सूत्र-भाष्य, 2.1.14।

2. अर्थात् आसन्न अधिष्ठान। अन्तिम अधिष्ठान सदैव चैतन्य होता है।

अविद्या[1] को ही रजत का कारण कहा गया है[2]; और इसका व्यापार द्विविध है। यह सत्य, शुक्ति, को छिपा देती है और उसकी जगह रजत को दिखाती है। जहाँ केवल शुक्ति है वहाँ रजत दिखाई देने के लिए शुक्ति का छिपना आवश्यक है। प्रतिस्थापन के पहले गोपन होता है। अविद्या के इन दो पक्षों को क्रमशः 'आवरण' और 'विक्षेप' कहा गया है। चूँकि अविद्या शुक्ति को पूरी तरह से नहीं छिपाती, इसलिए वह ज्ञान का अभाव—विचार में एक रिक्त स्थल मात्र—नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है, और इसलिए उसे भाव-रूप कहा गया है। वह विद्या की विपरीत है, व्याघाती नहीं; और इसके परिणामस्वरूप जो मिथ्या ज्ञान होता है वह अविद्या के हटने से दूर होता है, जो तब हटती है जब उसी व्यक्ति के अन्दर उसी वस्तु के बारे में, विद्या का उदय होता है। इस अविद्या का आश्रय एक विशेष व्यक्ति होता है और इसका विषय एक विशेष वस्तु होता है। यही रजत की, जिसका मूल यह अविद्या कही गई है, विलक्षणता का कारण है। क्योंकि इस रजत का अधिष्ठान एक विशेष बाह्य वस्तु है, इसलिए यह बाहर स्थित—देशावच्छिन्न—प्रतीत होता है, न कि एक प्रत्यय मात्र, और क्योंकि इस अविद्या का आश्रय एक विशेष व्यक्ति होता है, इसलिए यह जो भ्रम पैदा करती है वह विशेष रूप से उसी को होता है। अविद्या का यह व्यक्तिगत स्वरूप ही निजी वस्तुओं को व्यावहारिक वस्तुओं से अलग करता है। जैसाकि हम आगे देखेंगे, व्यावहारिक वस्तुएँ सीधे माया से उत्पन्न होती हैं और 'सार्वजनिक' होती हैं अर्थात् अन्यों को भी दिखाई देती हैं। यद्यपि वे वस्तुएँ जिनका हम इस समय वर्णन कर रहे हैं, एक अलग ही कोटि की होती हैं, तथापि वे दूसरी कोटि से बिलकुल विच्छिन्न नहीं होतीं, क्योंकि निजी वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली अविद्या उसी मूल माया[3] से उत्पन्न होती है जिससे प्रकृति की सामान्य कोटि की चीजें उत्पन्न होती हैं और इसीलिए उसे कभी-कभी 'तूलाविद्या'[4] अर्थात् सहायक अविद्या कहा जाता है। मूल के एक होने से ही

1. इस अविद्या को वह अविद्या नहीं समझना चाहिए जिसे पीछे जीव का कारण शरीर कहा गया है। वह जीव की निर्मात्री है जबकि यह उसकी एक अस्थायी अवस्था है। वह मोक्ष की प्राप्ति तक बनी रहती है और यह उस भ्रम के दूर होने पर, जिसे यह पैदा करती है, तिरोहित हो जाती है।
2. अविद्या भ्रम का साक्षात् कारण है, परन्तु प्राक्कल्पना के अनुसार सब ज्ञानों का कोई विषय होता है और यहाँ उस विषय, 'रजत', का कारण उसी अविद्या को माना गया है, क्योंकि उसका कोई अन्य कारण ज्ञात नहीं है।
3. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 140।
4. वेदान्तपरिभाषा, पृ० 168। तब माया 'मूलाविद्या' कहलाती है।

मोक्ष की अवस्था में माया के तिरोहित होने पर बाह्य सत्ता की दोनों कोटियों का समान रूप से लोप हो जाता है। अन्यथा तब व्यावहारिक वस्तुओं का लोप हो जाने पर भी प्रातिभासिक वस्तुएँ बनी रहती।

अध्यास का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण ऐसा है जिस पर अभी विशेष रूप से विचार करना है। यह अहम्-पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसा इसे निरवयव और नित्य मानते हैं। वस्तुतः ये दर्शन जिसे आत्मा कहते हैं, वही यहाँ जीव या अहम्-पदार्थ है। लेकिन अद्वैती इस रूप में आत्मा की अखण्डता का निषेध करता है और, जैसा कि हम जानते हैं, उसे साक्षी और अन्तःकरण का योग मानता है। इस मत के समर्थन मे वह दो हेतु देता है : एक आत्म-चेतना है, जो एक ही आत्मा को दो विपरीत लक्षणों, विषयित्व और विषयत्व, से युक्त दिखाकर उसके संयुक्त स्वरूप को सिद्ध करती है। दूसरा हेतु सुषुप्ति के अनुभव की विलक्षणता है। यदि जीव निरवयव और नित्य हो, तो सभी प्रकार के अनुभवों में समान रूप से इसका निर्देश होना चाहिए। परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार सुषुप्ति मे इसका निर्देश नही होता। इसलिए बाध्य होकर यह मानना पड़ता है कि इसमे दो अंश होते हैं, जिनमें से केवल एक, साक्षी, तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। दूसरा अंश, अन्तःकरण, केवल जाग्रत् और स्वप्न में विद्यमान होता है, और इसलिए इन अवस्थाओं के सारे विशिष्ट लक्षणों का कारण इसी को मानना चाहिए। 'राग, इच्छा, सुख, दुःख इत्यादि का अनुभव तब होता है जब अन्तःकरण सक्रिय होता है, लेकिन सुषुप्ति में नहीं होता; अतः ये अन्तःकरण के व्यापार हैं।'[1] न्याय-वैशेषिक और मीमांसा आत्मा को निरवयव मानते हुए उसे शरीर, इन्द्रियों इत्यादि से पृथक् मानते हैं। लेकिन साधारणतः इन परस्पर पृथक् वस्तुओं का अभेद कर दिया जाता है, जैसे यह कहने में कि 'मैं मोटा हूँ', 'मैं अन्धा हूँ' इत्यादि। 'मोटापन' और 'अन्धापन' क्रमशः शरीर और दृष्टि-ज्ञानेन्द्रिय के लक्षण हैं और यहाँ इनका आत्मा के ऊपर आरोप कर दिया गया है। ये दर्शन इस अभेद का थोड़ा-बहुत चेतनापूर्वक किया जाना मानते हैं, जैसे तब जब हम किसी मनुष्य को 'दैत्य' कहते हैं, और इसलिए इसका केवल गौण या आलंकारिक अर्थ मानते हैं। इस मत के समर्थन मे वे कहते हैं कि हम साथ ही 'मेरा शरीर' इत्यादि भी कहते हैं, जहाँ आत्मा

1. रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशात् तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः।
ये सब साक्षी के द्वारा अनुप्राणित वृत्तियाँ हैं और इनका केवल वृत्ति-पक्ष ही अन्तःकरण का है। यहाँ सांख्य-योग से सादृश्य स्पष्ट दिखाई देता है

का शरीर इत्यादि मे भेद स्पष्ट रूप से प्रकट है। अद्वैती इस व्याख्या को स्वीकार नही करता। उसका कहना है कि गौण प्रयोग के समय अभिन्न मानी जानेवाली वस्तुओं के भिन्न होने की जो चेतना रहती है उसका यहाँ अभाव है और इस-लिए वह उनमे अभेद किए जाने का कारण शरीर, इन्द्रिय इत्यादि और साक्षी के बीच अज्ञानपूर्वक इतरेतराध्यास होना मानता है। इस प्रकार उसका मत यह है कि इन वस्तुओं के सच्चे स्वरूप का अज्ञान ही इस अभेद के मूल में है और यह अध्यास का ही एक उदाहरण है। वह मानता है कि कभी-कभी अवश्य ही हम दोनो मे अन्तर करते हैं, जैसे तब जब हम कहते हैं कि 'यह मेरा शरीर है'; लेकिन इसे वह सत्य की एक झलक मात्र मानता है, जिसको हम शीघ्र ही भूल भी जाते है। यह तर्क अन्तःकरण पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए, जब किसी व्यक्ति को दुःख महसूस होता है और वह कहता है कि 'मैं दुःखी हूँ', तब वह अनुचित तरीके से एक ऐसी बात का सच्चे आत्मा में अध्यास करता है जो पिछले तर्क के अनुसार अन्तःकरण से सम्बन्ध रखती है।[1] यदि अहम्-पदार्थ सावयव है और अध्यास का फल है, तो उसकी अवयवभूत वस्तुओं को सत्ता की अलग-अलग कोटियो से सम्बन्धित होना चाहिए। यहाँ एक तीसरे प्रकार की सत्ता का भी हमे संकेत मिलता है, क्योंकि इस अध्यास में शामिल दो वस्तुओं मे से एक, अन्तःकरण, माया का परिणाम होने से एक व्यावहारिक सत्ता है और इसलिए अविद्यामूलक प्रतिभासों से उच्चकोटि की सत्ता है। अन्तःकरण मे भी उच्च-कोटि की सत्ता साक्षी (अधिक सही 'साक्षिस्वरूप'[2] कहना होगा) है, जो स्वयं ब्रह्म ही है। इसे पारमार्थिक सत्ता कहा गया है।[3]

यदि मिथ्या ज्ञान का मतलब भिन्न कोटियों की वस्तुओं को परस्पर

1. न्याय-वैशेषिक और मीमांसा भी मनस् को, जो अद्वैती के अन्तःकरण के तुल्य है, आत्मा मे भिन्न मानते हैं; परन्तु वे दुःख इत्यादि को सीधे आत्मा के गुण मानते हैं। अतः इन दर्शनों के अनुसार 'मैं दुःखी हूँ', इस प्रकार के अनुभव में ऐसी कोई असामान्य बात नहीं है जिसके स्पष्टीकरण की जरूरत हो।
2. जैसा कि पहले बताया जा चुका है, साक्षी का प्रत्यय अन्तःकरण का सापेक्ष है और इसलिए इसे पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता। 'साक्षि-स्वरूप' का अर्थ है शुद्ध साक्षी।
3. कुछ केवल एक ही प्रकार की सत्ता मानते हैं। देखिए, वेदान्तपरिभाषा, पृ० 221-3। कुछ व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं में कोई भेद नहीं करते। ऐसे लोगों के मतानुसार जाग्रत् अवस्था की सत्ता स्वप्नावस्था की सत्ता से श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक में जो सत्य है उसका दूसरी में बाध हो जाता है। देखिए पृ० 350, टिप्पणी 3।

सम्बन्धित करना है, तो सत्य ज्ञान उपलक्षणा से एक ही कोटि की वस्तुओं को सम्बन्धित करना हुआ। लेकिन कुछ कारणों से, जिन्हें हम शीघ्र ही बताएँगे, हम इस परिभाषा को केवल व्यावहारिक वस्तुओं के क्षेत्र में ही लागू होनेवाली मानेंगे, प्रातिभासिक वस्तुओं के क्षेत्र मे नहीं, जिनका व्यावहारिक वस्तुओं से तुलना करके देखने पर बाध हो जाता है। 'यह हाथी है', इस तरह का एक स्वप्नावस्था का निर्णय सत्य नहीं है, हालांकि इसके दोनों पद समान रूप से प्रातिभासिक कोटि की सत्ताएँ हैं। इसका कारण यह है कि जागने पर इन दोनों ही का बाध हो जाता है।[1] तदनुसार प्रमाण वह ज्ञान है जिसकी विषय-वस्तु का बाद के अनुभव से बाध नहीं होता।[2] शुक्ति मात्र जहाँ हो वहाँ दिखाई देनेवाला रजत बारीकी से देखने पर लुप्त हो जाता है, परन्तु शुक्ति का इस प्रकार लोप नहीं होता। अतः रजत का ज्ञान भ्रम है और शुक्ति का ज्ञान प्रमा है। यह सच है कि किसी और ऊँचे दृष्टिकोण से शायद शुक्ति का ज्ञान भी भ्रम सिद्ध हो; लेकिन व्यावहारिक वस्तुओं का प्रातिभासिक वस्तुओं से वैषम्य दिखाते समय इस बात को छोड़ा जा सकता है। शुक्ति के ज्ञान को प्रमा कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि रजत के ज्ञान के विपरीत इसका सत्य होने का दावा पूरे व्यावहारिक जीवन मे सही बना रहता है[3]—यह नहीं है कि यह परमार्थतः सत्य है। अनधिगतत्व (नवीनता) को प्रमाण का एक आवश्यक लक्षण मानने (पृ० 312) या न मानने के बारे में अद्वैती उदासीन है; फिर भी भाट्ट-मत का पक्षपाती होने से वह इसे प्रामाण्य की शर्तों में शामिल करना अधिक पसन्द करेगा। अपौरुषेय ज्ञान के बारे मे जो आस्तिक मत है (पृ० 180) उसके अनुसार श्रुति के मामले में यह शर्त आवश्यक है।[4]

मीमांसा के कुमारिल-सम्प्रदाय के प्रसंग मे जिन छह प्रमाणों की चर्चा की गई है, वे सब अद्वैत को मान्य है और उनसे सम्बन्धित विस्तार की बातो मे भी दोनों मे सामान्य सहमति है।[5] जिन बातों में मतभेद है, उनमे से केवल

1. यहाँ अध्यास का अधिष्ठान चैतन्य माना गया है, जो कि 'शुक्ति-रजत' का भी अन्तिम अधिष्ठान है (वेदान्तपरिभाषा, पृ० 162-3)। एकमात्र अन्तर दोनों में यह है कि दूसरे में एक व्यावहारिक वस्तु (शुक्ति) के माध्यम से भ्रम होता है जबकि पहले में बिना माध्यम के ही सीधे भ्रम होता है।
2. वेदान्तपरिभाषा, पृ० 19 इत्यादि।
3. वही, पृ० 36 8।
4. वही, पृ० 298।
5. यह उक्ति ध्यान देने योग्य है : व्यवहारे भाट्टनयः।

निम्नलिखित की संक्षिप्त चर्चा पर्याप्त होगी। ये सब श्रुति को लेकर हैं—

(i) मीमांसा इस मत को अस्वीकार करती है कि वेद की किसी ने कभी रचना की थी (पृ० 311)। न्याय-वैशेषिक वेद को ईश्वरकृत मानता है (पृ० 257)। इस बात में शंकर का मत अन्य वेदान्तियों के मत की तरह उक्त दो मतों के बीच का है। मीमांसक की तरह लेकिन न्याय-वैशेषिक के विपरीत वह मानता है कि वेद अपौरुषेय है; परन्तु अपौरुषेयत्व की वह नये सिरे से परिभाषा करता है और फलतः यह मानता है कि वेद अकृतक और नित्य नहीं है, बल्कि प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में कोई ऐसी शक्ति उसे उत्पन्न (अधिक सही पुनरुत्पन्न कहना होगा) करती है जो उसकी विषयवस्तु या उसके शब्दों के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। 'रघुवंश' इत्यादि ग्रन्थों की रचना उनके रचयिताओं के द्वारा स्वेच्छानुसार की गई है। लेकिन यहाँ दूसरी बात है। वेद का सर्वप्रथम उद्घोष करनेवाला, जो स्वयं ईश्वर है, प्रत्येक कल्प में नये सिरे से उसका उद्घोष करता है, परन्तु उसका रूप ठीक वही रहता है जो पिछले कल्पों में था। अर्थात् अद्वैत भी वेद को स्वयंभू मानता है; केवल यह नहीं मानता कि ठीक वही वेद सदैव रहता है, बल्कि कुछ इस तरह मानता है जैसे कि मानो वेद अनादि काल पहले के एक शाश्वत संस्करण के पुनर्मुद्रणों की एक शृंखला हो। यह मत स्पष्टतः मीमांसा-मत से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। अन्तर केवल यह है कि इसमें ईश्वर को स्थान दिया गया है।

(ii) कुमारिल का अनुसरण करते हुए शंकर ने वेद के बाहर भी शब्द को प्रमाण माना है; लेकिन वेद के अन्दर वह शब्द के प्रामाण्य को केवल विधिपरक वाक्यों तक ही सीमित नहीं मानता (पृ० 317)। वेद में पाए जानेवाले सिद्ध-वस्तु-विषयक वाक्य भी उतने ही प्रमाण हो सकते हैं। इस प्रकार शब्द-प्रमाण के रूप में वेद के स्वरूप में ऐसी कोई बात नहीं है जो उसे सीधे ब्रह्म (जो कि पारमार्थिक सत्ता है) इत्यादि सिद्ध-वस्तुओं (भूत-वस्तुओं) का वर्णन करने से रोके। फलतः यहाँ उपनिषदों में पाए जानेवाले 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का स्वतन्त्र तार्किक मूल्य है, और मीमांसा की तरह साध्यवस्तु-विषयक वाक्यों से किसी रूप में इन्हें गौण मानने की जरूरत नहीं समझी गई है।

(iii) अद्वैत के अनुसार वेद इस सत्य का उपदेश देते हैं कि सत्ता मूलतः एक है, जो कि मीमांसक के विचार के विपरीत है। बाद में हम देखेंगे कि अद्वैत में इस एकता को किस अर्थ में ग्रहण किया गया है। अभी हम प्रमाणों

की योजना में प्रत्यक्ष की स्थिति पर विचार करेंगे, क्योंकि प्रत्यक्ष से नानात्व की पुष्टि होती लगती है और इस प्रकार उसका श्रुति से, जो सबके एकत्व का उपदेश करती है, विरोध हो जाता है। अन्य प्रमाणों की ही तरह प्रत्यक्ष का भी शंकर के अनुसार मुख्य लक्ष्य व्यावहारिक प्रयोजनों का साधक होना है। उसके तात्त्विक प्रामाण्य की कोई गारंटी नहीं है[1] और इसलिए हो सकता है कि जिसे हम साधारणतः सत्य मानते हैं वह तत्त्वतः सत्य न हो। शंकर ने कहा है :[2] "साधारण ज्ञान केवल तभी तक सही है जब तक आत्मा के ब्रह्म से अभेद का ज्ञान नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे स्वप्न तभी तक सत्य लगता है जब तक आदमी जागता नहीं।" दूसरे शब्दों में, जगत् के पारमार्थिक मिथ्यात्व के साथ उसके व्यावहारिक सत्यत्व का कोई विरोध नहीं है।[3] इस प्रकार के मत से स्वतःप्रामाण्य की धारणा, जिसे मीमांसक की तरह अद्वैती ने भी स्वीकार किया है, बहुत बदल जाती है। अद्वैत के अनुसार भी ज्ञान का प्रामाण्य व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह स्वरूपतः प्रमाण होता है। लेकिन उपर्युक्त कारण से यहाँ स्वतःप्रामाण्य को *सापेक्ष अर्थ में समझना होगा, निरपेक्ष अर्थ में नहीं,* जैसाकि मीमांसा में समझा गया है। मोटे तौर से वेद का भी प्रामाण्य ऐसा ही है। जब वेद यह कहता है कि किसी एक यज्ञ के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, तब यह निश्चय ही सत्य है; परन्तु वेद के ऐसा कहने से स्वर्ग या उससे सम्बन्धित किसी चीज की अन्तिम सत्यता सिद्ध नहीं होती। तथ्य यह है कि अद्वैत एक ऊँचे दृष्टिकोण को स्वीकार करता है जो कि पारमार्थिक दृष्टिकोण है और जिससे वेद-सहित सारे प्रमाणों का सापेक्ष प्रामाण्य समाप्त हो हो जाता है। इसके अपवाद केवल उपनिषदों के उन वाक्यों को माना गया है जो सम्पूर्ण सत्ता की एकता का उपदेश देते हैं। ये वाक्य पारमार्थिक दृष्टि से प्रमाण हैं, क्योंकि ये जो ज्ञान देते हैं उसका कभी बाध नहीं होता। परन्तु इससे स्वयं इस प्रमाण की पारमार्थिक सत्ता नहीं हो जाती, क्योंकि मोक्ष में, जबकि ब्रह्म के सिवाय कुछ भी नहीं बचता, इस प्रमाण का भी लोप अवश्यंभावी है। इससे ऐसा प्रकट होता है कि मिथ्या साधन से सत्य लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। यह स्थिति अमान्य लग सकती है, लेकिन जीवन में ऐसा अनेक बार होता है। दर्पण में दिखाई देनेवाला मनुष्य का प्रतिबिम्ब सत्य नहीं है, फिर भी वह

1. नैष्कर्म्यसिद्धि, 2.5; 3.44 और 83-6।
2. वेदान्तसूत्र, 2.1.14।
3. देखिए, Deussen : System of the Vedānta, पृ० 55। वेदान्तसूत्र-भाष्य, 1.1.4 के अन्त में शंकर द्वारा उद्धृत श्लोकों से तुलना कीजिए।

मनुष्य को उसकी आकृति के बारे में अनेक तथ्य बता ही देता है। स्वप्न में शेर का गर्जन सत्य नहीं होता, फिर भी उससे स्वप्न देखनेवाला जागकर वास्तविक जीवन में लौट आता है। लेकिन इस प्रकार भ्रम की उपयोगिता को स्वीकार करते समय यह याद रखना जरूरी है कि कोई भी चीज यहाँ नितान्त असत्य नहीं है और इसलिए मिथ्या साधन भी सत्य के अंश से बिलकुल रहित नहीं होता।[1]

यहाँ तक वृत्ति-ज्ञान के बारे में कहा गया है, जो कि हमारा सामान्य रूप से परिचित ज्ञान है। परन्तु अद्वैती विश्लेषण के अनुसार ऐन्द्रिय ज्ञान एक भौतिक तत्त्व और एक चैत तत्त्व का मिश्रण है और इन दोनों में से कोई भी अकेला हमारे जाने पहचाने अनुभव की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। अब हमें इस विश्लेषण के चैत पक्ष में गर्भित बातों को पूरी तरह से बताना है। चैत तत्त्व साक्षी है जो एक शाश्वत ज्योति की तरह सदैव विद्यमान रहता है। यह अनुभव में रहनेवाला नित्य और अपरिवर्तनशील तत्त्व है, जो सुषुप्ति में भी बना रहता है। जिस अन्तःकरण से यह वर्तमान काल में जुड़ा हुआ प्रतीत होता है, उससे अवच्छिन्न होने से यह व्यष्टिरूप और सविशेष होता है। इसलिए यह जीव-साक्षी कहलाता है। जिसका एक साक्षी को अनुभव होता है—जाग्रत् और स्वप्न में अपने अन्तःकरण के माध्यम से और सुषुप्ति में अविद्या के माध्यम से—उसका अन्य साक्षियों को भी अनुभव होना जरूरी नहीं है। परन्तु अस्तित्ववान् वस्तुओं को समष्टि-रूप में किसी साक्षी के अनुभव के विषय के रूप में ही समझा जा सकता है, क्योंकि अद्वैत के पारमार्थिक प्रत्ययवाद के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय के बाहर कुछ भी सत्य नहीं हो सकता। इस तर्क से एक विश्व-साक्षी (ईश्वर-साक्षी) मानना पड़ता है, जो सब अस्तित्ववान् वस्तुओं का आधार है।[2] यह वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है और जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में अधिक स्पष्ट करेंगे, यही अद्वैत का ब्रह्म है। इसे स्वरूपज्ञान अथवा शुद्ध चैतन्य कहा गया है। वृत्ति-ज्ञान इसी से अनुप्राणित है। इस अपरिच्छिन्न चैतन्य के प्रकाश के बिना व्यावहारिक ज्ञान का कोई अस्तित्व हुआ ही न होता।

संक्षेप में, अनुभव के विश्लेषण से एक ओर तो हमें अपरिच्छिन्न चैतन्य प्राप्त होता है और दूसरी ओर वस्तुओं के दो जगत् प्राप्त होते हैं, जिनकी उस चैतन्य से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। उस परम तत्त्व का हम साक्षी के स्वरूप

1. देखिए, वेदान्तसूत्र, 2.1.14 पर शांकर-भाष्य; नैष्कर्म्यसिद्धि, 3.108-9।
2. वेदान्तपरिभाषा, पृ० 102 इत्यादि।

से अनुमान कर सकते हैं, जैसा कि हमने अभी किया है, अथवा वस्तुओं के उन दो जगतों से भी अनुमान कर सकते हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि जैसे प्रातिभासिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता की ओर संकेत करती है, ठीक वैसे ही व्यावहारिक सत्ता भी पारमार्थिक सत्ता की ओर संकेत करती है। यदि प्रतिभास का केवल ज्ञानपर्यन्त अस्तित्व रहता है और व्यावहारिक वस्तु उसके बाद भी हमेशा बनी रहती है, तो यह पारमार्थिक वस्तु कालातीत है। इस प्रकार सत्ता की कुल तीन कोटियाँ हैं, जिनमें से केवल दो कालावच्छिन्न हैं। तीसरी, जो कि वही है जिसे ऊपर स्वरूपज्ञान कहा गया है, वेदान्त का ब्रह्म है। इस सर्वोच्च सत्ता को मानने मे मिथ्या ज्ञान का एक नया रूप प्रकट होता है। यहाँ तक हमने जिस मिथ्या ज्ञान पर ध्यान दिया है उसमें एक प्रातिभासिक वस्तु का एक व्यावहारिक वस्तु पर अध्यारोप किया जाता है। इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान से हम सुपरिचित हैं। परन्तु यदि मिथ्या ज्ञान अनुचित अध्यारोप है तो परम सत्ता पर व्यावहारिक सत्ता का अध्यारोप भी मिथ्या ज्ञान है। फिर भी यह ऐसा मिथ्या ज्ञान नही है जो दूसरे मिथ्या ज्ञान की तरह व्यावहारिक जगत् के अन्दर होता हो, बल्कि उसके मूल में रहनेवाला मिथ्या ज्ञान है। प्रमाता (ज्ञाता) की धारणा स्वयं इस पर आधारित है, क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं, इसमें दो विरुद्ध स्वभाववाली वस्तुओं की इतरेतरापत्ति रहती है। इसलिए यह हमारे ज्ञान को जन्मतः दूषित किए रहती है। जिस रूप मे सम्पूर्ण जगत् का हमे अनुभव होता है, वह इस तात्त्विक भ्रम की उपज है, जिसमे व्यावहारिक सत्ता को पारमार्थिक मान लिया जाता है। वह अपने अधिष्ठान, ब्रह्म, से अलग कोई अस्तित्व नहीं रखता।[1] अर्थात्, एक और भी ऊँचा दृष्टिकोण है, जिससे व्यावहारिक वस्तुएँ भी प्रतिभास मात्र हैं। इसी अर्थ मे अद्वैत जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को एकमात्र सत्य कहता है। इस प्रकार अद्वैत में सत्य और मिथ्या की धारणाएँ सापेक्ष हैं और किसी ज्ञान को यह उल्लेख किए बिना कि अमुक कोटि की सत्ता के दृष्टिकोण से उसे जाँचा जा रहा है, सत्य या मिथ्या कहना अनुचित है। यही कारण है कि हमने ऊपर सत्य की परिभाषा एक विशेष कोटि की सत्ता, व्यावहारिक सत्ता, के दृष्टिकोण से दी है। लेकिन यह सत्य भी वास्तव में मिथ्या है। केवल यह बात हमे नहीं भुलानी चाहिए कि अद्वैत के अनुसार मिथ्या ज्ञान केवल अंशतः ही मिथ्या है, क्योंकि उसमें सत्य का अंश रहता है—उदाहरण के लिए, 'शुक्ति-रजत' ज्ञान में शुक्ति और शुक्ति-

1. सांख्य-योग के मत से वैषम्य देखिए, जिसके अनुसार जीव का निर्माण करनेवाले तत्त्व स्वतन्त्र रूप में भी सत्य हैं।

ज्ञान में भी, जब हम उसे सत्य नहीं मानते तब, वह पारमार्थिक सत्ता जिसका वह प्रतिभास है ।

: 3 :

अद्वैत के ज्ञान-सिद्धान्त की चर्चा करते समय हम उसके तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त की पहले ही मोटी रूपरेखा बता चुके हैं । अब हम कुछ विस्तार की बातों के साथ उसी को दोहराएंगे । ऊपर उल्लिखित तीन प्रकार की सत्ताओं में से केवल दो, व्यावहारिक और पारमार्थिक, सत्ताओं के बारे में कहना काफ़ी होगा । हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यावहारिक सत्ता सबके लिए वही है और व्यक्ति के ज्ञान से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है । निस्सन्देह इसके विभिन्न व्यक्तियों को होनेवाले अनुभवों में आंशिक भेद होता है, क्योंकि प्रत्येक को जगत् के उतने ही अंश का ज्ञान होता है जितना उसकी सीमित शक्तियों की पहुँच के अन्दर होता है और उसके स्वभाव-विशेष से साम्य रखता है । पंचदशी (4.20.35) में इसका एक दृष्टान्त दिया गया है : एक पिता घर से दूर विदेश गये हुए अपने पुत्र के बारे में यह सोच सकता है कि वह जीवित है जबकि वास्तव में उसकी मृत्यु हो चुकी है । फिर एक ही वस्तु अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग और कभी-कभी विरुद्ध भाव भी पैदा कर सकती है । परन्तु विभिन्न व्यक्तियों के अनुभवों के ये जगत् परस्पर बिलकुल अलग नहीं हैं, जैसा कि हम साधारणतः मानते भी हैं, उनका एक सामान्य आधार होता है, जबकि दो या अधिक व्यक्तियों के स्वप्न-जगतों का कोई सामान्य आधार नहीं होता । यही वास्तविक जगत् है और इसे 'ईश्वर-सृष्ट' बताया गया है, जबकि व्यक्तिगत चेतना में रहनेवाले उसी जगत् को 'जीव-सृष्ट'[1] कहा गया है । इस तरह के मत से यह बात निकलती है कि हम अनेक आत्माओं को स्वीकार करते हैं । निश्चय ही इसमें साध्य को सिद्ध मान लेने का दोष बताने से हमें कोई रोक नहीं सकता, परन्तु इसका एकमात्र विकल्प अहम्मात्रवाद है, जो एक सिद्धान्त के रूप में अकाट्य होने के बावजूद बुद्धि को रुचता नहीं और दार्शनिक चिन्तन के लिए वास्तव में घातक है । इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में हम आत्माओं के अनेकत्व को तर्क के बिना ही मान लेंगे । अनुभव की सामान्य वस्तुओं से इन आत्माओं या जीवों का इस बात में अन्तर है कि ये उनकी तरह कालावच्छिन्न न होकर शाश्वत हैं ।[2] अद्वैती का यह विश्वास वैसा ही है

1. व्यक्ति के बन्धन का कारण वह जगत् है जिसका उसके लिए अस्तित्व है, वह नहीं जो वह स्वरूपतः है । देखिए, पंचदशी, 4.32 ।
2. देखिए, शंकर का वेदान्तसूत्र-भाष्य, 2.3.16 और 17 ।

जैसा अन्य आस्तिक तन्त्रों में है। इस प्रकार जो अनेक जीव हमने माने हैं वे तभी से हैं जब से काल है, अर्थात् अनादि है। सामूहिक अनुभव जिस व्यावहारिक जगत् का अस्तित्व बताता है उसमें एकत्व और नानात्व दोनों ही हैं—उसमें अलग-अलग और परिवर्तनशील तत्त्वों के साथ-साथ एक सामान्य और स्थायी तत्त्व भी है। उसे एक व्यवस्था-बद्ध साकल्य कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें कारण-कार्यात्मक व्यवस्था दिखाई देती है। उसमे एक प्रयोजन भी है, क्योंकि, जैसा कि उपनिषदों के अध्याय में बताया गया था (पृ० 78), उसकी सृष्टि एक नैतिक आवश्यकता पर आधारित है। निस्सन्देह उसमे भौतिक और नैतिक व्यवस्था का होना बतानेवाली बातें एकदम निर्णायक नहीं हैं; फिर भी यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि ज्ञान की प्रगति और मानवीय संस्थाओं के विकास के साथ ऐसी बातें संख्या और स्पष्टता मे उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। जगत् में व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के बाद हम उसका मूल ढूंढते हैं, जो सरल भी हो और उसके सारे पक्षों की व्याख्या भी कर दे। यह मूल या आदि कारण माया है, जो हमारे लिए भौतिक जगत् के एकत्व का प्रतीक है। उसमें नानात्व अव्यक्त रूप में रहता है, जबकि उससे उत्पन्न बाह्य जगत् मे यह नानात्व पूरी तरह से व्यक्त हो जाता है। फिर भी माया और उसके 'कार्यों' में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जैसा कि 'कार्य' शब्द से ही प्रकट है, ये सादि हैं जबकि प्रथम कारण होने से माया सादि नहीं है। अतः जीवों की तरह ही माया भी अनादि है। इस प्रकार जीव और माया एक नए प्रकार की सत्ताएँ हैं, जो साधारण कालावच्छिन्न वस्तुओं से भिन्न हैं; परन्तु ये परम सत्ता, ब्रह्म, के समान काल से बिलकुल असम्बन्धित नहीं हैं।

यह कहा गया था कि व्यावहारिक वस्तुओं का जगत् व्यक्ति के ज्ञान से स्वतन्त्र है। लेकिन पहले उल्लिखित (पृ० 53) इस सिद्धान्त के अनुसार कि जो भी अस्तित्ववान् है वह यदि स्वयं चैतन्य नहीं है तो उसे किसी चैतन्य के लिए होना चाहिए, व्यावहारिक जगत् को किसी चैतन्य पर निर्भर होना चाहिए, अन्यथा उसके अस्तित्व की बात करना निरर्थक हो जाएगा। यदि ऐसा कोई सबका आधारभूत चैतन्य है, तो हम आसानी से देख सकते हैं कि उसकी क्या विशेषताएँ होंगी। उसका अस्तित्व तब से होना चाहिए जब से उसका कार्य, यह जगत्, चला आ रहा है। अर्थात् उसे अनादि होना चाहिए। वह जीव की तरह कोई परिच्छिन्न चैतन्य नहीं होगा, क्योंकि उसे सम्पूर्ण जगत् की वस्तुओं का ज्ञाता होना चाहिए। केवल यही नहीं, बल्कि उसे जो भी ज्ञात हो वह यथार्थ रूप में और अपरोक्षतः ज्ञात होना चाहिए, क्योंकि भ्रम और परोक्ष

ज्ञान, जो किसी-न-किसी प्रकार की परिच्छिन्नता के सूचक हैं, हमारी प्राक्कल्पना के अनुसार उस चैतन्य में हो ही नहीं सकते। अर्थात् उसका अनुभव अपरोक्ष, पूर्ण और यथार्थ होना चाहिए। विश्व का वह ज्ञाता, जिससे सम्पूर्ण जगत् विषय के रूप में सम्बन्धित है, अद्वैत का ईश्वर है और यह माया और जीव की तरह तीसरी अनादि सत्ता है। ये तीन तत्त्व सारे दर्शनों और धर्मों के विषय हैं। एक चौथा तत्त्व स्वयं काल माना जा सकता है, जिसका उल्लेख हम बराबर करते रहे हैं, लेकिन जिसे उपर्युक्त तीन तत्त्वों में से किसी के भी अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

अब हम इन चार तत्त्वों के स्वरूप को संक्षेप में बताएँगे, जो व्यावहारिक जगत् से पृथक् न होते हुए भी अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखते हैं—

(1) जीव—यह आत्मा का व्यावहारिक रूप है, जिसका सच्चा स्वरूप पहले ही बताया जा चुका है। जीव अनेक हैं और प्रत्येक की अपनी-अपनी विलक्षणताएँ हैं, हालांकि सबकी अनेक बातों में समानता भी होती है। यह जगत् में चैतन्य का प्रतिनिधि है; परन्तु यह शुद्ध चैतन्य नहीं है, बल्कि सदा अन्तःकरण इत्यादि भौतिक उपाधियों से युक्त रहता है। इसकी मुख्य सहचरी अविद्या है, जो माया का अंश है और माया ईश्वर की उपाधि है। जैसे सारा जगत् माया का कार्य है, वैसे ही जीव के स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के रूप में जगत् का जो अंश है उसे जीव-विशेष की अविद्या का कार्य माना गया है। वस्तुतः ईश्वर का जगत् से सम्बन्ध ठीक उसके तुल्य है जो जीव का अपने शरीर से है। इन उपाधियों से अलग जीव और ईश्वर एक हैं—अधिक सही यह कहना होगा कि वे भिन्न नहीं हैं। यही 'तत्त्वमसि' का अर्थ है। जीवों को हमने जो अनेक माना है वह व्यावहारिक दृष्टि से है; और प्रत्येक जीव की विलक्षणता शरीर और ज्ञानेन्द्रिय जैसी उसकी उपाधियों के कारण है। स्वरूपतः वे एक ही हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव ब्रह्म ही है।

(2) माया—यह भौतिक जगत् का आदि-कारण है और सांख्य-योग की प्रकृति की तरह है; परन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं और तात्त्विक दृष्टि से दोनों बिलकुल भिन्न हैं। इससे न केवल जीवों के रहने के लिए भौतिक शरीर उत्पन्न हुए हैं, बल्कि जगत् की सभी जड़ वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। माया से उत्पन्न वस्तुओं को हम सामान्यतः सत् मानते हैं, पर असल में उन्हें न सत् कहा जा सकता है और न असत्। वे दृश्य हैं और इसलिए असत् नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि जो नितान्त असत् है, जैसे खरगोश का सींग, वह मात्र शब्द है। उन्हें स्वतः सत् भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे जड़ हैं और इसलिए

उनकी सत्ता चैतन्य पर आश्रित है। अन्ततः न सत् और न असत् (सदसद्विलक्षण) होने की यह विशेषता अनुभव की वस्तुओं को विलक्षण बना देती है और इसे स्वभावतः उनके कारण, माया, में भी होना चाहिए। वे न हैं और न नहीं हैं, और इसलिए उन्हें मिथ्या कहा गया है। वे अवास्तविक नहीं हैं, जैसा कि आलोचक प्रायः मान लेते हैं; बल्कि केवल अन्तिम नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, उनकी वास्तविकता सापेक्ष है और ब्रह्म की उच्च श्रेणी की वास्तविकता की तुलना में उन्हें प्रतिभास कहा जा सकता है। ऐसी वस्तुओं के उत्पन्न करने में माया सामान्य भ्रमों को उत्पन्न करनेवाली अविद्या के सदृश है, और इसलिए उसे विश्वरूपी भ्रम को उत्पन्न करनेवाली कहा गया है। इस बात में यह सांख्य-योग की प्रकृति से, जो पूर्णतः वास्तविक है, भिन्न है।

(3) **ईश्वर**—हमने माया को भौतिक जगत् का मूल कहा है। परन्तु कुछ कारणों से, जो पहले बताए जा चुके हैं, यह विश्व-साक्षी पर पूरी तरह से आश्रित है और अकेली कुछ नहीं कर सकती। इसलिए असल में जगत् की उत्पत्ति इन दोनों तत्त्वों के मेल से होती है। यहाँ सांख्य-योग से हम एक और बात में अन्तर देखते हैं, क्योंकि वहाँ प्रकृति के अन्दर ही वह स्वतःप्रवृत्ति मानी गई है जो सम्पूर्ण भौतिक जगत् को उसके अपने अन्दर से ही प्रकट करने के लिए आवश्यक है। जगत् का यही संयुक्त कारण, अर्थात् माया-सहित चैतन्य, अद्वैत का ईश्वर है। प्रकारान्तर से इसी बात को ऐसे कहा गया है कि माया ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति है, जिससे वह इस नाना-नाम-रूपमय जगत् को प्रकट करता है।[1] परन्तु वह साथ ही जगत् के नानात्व के आर-पार भी देखता है और इसलिए उसको नीचे रहने वाली एकता जिस प्रकार हमारी दृष्टि से छिपी रहती है उस प्रकार उसकी दृष्टि से कदापि नहीं छिपती। यद्यपि ईश्वर से उद्भूत जगत् उसके बाहर नहीं बल्कि अन्दर रहता है, तथापि इस शक्ति के प्रयोग से अन्यत्व-बुद्धि पैदा हो जाती है; और इसलिए माया को आत्मचेतना या आत्म-निर्धारण का कारण माना जा सकता है। यह जहाँ वस्तुतः भेद नहीं है वहाँ भेद ले आती है। इस अर्थ में माया जगत् का मूल नहीं हो सकती, बल्कि ईश्वर को उसे अपने ही अन्दर से अस्तित्व में लाने में सहायता मात्र करती है। माया को, जो इस जगत्-रूपी भ्रम को पैदा करने वाला तत्त्व है, ज्ञान के अभाव से अधिक माना गया है, और इसके कारण उनके समान ही हैं जो साधारण भ्रमों के मूल, अविद्या के, जो कि माया से मिलती-जुलती है, प्रसंग में बताए गए हैं। स्वयं इस तथ्य से कि यह दृश्य जगत् का कारण है, इसका भावात्मक होना सिद्ध होता है।

1. देखिए, वेदान्तसूत्र, 1. 4. 3; शंकर-भाष्य।

अविद्या के साम्य पर इसकी भी आवरण और विक्षेप की दो शक्तियाँ मानी गई हैं। विक्षेप-शक्ति से यह नामरूपात्मक जगत् को प्रकट करती है। आवरण का काम सत्ता की एकता को छिपाना है, परन्तु वह एकता ईश्वर से कभी छिपी नहीं रह सकती और इसलिए माया की आवरण-शक्ति को ईश्वर के सामने अकिंचित्कर माना गया है। जड़ चेतन को उससे नहीं छिपा सकता। इससे जीव और ईश्वर के बीच बहुत बड़ा अन्तर पैदा हो जाता है। वस्तुतः यही जीव के बद्ध और ईश्वर के मुक्त होने का कारण है। माया या अविद्या की आवरण-शक्ति से प्रभावित होकर जीव नानात्व मात्र को सत्य मानने लगता है और इसी विश्वास को तथा साथ ही उसके विश्व के आंशिक ज्ञान को भी, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है, उस सारे दुःख की जड़ मानना चाहिए जो उसे भोगना पड़ता है। जीव साधारणतः उस शरीर से जिससे वह बँधा हुआ है अपने को एक मानता है और शेष जगत् को अपने से बिलकुल बाहर मानता है। वह जगत् के एक छोटे-से अंश के प्रति अपने अन्दर राग-द्वेष पैदा कर देता है और शेष के प्रति उपेक्षा का भाव अपना लेता है। इसके विपरीत ईश्वर के अन्दर हमारी भावकल्पना के अनुसार इस प्रकार के राग-द्वेष आ ही नहीं सकते। वह सम्पूर्ण जगत् से अपने को एक समझता है और उसका ऐसा समझना उस तरह के आत्मा और अनात्मा के किसी अध्यास का फल नहीं है जिस तरह का जीव और उसके शरीर के बीच होता है, बल्कि आत्मा और अनात्मा के सच्चे स्वरूप के अविच्छिन्न ज्ञान का फल है। अनुषंगतः यह कह देना चाहिए कि अद्वैत के अनुसार नैतिक आदर्श जीव के संकीर्ण दृष्टिकोण की जगह धीरे-धीरे ईश्वर के-जैसे दृष्टिकोण को इस प्रकार अपना लेना है कि स्वहित और विश्व-हित एकाकार हो जाएँ।[1] "स्व और पर का विचार केवल संकीर्ण बुद्धि वाले ही करते हैं; इसके विपरीत, उदार बुद्धि वालों के लिए सम्पूर्ण जगत् एक कुटुम्ब ही है।"[2]

इस तरह के तत्त्व की धारणा स्वभावतः दो रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है, और इसीलिए उसे न केवल ईश्वर कहा गया है, बल्कि सगुण ब्रह्म भी। ईश्वर की धारणा पुरुषपरक है और इसलिए उसे अद्वैत-धर्म का आदर्श, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है, माना जा

1. देखिए, छान्दोग्य उपनिषद्, 3. 14. 1 और वेदान्तसूत्र, 1. 2. 1-8 पर शंकर के भाष्य।
2. अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

सकता है। सगुण ब्रह्म की धारणा पुरुषपरक नहीं है और इसलिए उसे अद्वैत-दर्शन का आदर्श, अर्थात् इस विश्व-व्यवस्था का कारण माना जा सकता है। जब हम विश्व को इस परम ज्ञाता की दृष्टि से देखते हैं, तब जीव की दृष्टि से जो दो प्रकार की सत्ताएँ हैं उनकी जगह केवल एक प्रकार की सत्ता रह जाती है और वह प्रातिभासिक प्रकार की है, क्योंकि प्राक्कल्पनातः जो कुछ है वह ईश्वर को ज्ञात है और उसका कोई भी अंश उतने समय से अधिक नहीं टिका रहता जितने समय तक वह दिखाई देता है। इस अर्थ में ईश्वर को शाश्वत स्वप्नद्रष्टा कहा जा सकता है। लेकिन हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वह इससे मोहग्रस्त होता है। वह मोहग्रस्त तब माना जा सकता था जब उसे जगत् को स्वयं से अभिन्न होने का ज्ञान न होता या इसके बारे में सत्य का कोई अंश उससे छिपा रहता। ईश्वर के जगत् को प्रातिभासिक कहने का मतलब यह है कि इसकी उससे एकता के सदैव सिद्ध होने से सारा नानात्व उसे कल्पना मात्र के रूप में ज्ञात रहता है। आलोचक जब यह कहते हैं कि शंकर के मत से सम्पूर्ण बाह्य जगत् असत् है, तब कारण उनका इस बात की उपेक्षा करना है कि जगत् का ईश्वर से जो सम्बन्ध है वह उस सम्बन्ध से भिन्न है जो जगत् का जीव से है। निस्सन्देह जगत् ईश्वर के लिए प्रतिभास है, परन्तु हमारे लिए, जिन्होंने जगत् की स्वयं से एकता समझी नहीं है, वह प्रतिभास नहीं है। जब तक हम ऐसा नहीं कर लेते और अपने जीवन में हम अपने नए विश्वासों को पूरी तरह नहीं उतार लेते, तब तक हमें जगत् को सत्य ही मानना चाहिए, उसका पारमार्थिक स्वरूप चाहे जो भी हो।

(4) काल—यहाँ तक हम यह मानकर चले हैं कि काल-जैसी एक सत्ता है और वह शेष तीन सत्ताओं से बाहर है। वस्तुतः काल ब्रह्म और माया का सम्बन्ध है।[1] इनमें से केवल ब्रह्म ही पूर्णतः सत्य है, माया नहीं। अतः इनका सम्बन्ध शुक्ति और रजत के सम्बन्ध की तरह पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता। अर्थात्, काल प्रातिभासिक है। इस प्रसंग में दिक् के बारे में भी अद्वैत मत को बता देना आवश्यक है। दिक् को माया से फूटी हुई शाखा और प्रथम सृष्टि माना गया है।[2] इस प्रकार अद्वैत काल और दिक् को बराबरी का दर्जा नहीं देता। उसकी दिक् की धारणा में कारणता का नियम पहले से ही सक्रिय मान लिया गया है। लेकिन काल की धारणा में यह नियम पहले से निहित नहीं है। दिक्

1. देखिए, तैत्तिरीय उपनिषद् के शांकर भाष्य पर वनमाला-टीका (श्रीरंगम् संस्करण), पृ० 131।
2. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2. 1

के अलावा सब उत्पन्न वस्तुएँ काल और दिक् में अवस्थित हैं, परन्तु दिक् केवल काल में अवस्थित है। जीव, ईश्वर और माया न काल में अवस्थित हैं और न दिक् में।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से ये अद्वैत के मूल तत्त्व हैं। यहाँ ब्रह्माण्ड-मीमांसीय बारीकियों में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे लगभग वही हैं जो उपनिषदों के अध्याय में बताई जा चुकी हैं। ये तत्त्व, जैसा कि इनके वर्णन से स्पष्ट है, परस्पर अलग नहीं हैं। ये परस्पर सम्बन्धित हैं और इनके मेल से एक व्यवस्थित समष्टि बनती है, जिसे काल के शामिल रहने से गतिशील माना जा सकता है। अब विचार करने की बात यह है कि क्या यह धारणा इतनी सन्तोषजनक है कि इसे अन्तिम माना जा सके? अद्वैत का मत यह है कि हम चाहे इसे व्यवहार-निष्ठ धर्म की दृष्टि से जाँचें चाहे परिकल्पना-निष्ठ दर्शन की दृष्टि से, यह सन्तोषजनक नहीं है।

(1) यदि इसे धार्मिक आदर्श के रूप में देखा जाए, तो एक प्रसिद्ध कठिनाई यह है कि ईश्वर को शुभ और सर्वशक्तिमान् मानने की जगत् में पाई जाने वाली भौतिक और नैतिक बुराई से संगति नहीं बैठती।[1] यदि यह भी मान लिया जाए कि बुराई का केवल हमारी दृष्टि से अस्तित्व है, ऊपर वर्णित ईश्वर की दृष्टि से नहीं, तो भी अनेक बातें पूरी तरह बुद्धि में नहीं बैठतीं। उदाहरणार्थ, यह समझ में नहीं आता कि ईश्वर ने जगत् को बनाया ही क्यों। ईश्वर का कोई प्रयोजन मानने का अर्थ यह होगा कि उसे कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करना है और यह उसकी पूर्णता (परितृप्तत्व) से इनकार करना होगा। प्रयोजन के निषेध और सृष्टि को उसके सहज स्वभाव या किसी आकस्मिक आवेग का फल मानने का अर्थ ईश्वर को एक यन्त्र बना देना या कामचारी मान लेना होगा; और दोनों ही तरह से उसकी सर्वज्ञता सन्दिग्ध हो जाएगी।[2] अद्वैत में भी इन कठिनाइयों के समाधान उसी तरह सुझाए गए हैं जिस तरह सामान्यतः अन्य ईश्वरवादी सिद्धान्तों में; और ईश्वर के तरीकों को मनुष्य के सामने उचित सिद्ध करने के ये प्रयत्न धार्मिक व्यक्तियों की बुद्धि को कुछ प्रभावित करते भी हैं। परन्तु, जैसा कि शंकर ने कहा है, ये अन्तिम नहीं हैं, क्योंकि ये अविद्यामूलक नामरूपात्मक जगत् को सत्य मानकर चलते हैं।[3] दूसरे शब्दों में, ये समाधान उन समस्याओं की तरह ही जिन्हें हल करना इनका

1. वेदान्तसूत्र, 2.1. 34-6।
2. वही, 32-3।
3. देखिए, सूत्र 33 के ऊपर पूरा भाष्य। सूत्र 34 पर भामती-टीका भी देखिए।

लक्ष्य है, हमें सापेक्षता के जगत् से बाँधे रखते हैं और चूँकि सापेक्ष अपनी पूर्ण व्याख्या के लिए आवश्यक रूप से अपने से परे किसी चीज़ की ओर संकेत करता है, इसलिए ईश्वरवादी धारणा को अन्तिम नहीं माना जा सकता।

(2) दार्शनिक आदर्श की दृष्टि से देखने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उदाहरणार्थ, इसके अलग-अलग तत्त्वों को एक व्यवस्था में बाँधने वाला सम्बन्ध परीक्षा से वास्तव में बोधगम्य नहीं प्रतीत होता। पहले हम *जीवों का इसमें स्थान देखते हैं : क्योंकि जीव अनादि माने गए हैं और सगुण* ब्रह्म भी अनादि है, इसलिए दोनों का सम्बन्ध भी अनादि होना चाहिए। यह तो निश्चित है; परन्तु इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? अभेद वह है नहीं, क्योंकि सगुण ब्रह्म आंशिक अनुभव वाले किसी जीव से एक नहीं हो सकता। न वह सब जीवों के समूह से अभिन्न हो सकता है, क्योंकि इससे व्यष्टिगत अनुभवों की समष्टि मात्र प्राप्त होगी, जब कि आवश्यकता एक अखण्ड अनुभव की है, क्योंकि वही सम्पूर्ण जगत् का आधार हो सकता है और उसी से उसकी व्याख्या हो सकती है। कहने का मतलब यह है कि हम सगुण ब्रह्म का न किसी एक जीव से और न उसकी समष्टि से अभेद कर सकते हैं। उसे उनसे बिलकुल भिन्न या बाहर सोचना भी इतना ही असम्भव है, क्योंकि उस दशा में दोनों में वह आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहेगा जो सम्पूर्ण को एक व्यवस्था मानने में गर्भित है। इसी तरह का तर्क सगुण ब्रह्म और उससे उत्पन्न भौतिक जगत् के सम्बन्ध पर भी लागू होता है। अन्तर केवल इतना है कि जीवों के विपरीत भौतिक जगत् उत्पन्न होने के कारण सादि है और इसलिए उसका ब्रह्म से सम्बन्ध अनादि नहीं है।[1] यह सम्बन्ध अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य और उसका कारण एक नहीं हो सकते। वह भेद भी नहीं है, क्योंकि उस दशा में उन्हें कारण और कार्य नहीं माना जा सकेगा।

शायद हम सोचें कि यह सम्बन्ध भेदाभेद का है। अद्वैती सम्बन्ध की इस धारणा को स्वव्याघाती मानता है। इसकी अद्वैत के ग्रन्थों में विस्तार से चर्चा हुई है।[2] यहाँ इस चर्चा की सारी बारीकियों का वर्णन सम्भव नहीं है। अतः हम केवल उसकी मुख्य बातों की ओर ही ध्यान खींचना काफ़ी समझेंगे।[3] मान लीजिए कि म और न ऐसी दो वस्तुएँ हैं जिनके बीच भेदाभेद-सम्बन्ध माना गया है। इनमें से कोई भी स्वतः दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं

1. यदि हम दृश्य जगत् के बजाय उसके मूल, माया, को लें तो सम्बन्ध अनादि है।
2. देखिए बृहदारण्यकोपनिषद्-वार्तिक, 4.3, श्लो० 1637-1787; भामती, 1.1.4।
3. देखिए, इष्टसिद्धि (गायकवाड़), पृ० 18-22।

हो सकता । यदि हो, तो इसका मतलब यह होगा कि म न और अ-न दोनों हैं और इसी तरह न म और अ-म दोनो हैं, जो कि व्याघात के नियम के विरुद्ध होगा। जब दो वस्तुएं वास्तव मे अलग-अलग होती हैं, तब वे एक नहीं हो सकती। हम दो व्याघाती पदो को एक साथ सत्य नहीं मान सकते। परन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि यह दोष हो भी, तो भी अनुभव इसका समर्थन करता है और क्योंकि अनुभव ही हमारा एकमात्र पथ-प्रदर्शक है इसलिए हमें इसको मान लेना होगा (पृ० 116)। ऐसा तर्क अद्वैती को सोचने से इन्कार करने के समान लगता है। वह मानता है कि वस्तुओ के बारे में सचाई का निर्णय करने के लिए अन्त मे हमे अनुभव का ही आश्रय लेना पड़ता है; परन्तु इसके बावजूद वह अनुभव के अर्थ की उस अवस्था में पुनः परीक्षा का और यदि सम्भव हो तो उसकी नई व्याख्या ढूंढने का अधिकार नहीं छोड़ता जब अनुभव हमें स्पष्ट रूप से आत्म-व्याघात की स्थिति में पहुँचा देता है। अनुभव के दत्त केवल इसलिए कि वे अनुभव के दत्त हैं, हमें इस बात के लिए बाध्य नहीं करते कि हम उन्हे प्रत्येक दशा मे तार्किक सत्यों के रूप में स्वीकार कर लें। इसके अलावा, यदि हम तर्क के खातिर यह मान भी लें कि जब साधारण अनुभव की बातों के बारे में विचारक सहमत होते हैं तब उनकी वास्तविकता में सन्देह करने का कोई उचित कारण नही होता, तो भी यहाँ विवादाधीन समस्या ऐसी नही है जिसके बारे मे विचारक सहमत हो। हम जानते हैं कि वास्तववादी नैयायिक तक सत्य को आत्मव्याघाती मानने की मजबूरी से बचने के लिए ऐसे मामलों मे एक नए सम्बन्ध, समवाय, की कल्पना कर लेता है। इसलिए सामान्य अनुभव के निर्णय को स्वीकार या अस्वीकार करने के बारे में हमारा चाहे जो मत हो, प्रस्तुत मामला ऐसा बिलकुल भी नहीं है जिसमें उसके निर्णय को परीक्षा के बिना माना जा सके। यदि म और न साक्षात् भिन्नाभिन्न नही हैं, तो यह सोचा जा सकता है कि वे परोक्षतः अपने लक्षणों के माध्यम से, जिनमें से कुछ अभिन्न हैं और शेष भिन्न, भिन्नाभिन्न हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि म और न के एक या अधिक लक्षण समान हैं, जिन्हें हम अ नाम दे सकते हैं, और साथ ही उनमें कुछ भिन्न लक्षण भी है, जिन्हें हम क्रमशः क और ख कहेंगे। इस व्याख्या के अनुसार जो अभिन्न है वह उससे बिलकुल पृथक् है जो भिन्न है; फिर भी यह कहा जा सकता है कि इन लक्षणो की बदौलत म और न नामक दो वस्तुएं परस्पर अभिन्न हैं और साथ ही भिन्न भी। शायद ऐसा लगे कि यह व्याख्या हमारी कठिनाई को हल कर देती है; परन्तु यह हल आभासी मात्र है, क्योंकि यह कठिनाई का केवल रूप बदल देता है।

इसमें यह मान लिया गया है कि म और न के लक्षण क्रमशः अ क और अ ख हैं; लेकिन ऐसा मानने से भी हम जहाँ-के-तहाँ रह जाते हैं, क्योंकि वस्तु और उसके तथाकथित लक्षणों के सम्बन्ध की हम सन्तोषजनक व्याख्या नहीं दे सकते। यदि हम म और उसके लक्षण अ क को लें, तो इनका सम्बन्ध अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि तब अ और क दोनों के म से अभिन्न होने से अ और क का अन्तर समाप्त हो जाएगा, और इसके समाप्त हो जाने से म और न का भेदाभेद-सम्बन्ध भी समाप्त हो जाएगा। अ और क म से भिन्न भी नहीं हो सकते, क्योंकि उस दशा में उनका स्वरूप, जो भी वह हो, म को बिलकुल प्रभावित नहीं करेगा और इसलिए म के न से सम्बन्ध को भी। अतः हमें यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि म और न में केवल भेदाभेद-सम्बन्ध ही सम्भव है। इस प्रकार म और न के विवादाधीन सम्बन्ध की व्याख्या करने में हम उसी सम्बन्ध की उनमें से प्रत्येक के अन्दर पूर्वकल्पना कर लेते हैं, और इसी प्रकार आगे चलते हुए हम अनवस्था में पहुँच जाते हैं।[1]

इन कारणों से अद्वैती सगुण ब्रह्म और उसके अंशभूत तत्त्वों के सम्बन्ध को विलक्षण यानी तादात्म्य का सम्बन्ध मानता है, जो पिछले अनुच्छेद में बताए हुए अर्थ के अनुसार न अभेद है, न भेद है और न भेदाभेद है। अतः सगुण ब्रह्म की धारणा अध्यासगर्भित है और ईश्वर की तरह उसे भी अन्तिम नहीं माना जा सकता। प्रकारान्तर से, सगुण ब्रह्म में न केवल सत्य बल्कि प्रतिभास भी शामिल है, जिससे वह सत्य से कुछ नीचे रहता है। उसमें जो सत्य का अंश है वही अद्वैत का परमार्थ है। यह ध्यान देने की बात है कि यह परमार्थ जगत् के नानात्व के नीचे रहनेवाला एकत्व मात्र नहीं है, क्योंकि एकत्व और नानात्व एक-दूसरे के सापेक्ष हैं और इनमें से एक को सत्य मानकर अपना लेना तथा दूसरे को प्रतिभास मानकर त्याग देना असम्भव है। असल में दोनों ही प्रतिभास हैं और अद्वैत का परमार्थ वह है जो इन दोनों से परे—उनका निष्प्रातिभासिक आधार (निर्विशेष-वस्तु) है। यही वजह है कि शंकर ने अपने सिद्धान्त को 'ऐक्य' न कहकर 'अद्वैत' कहा है। भेदाभेद के प्रत्यय का त्याग करके और विशेष रूप से परिणामी ब्रह्म को मानने से इन्कार करके शंकर अपने सिद्धान्त को अन्य वेदान्तियों के इस सिद्धान्त से अलग कर देता है कि भौतिक जगत् और जीव वस्तुतः ब्रह्म से उद्भूत होते

---

1. यदि म और न दो वस्तुएँ होने के बजाय एक ही वस्तु प के इतिहास के दो चरण हों, तो भी स्थिति नहीं बदलती। तब भी तर्क उन पर इसी तरह लागू होगा। अन्तर केवल इतना होगा कि जिन्हें अभिन्न लक्षण कहा गया है वे दूसरे मामले में वास्तव में अभिन्न होंगे, परन्तु पहले मामले में वे केवल सदृश होंगे और पृथक् रहेंगे।

है (ब्रह्मपरिणामवाद)।[1] उसके मत से ब्रह्म का परिणाम नहीं होता, बल्कि वह प्रतिभास को उत्पन्न मात्र करता है, जो पूर्णतः उस पर आश्रित है परन्तु उसे उसी प्रकार प्रभावित नहीं करता जिस प्रकार रजत शुक्ति को प्रभावित नहीं करता। इस प्रकार शंकर कारणता के बारे में एक नया ही सिद्धान्त अपनाता है, जो हमारे परिचित परिणामवाद और आरम्भवाद दोनों से भिन्न है। तदनुसार कारण स्वयं किसी तरह से परिवर्तित हुए बिना कार्य को उत्पन्न करता है। यह विवर्तवाद अर्थात् प्रातिभासिक परिवर्तन का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् के रूप में दिखाई मात्र देता है। यह मूल है और जगत् को 'दिक्-काल के स्तर पर उसका अनुवाद' कहा जा सकता है।[2] जिस प्रकार किसी मूल ग्रन्थ का अस्तित्व उसके अनुवाद पर आश्रित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म का अस्तित्व जगत् पर आश्रित नहीं है। यही सिद्धान्त प्रकारान्तर से मायावाद के नाम से प्रसिद्ध है।[3] यद्यपि अद्वैत में यह सिद्धान्त विस्तार की बातों में स्वभावतः काफी अधिक विकसित रूप में दिखाई देता है, तथापि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है निश्चित रूप से यह उपनिषदों पर आधारित है। इसलिए यह आरोप बिलकुल निराधार है कि यह वेदान्त में बाहर से आया है। अनुभव के स्वव्याघाती जगत् के पीछे एक तात्त्विक सत्ता को मान-कर शंकर माध्यमिक के शून्यवाद से भी अपने सिद्धान्त को अलग कर देता है। सगुण ब्रह्म या उसकी सापेक्षता में जो विसंगति है वह उसे केवल नीचे प्रतिभास के स्तर में पहुँचाती है, उसका बिलकुल निराकरण नहीं कर देती। यदि माध्य-मिक के अनुसार विचार का सापेक्ष में टिके रहना असम्भव है, तो शंकर के अनुसार उसका शून्य में टिके रहना भी उतना ही असम्भव है। उपनिषदों के शब्दों में, अद्वैत केवल 'नाम' और 'रूप' का निषेध करता है, परन्तु उस नहीं जो इनके वेश में दिखाई देता है। अथवा, जैसा कि एक पुराने लेखक लिखा है, अद्वैती तो केवल भेद का निषेध करता है जब कि माध्यमिक के साथ-साथ भिद्यमान का भी निषेध कर देता है।[4] यह बात कि व्यावहारिक वस्तुओं के पीछे एक परम सत्ता है, एक कथन मात्र नहीं है, क्योंकि

1. भास्कर इत्यादि कुछ वेदान्ती केवल जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं, जीवों को नहीं।
2. Indian Philosophy, जि० 2, पृ०570।
3. यदि अद्वैती कभी-कभी परिणाम में विश्वास प्रकट करनेवाले शब्दों का प्रयोग करे, तो यह समझना चाहिए कि वह व्यावहारिक दृष्टिकोण से कह रहा है। देखिए, वेदान्त सूत्र, 2.1.14 पर शांकर भाष्य और 1.4.27 पर भामती-टीका।
4. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वमुक्ताकलाप-सहित) 4.20।

यहाँ, जैसा कि हम जानते है, यह तर्क दिया गया है कि हमारे अन्दर का चिन्तक उससे भिन्न नही है और इसलिए उसका अस्तित्व तात्कालिक विश्वास का विषय बन जाता है। यदि हम उसका निराकरण करें, तो स्वयं यह निराकरण ही उसे सिद्ध करनेवाला बन जाता है।[1] भले ही हम उसका ठीक स्वरूप न जान सकें, पर हमारे मूलतः उससे अभिन्न होने के कारण उसकी उपस्थिति में कदापि सन्देह नही किया जा सकता।

इस परम सत्ता का स्वरूप क्या है ? जैसा कि एक पिछले अनुच्छेद में बताया गया था, उसे एक ओर तो व्यावहारिक ज्ञान मे गर्भित अनन्त चैतन्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है और दूसरी ओर सम्पूर्ण परिच्छिन्न सत्ता की आधारभूत अपरिच्छिन्न सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु वह न तो व्यावहारिक ज्ञान है और न प्रातिभासिक सत्ता है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक मे तत्त्व के साथ प्रतिभास भी जुड़ा हुआ है और इसलिए वह तत्त्व को शुद्ध रूप में प्रकट नही करता। ऐसा ज्ञान और ऐसी सत्ता परम सत्ता की अभिव्यक्तियाँ होने के बावजूद भी उसके सच्चे प्रतिरूप नही हैं और यही बात सभी व्यावहारिक वस्तुओं पर लागू होती है। वे उससे पृथक् तो नही हैं, पर वे अकेले या सामूहिक रूप में उसके बराबर नही हो सकतीं। इसीलिए पारमार्थिक सत्ता के रूप मे ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, और जैसा कि साधारणतः मान लिया जाता है, उसे निर्गुण कहना यह मतलब नही रखता कि वह शून्य है बल्कि केवल यह मतलब रखता है कि बुद्धि जितने भी रूपों की कल्पना कर सकती है उनमें से कोई भी वास्तव मे उसका नहीं हो सकता। जिसकी भी बात हम सोचें वह विचार का विषय होने के कारण 'दृश्य' है और इसलिए जो कभी 'दृक्' के रूप में प्रस्तुत नही होता उसका अंश वह नही हो सकता। अतः जितनी भी धारणाएँ हमारी परिचित हैं उनमे से कोई उस पर लागू नही हो सकती और फलतः उसका सीधा वर्णन सम्भव है ही नहीं। फिर भी हम प्रतिभासों की सहायता से परोक्ष रूप में उसकी ओर इशारा कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिभास, जो कभी स्वाश्रित नही हो सकता, अनिवार्य रूप से किसी ऐसी सत्ता की ओर संकेत करता है जो उससे परे है। इस अर्थ मे प्रत्येक प्रत्यक्ष और प्रत्येक प्रत्यय को ब्रह्म का सूचक बनाया जा सकता है। उपनिषद् त्वम् या अहम् जैसे द्रष्ट्रार्थक शब्दों के द्वारा उसकी ओर हमारा ध्यान खींचना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि अन्य शब्दो के विपरीत इस तरह के शब्द उसके अस्तित्व के बारे में संशय का पूरी तरह निराकरण करने के साथ-साथ उसके स्वरूप का

1. य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य-स्वरूपम्: वेदान्तसूत्र, 2.3.7 पर शांकर-भाष्य।

अन्दाज लगाने के भी अच्छे सूत्र हैं।[1] जब इस तरह के शब्द तत् या ब्रह्म जैसे शब्दों से 'तत् त्वं असि' या 'अहं ब्रह्म अस्मि' जैसे तथ्यवस्तुसूचक वाक्यों में सपुक्त कर दिये जाते हैं, तब परम सत्ता की ओर इशारा पक्का हो जाता है। कारण यह है कि इनके द्वारा प्रकट होने वाले जीव और ईश्वर के विशेषणों—जैसे, जीव का बद्ध होना और ईश्वर का मुक्त होना—के परस्पर विरुद्ध होने से[2] हमारी बुद्धि इन शब्दों के प्रकट अर्थों को त्यागकर इन विशेषणों से परे उस निर्विशेष वस्तु में पहुँच जाती है जो इनका आधार है, और उक्त वाक्यों का सच्चा अर्थ उसी को समझती है। हमें यह भी कह देना चाहिए कि इन विशेषणों का त्याग अल्प महत्त्व रखता है, क्योंकि ये जीव और ईश्वर के बीच माया के द्वारा खड़ी की हुई भ्रामक रुकावटें मात्र हैं। इसके अलावा यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ हम एक प्रकार के विशेषणों के अधिष्ठान का दूसरे प्रकार के विशेषणों के अधिष्ठान से तादात्म्य नहीं कर रहे हैं, क्योंकि ऐसा तादात्म्य उनके मध्य रहनेवाले समान रूप से वास्तविक किसी अन्तर के बिना निरर्थक होगा। तादात्म्य में गर्भित ऐसे वास्तविक अन्तर को दूर रखने के लिए हम दोनों के भेद का निषेधमात्र करते हैं, और तब उक्त वाक्य का सही अर्थ यह निकलता है कि जीव ब्रह्म से अन्य नहीं है।

अद्वैत का ब्रह्म अनिर्वचनीय मात्र नहीं है; वह अज्ञेय भी है, क्योंकि ज्यों ही उसे विचार का विषय बनाया जाता है त्योंही वह एक ज्ञाता से सम्बन्धित हो जाता है और इसलिए सविशेष हो जाता है। ईश्वर या सगुण ब्रह्म के प्रत्यय को दर्शन का सच्चा लक्ष्य बनने के लिए अपर्याप्त मानकर अद्वैत में उसके अस्वीकृत कर दिए जाने का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यही है। अन्य भारतीय तन्त्रों की तरह अद्वैत भी दर्शन का लक्ष्य परम सत्ता के बारे में किसी परिकल्पनात्मक धारणा या प्रत्ययात्मक सूत्र में पहुँचना मात्र नहीं मानता, बल्कि वह स्वतः जो है उसकी प्राप्ति मानता है। सगुण ब्रह्म का आदर्श विचार-प्रक्रिया की उपज है और इसलिए विचार-मात्र के लिए वास्तविक है। यह 'व्यावहारिक वेश' में ब्रह्म है—ब्रह्म का हमें प्रतीत होने वाला रूप है, वह नहीं जो वह स्वतः

1. देखिए, नैष्कर्म्यसिद्धि, 3.100-3। सभी वस्तुएँ समान रूप से किसी-न-किसी प्रकार के सत को अभिव्यक्त करती हैं। उनको जाननेवाला आत्मा सत् के साथ-साथ चित् को भी अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अद्वैत सत्य के प्रकारों को और साथ ही उसकी मात्राओं को भी स्वीकार करता है।
2. इन दोनों के अन्तरों के अन्य उदाहरणों के रूप में हम कह सकते हैं कि जीव का ज्ञान अनेक कमियों से युक्त होता है जबकि ईश्वर सर्वज्ञ है, तथा ईश्वर परोक्षतः जाना जाता है जब कि जीव अपरोक्षतः ज्ञात होता है।

है। इसकी जिस आन्तरिक असंगति की ओर हमने ध्यान खींचा है वह वस्तुतः विचार से इसका सम्बन्ध होने का फल है। यह ज्ञेय ब्रह्म है। स्वरूपतः यह सभी सम्बन्धों से, जिनमें विषयि-विषय-सम्बन्ध भी शामिल है, परे (असंसृष्ट) है और इसलिए अज्ञेय है। परन्तु अज्ञेय होने पर भी इसकी प्राप्ति सम्भव है, जैसाकि हम अभी बताएँगे।

अतः उपनिषदों के इस कथन का कि ब्रह्म निर्गुण है और इसलिए अनिर्वचनीय और अज्ञेय है, ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए। वह हर प्रकार से शब्दों की पहुँच से बाहर नहीं है। यदि उसे ऐसा मान लिया जाए, तो उपनिषदों का प्रयोजन बिलकुल ही समाप्त हो जाएगा। निषेधात्मक परिभाषा को एकमात्र सम्भव परिभाषा मान लेने पर भी यह नतीजा नहीं निकलता कि निर्गुण ब्रह्म शून्य है।[1] कारण यह है कि सभी वाक्य परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सत्य की ओर संकेत करते हैं और निषेध में अनिवार्य रूप से विधान गर्भित होता है। फिर भी, असल में अद्वैती 'नेति-नेति' जैसे उपनिषद्-वाक्यों को गौण स्थान देते हैं और मुख्य स्थान 'तत् त्वं असि' जैसे वाक्यों को देते हैं, जो हमारे अन्दर के तत्त्व को अन्तिम वस्तु कहते हैं। इस प्रकार निषेधात्मक वाक्य का स्वतन्त्र रूप से अर्थ नहीं करना है, बल्कि 'तत् त्वं असि' इत्यादि विधानात्मक वाक्यों के सहारे अर्थ करना है। निषेध विधान का आरम्भिक रूप मात्र है।[2] इसका मतलब यह है कि यहाँ ब्रह्म को एक बाह्य वस्तु के रूप मे बाह्य प्रपंच से अनुमित मात्र के रूप में—नहीं सोचा गया है, बल्कि स्वयं को हमारे अन्दर प्रकट करने वाला माना गया है।[3] इससे निषेधात्मक वर्णन का अर्थ बिलकुल बदल जाता है, क्योंकि इसमें बलात् न केवल ब्रह्म को भावरूप मानना पड़ता है, बल्कि आत्मरूप भी मानना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्म यहाँ सन्मात्र या

---

1. जैसाकि शंकर ने (छान्दोग्य उपनिषद्-भाष्य, 8. 1. 1) कहा है, ब्रह्म सच्चे अर्थ में निरुपाधिक है और इसलिए शायद मन्दबुद्धि को शून्य दिखाई दे। ब्रैडले (Appearance and Reality, पृ० 30) के इस कथन से इसकी तुलना कीजिए : "मैं फिर भी जोर देकर कहता हूँ कि जो सापेक्ष नहीं है वह विचार के लिए शून्य है।"
2. देखिए, संक्षेप-शारीरिक, 1 250-6।
3. यदि किसी बाह्य वस्तु का निषेधात्मक शब्दों में वर्णन किया जाए और उससे सब ज्ञेय विशेषताएँ निकाल दी जाएँ, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसमें कुछ भी बाकी नहीं बचता। तदनुसार 'शुद्ध सत् शुद्ध शून्य है', यह आलोचना अद्वैत के एक अन्य रूप पर लागू हो सकती है, जिसे शंकर के आत्माद्वैत से अलग करने के लिए सत्ताद्वैत कहा गया है और जो सत्ता-सामान्य को ब्रह्म मानता है। देखिए, नैष्कर्म्य-सिद्धि, 3. 101. 1।

निस्स्वभाव नही है। ब्रह्म को अज्ञेय कहने का भी यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि अद्वैत अज्ञेयवादी है। निस्सन्देह अद्वैत में ब्रह्म को तर्कमूलक विचार से परे माना गया है, परन्तु अनुभव के जगत् से बिलकुल बाहर उसे नही माना गया है। निर्गुण ब्रह्म सगुण का व्याघाती नही है, बल्कि उसका अन्तःस्थ सत्य ही है और जो कुछ उसमें है उसके अन्दर व्याप्त है। अतः अनुभव के ज्ञातृ-पक्ष और ज्ञेय-पक्ष की प्रत्येक बात उसे अभिव्यक्त करती है। वास्तव में स्वयंप्रकाशत्व ब्रह्म का स्वरूप ही है और बादलो के पीछे छिपे सूर्य की तरह वह छिपा हुआ भी स्वय को प्रकट करता हैं। साधारणत. प्रतिभासों की व्याकुल कर देने वाली राशि के कारण ऐसा लगता है कि हम उसे नहीं देख पाते। परन्तु यह वैसा ही है जैसे लहरों के कारण महासागर को न देख पाना। यह सही है कि उसे हम ज्ञान की वस्तु के रूप मे नही पकड़ पाते। परन्तु उसका 'अनुभव करने' के अन्य तरीके हो सकते हैं; और अद्वैत के प्रत्यक्षविषयक सिद्धान्त तथा उसकी व्यावहारिक साधना, जिसकी अगले अनुच्छेद मे चर्चा की जाएगी, से यह प्रकट होता है कि अनुभव का एक ऐसा रूप है और कि हम ब्रह्म होकर ब्रह्म को जान सकते हैं। अनुभव का यह उच्च रूप हमारे लिए नितान्त अपरिचित नही है। ऐसे क्षण आते हैं, हालांकि वे अति दुर्लभ हैं, जब हम अपनी सीमाओं से परे पहुँच जाते हैं और जिस अनुभव मे से हम गुजरते होते हैं उसका भी ज्ञान नही रखते। तब हम न केवल सामान्य चेतना से, जिसमें आत्मा का विचार गुप्त रहता है, परे पहुंच जाते हैं, बल्कि स्पष्ट आत्म-चेतना से भी परे वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ विचार अनुभव में लीन हो जाता है। यह स्थिति उस योगी की स्थिति का पूर्वरूप है जो दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप सम्पूर्ण वस्तुजात से स्वयं को अभिन्न महसूस करना सीख चुका होता है और अन्त में इस अवस्था से भी ऊपर पहुँचने में सफल हो जाता है तथा बाह्य जगत् को और स्वयं को भी भूलकर साक्षात् ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यही अद्वैत-सिद्धान्त की चरम निष्पत्ति है।

इस प्रकार यद्यपि सगुण ब्रह्म का आदर्श दर्शन की अन्तिम वस्तु होने के लिए अपर्याप्त है, तथापि इसे व्यर्थ समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार यह हमें एक नैतिक आदर्श प्रदान करता है, जिसका अनुसरण करके साधक अपने सहज दोषों से ऊपर उठकर उस नैतिक योग्यता को प्राप्त कर सकता है जो अद्वैत के लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल होने के लिए अपरिहार्य है। शुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से भी यह बिल्कुल मूल्यहीन नहीं है, जैसा कि अद्वैत मे अपनायी गई प्रणाली से प्रकट होता है। यह प्रणाली

व्यक्ति के अनुभव में ज्ञात थोड़ा-बहुत वैषम्य रखने वाले जगतों से प्रारम्भ करती है और उनके आधार के रूप में एक सामान्य जगत् को खोज निकालती है। तब उसमें दिखाई देने वाले नानात्व में व्यवस्था लाकर यह एकता में पहुँचती है। और क्योंकि नानात्व में एकत्व का यह जगत् ऊपर दी हुई तर्क-प्रक्रिया से स्वयं भी एक प्रतिभास सिद्ध होता है, इसलिए इसके पश्चात् ही अद्वैत उस आत्मा में पहुँच पाता है जो इस प्रतिभास से भी परे एकमात्र सत्य के रूप में रहता है। यदि हमें पथभ्रष्ट हुए बिना अद्वैत के परमार्थ में पहुँचना है, तो पहले साधारण अनुभव के विरोधों और दोषों को दूर करके कम-से-कम उस आभासी व्यवस्था मे पहुँचना जरूरी है जो सगुण ब्रह्म के आदर्श से उपलक्षित होती है। सगुण ब्रह्म के रूप में जो संश्लेषण हुआ है उसके बिना, अथवा, प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि जीव की अविद्या का माया के रूप में जो सार्वभौमीकरण हुआ है उसके बिना हम मनस्तन्त्रवाद में पहुँच गए होते और विश्व एक व्यक्तिगत दृश्य मात्र बनकर रह गया होता, क्योंकि तब व्यक्ति की चेतना में जो कुछ मौजूद होगा उसके बाहर किसी चीज का अस्तित्व मानने का कोई कारण नही रह जाएगा। अतः सगुण ब्रह्म की अद्वैती ने जो आलोचना की है उसका मतलब केवल यह समझना चाहिए कि यह धारणा दर्शन का लक्ष्य बनने के लिए अपर्याप्त है, यह नही कि यह मूल्यहीन है।[1] मूल्य उसका है, लेकिन वह व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित है—यह दृष्टिकोण अद्वैत की इस सामान्य धारणा से पूरी सगति रखता है कि व्यावहारिक उपयोगिता का तात्त्विक प्रामाण्य पर आधारित होना जरूरी नहीं है। अद्वैत का प्रसिद्ध दो विद्याओं का सिद्धान्त इसी भेद पर आश्रित है—पराविद्या का विषय निर्गुण ब्रह्म है और अपराविद्या का विषय सगुण ब्रह्म है।

: 4 :

क्योंकि शंकर के मतानुसार मोक्ष कोई ऐसी नई अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त करना है, बल्कि आत्मा का स्वरूप ही है, इसलिए साधारण अर्थ में उसकी प्राप्ति के उपाय की बात नही की जा सकती। मोक्ष को प्राप्त करने का मतलब यहाँ जीव का स्वयं को वह समझ लेना है जो हमेशा से उसका सहज स्वरूप रहा है, लेकिन जिसे वह कुछ समय के लिए भूल गया है। उपनिषद्-वाक्य है 'तत् त्वं असि' (वह तू है), 'तत् त्वं भव' (वह तू हो जा) नही। इस प्रसंग में एक राजकुमार का दृष्टान्त सामान्यतः दिया गया है, जिसका लालन-पालन बचपन से ही एक शिकारी के घर मे हुआ है, पर जो बाद मे जान लेता है कि

1. देखिए, शंकर का छान्दोग्य उपनिषद्-भाष्य, 8. 1. 1. और कल्पतरु, 1. 1. 20।

वह एक राजकुमार है।[1] यहाँ यह कुछ नया नहीं हो गया, क्योंकि वह पहले से ही एक राजकुमार था और अब उसे केवल यह समझ आ गई है कि वह एक राजकुमार है। इस बात को हम सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण में अन्तर बताकर भी इतनी ही अच्छी तरह समझा सकते हैं। चन्द्र-ग्रहण में, पृथ्वी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में आ जाती है, जिससे सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा तक नहीं पहुँच पाता। जब ग्रहण समाप्त हो जाता है तब चन्द्रमा की अवस्था में वस्तुतः परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि उसका जो भाग अन्धकार-ग्रस्त था वह प्रकाशित हो जाता है। इसके विपरीत, सूर्य-ग्रहण में सूर्य ग्रहण-काल में भी ठीक वैसा ही बना रहता है जैसा वह उससे पहले था या उसके बाद होगा। वह ग्रहण से ग्रस्त प्रतीत मात्र होता है, क्योंकि चन्द्रमा के बीच में आने से वह जैसा वास्तव में है वैसा हमें दिखाई नहीं देता। अतः प्रकाशयुक्त सूर्य के फिर निकल आने का यह मतलब नहीं है कि उसमें कोई परिवर्तन हो गया है, बल्कि यह मतलब है कि चन्द्रमा बीच में से हट गया है और इस तरह सूर्य को अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई देने से रोकने वाली बाधा दूर हो गई है। इसी प्रकार अद्वैत के मोक्ष में भी एकमात्र आवश्यकता उस बाधा को हटाने की है जो सचाई को हमसे छिपाए रखती है, और वहाँ जो नैतिक साधना निर्धारित की गई है उसका लक्ष्य केवल इस फल की प्राप्ति है। इसलिए यहाँ मोक्ष को प्राप्त करने की बात हम केवल निषेधात्मक या परोक्ष अर्थ में ही कर सकते हैं। व्यावहारिक जीवन पूरी तरह अध्यास का फल है और इस प्रकार अज्ञान ही वह बाधा है जिसे हमें दूर करना है। अज्ञान विपरीत ज्ञान से दूर होता है। पहले एक से अधिक बार इस बात के कारण दिए जा चुके हैं कि इस अज्ञान को दूर करने में समर्थ ज्ञान को अपरोक्ष या साक्षात्कारी होना चाहिए, और इसका विषय स्वयं आत्मा का ब्रह्म से अभेद होना चाहिए, क्योंकि इस अभेद का विस्मृत हो जाना ही संसार है। मोक्ष का एकमात्र उपाय यही ज्ञान है। न नैतिक पूर्णता और न धार्मिक कृत्य ही सीधे मोक्ष का लाभ कराते हैं। सदाचार और भाव-शुद्धि निश्चय ही आवश्यक हैं, पर ये केवल ज्ञान के सहायक हैं,[2] मोक्ष के नहीं। इसका अर्थ यह है कि असदाचारी व्यक्ति मोक्ष प्रदान करने वाले ज्ञान की प्राप्ति के लिए गम्भीर प्रयत्न नहीं करेगा। जब एक बार ज्ञान हो जाता है तब वह स्वयं ही अज्ञान को दूर कर देता है और अज्ञान के दूर होते ही आत्मा का अपनी सहज दीप्ति के साथ प्रकट होना ही मोक्ष है। प्रकारान्तर से यह कहा

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2. 1. 20 पर शांकर-भाष्य।
2. वेदान्तसूत्र, 3. 4. 26।

जा सकता है कि नैतिक उन्नति और धार्मिक चर्या मोक्ष के लिए आवश्यक तो है, पर पर्याप्त नहीं है। यही शंकर के द्वारा समर्थित कर्म-संन्यास का अर्थ है। जीवन्मुक्ति की धारणा संसार और मोक्ष की ऐसी धारणा का तार्किक परिणाम ही है। यदि ज्ञान बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है, तो ज्योंही उसकी प्राप्ति हो त्यों ही मुक्ति भी प्राप्त हो जानी चाहिए, और मनुष्य के अन्तःकरण या भौतिक शरीर में कोई भी ऐसी चीज़ नहीं है जो इसी लोक और इसी जीवन में उसकी प्राप्ति को असम्भव बना दे।[1]

इसकी साधना के दो चरण हैं—एक प्रारम्भिक चरण है जो मुमुक्षु के अन्दर अद्वैत के गम्भीर अध्ययन के उपयुक्त योग्यता ले आता है; और दूसरा वेदान्त के अभ्यास का चरण है जिसका सीधा लक्ष्य आत्म-लाभ है। इनमें से पहली साधना कर्मयोग से अभिन्न है, जिसे गीता के अध्याय में बताया जा चुका है। इसका लक्ष्य वैराग्य की प्राप्ति है। दूसरी साधना में श्रवण, मनन और निदिध्यासन आते हैं। इन्हें उपनिषदों के अध्याय में समझाया जा चुका है; फिर भी अद्वैत की इनकी व्याख्या में जो नई बातें शामिल हो गई हैं उनकी ओर ध्यान खींचते हुए इन्हें दुबारा समझा देना आवश्यक है। (1) श्रवण—यह किसी ऐसे गुरु की सहायता से उपनिषदों का अध्ययन और विचार है जो उनके द्वारा बताए हुए सत्य को प्राप्त कर चुका हो। इस शर्त में दो बातें शामिल हैं : पहली यह है कि दर्शन के अन्तिम सत्य की जानकारी श्रुति के अध्ययन से प्राप्त की जाए। दूसरी यह है कि किसी योग्य गुरु से व्यक्तिगत चर्चा करते रहना आवश्यक है। केवल तभी यह अध्ययन सफल हो सकता है। इससे प्रकट होता है कि कोरा किताबी ज्ञान अधिक लाभदायक नहीं है। (2) मनन—उपनिषदों के उपदेश को ठीक-ठीक जान लेने के बाद यह दृढ़ विश्वास लाने के लिए कि क्यों और कैसे केवल वही उपदेश सत्य है, अपने मन में तर्क-वितर्क करना मनन है। इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य अन्तिम सत्य की खोज करना नहीं है, क्योंकि वह तो श्रवण से पहले ही जाना जा चुका है, बल्कि इस

1. उपनिषदों के अनुसार एकमात्र अन्य लोक जहाँ आत्मलाभ सम्भव है, ब्रह्मलोक यानी ब्रह्मा का लोक है (कठ उपनिषद्, 2. 3. 5)। वहाँ जो मोक्ष प्राप्त किया जाता है उसे क्रममुक्ति कहा गया है, जैसा कि उपनिषदों के अध्याय में बताया जा चुका है (पृ० 73)। अद्वैत के अनुसार यह वैदिक कर्म के साथ सगुण ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता मानकर उसकी उपासना करने से प्राप्त होता है—सर्वोच्च सत्ता मानकर इसलिए कि या तो साधक उससे भी ऊँची सत्ता की जानकारी नहीं रखता या इसलिए कि ऐसी जानकारी रखने के बावजूद वह उसकी प्राप्ति को अपने लिए दुष्कर समझता है।

संशय को दूर करना है कि शायद वह सही न हो। इसका लक्ष्य श्रद्धा से मानी हुई बात को अपनी व्यक्तिगत आस्था में परिणत कर देना है। इससे भली-भांति प्रकट हो जाता है कि अद्वैत में तर्क को क्या स्थान दिया गया है। अनुषंगतः यह बात ध्यान देने की है कि अद्वैत का, जिसका अन्तिम लक्ष्य अपरोक्षानुभूति है, विश्लेषणात्मक विचार का महत्त्व स्वीकार करना एक विलक्षण-सी बात है। (3) निदिध्यासन—मनन से बौद्धिक आस्था प्राप्त होती है। लेकिन फिर भी आत्म-लाभ के मार्ग में कुछ बाधाएँ बनी रह सकती हैं। हो सकता है कि ऐसी आस्था के बावजूद विचार की पुरानी आदतें, जो नई सीखी हुई बातों के विपरीत हैं, बार-बार अचेतन रूप में उभर पड़ें। इस प्रकार की बाधाओं पर विजय पाना ही निदिध्यासन का उद्देश्य है। जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का, जो कि वेदान्त-सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु है, ध्यान करते रहना ही निदिध्यासन है। जब तक इष्ट आन्तःप्रज्ञ ज्ञान की उत्पत्ति न हो जाए और यह तादात्म्य अपरोक्ष न हो जाए, तब तक इसे चलते रहना चाहिए।[1] जब इस तादात्म्य की अपरोक्षानुभूति हो जाती है, तब साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। निस्सन्देह अन्तिम दार्शनिक सत्य का ज्ञान उपनिषदों से प्राप्त करना है; परन्तु यह ज्ञान सच्चे मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला केवल तभी हो सकता है जब साधक अपने ही अनुभव से यह प्रमाणित कर ले कि वह स्वयं ब्रह्म है।[2] इस प्रकार यहाँ ब्रह्म का अपरोक्षानुभव, जिसे साधारण अनुभव से पृथक् करने के लिए 'विद्वदनुभव' कहा गया है, प्रामाण्य की अन्तिम कसौटी बन जाता है।[3]

जीवन्मुक्त के जीवन की दो अवस्थाएँ होती हैं. एक समाधि की अवस्था होती है, जिसमें वह अन्तर्मुखी होता है और स्वयं को ब्रह्म में लीन कर देता है; और दूसरी व्युत्थान की अवस्था होती है, जिसमें संसार का दृश्य उसे दिखाई देता है लेकिन उसे भ्रान्त नहीं करता, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का उसे स्थायी ज्ञान हो चुका होता है। तब भी नानात्व उसी तरह से दिखाई देता रहता है जिस तरह सूर्य की स्थिरता का विश्वास हो जाने के बाद भी हमें सूर्य पहले की तरह चलता दिखाई देता है। जीवन्मुक्त सुख-दुःख का अनुभव करता है, लेकिन किसी का भी उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रहता। यह जरूरी नहीं है कि वह

1. वेदान्तसूत्र, 4. 1 1-2।
2. किन्तु श्रुत्यादयो अनुभवादयश्च यथासम्भवं इह प्रमाणं अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य—वेदान्तसूत्र-भाष्य, 1. 1. 2.। देखिए बेल्वाल्कर का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 14।
3. उपनिषदों को अन्ततः प्राचीन ऋषियों की इस प्रकार की अपरोक्षानुभूतियों का संग्रह ही मानना चाहिए। देखिए पृ० 182 की टिप्पणी 3।

कर्म का पूरी तरह त्याग कर दे, जैसा कि स्वयं शंकर के कर्मरत जीवन से काफी अच्छी तरह से प्रमाणित होता है।[1] परन्तु जीवन्मुक्त किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर या अन्यो के प्रति कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर भी कर्मरत नही होता। साधारणतः मनुष्य में संकीर्ण अहं के प्रति जो अन्धा प्रेम दिखाई देता है और फलतः विशेष मात्र के प्रति जो आसक्ति होती है, उसकी जगह जीवन्मुक्त के अन्दर सबके लिए प्रबुद्ध और इसलिए समान प्रेम का उदय हो जाता है। इस व्यापक प्रेम को आधार इस उपनिषद्-वाक्य से प्राप्त होता है : 'तत् त्वं असि।' हमें दूसरे के प्रति वही करना चाहिए जो हम अपने प्रति करते हैं, क्योंकि दूसरे हम ही है। यह मत नैतिकता के स्वर्णिम नियम को सबसे अधिक दृढ आधार प्रदान करता है। जैसा कि ईशोपनिषद् (श्लो० 6) में कहा गया है, "जो सब भूतों को आत्मा मे और आत्मा को सब भूतों मे देखता है, वह किसी से घृणा नही करेगा।" गीता (13.27) भी कहती है कि "वह आत्मा को आत्मा से हानि नही पहुँचाता।" उसके लिए सामाजिक नीति के साधारण नियम और यज्ञानुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि इनका महत्त्व केवल उनके लिए है जो पूर्णता के लिए प्रयत्नशील है।[2] जीवन्मुक्त संघर्ष की अवस्था से परे पहुँच चुका होता है और इसलिए सदाचार उसके लिए अनायास हो जाता है। उसके अन्दर आवेग और इच्छा मे कोई अन्तर नही रह जाता। तब वह सदाचार का अभ्यास नहीं करता, बल्कि उसे अभिव्यक्त करता है। "जिसे आत्म-ज्ञान हो चुकी है, उसे दया इत्यादि का सदाचरण करने के लिए जान-बूझकर प्रयास करने की आवश्यकता नही होती। सदाचरण तो उसका दूसरा स्वभाव बन जाता है।"[3] जब अन्त मे वह भौतिक उपाधियों से अलग हो जाता है, तब उसका पुनर्जन्म नही होता, बल्कि वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यह विदेह-मुक्ति है।

1. देखिए, पञ्चदशी, 6. 270-8। इस प्रसंग में वेदान्तसूत्र, 4. 1. 15 के भाष्य के अन्त में शंकर ने जो कहा है वह ध्यान देने योग्य है। परम्परा इसे पारमार्थिक सत्य की शंकर की अपनी ही अपरोक्षानुभूति की स्वीकृति मानती है।
2. देखिए, वेदान्तसूत्र, 2. 3. 48 पर शांकर-भाष्य।
3. नैष्कर्म्यसिद्धि, 4. 69।

अध्याय 14

वेदान्त (क्रमागत)

विशिष्टाद्वैत

यह दर्शन रामानुज के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ईश्वर की पुरुषवादी धारणा को ब्रह्मवादी दर्शन से संयुक्त कर देता है। यहां बहुत प्राचीन काल से चली आने वाली दो विचार-धाराएँ एक में मिल जाती हैं और सुसंस्कृत लोगों तथा साधारण जनता में इसकी लोकप्रियता अधिकांशतः इसी कारण से है। इस बात मे यह गीता के उपदेश के समान है, हालांकि धार्मिक और दार्शनिक दोनों पक्षों की दृष्टि से इसमे अधिक तन्त्रबद्धता दिखाई देती है। इतिहास की दृष्टि से इसमे संयुक्त विचार के तत्त्व परस्पर पृथक् हैं। पहला, यानी ईश्वरवाद, भागवतोक्त प्रकार का है। यह एक ऐसे पुरुषरूप और लोकातीत ईश्वर मे विश्वास करने के लिए कहता है जो करुणा से प्रेरित होकर अपने अनन्यहृदय भक्तों का, जिन्हे इसी कारण से 'एकान्ती' (एक मे निष्ठा रखने वाले) कहा गया है, त्राण करता है। दूसरा तत्त्व इससे भी पुराना है, क्योंकि वह उपनिषदों पर आधारित है। उपनिषदों के जिन दो मतों का हमने उल्लेख किया है (पृ० 61) उनमें से किसी को भी रामानुज ने पूरे रूप में नहीं अपनाया है। फिर भी रामानुज का सिद्धान्त ब्रह्मविवर्तवाद की अपेक्षा ब्रह्मपरिणामवाद[1] के अधिक निकट है। परम सत्ता की एकता और उसके जगत् में व्याप्त होने का विचार तथा यह सिद्धान्त भी कि ज्ञान[2] मोक्ष का उपाय है, इसी स्रोत से आए हैं। इन दो प्रकार की विचारधाराओं का यहां कितनी सफलता के साथ संश्लेषण हुआ है, इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा बाद मे कहेंगे। फिलहाल यह बता देना पर्याप्त होगा कि इस संश्लेषण की शुरुआत रामानुज ने नहीं की थी, हालांकि इसका अर्थ यह नही है कि इस सिद्धान्त ने अन्त में जो रूप ग्रहण किया उसमें रामानुज का अंशदान कम महत्त्व का है। ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद को एक में मिलाने का प्रयत्न बहुत

1. उदाहरणार्थ देखिए, श्रीभाष्य, 1.4.27।
2. जैसा कि हम देखेंगे, इसे रामानुज ने भक्ति कहा है।

पुराना है और स्वयं वैदिक साहित्य के अंगों तक में देखा जा सकता है। हम जानते हैं कि यह संश्लेषण गीता में भी पाया जाता है और वहाँ विशिष्टाद्वैत के समान ही यह नई बात है कि उसका ईश्वरवाद भागवतोक्त प्रकार का है जो सीधे वेद से नही आया है। यही महाभारत में धीरे-धीरे जुड़ जाने वाले अनेक अंशों में से एक या दूसरे मे, विशेष रूप से उसके नारायणीय-नामक अंश मे, और पुराणों में, जैसे विष्णुपुराण मे, भी पाया जाता है। रामानुज के काल में नई बात केवल यह हुई कि शंकर के निर्गुण-ब्रह्मवादी दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और उसमें जो जगत् का निषेध-सा प्रतीत होता है उसके निराकरण के लिए इस पुराने संश्लेषण को नए रूप मे सूत्रबद्ध करने की आवश्यकता पैदा हुई। उदाहरणार्थ, अद्वैत ने जीव का ब्रह्म से तादात्म्य कर दिया था, जिसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि विशिष्टाद्वैत को जीव की वास्तविकता पर बल देना पड़ा, अथवा, जैसाकि मैक्समूलर ने कहा है[1], उसने हिन्दुओं को उनकी आत्माओं को लौटाने का प्रयत्न किया। इस तरह के मतों के विरोध में ही विशिष्टाद्वैत 1000 ई० के आसपास दक्षिण में प्रकट हुआ और कुछ बाद में रामानुज ने उसे तन्त्रबद्ध किया।

विशिष्टाद्वैत के प्रामाणिक मूल ग्रन्थ द्विविध हैं और इसीलिए इसे उभय-वेदान्त कहा गया है। एक तो वेद है जिसमें उपनिषद् और ऐसे पुराण भी शामिल हैं जो अधिकांश में वेदमूलक हैं; और दूसरी ओर दक्षिण की तमिल-भाषा मे पाया जाने वाला वह साहित्य है जो अधिकांशतः वेद पर आधारित है लेकिन जिसमें अवैदिक विचारधारा के कुछ तत्त्व भी निश्चित रूप से हैं। संश्लेषण के इस कार्य में रामानुज के ठीक पहले जिन्होंने अंशदान किया उनमें से नाथमुनि (1000 ई०) और उसके पौत्र आलवन्दार या यामुनाचार्य (1050 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। नाथमुनि का कोई ग्रन्थ अभी तक नही मिला है। यामुनाचार्य के कई ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत के मूल सिद्धान्तों का, जैसा कि उन्हें रामानुज के संश्लेषण-कार्य को अपने हाथ में लेने से पहले समझा गया था, बहुत अच्छा प्रतिपादन हुआ है। ये ग्रन्थ हैं: आगम-प्रामाण्य, महापुरुष-निर्णय जिसका उद्देश्य विष्णु को शिव से श्रेष्ठ सिद्ध करना है, गीतार्थसंग्रह, सिद्धित्रय, तथा दो स्तुतिपरक ग्रन्थ—श्रीस्तुति और विष्णुस्तुति। रामानुज को, जो 'यतिराज' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, यामुनाचार्य के शिष्य का शिष्य कहा गया है। उसका श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध वेदान्तसूत्र-भाष्य, भगवद्गीता-भाष्य,[2]

1. Six Systems of Indian Philosophy, पृ० 189।
2. रामानुज ने उपनिषदों पर अलग से भाष्य नहीं लिखे। यह कार्य बहुत बाद में रंग-रामानुज के हाथों से सम्पन्न हुआ।

और वेदार्थसंग्रह, जिसमें विशिष्टाद्वैत का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन किया गया है, इस दर्शन के मुख्य ग्रन्थ हैं। वेदान्तसार, वेदान्तदीप, नित्यग्रन्थ जो पूजा के प्रकारों का वर्णन करता है, तथा गद्यत्रय रामानुज के अन्य ग्रन्थ हैं। उसके बाद होने वालों में सुदर्शन सूरि (1300 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। इसने श्रीभाष्य और वेदार्थसंग्रह पर टीकाएँ लिखी हैं। इसके बाद वेंकटनाथ हुआ, जिसका अधिक प्रसिद्ध नाम वेदान्तदेशिक (1350 ई०) है। इसकी बहुमुखी विद्वत्ता और दीर्घकालीन परिश्रम ने रामानुज के मत को दृढ़ आधार पर स्थापित करने में बहुत सहायता की। पहला काम उसने यह किया कि उसके पूर्ववर्तियों ने अद्वैत के विरुद्ध जो आक्षेप किए थे उनको, रामानुज के समय से अद्वैत के अनुयायियों ने उनके जो उत्तर दिए थे उनको ध्यान में रखते हुए अधिक अच्छे तरीके से सूत्रबद्ध किया। न केवल उसने इस प्रकार विशिष्टाद्वैत के आलोचनात्मक पक्ष को अधिक दृढ़ किया, बल्कि उसके अन्दर तन्त्रबद्धता लाने का काम भी सँभाला और उसके समय तक उसमें जो अपसिद्धान्त आ गए थे उनको सदा के लिए दूर कर दिया।[1] विशिष्टाद्वैत के इतिहास में वह दूसरा महान् आचार्य है और उसे भविष्य में जो ख्याति प्राप्त होनी थी उसकी प्रत्याशा उससे प्रारम्भ में ही हो गई थी, जैसा कि उस काल के एक प्रसिद्ध आचार्य वरदगुरु के उसे पाँच वर्ष की आयु में दिये हुए निम्नलिखित आशीर्वाद से भली भाँति प्रकट हो जाता है : "विरोधी मतों का खण्डन करके तुम वेदान्त को दृढ आधार पर स्थापित करो, तुम्हें आस्तिकों में सम्मान प्राप्त हो और तुम अतिशय कल्याण के पात्र बनो।"[2] उसके ग्रन्थ इतने अधिक हैं कि उनका पूरा उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ ये हैं : *तत्त्वटीका* जो श्रीभाष्य पर एक अपूर्ण टीका है; तात्पर्यचन्द्रिका जो रामानुज के गीताभाष्य पर एक वृत्ति है; न्यायसिद्धाञ्जन; तत्त्वमुक्ताकलाप; जिस पर स्वयं उसीने सर्वार्थसिद्धि-नामक टीका भी लिखी है; तथा शतदूषणी जो अद्वैत की एक शक्तिशाली आलोचना है। श्रीनिवासाचार्य (1700 ई०) की यतीन्द्रमतदीपिका नौसिखुओं के लिए उपयोगी एक लघु ग्रन्थ है।

: 1 :

बहुत-से अन्य लोगों के साथ-साथ रामानुज भी ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय

1. देखिए, अधिकरण-सारावली, प्रारम्भिक श्लोक, 25।
2. प्रतिष्ठापितवेदान्तः प्रतिक्षिप्तबहिर्मतः।
   भूयाः त्रैविद्यमान्यः त्वं भूरिकल्याणभाजनम्।

वस्तु दोनों का अस्तित्व निहित मानता है, परन्तु कुछ अन्य बातों में उसका उनसे मौलिक मतभेद है। इनमे सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि विवेचन प्रत्येक ज्ञान में आवश्यक रूप से शामिल रहता है और कि बुद्धि का निर्विशेष वस्तु को ग्रहण करना असम्भव है। जो कुछ भी ज्ञात होता है वह किसी-न-किसी रूप में अनिवार्यतः विशिष्ट होता है और उसके सामान्य लक्षण का प्रत्येक दशा में उसके साथ ग्रहण होता है। इस मत का महत्त्व न्याय-वैशेषिक मे माने हुए निर्विकल्पक से, जिसमे पहले-पहल केवल असंयुक्त वस्तुओं का ज्ञान होना कहा गया है, तुलना करने पर स्पष्ट हो जाएगा। रामानुज के मत से प्रत्यक्ष की यह अवस्था एक मनोवैज्ञानिक कल्पना है और न्याय-वैशेषिक में स्वीकृत सविकल्पक स्वयं प्राथमिक है। सविकल्पक का जिन सरल तत्त्वों में विश्लेषण किया जाता है वे केवल विचार के फल हैं और मानसिक प्रक्रिया वस्तुतः जिस तरह से होती है उसमें इनके लिए कोई स्थान नही है। इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि रामानुज सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद नही मानता। इसे वह मानता तो अवश्य है, लेकिन उसके अनुसार दोनों ही की अन्तर्वस्तु जटिल होती है। प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक तब कहा जाता है जब वस्तु का पहली बार ज्ञान होता है। वस्तु का यह पहला ज्ञान उसके किसी पिछले संस्कार को नहीं जगाता। मान लीजिए कि एक बच्चा पहली बार एक गाय को देखता है। लेकिन तब भी वह उसे किसी प्रकार विशिष्ट वस्तु के रूप में ही देखेगा। जब वह दुबारा गाय को देखेगा तब गाय का पिछला संस्कार भी साथ ही जाग्रत हो जाएगा। रामानुज ने इस प्रकार के दूसरे ज्ञान को[1] अर्थात् नई वस्तु को पुरानी की रोशनी में जानने को सविकल्पक कहा है। प्रत्यक्ष का रूप निर्विकल्पक अवस्था मे 'यह एक गाय है' की तरह का होता है और सविकल्पक अवस्था में 'यह भी एक गाय है' की तरह का होता है। तदनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रगति सरल वस्तु के ज्ञान से जटिल वस्तु के ज्ञान मे नही होती, जैसा कि न्याय-वैशेषिक में माना गया है, बल्कि इस रूप मे होती है कि पहले जो जटिल वस्तु नई प्रतीत होती थी उसकी नवीनता समाप्त हो जाती है और अब वह परिचित लगती है। इसी बात को दूसरे रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार केवल सविकल्पक मे ही निर्णय होता है और निर्विकल्पक उसके लिए सामग्री मात्र प्रदान

1. यह कहा गया है कि यदि वस्तु को दूसरी बार देखने पर पिछला संस्कार उद्बुद्ध नहीं होता, तो उसका ज्ञान केवल निर्विकल्पक ही रहेगा और आगे भी जब तक ऐसा न हो तब तक निर्विकल्पक ही बना रहेगा। देखिए, वेदार्थसंग्रह, पृ० 51 (टीका)।

करता है, जब कि विशिष्टाद्वैत के अनुसार सभी प्रत्यक्षानुभवों में निर्णय समान रूप से शामिल रहता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सविकल्पक और प्रत्यभिज्ञा एक ही बात है। प्रत्यभिज्ञा में, जैसे 'यह वही देवदत्त है' इसमें, एक ही वस्तु का दो बार प्रत्यक्ष होता है, जबकि सविकल्पक में जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह पहली बार ज्ञात वस्तु से भिन्न लेकिन उसके प्रकार की होती है। निस्सन्देह दोनों में विद्यमान वस्तु एक पिछले संस्कार को जाग्रत् करती है; परन्तु सविकल्पक में केवल वस्तु के विशेषणांश का संस्कार जाग्रत् होता है जब कि प्रत्यभिज्ञा में विशिष्ट वस्तु (व्यक्ति) का संस्कार भी जाग्रत् होता है। इसके अलावा, यद्यपि सभी प्रकार के प्रत्यक्षों में निर्णय समान रूप से शामिल रहता है, तथापि प्रत्यभिज्ञा में उन अलग-अलग स्थानों और कालों की ओर भी संकेत रहता है जिनमें सम्बन्धित वस्तु का ज्ञान होता है। केवल प्रत्यक्ष की पहली अवस्था में ही निर्विशेष वस्तु का ज्ञान न होता हो, ऐसी बात नहीं है। सभी ज्ञान जिनमें ब्रह्म का ज्ञान भी शामिल है, अनिवार्यतः सगुण वस्तु के होते हैं।[1] यहाँ रामानुज का शंकर से, जो उपनिषदुक्त परम सत्ता को निर्गुण मानता है, मौलिक मतभेद प्रकट होता है। रामानुज कहता है: "यदि उपनिषद् ब्रह्म को निर्गुण बताते हैं, तो इसका केवल यह अर्थ हो सकता है कि ब्रह्म में कुछ गुणों का अभाव है, लेकिन कुछ गुण उसमें फिर भी बने रहते हैं।"[2]

रामानुज के अनुसार, ज्ञान का स्वरूप समझने के लिए अन्तिम वस्तुओं का वर्गीकरण, जो विशिष्टाद्वैत में सबसे भिन्न है, समझ लेना ज़रूरी है। चेतन और जड़ वस्तुओं के सुपरिचित भेद के अलावा वह एक तीसरी किस्म की वस्तु भी मानता है, जो न चेतन है और न जड़ है। ज्ञान इसी प्रकार की वस्तु है। जड़ वस्तुओं से यह इस बात में भिन्न है कि यह किसी साधन के बिना ही स्वयं को और अन्य वस्तुओं को अभिव्यक्त कर सकता है जबकि जड़ वस्तुएँ ऐसा नहीं कर सकतीं। लेकिन ज्ञान जो कुछ अभिव्यक्त करता है वह स्वयं उसके लिए नहीं बल्कि सदैव दूसरों के लिए होता है। अर्थात् वह वस्तुओं को प्रदर्शित मात्र कर सकता है, उन्हें जान नहीं सकता। इस बात में वह चेतन वस्तु यानी आत्मा से भिन्न होता है, क्योंकि आत्मा, विशिष्टाद्वैत के अनुसार, जानता तो है, लेकिन अपने अलावा और किसी वस्तु को प्रदर्शित नहीं कर सकता। भौतिक जगत् में ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जा सकती है, जो एक घड़े का और अपना

1. श्रीभाष्य, पृ० 70-5।
2. वही, पृ० 71।

भी अस्तित्व प्रकट कर सकता है, लेकिन न घड़े को और न अपने-आप को ही जान सकता है, क्योंकि वह वस्तुओं को सदैव दूसरे के लिए प्रकट करता है। यह अपने लिए नहीं, बल्कि अपने से भिन्न किसी चीज़ के लिए अस्तित्व रखता है। वह किसी दूसरे के प्रयोजन का साधक है। अत: विशिष्टाद्वैत में वस्तुओं का जड़ और चेतन में नहीं बल्कि जड़ और अजड़[1] में भेद किया गया है। यहाँ अजड़-वर्ग में चेतन और वह भी जो चेतन तो नहीं है पर जड़ से भी भिन्न है, शामिल हैं। यहाँ चेतन सत्ताएँ दो प्रकार की मानी गई हैं : एक प्रकार की जीव है और दूसरे प्रकार की ईश्वर है। ज्ञान इनमें से एक या दूसरे को होता है। फलत: इसे *धर्मभूत-ज्ञान अर्थात् विशेषणात्मक ज्ञान*[2] *कहा गया है।* इससे प्रकट होता है कि धर्मिभूत-ज्ञान भी होता है। विभिन्न जीव और ईश्वर इस ऊँचे अर्थ में ज्ञान हैं। इनकी दीपक की ज्वाला से तुलना की गई है। धर्मभूत-ज्ञान का इनसे वही सम्बन्ध है, जो ज्वाला से किरणों का है और इनसे वह उसी तरह निकलता है जिस तरह ज्वाला से किरणें निकलती हैं। ज्ञान का ज्ञाता से अर्थात् जीव या ईश्वर से नित्य सम्बन्ध माना गया है और वह उसका निराला विशेषण है। जब वह अपने ज्ञाता से बाहर की ओर 'प्रवाहित होता है' और किसी वस्तु के सम्पर्क में आता है, तब वह उस वस्तु को उसे दिखाता है। जीव का जब तक संसार में अस्तित्व बना रहता है तब तक वह थोड़ा-बहुत सीमित तरीके से काम करता रहता है, लेकिन रहता वह सदैव है। सुषुप्ति में भी वह रहता है, लेकिन उस समय वह सक्रिय नहीं रहता और इसलिए दिखाई नहीं देता। विशिष्टाद्वैत में यह माना गया है कि ज्ञान का ज्ञान या तो किसी वस्तु के साथ होता है या बिलकुल होता ही नहीं।[3] सुषुप्ति में जीव आत्मचेतन बना रहता है और उसमें उसका धर्मभूत-ज्ञान भी स्वयं को प्रकट किए बिना बना रहता है। जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में देखेंगे, स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं को सचमुच विद्यमान माना गया है। अत: उस समय ज्ञान का भी ज्ञान होता है: लेकिन चूँकि उसकी क्रिया तब जाग्रत अवस्था से भी कहीं अधिक अवरुद्ध होती है, इसलिए स्वप्न की वस्तुओं का ज्ञान धुंधला और अस्पष्ट होता है। इसके विपरीत, मोक्ष की अवस्था में ज्ञान की क्रिया पुन: पूर्णत: मुक्त हो जाती है। तब वह सर्वव्यापक हो जाता

1. यतीन्द्रमतदीपिका (आनन्दाश्रम), पृ० 51।
2. जीव या ईश्वर का विशेषण होने के बावजूद ज्ञान को स्वत: एक 'द्रव्य' माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा।
3. ईश्वर के धर्मभूत-ज्ञान को सर्वव्यापक माना गया है और इसलिए उसका संकोच या विस्तार नहीं होता; पर रूप उसका अवश्य बदलता रहता है। दैवी ज्ञान, दैवी अनुग्रह इत्यादि उसके ऐसे ही रूपान्तर हैं।

है और फलतः कोई भी चीज ऐसी नहीं बचती जो उसके दायरे के बाहर हो। मुक्त जीव तब सर्वज्ञ हो जाता है। ज्वाला और उसकी किरणों से जो उपमा दी गई है उससे यह लग सकता है कि धर्मभूत-ज्ञान बना हुआ तो उसी द्रव्य से है जिससे जीव या ईश्वर बना है, परन्तु यहाँ वह द्रव्य सूक्ष्म रूप में होता है। पर रामानुज का ऐसा मत नही है। वह इसे एक पृथक् वस्तु मानता है,[1] हालाँकि यह सदैव किसी दूसरी वस्तु से सम्बन्धित और उस पर आश्रित रहता है। लेकिन दो प्रकार के ज्ञानों को मानने का कारण समझ में नही आता। शायद यह आत्मा को स्वरूपतः अपरिणामी बनाने और इस प्रकार विशिष्टाद्वैत का उपनिषदो के उपदेश से, जो, जैसा कि शंकर ने बार-बार दोहराया है, पूरी तरह से उसके अविक्रियत्व के पक्ष मे है, सामजस्य बैठाने की इच्छा का फल हो।[2]

ज्ञान अकेले मनस् के द्वारा या किसी ज्ञानेन्द्रिय की सहायता-प्राप्त मनस् के द्वारा काम करता है—ज्ञानेन्द्रिय में से होकर वह अपनी वस्तुओं की ओर, जिन्हें पहले से ही विद्यमान माना गया है, प्रवाहित होता है। रामानुज के अनुसार ज्ञान आत्मा से चलता है, मनस् में पहुँचता है और तब ज्ञानेन्द्रिय से बाहर निकलकर बाह्य वस्तुओं से सम्पर्क करता है। जब इस प्रकार उसका किसी वस्तु से सम्पर्क होता है तब यह कहा गया है कि वह उस वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है और किसी तरह से उसकी ज्ञाता को जानकारी करा देता है। इससे स्पष्ट है कि धर्मभूत-ज्ञान की धारणा अद्वैत की अन्तःकरण की धारणा के समकक्ष है, क्योंकि अद्वैत में भी इसी प्रकार अन्तःकरण का बाहर वस्तुओं की ओर जाना और उनका आकार ग्रहण करके उनका ज्ञान उत्पन्न करना माना गया है। लेकिन अद्वैत में तो अन्तःकरण जड़ है और साक्षी की सहायता से वह ज्ञान मे परिणत होता है, जबकि यहाँ धर्मभूत-ज्ञान स्वयं ही ज्ञान है। इसे मनस् और ज्ञानेन्द्रियो की सहायता केवल रंग, ध्वनि इत्यादि विशेष प्रकार के ज्ञानों का रूप ग्रहण करने के लिए चाहिए। केवल ज्ञान को ही धर्म-भूत-ज्ञान का रूपान्तर नही माना गया है, बल्कि इच्छा और क्रोध इत्यादि आन्तरिक अवस्थाओ को भी उसके रूपान्तर माना गया है और इस प्रकार ये अवस्थाएँ ज्ञान के भी प्रकार हैं।

1. न्याय-वैशेषिक के अनुसार पहले ज्वाला उत्पन्न होती है, और बाद में उससे किरणें जो तेजस् के अणुओं से निर्मित होती हैं, निकलती हैं। देखिए, श्लोकवार्तिक, पृ० 842 इत्यादि।
2. यह प्रयोजन तब स्पष्ट हो जाएगा जब हम ईश्वर के बारे में, जो *आत्मस्वरूपतः* अणवाकार जीव के विपरीत सर्वगत है और इसलिए इस प्रकार के किसी सहायक की आवश्यकता नहीं रखता, चर्चा करेंगे।

: 2 :

अब हम ज्ञान के तार्किक पक्ष को लेंगे।[1] अभी-अभी हमने रामानुज के ज्ञान-प्रक्रिया के वर्णन के प्रसंग में इस तथ्य का उल्लेख किया था कि वस्तुओं का ज्ञान होने से पहले से ही अस्तित्व रहता है। इसलिए उन्हें सत्य मानना चाहिए; और चूँकि उनका अस्तित्व आत्मा के या आत्मा से उनको सम्बन्धित करने वाले ज्ञान के ऊपर किसी भी तरह निर्भर नहीं होता, इसलिए उनकी सत्यता सापेक्ष मात्र न होकर निरपेक्ष है। रामानुज इस वास्तववादी मत को वेदमूलक सिद्ध करता है और इस प्रसंग में जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे ज्ञान के प्राभाकर-सम्प्रदाय में दिए हुए वर्णन की याद दिलाते हैं।[2] उसके मत को एक विशेष नाम, सत्ख्याति, दिया गया है, जिसका अर्थ यह है कि केवल सत् का ही ज्ञान होता है और कि ऐसे ज्ञान की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसके अनुरूप किसी वस्तु का वास्तव में अस्तित्व न हो। यहाँ ज्ञान और वस्तु का जो संवाद अभिप्रेत है, उसके होने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि ज्ञान के आलम्बन मात्र के रूप में किसी चीज का बाहर अस्तित्व हो। रामानुज निरे अभेद को एक तत्त्वमीमांसीय कल्पना और ज्ञान का अविषय मानता है और इससे संगति रखते हुए यह मानता है कि वस्तु का स्वरूप भी वैसा ही होना चाहिए जैसा ज्ञान में प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान प्रस्तुत वस्तु से न केवल प्रकारी की दृष्टि से संवाद रखता है बल्कि प्रकार की दृष्टि से भी। जहाँ तक सामान्य प्रत्यक्ष का सम्बन्ध है वहाँ तक तो यह मत आसानी से समझ में आ जाता है, परन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि भ्रम के बारे में, जिसमें हमें संवादी वस्तु के अभाव में ही उसका ज्ञान होता प्रतीत होता है, इस मत को कैसे अपनाया जा सकता है। रामानुज ने भ्रमों की दो व्याख्याएँ दी हैं—

(1) कुछ मामलों में उसने वेदान्त के पञ्चीकरण-सिद्धान्त के आधार पर वास्तववाद को क़ायम रखा है। इस सिद्धान्त के अनुसार दृश्य जगत् में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब यौगिक हैं और प्रत्येक में पाँचों भूत रहते हैं, हालाँकि उनका प्रत्येक में अलग-अलग अनुपात होता है। इस प्रकार, मरीचिका में आँखों के सामने तपी हुई बालू होती है, जिसमें प्रधान अंश के रूप में तो पृथ्वी होती है, परन्तु अल्पांश के रूप में अप् इत्यादि अन्य चार भूत भी रहते हैं, और इसलिए हमें समझ लेना चाहिए कि वहाँ पानी का दिखाई देना ऐसी ही चीज का दिखाई देना है जो वस्तुतः आँख के सामने उपस्थित है। लेकिन

1. श्रीभाष्य, पृ० 183-8।
2. यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्। देखिए, प्रकरणपञ्चिका, पृ०, 32।

ऐसी व्याख्या केवल उन्हीं मामलों मे पर्याप्त मानी जा सकती है जिनमें भ्रम की वस्तु पाँच भूतों में से किसी एक की हो, जैसे कि ऊपर के उदाहरण में। परन्तु भ्रम ऐसे दुर्लभ मामलो तक ही सीमित नही होते। हम शुक्ति को रजत समझने की भूल कर सकते हैं और इन दोनों में से कोई भी स्वतः कोई भूत नहीं है। ऐसे मामलों की व्याख्या के लिए रामानुज पञ्चीकरण के मूलभूत सिद्धान्त का विस्तार कर देता है। शुक्ति-रजत-भ्रम के कारणो में से एक इन दो वस्तुओं का सादृश्य यानी उनकी विलक्षण प्रकार की चमक है। रामानुज इस सादृश्य का मतलब शुक्ति में रजत के द्रव्य की उपस्थिति मानता है, हालांकि वह उसमे केवल अत्यल्प मात्रा में ही होता है। उसकी दृष्टि में सादृश्य द्रव्य की आंशिक एकता का ही दूसरा नाम है[1] और इस प्रकार इस उदाहरण में भी वही दिखाई देता है जो वस्तुत. आँखों के सामने उपस्थित है। इसका मतलब यह हुआ कि रामानुज ऐसे मामलो मे अपने सत्ख्यातिवाद का समर्थन इस बात से करता है कि भौतिक जगत् में एकता है और उसकी वस्तुओं मे रचना-साम्य देखा जा सकता है, और यह उसके दर्शन का एक आधारभूत सिद्धान्त है।

(2) श्वेत शख के पीलिया के रोगी को पीले दिखाई देने और इस तरह के अन्य भ्रमो की इससे भिन्न व्याख्या देना जरूरी हो जाता है, क्योंकि पीलेपन का तो सभी जानने वाले आत्मा से बाहर, आँख के अन्दर, अस्तित्व मानते हैं और इसलिए स्पष्टीकरण इस बात का नही देना है कि पीलापन सत्य है या नहीं बल्कि इस बात का देना है कि यह शख का गुण क्यों प्रतीत होता है। रामानुज अपने समय में प्रचलित दृष्टि-सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्टीकरण देता है कि रोगग्रस्त चक्षु में पाया जानेवाला पीलापन उन किरणों के साथ जो देखने की प्रक्रिया में चक्षु से निकलकर शंख की ओर जाती हैं, वस्तुतः शंख मे सचारित हो जाती है और शंख का स्वाभाविक श्वेतत्व इस प्रकार आरोपित नए रंग के नीचे दब जाता है। फलतः शंख वस्तुतः पीला मान लिया जाता है, हालांकि यह कुछ समय तक ही रहता है। यहाँ भी ज्ञान न केवल सम्बन्धियों की दृष्टि से बल्कि उनके सम्बन्ध की दृष्टि से भी यथार्थ है। इसके विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि शंख वास्तव मे पीला हो जाता है, तो अन्यों को भी वह पीला नजर आना चाहिए। इसका यह उत्तर दिया गया है कि यहाँ पीलापन इतना अधिक सूक्ष्म है कि जिसने उसका आँख से निकलकर शंख तक पहुँचने के पूरे मार्ग मे अनुसरण नहीं किया है उसे वह नहीं

---

1. तदेव सदृशं तस्य यत् तद्द्रव्यैकदेशभाक्—श्रीभाष्य, पृ० 184।

दीख सकता।[1] यह व्याख्या निस्सन्देह मनमानी और अविश्वसनीय है; लेकिन वर्तमान प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात इसके मूल में रहनेवाली वास्तववाद पर दृढ़ बने रहने की प्रवृत्ति है, न कि इसका वैज्ञानिक दृष्टि से सही होना। अब तुरन्त ही यह जिज्ञासा होगी कि स्वप्नों की क्या व्याख्या दी गई है। कम-से-कम यहाँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमें संवादी वस्तुओं की अनुपस्थिति में ही उनका अनुभव होता है। परन्तु यहाँ भी एक मनमानी व्याख्या दी गई है। उपनिषदों के आधार पर[2] कहा गया है कि स्वप्न में दिखाई देनेवाली वस्तुएँ, जैसे हाथी, मन की कल्पनाएँ नहीं हैं, बल्कि उस समय उनका वास्तव में अस्तित्व रहता है। रामानुज[3] का कथन है कि परमात्मा उनको उत्पन्न करता है और उन्हें उत्पन्न करने का प्रयोजन जाग्रत् अवस्था की वस्तुओं को उत्पन्न करने के प्रयोजन के समान ही व्यक्ति को उसके पिछले कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का भोग कराने के साधन प्रदान करना है। "वह इन वस्तुओं को, जो प्रत्येक जीव के लिए अलग-अलग होती हैं और केवल अनुभवपर्यन्त ही अस्तित्व रखती हैं, इसलिए उत्पन्न करता है कि जीव अपने किए हुए भले और बुरे अत्यधिक गौण कामों के उपयुक्त फल भोग सके।"[4]

इस द्विविध व्याख्या का अर्थ जान लेना उपयोगी रहेगा। पीत-शंख और स्वप्न-हस्ती केवल व्यक्तिगत अनुभव की वस्तुएँ हैं। यद्यपि वे मिथ्या नहीं होतीं, तथापि जब तक भ्रम रहता है तभी तक उनका अस्तित्व रहता है और इसलिए जो उन्हें देखता है केवल वही उन्हें प्रमाणित कर सकता है। मरीचिका या शुक्ति-रजत का भ्रम भी एक तरह से विशेष व्यक्तियों से ही सम्बन्ध रखता है; परन्तु इसमें कोई व्यक्ति जिस पानी या रजत को देखता है वह प्राक्कल्पनातः सामने स्थित वस्तु के वास्तविक अंश के रूप में भ्रम के दूर हो जाने के बाद भी बने रहने के कारण सबके द्वारा सत्यापनीय है। इससे प्रकट होता है कि रामानुज दो प्रकार की वस्तुओं में भेद करता है—एक प्रकार की वे जिन्हें सब या अनेक व्यक्ति देखते हैं और इसलिए 'सार्वजनिक' कही जा सकती हैं और दूसरे प्रकार की वे जो अकेले व्यक्ति को दिखाई देती हैं और इसलिए 'निजी' कही जा सकती हैं। लेकिन यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि

1. इसकी ऊँचाई पर उड़ती हुई एक छोटी चिड़िया से तुलना की गई है जो उसे आसानी से दिखाई देती है जिसने उसके उड़ना शुरू करने के समय से ही उसके रास्ते पर नजर रखी है, लेकिन अन्यों को नहीं।
2. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.3.10।
3. श्रीभाष्य, 3.2.3।
4. श्रीभाष्य, 3.2.5।

इस वर्गीकरण का मतलब रामानुज का सत्ता के विभिन्न प्रकारों को स्वीकार करना नही है। यदि यह उन्हें स्वीकार करता तो विशिष्टाद्वैत ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से शंकर के अद्वैत-जैसा हो जाता। तथ्य यह है कि विभिन्न प्रकार की सत्ताओं के अन्तर का निषेध करने के लिए ही उसने सत्ख्यातिवाद को अपनाया है। वास्तविकता की दृष्टि से निजी और सार्वजनिक वस्तुओं में कोई अन्तर नही है। दोनों ही बाह्यार्थ हैं, दोनों का अस्तित्व ज्ञाननिरपेक्ष है और दोनों निरपेक्ष रूप से सत्य हैं। किसी वस्तु का निजी होना उसे अवास्तविक नही बनाता। हमारे सुख-दुःख प्रत्येक के निजी हैं, लेकिन इस कारण से उनकी वास्तविकता घट नही जाती।

ऊपर के दो तरह के दृष्टान्तों की व्याख्या में चाहे जितनी भिन्नता हो और उसके वैज्ञानिक मूल्य के बारे में हम चाहे जो सोचें, सत्ख्याति का लक्ष्य स्पष्टतः यह सिद्ध करना है कि ज्ञान, जिसमें तथाकथित भ्रम भी शामिल है, वास्तविकता से कभी दूर नही भटकता और कि ज्ञान की वस्तु जब ऐसी होती है कि उसके अस्तित्व का समर्थन केवल एक ही व्यक्ति कर सकता है तब भी उसमें कल्पना का कतई कोई अंश नही होता। यदि सब ज्ञान समान रूप से सही है, तो पूछा जा सकता है कि प्रमा और भ्रम मे जो सबके द्वारा अन्तर किया जाता है वह क्यों है। ऊपर उद्धृत दृष्टान्तों से हमें लगेगा कि भ्रम अपूर्ण ज्ञान है। इस प्रकार पीत-शंख के उदाहरण मे भ्रम का कारण हमारा शंख के सफेद रंग को न देख पाना अथवा, अधिक उचित यह कहना होगा कि, उसके दब जाने के तथ्य की हमारे द्वारा उपेक्षा हो जाना है। सामने स्थित वस्तु की किसी बात का छूट जाना और इसके फलस्वरूप भ्रम का होना एक अन्य उदाहरण मे, जो श्रीभाष्य (पृ० 187) मे दिया हुआ है, और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। यह उदाहरण अलातचक्र का है, जिसमें एक प्रकाश-बिन्दु तेजी से घुमाए जाने के कारण एक वृत्त के रूप में दिखाई देता है। इस भ्रम में यह तथ्य तो सही-सही ज्ञात होता है कि प्रकाश-बिन्दु वृत्त की परिधि के प्रत्येक बिन्दु में स्थित है, लेकिन यह तथ्य बिलकुल नजरन्दाज कर दिया जाता है कि वह इस परिधि के प्रत्येक बिन्दु में क्रमिक रूप से पहुँचता है, न कि एक ही समय में। लेकिन हमे यह भी याद रखना चाहिए कि सत्ख्यातिवाद के अनुसार सही ज्ञान मे भी कुछ बातें छूट जाती हैं। उदाहरणार्थ, जब हम शुक्ति को शुक्ति के रूप में देखते हैं, तब प्राक्कल्पना के अनुसार उसमें रजत का अंश भी रहता है लेकिन उसकी उसी तरह उपेक्षा कर दी जाती है जिस तरह उसे गलती से रजत के रूप में देखने पर उसके शुक्ति-अंश की उपेक्षा कर दी जाती है। इसी प्रकार

जब हम रेगिस्तान की रेत को रेत के ही रूप में देखते हैं तब हमारी बुद्धि उसमें विद्यमान माने जानेवाले अप् के अंश को छोड देती है। तथ्य यह है कि सत्-ख्याति यह तो मानती है कि केवल जो प्रस्तुत होता है उसी का हमें ज्ञान होता है, परन्तु यह नहीं मानती कि जितना भी प्रस्तुत होता है वह सारा ज्ञात हो जाता है। निस्सन्देह ज्ञान सदैव प्रस्तुत का ही होता है, जो प्रस्तुत है, उसके अलावा किसी का नहीं; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रस्तुत पूरा-का-पूरा ज्ञात हो जाए।[1] अतः यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि भ्रम सामान्यतः अपूर्ण ज्ञान है। क्योंकि पूर्णता यथार्थता की तरह प्रमा का भ्रम से व्यवच्छेद नहीं कर पाती, इसलिए रामानुज ने एक नया सिद्धान्त यह अपनाया है कि ज्ञान को सामान्यतः गृहीत अर्थ में सत्य होने के लिए बाह्यार्थ के अनुरूप होने के अतिरिक्त जीवन में उपयोगी भी होना चाहिए। जब मरीचिका और शुक्ति-रजत को मिथ्या कहा जाता है, तब हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जल और रजत वहाँ विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो इनका हमें ज्ञान ही न हुआ होता, बल्कि यह समझना चाहिए कि उनकी मात्रा इतनी अधिक नहीं है कि उनका व्यावहारिक उपयोग हो सके। इस प्रकार प्रमा और भ्रम का अन्तर केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही अर्थ रखता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें कोई भी अन्तर नहीं है। सब ज्ञान निरपवाद रूप से और अनिवार्यतः प्रमाण है; लेकिन इस प्रामाण्य से इस बात की गारन्टी नहीं होती कि जो ज्ञात हुआ है वह किसी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त है। एक भूवैज्ञानिक की यह जानकारी सही हो सकती है कि कच्ची धातु का एक टुकड़ा सोना है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उससे एक कड़ा बनाया जा सकता है। प्रामाण्य की परिभाषा में 'यथार्थता' के अलावा 'व्यवहारानुगुण्य' (व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुकूल होने का गुण) को भी शामिल करने का यही मतलब है।[2] यदि ज्ञान को व्यवहार के अनुरूप होना है, तो उसे दो शर्तों को पूरा करना होगा। पहली शर्त यह है कि उसे सार्वजनिक अनुभव की वस्तुओं का निर्देश करना चाहिए। इस शर्त की पूर्ति न हो पाने से ही पीत-शंख और

1. सत्ख्यातिवाद के रूप में जो असाधारण मत हमारे सामने है उसने एक बात निश्चित रूप से यह प्रकट होती है कि भ्रम में बुद्धि अपनी तरफ से कुछ भी नहीं जोड़ सकती। यह रामानुज की सत्ख्याति और प्रभाकर की अख्याति में एक समान बात है। लेकिन ये दोनों सिद्धान्त एक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में वेदान्तदेशिक का सत्ख्याति को सर्वार्थसिद्धि, पृ० 403-7 में 'अख्याति-संवलित-यथार्थख्याति' कहना ध्यान देने योग्य है।
2. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 3।

स्वप्न-हस्ती मिथ्या हो जाते हैं। क्योंकि इनके एक विशेष व्यक्ति की निजी वस्तुएँ होने की बात उस समय नजरन्दाज कर दी जाती है, इसलिए इन्हें सामान्य या जाग्रत् अवस्था की तुल्य वस्तुएँ मान लेने की ग़लती हो जाती है; और जब यह गलती ज्ञात हो जाती है तब उनका मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। दूसरी शर्त यह है कि उसे प्रस्तुत वस्तु के प्रधान अंश को ग्रहण करना चाहिए। जिस वस्तु को हम शुक्ति कहते हैं उसमें रजत का भी अंश हो सकता है, पर शुक्ति का अंश प्रधान होता है; और इसी प्रधानता के कारण उसका रजत के बजाय शुक्ति के रूप में प्रयोग होता है। रजत का अंश उसमें विद्यमान तो है, पर अल्पत्व के कारण उसका व्यवहार में कोई महत्त्व नहीं है; और इस बात के ज्ञात होने पर ही रजत-ज्ञान का भ्रम होना प्रकट होता है। प्रमा वस्तु के जितने अंश को ग्रहण करती है, उसकी दृष्टि से यथार्थ तो होती ही है, पर साथ ही जीवन में उपयोगी भी होती है। भ्रम भी जितने अंश को ग्रहण करता है उसकी दृष्टि से यथार्थ ही होता है, पर जितने उपयोग की हम उससे आशा करते हैं वह हमें उससे प्राप्त नहीं होता। अतः जब भ्रम दूर होकर सत्य का ज्ञान होता है, तब, रामानुज के टीकाकार के कथनानुसार, अर्थ का निषेध नहीं होता, बल्कि केवल प्रवृत्ति का बाध होता है।[1] जैसाकि हम प्रभाकर के मत के प्रसंग में कह चुके हैं, भ्रम का ज्ञान चेतना के प्रतिक्रियात्मक पक्ष को प्रभावित करता है, न कि उसके ग्रहणात्मक पक्ष को।

ऐसे मत से दो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। जीवन के व्यावहारिक क्रियाकलाप के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हमें अपने आस-पास की वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान हो। यदि हम उन्हें लगभग पूरी तरह से जानते हों तो इतना ही पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में, प्रयोजन-साधक ज्ञान सर्वांशग्राही नहीं बल्कि चयनात्मक होता है; और यह जरूरी नहीं है कि आंशिक या अपूर्ण ज्ञान जीवन के सामान्य साध्यों की प्राप्ति में बाधक हो। सत्ख्यातिवाद ज्ञान का एक सामाजिक यानी सब ज्ञाताओं के लिए समान पक्ष भी मानता है। जहाँ तक सैद्धान्तिक निश्चितता का सम्बन्ध है, वहाँ तक व्यक्तिगत चेतना उतनी ही प्रमाण है जितनी सामूहिक चेतना, क्योंकि, जैसाकि हम एक से अधिक बार बता चुके हैं, ज्ञान चाहे एक व्यक्ति को होता हो चाहे अनेक व्यक्तियों को समान रूप से, वह स्वरूपतः सचाई को प्रकट करता है; लेकिन उसकी उपयोगिता समाज के अप्रकट लेकिन सामान्य साध्य पर, मानव-जाति की 'सामान्य' बुद्धि पर, निर्भर होती है। ये बातें सत्ख्यातिवाद का आजकल 'प्रैग्मेटिज़्म' (अर्थक्रियावाद) के

1. ज्ञानफलभूतप्रवृत्तिबाध्यत्वम्—श्रीभाष्य (टीका), पृ० 185।

नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्त से सादृश्य प्रकट करती है। दोनों ही ज्ञान को व्यवहार का साधन मानते हैं और व्यावहारिक उपयोगिता को सत्यता की कसौटी के रूप में अपनाते हैं। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी इनमें है। रामानुज ज्ञान के व्यावहारिक मूल्य के अतिरिक्त उसका ज्ञापनात्मक मूल्य भी मानता है, जब कि अर्थक्रियावाद अपने प्रसिद्ध रूप में ऐसा कोई भेद नहीं मानता। रामानुज भ्रम तक में सत्य की आंशिक अभिव्यक्ति मानता है और इस प्रकार वह अर्थक्रियापरक दृष्टिकोण अपनाते हुए भी तार्किक दृष्टिकोण को नहीं छोड़ देता। वास्तव में उसके अनुसार ज्ञान एक नहीं बल्कि दो काम करता है—एक सत्य को प्रकट करने का और दूसरा व्यावहारिक जीवन के प्रयोजनों को पूरा करने का। दोनों ही का समान महत्त्व है; और यदि इनमें से किसी एक को अधिक महत्त्व का मानना है तो निस्सन्देह पहले को। दूसरे शब्दों मे, अर्थक्रियावादी के विपरीत रामानुज सत्य का स्वतः मूल्य मानता है और ज्ञान को उसके फल से अधिक उसके प्रकाशकत्व के कारण महत्त्व देता है।

यहाँ तक हमने जिस सिद्धान्त की रूपरेखा बताई है वह ज्ञानमीमांसीय समस्या के स्वरूप को बहुत बदल देता है। ज्ञान के बारे में जिस प्रश्न का निर्णय करना है वह यह नहीं है कि ज्ञान तार्किक दृष्टि से प्रमाण है या नहीं—क्योंकि इस बात में दोषयुक्त होने से ज्ञान 'ज्ञान' कहलाने के अधिकार से ही वंचित हो जाएगा—बल्कि यह है कि व्यावहारिक जीवन में उसका कोई उपयोग है या नहीं। दूसरे शब्दों में, विभिन्न ज्ञानों में गुण मे कोई अन्तर नहीं होता, बल्कि उपयोगिता मे बड़ा अन्तर होता है। यदि इस बात को हम ऊपर कही हुई बात से मिलाकर देखें कि प्रमा भी प्रायः सत्य को केवल अपूर्ण रूप में ही प्रकट करती है, तो हम देखते हैं कि सत्ख्यातिवाद ज्ञान के एक ऐसे आदर्श रूप की ओर संकेत करता है जो न केवल प्रमाण है और व्यावहारिक मूल्य रखता है बल्कि पूर्ण या सर्वग्राही भी है। पूर्ण ज्ञान के इस आदर्श को, जिसे हम सत्ख्याति से निगमित करते हैं, रामानुज के द्वारा वास्तव में मोक्ष की अवस्था में जीव को प्राप्ति मानी गई है। जीव के संसार मे रहने की अवधि में ज्ञान का व्यापार प्रतिबन्धित होता है, क्योंकि एक या दूसरे प्रकार के दोष उसकी स्वतन्त्र क्रिया मे बाधा डालते हैं। फलतः साधारण ज्ञान, जिसमें प्रमा भी शामिल है, सत्य को केवल अंशतः ही प्रकट कर पाता है। सत्य की पूरी अभिव्यक्ति केवल मोक्ष में ही सम्भव है, जब सारे दोष दूर हो जाते है और 'भ्रम' की सम्भावना बिलकुल नही रहती। तब मनुष्य की दृष्टि में अधिकतम विस्तार हो जाता है। उसका पूर्ण विकास हो जाता है, जिससे मुक्त जीव प्रत्येक वस्तु को पूर्ण और

यथार्थ रूप में जानने में समर्थ हो जाता है।[1]

रामानुज केवल ये तीन प्रमाण मानता है : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। पहले के बारे में उसकी धारणा को मनोवैज्ञानिक और तार्किक दोनों दृष्टियों से पहले ही समझाया जा चुका है। दूसरे के बारे में कहने के योग्य कोई महत्त्व की बात नहीं है। शब्द-प्रमाण के बारे में रामानुज का मत मोटे तौर से मीमांसकों का जैसा ही है और वह कहता है कि इसका अपना विशिष्ट विषय है, जो अन्य दो प्रमाणों के क्षेत्र में कभी नहीं आता। अन्य वेदान्तियों की तरह वह भी वेद के विधि-वाक्यों की तरह ही सिद्धवस्तुविषयक वाक्यों को भी प्रमाण मानता है। यद्यपि यहाँ तक उसके मत शंकर के जैसे हैं तथापि अन्य बातों में उसका उससे मतभेद है। यहाँ दो बातों का उल्लेख कर देना काफी होगा। जैसा कि हम जानते हैं, वेद के दो भाग हैं, जिनके उपदेश परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ते हैं; और चूँकि दोनों ही को समान रूप से श्रुति माना गया है, इसलिए वेदान्त के प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए इनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई व्याख्या देना आवश्यक हो जाता है। शंकर के अनुसार वेद के दोनों भाग वस्तुतः परस्पर विरुद्ध हैं, और इनके विरोध की व्याख्या वह यह देता है कि ये दो भिन्न प्रकार के अधिकारियों के लिए अभिप्रेत है। कर्मकाण्ड उसके लिए है जो अविद्या के पाश में बँधा है और ज्ञानकाण्ड उसके लिए है जो उसमें विहित कर्मों का खोखलापन जान चुका है और उनसे ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार जो निम्न दृष्टिकोण से वांछनीय और सत्य है वह उच्च दृष्टिकोण से *अवांछनीय है और पूरी तरह से सत्य नहीं है*। वेद के उपदेश में इस तरह का निम्न और उच्च का अन्तर करना अद्वैत के अनुसार, जो प्रामाण्य की सापेक्षता में विश्वास रखता है, उचित है। रामानुज वेद के दो भागों में कोई विरोध नहीं मानता, और कहता है कि इनका उपदेश एक है तथा एक ही प्रकार के लोगों के लिए अभिप्रेत है। वे एक-दूसरे के पूरक है—इस अर्थ में कि उत्तरकाण्ड का विषय ईश्वर का स्वरूप है और पूर्वकाण्ड उसकी उपासना के तरीके बताता है[2]। लेकिन यह भी कह देना चाहिए कि इन दो काण्डों का ऐसा समन्वय तभी सम्भव है जब पूर्वकाण्ड का गीता के उपदेश के अनुसार अर्थ किया जाए और उसमें जिन विभिन्न कर्मों का विधान किया गया है उनका अनुष्ठान उनके फलों की कामना से नहीं बल्कि ईश्वर का प्रसाद

1. जैन-दर्शन के केवल-ज्ञान से तुलना कीजिए।
2. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 27।

प्राप्त करने के लिए किया जाए[1] इस प्रकार वेद के दोनों भागों का समान तात्त्विक मूल्य मानने में रामानुज न केवल शंकर से मतभेद रखता है बल्कि मीमांसक से भी, जो उपनिषदों को वेद के ब्राह्मण-भाग (कर्मकाण्ड) से गौण मानता है। विशिष्टाद्वैत में मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो व्यावहारिक साधना निर्धारित की गई है उन पर इस मत का ठीक जो प्रभाव पडा है उसका विचार हम बाद मे करेंगे। दूसरा मतभेद यह है कि रामानुज न केवल वेद को बल्कि पाञ्चरात्रागम[2] को भी श्रुति मानता है और शंकर के विपरीत सम्पूर्ण पाञ्चरात्रागम को अन्ततः वेदमूलक या वेद के समान ही निर्दोष[3] किसी अन्य मूल से निकला हुआ मानता है। मोटे तौर से आगम का विषय मूर्तियों की पूजा, विशेष रूप से मन्दिरों के अन्दर, है; और शैवागम के विपरीत पाञ्चरात्रागम का उद्देश्य विष्णु को सर्वोच्च सिद्ध करना है।[4]

: 3 :

रामानुज अचित्, चित् और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को अन्तिम और वास्तविक मानता है। यद्यपि ये तीनों समान रूप से अन्तिम है, तथापि पहले दो पूरी तरह से तीसरे पर आश्रित हैं और यह माना गया है कि यह आश्रितत्व वैसा ही है जैसा शरीर का आत्मा पर है। इस प्रकार जो कुछ भी है वह ईश्वर का शरीर है और ईश्वर न केवल जड़ प्रकृति का बल्कि जीवों का भी आत्मा है।[5] इसी प्रसंग मे रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के लिए अत्यधिक महत्त्व रखनेवाले अपृथक्सिद्धि नामक सम्बन्ध[6] को सूत्रबद्ध किया है। यह सम्बन्ध द्रव्य

1. देखिए, पृ० 331 की टिप्पणी 2।
2. बादरायण ऊपर से आगम का पूरी तरह विरोधी प्रतीत होता है। देखिए, वेदान्तसूत्र, 2. 2.42-5 पर शंकर का भाष्य।
3. यह एकायन-शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। देखिए, श्रीभाष्य (टीका), पृ० 559 (मद्रास संस्करण)।
4. वैखानसागम भी विष्णु को सर्वोच्च मानता है और उसका वेद से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है।
5. चूँकि रामानुज के अनुसार जड द्रव्य भी आत्मा से युक्त है, इसलिए ईश्वर उसका आत्मा केवल जीव के माध्यम से ही है (देखिए वेदार्थसंग्रह, पृ० 30-1)। फिर भी ईश्वर को कहीं-कहीं सीधे ही जड़ द्रव्य का आत्मा कहा गया है। देखिए रहस्यत्रयसार, 3, पृ० 121-2 (बंगलौर संस्करण)।
6. न्याय-वैशेषिक अवियोज्य वस्तुओं में समवाय-सम्बन्ध मानता है। विशिष्टाद्वैत इस सम्बन्ध को व्यर्थ मानता है और स्वयं अवियोज्यता को ही, जिसे वह सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप ही मानता है, अपृथक्सिद्धि कहता है। अतः इसे सम्बन्ध कहना

और गुण के मध्य होता है और दो द्रव्यों के बीच भी पाया जा सकता है। इसे वह धुरी कहा जा सकता है जिस पर उसका सारा दर्शन घूमता है। यह न्याय-वैशेषिक के समवाय से मिलता-जुलता है, लेकिन उससे अभिन्न नहीं है। दोनों में एक सादृश्य यह है कि जिन वस्तुओं को वे सम्बन्धित करते हैं वे परस्पर बिलकुल भिन्न और वास्तविक होती है, लेकिन समवाय एक बाह्य सम्बन्ध है जबकि अपृथक्सिद्धि को आन्तरिक माना गया है। इसका एक उदाहरण शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, जिससे इसका आन्तरिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। रामानुज ने शरीर की परिभाषा देते हुए कहा है कि आत्मा इसे नियन्त्रित करता है, जीवित रखता है और अपने प्रयोजनों के लिए साधन के रूप मे इसका उपयोग करता है।[1] भूतद्रव्य और जीव ईश्वर के शरीर हैं और इसलिए इन्हें उसके द्वारा शासित, उस पर आश्रित और पूरी तरह उसी के लिए अस्तित्व रखनेवाले मानना चाहिए। जड़ प्रकृति, जीव और ईश्वर—पहले दो प्रत्येक रूप में पूरी तरह से तीसरे के अधीन हैं—की अपृथक्सिद्ध एकता ही रामानुज का ब्रह्म है। क्योंकि रामानुज इन तीनों के सम्बन्ध को शरीर और आत्मा के सम्बन्ध से अभिन्न मानता है, इसलिए उसके ब्रह्म को एक अगीय एकता कहा जा सकता है, जिसमे उसी तरह जिस तरह एक जीवित शरीर मे एक तत्त्व प्रधान होता है और शेष को नियन्त्रित करता है। गौण तत्त्वों को विशेषण कहा गया है और प्रधान तत्त्व को विशेष्य। क्योंकि प्राक्कल्पना के अनुसार विशेषण एकाकी या पृथक् अस्तित्व नहीं रख सकते, इसलिए जिस विशिष्ट[2] में वे शामिल होते हैं उसे एकता कहा गया है। 'विशिष्टाद्वैत' का यही अर्थ है।

एकता की इस धारणा को 'नील कमल' जैसे एक सामान्य उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। यहाँ नीलत्व कमल से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि गुण और द्रव्य एक नहीं हो सकते। लेकिन साथ ही एक गुण के रूप मे नीलत्व अपने अस्तित्व के लिए एक द्रव्य पर, जो यहाँ कमल है, आश्रित है और इसलिए उसे उसके बाहर नहीं माना जा सकता। इस कमल-नामक विशिष्ट वस्तु को इस अर्थ मे कि इसमे नीलत्व का गुण आवश्यक रूप से अन्तर्भूत है,

---

सही नहीं है; फिर भी कहीं-कहीं इसे सम्बन्ध कहा गया है। देखिए, सर्वार्थसिद्धि, पृ० 590।

1. श्रीभाष्य, 2. 1.9। अपृथक्सिद्धि के आन्तरिक स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है : नियमेन आधेयत्वं, नियमेन विधेयत्वं, नियमेन शेषत्वम्।
2. देखिए, श्रीभाष्य, पृ० 132 (टीका); विशिष्टान्तर्भाव एव ऐक्यम्।

एक एकता कहा गया है। यदि हम इस मत की अन्य सम्प्रदायों के मतों से तुलना करके देखें, तो इसे अच्छी तरह समझने में सहायता मिलेगी। रामानुज नीलत्व-गुण और कमल-द्रव्य मे वास्तविक अन्तर मानता है। इसलिए उसका मत सब अन्तरों को समान रूप से आभासी मात्र मानने वाले अद्वैत के मत से भिन्न है। न्याय-वैशेषिक के मत से भी वह इसी तरह भिन्न है, क्योंकि वह द्रव्य और गुण में वास्तविक अन्तर मानने के बावजूद भी यह मानता है कि ये एक-दूसरे से बाहर नहीं हैं। लेकिन इससे हमें यह नहीं समझना चाहिए कि रामानुज कुमारिल की तरह भेदाभेद का समर्थक है, क्योंकि वह भिन्न समझे गए इन पदार्थों में किसी भी तरह का अभेद नहीं मानता—इनमें उसने जो एकता मानी है वह एक संग्रथित साकल्य की एकता मात्र है।[1] 'विशिष्टाद्वैत' शब्द का अर्थ अधिकतर कुछ भिन्न तरीके से किया जाता है—विशेष रूप से 'तत्त्वमसि' जैसे एकता-साधक उपनिषद्-वाक्यों की व्याख्या के प्रसंग मे। लेकिन उसके पीछे भी विचार यही है। यदि हम 'कमल नीला है', इस वाक्य को लें, तो इस व्याख्या के अनुसार नीलत्व का गुण विशेषण होने के कारण अनिवार्यत: किसी द्रव्य की ओर संकेत करता है, जिसका वह विशेषण है। यह नीला द्रव्य एक संग्रथित साकल्य है। इसी प्रकार कमल को भी एक संग्रथित साकल्य के रूप में देखा जा सकता है, जिसमे 'कमलत्व' विशेषणांश है और एक द्रव्य भी है जिसका यह विशेषण है। 'कमल नीला है', यह वाक्य जिस अभेद को व्यक्त करता है वह इन दो साकल्यों का अभेद है।[2] अथवा, दूसरे शब्दों में, 'नीला' और 'कमल'—ये दो पद भिन्न अर्थ रखते है, पर एक ही द्रव्य की ओर संकेत करते हैं (प्रकार्यद्वैत)। अत: इस वाक्य से ऐसा शुद्ध अभेद प्रकट नहीं होता जो विशेषणों से शून्य हो। उस अभेद में विशेषण भी शामिल हैं और उनका जो भेद है वही उपर्युक्त अर्थ में अभेद के कथन की मांग करता है। अन्यथा हम भ्रमवश यह सोच सकते हैं कि उक्त दो साकल्य अलग-अलग हैं। जो उदाहरण हमने दिया है उसमें केवल एक विशेषण है, लेकिन हो कई सकते हैं और वे विशेष्य में एक काल मे भी अस्तित्व रख सकते हैं तथा एक के बाद एक भी प्रकट हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम किसी ऐसे युवक के बारे मे सोचते हैं जिसे हमने बाल्यावस्था में देखा था, तब ये विशेषण उसमें आयु-भेद के अनुसार एक के बाद एक प्रकट होते हैं; परन्तु वे विचाराधीन व्यक्ति की एकता से बाहर नहीं हैं। ऐसी एकता न केवल द्रव्य और उसके गुणों के बीच पाई जाती है,

1. देखिए श्रीभाष्य, पृ० 75, 204-5; वेदार्थसंग्रह, पृ० 50, 97-8।
2. श्रीभाष्य, पृ० 132।

जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से माना जा सकता है, बल्कि द्रव्य और उसके प्रकारों के बीच भी पाई जाती है, जैसे मिट्टी और घड़े के बीच। वास्तव में, जहाँ भी सह-सम्बन्धी अवियोज्य होते हैं वहाँ सर्वत्र यह एकता पाई जाती है। ऐसी दो वस्तुओं में से प्रधान वस्तु को प्रकारी और गौण वस्तु को प्रकार कहा गया है।

रामानुज के अनुसार उपनिषदों के उपदेश का केन्द्र-बिन्दु इसी अर्थ में ब्रह्म की एकता का कथन करना है; और शंकर की तरह उसने भी अपने मत के समर्थन में उनमें पाए जाने वाले उन दो प्रकार के समान दर्जे के वाक्यों को उद्धृत किया है जिनमें से एक प्रकार के आत्मा और ब्रह्म का अभेद स्थापित करते हैं और दूसरे प्रकार के ब्रह्म और भौतिक जगत् का अभेद। परन्तु इनका अर्थ करने में वह शंकर से एकदम मतभेद रखता है। उसने इनका जो अर्थ किया है उसे बताने से पहले हमें संक्षेप में विशिष्टाद्वैत के एक अन्य पक्ष को बता देना चाहिए। रामानुज के अनुसार जितनी भी चीजों का अस्तित्व है, वे सब अन्ततः ईश्वर के प्रकार है। इसी तरह सब नाम उसी के नाम है[1] और सब प्रत्येक शब्द ईश्वर का प्रतीक हो जाता है तथा अन्ततः उसी की ओर इशारा करता है। शब्दों का यह आन्तरिक अर्थ 'वेदान्त-व्युत्पत्ति' कहा गया है और इसे केवल ज्ञानी ही पकड़ सकते हैं। इसके अनुसार किसी भी शब्द का साधारण अभिधार्य के बाद अर्थ समाप्त नही हो जाता, बल्कि उसका व्यापार तब तक चलता रहता है जब तक वह परम सत्ता में नही पहुँच जाता।[2] वास्तव मे, यह बाद वाला अर्थ ही शब्द का आवश्यक अर्थ माना गया है। अब हम रामानुजी व्याख्या के उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध उपनिषद्-वाक्य 'तत्त्वमसि' को लेते हैं। इसमें 'त्वं' शब्द, जो साधारणतः जीव के लिए आता है, वस्तुतः ईश्वर की ओर इशारा करता है, जो कि जीव का अन्तर्यामी है और जीव तथा उसके माध्यम से उसका शरीर समान रूप से जिसके प्रकार है। इसमें जो 'तत्' शब्द है उसका अर्थ भी ईश्वर ही है, पर उसके एक भिन्न पक्ष की दृष्टि से, यानी जगत् के कारण के रूप मे, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् के उस सन्दर्भ से प्रकट होता है जिसमें यह वाक्य आया है। ऊपर 'विशिष्टाद्वैत' शब्द की जो व्याख्या दी गई है, उसके अनुसार 'तत्त्वमसि' से दो साकल्यों की एकता अभिप्रेत है, जिनमें से एक जीव के अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर है और दूसरा जगत् के कारण के रूप में ईश्वर है। इस वाक्य का अन्तिम अर्थ यह है कि यद्यपि

1. कुछ अपवाद भी बताए गए हैं। देखिए, श्रीभाष्य, पृ० 205-7।
2. अपर्यवसानवृत्तिः शब्दव्यापार। देखिए वेदार्थसंग्रह, पृ० 36।

जगत् और जीव वास्तविक और भिन्न हैं, तथापि जिस ब्रह्म के अन्दर ये अन्तर्भूत हैं वह एक है।[1] "ये ईश्वर के समान ही शाश्वत हैं, परन्तु उसके बाहर नहीं हैं।" इसी वाक्य की अद्वैत में जो व्याख्या की गई है उसके अनुसार विशेषणांशों के कारण जो भेद आ जाता है वह प्रतिभास मात्र है, हालांकि, जैसा कि हमने दिखाने की कोशिश की है (पृ० 372), इससे शुद्ध तादात्म्य विवक्षित नहीं है। यहाँ भेद का निषेध नहीं किया गया है, और साथ ही भेद-युक्त साकल्य की अंगीय एकता का विधान भी किया गया है।

यह विशिष्टाद्वैत की तत्त्व-दृष्टि की मोटी रूपरेखा है। अब हम तनिक विस्तार से इसे बताएँगे। जैसा कि अब तक स्पष्ट हो चुका है, रामानुज द्रव्य और विशेषण का भेद मानता है; परन्तु न्याय-वैशेषिक की तरह विशेषणों में यहाँ गुण, जाति इत्यादि[2] का आगे भेद नहीं किया गया है। इन सब पदार्थों के लिए 'अद्रव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यहाँ केवल दो मुख्य पदार्थ हैं, जिनमें से दूसरा, अद्रव्य, सदैव पहले, द्रव्य, पर आश्रित रहता है, हालांकि इनके बीच जो विलक्षण सम्बन्ध है उसके कारण इनमें से कोई भी दूसरे के बगैर अस्तित्व नहीं रख सकता या सोचा नहीं जा सकता।[3] अद्रव्य दस बताए गए हैं। उनमें से पाँच पाँच भूतों के शब्द इत्यादि गुण हैं और तीन सत्त्व, रजस् और तमस् हैं, जो अचित् यानी प्रकृति में पाए जाते हैं। ये तीन विशेष अर्थ में गुण हैं। इस प्रकार तीन अद्रव्य सामान्य हैं और पाँच विशेष हैं। शेष दो अद्रव्यों में से एक शक्ति है, जो किसी कारण-द्रव्य का वह धर्म है जिसके प्रभाव से वह कार्य उत्पन्न करता है, जैसे मिट्टी की सुघट्यता, चुम्बक की आकर्षण-शक्ति, आग की जलाने की शक्ति इत्यादि। दसवाँ अद्रव्य संयोग है, जिसे न्याय-वैशेषिक की तरह यहाँ भी एक बाह्य सम्बन्ध माना गया है, जैसे भूमि और घट का सम्बन्ध।

विशिष्टाद्वैत में न केवल अद्रव्य द्रव्य से भिन्न है बल्कि द्रव्य भी परस्पर भिन्न होते हैं। लेकिन द्रव्य है क्या?[4] विशिष्टाद्वैत के अनुसार जो भी परिणाम का का आधार हो वह द्रव्य है। इसका अर्थ यह है कि रामानुज परिणामवाद या सत्कार्यवाद को मानता है, लेकिन परिणाम केवल विशेषणांश का ही होता है,

1. श्रीभाष्य, पृ० 198-9।
2. कर्म को विभाग और संयोग मात्र माना गया है। जाति को जैन दर्शन या सांख्य-योग की तरह यहाँ भी वस्तु के अनेक अवयवों का विशेष विन्यास मात्र माना गया है। अभाव को प्राभाकर-सम्प्रदाय की तरह यहाँ भावमूलक माना गया है।
3. पृथक्प्रतिपत्तिस्थित्यनर्ह—श्रीभाष्य, पृ० 205।
4. सर्वार्थसिद्धि, पृ० 590।

और उसी के कारण विशिष्ट को भी परिणामी कहा गया है। स्वयं विशेष्यांश अपरिणामी है। ईश्वर विशेष्य के रूप मे अपरिणामी है और जीव भी ऐसा ही है,[1] परतु इनका जो धर्मभूत-ज्ञान है वह परिणामी है। जड़द्रव्य, जो पूर्णतः विशेषण है, परिवर्तनशील है।[2] उसके और उसके विकारों के बीच, जैसे मिट्टी और घड़े के बीच, अपृथक्सिद्धि का सम्बन्ध है, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है। लेकिन यदि हम मिट्टी मात्र को नही बल्कि मिट्टी के पिण्ड को देखें, जिसे यहाँ घड़े का उपादान-कारण माना गया है, तो उनके सम्बन्ध को अनन्यत्व कहा गया है। इन दोनों मे जो भी अन्तर हो वह मिट जाता है, क्योंकि उपादान बिलकुल वही है, हालाँकि उसके घटकों का विन्यास उनमें भिन्न हो सकता है।[3] इस वर्णन के अनुसार छः द्रव्य है; और वे जड और अजड़ दो वर्गों मे बाँटे गए हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। जड़ में प्रकृति और काल शामिल हैं, और अजड़ मे धर्मभूत-ज्ञान, नित्य-विभूति या शुद्ध-सत्त्व, जीव और ईश्वर शामिल हैं। *अब हम इनमें से प्रत्येक के बारे मे कुछ विस्तार से कहेंगे :*

(I) प्रकृति—यह जीव का निवास-स्थान है और जीव के माध्यम से स्वयं ईश्वर का। इस प्रकार प्रकृति ईश्वर से अनुप्राणित है। "पृथ्वी में स्वर्ग प्रविष्ट है और प्रत्येक साधारण झाड़ी ईश्वर से जाज्वल्यमान है।" विशिष्टाद्वैत की प्रकृति की धारणा को समझने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि सांख्य-मत से जिससे उसका बहुत साम्य है, उसका वैषम्य दिखाया जाय। मुख्य अन्तर ये हैं : (i) सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण साख्य में प्रकृति के घटक माने गए हैं और प्रकृति इनकी संहति मात्र है। इसके विपरीत यहाँ ये गुण उसके विशेषण माने गए हैं और इसलिए ये उससे अवियोज्य होते हुए भी भिन्न हैं। (ii) साख्य की प्रकृति अनन्त है, पर यहाँ उसे ऊर्ध्व दिशा मे नित्य-विभूति से, जिसके बारे में हम अभी बताएँगे, सीमित है। (iii) सांख्य में प्रकृति सिद्धान्ततः पुरुष से स्वतन्त्र है, पर यहाँ उसे पूर्णतः जीव या ईश्वर के अधीन माना गया है। इनके बीच अपृथक्सिद्धि का सम्बन्ध है और फलतः कोई भी दूसरे से पृथक् नही रह सकता। इस अन्तर के कारण प्रकृति की रामानुजी धारणा सांख्य-धारणा से श्रेष्ठ है। प्रकृति से उत्पन्न वस्तुएँ और उनकी उत्पत्ति का क्रम ठीक वही है जैसा साख्य के प्रसंग मे बताया गया है।

---

1. अतः सभी विशेषण परिवर्तनशील नहीं हैं, हालाँकि जो भी परिवर्तनशील है वह विशेषण है।
2. श्रीभाष्य, 3.2.21।
3. वही, 2.1.15।

(2) काल—काल को यहाँ सत्य माना गया है; परन्तु यह एकमात्र स्वीकृत तत्त्व, ब्रह्म, से बाहर नहीं है, हालाँकि इसका उसमें विलय नहीं होता। अतः यह उस प्रकार स्वयभू नहीं है जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक में माना गया है। साख्य-योग की तरह यहाँ इसे प्रकृति का एक पक्ष मात्र भी नहीं माना गया है। इसे प्रकृति का सहचर कहा जा सकता है और यह भी परिणामी है। क्षण, दिन इत्यादि इसके परिणाम कहे गए हैं। काल के विपरीत दिक् प्रकृति से उत्पन्न है और केवल प्रकृति के माध्यम से ही परम सत्ता में अन्तर्भूत है। प्रकृति और काल में से किसी एक को भी दूसरे का पूर्ववर्ती नहीं कहा जा सकता; लेकिन दिक् पर यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि प्रकृति इसकी पूर्ववर्ती है।

(3) धर्मभूत-ज्ञान—इसके बारे में हम पहले ही काफी कह चुके हैं और इसलिए यहाँ दो-एक बातें ही और कहेंगे। यह जीवों का या ईश्वर का लक्षण है और जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, यह सदैव उनसे गौण होता है। इनमें अपृथक्सिद्धि का सम्बन्ध है। इसे द्रव्य भी और गुण[1] भी माना गया है। द्रव्य यह इसलिए है कि संकोच और विस्तार[2] के कारण यह परिवर्तन का अधिष्ठान है, और गुण इसलिए है कि यह अनिवार्य रूप से एक द्रव्य—जीव या ईश्वर—पर आश्रित है और अकेला कभी नहीं रह सकता। जैसे न्याय-वैशेषिक में वैसे ही यहाँ भी इसे ज्ञेय माना गया है, परन्तु स्वतः ही इसका ज्ञान होता है, किसी अन्य ज्ञान के माध्यम से नहीं, क्योंकि यह स्वप्रकाश है और स्वयं को दिखाता है, हालाँकि इसे अपना ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

(4) नित्य-विभूति—हम देख चुके हैं कि प्रकृति तीन गुणों से युक्त है। यदि इनमें से हम रजस् और तमस् को छोड़ दें और प्रकृति को केवल सत्त्व से युक्त मानें, तो हमें नित्य-विभूति का कुछ अन्दाज हो जाता है और हम समझ जाते हैं कि इसे शुद्ध-सत्त्व क्यों कहा गया है। इस असाधारण स्वरूप के कारण यह जड़ नहीं रहती, बल्कि पहले बताए हुए अर्थ में अजड़ हो जाती है। यह उदात्तीभूत प्रकृति—एक प्रकार से अधि-प्रकृति, हो जाती है। फिर भी, चूँकि यहाँ तीन गुणों को प्रकृति के स्थायी विशेषण माना गया है, न कि साख्य की तरह उसके घटक, इसलिए यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि जब शेष दो गुणों का वैषम्य नहीं रह जाएगा तब केवल एक गुण उसमें कैसे बना रह जाएगा। इसके अलावा, प्रकृति और नित्य-विभूति में एक लक्षण, सत्त्व, समान

1. 'गुण' शब्द का अर्थ यहाँ 'गौण' है और इसलिए न्याय-वैशेषिक में इसका जो अर्थ है वह यहाँ नहीं है।
2. श्रीभाष्य, पृ० 83।

माना गया है, और इसलिए यहाँ तक प्रकृति को भी अजड़ होना चाहिए। ऐसी स्थिति में अजड़-पदार्थ से उसे बिलकुल पृथक् कर देना एकदम सही नहीं होगा। इन असगतियों का कारण शायद यह है कि विशिष्टाद्वैत ने विस्तार की बातें अलग-अलग दर्शनों से ग्रहण की हैं। इसीलिए बाद के विशिष्टाद्वैतियो ने नित्य-विभूति के सत्त्व का प्रकृति के सत्त्व से भेद किया है और दोनो को बिलकुल विलक्षण माना है।[1] इस महत्त्वपूर्ण बात को छोड़कर अन्य बातो में नित्य-विभूति प्रकृति के समान है। सक्षेप में, यह वह उपादान है जिससे आदर्श जगत् की वस्तुएँ और ईश्वर तथा मुक्त-जीवों के शरीर बनते हैं। यह 'परिवर्तनशीलता से रहित भूतद्रव्य हैं' और ईश्वरीय अनुभव की परिपूर्ति का उपयुक्त साधन कहा गया है।[2] नित्य-विभूति का क्षेत्र अधोदिशा में प्रकृति के द्वारा सीमित है, पर ऊर्ध्वदिशा में वह अनन्त है। ईश्वर का लोक, बैकुण्ठ, इसके एक भाग में है। यद्यपि प्रकृति और नित्य-विभूति को एक सीमा के द्वारा विभक्त कर दिया गया है, तथापि नित्य-विभूति का प्रकृति के क्षेत्र के अन्दर भी अस्तित्व माना गया है, जैसे श्रीरंगम् इत्यादि तीर्थों मे पूजी जाने वाली देवमूर्तियों मे। यह समझा जाता है कि इन मूर्तियों में नित्य-विभूति पूरी तरह से व्याप्त है। इसका उल्टा नही हो सकता और प्रकृति नित्य-विभूति के क्षेत्र का अतिक्रमण नही करती

(5) जीव—धर्मभूत-ज्ञान के प्रसंग में हम पहले ही जीव के स्वरूप को बता चुके हैं। वह चित्स्वरूप है और उससे धर्मभूत-ज्ञान सदैव सम्बद्ध रहता है। इन बातो से ही उसका ईश्वर से तात्त्विक साम्य है। अद्वैत की तरह यहाँ जीव व्यक्तिगत अनुभव की कल्पित एकता मात्र नही है, बल्कि एक शाश्वत वस्तु है। मोक्ष की अपनी स्वाभाविक अवस्था में उसके ज्ञान का अधिकतम विस्तार हो जाता है। तब वह दिक् के किनारों तक पहुँच जाता है और कोई चीज़ ऐसी नही बचती जिसे वह न जान सके। संसार में उसका ज्ञान थोड़ा-बहुत सकुचित रहता है, लेकिन उसका अभाव कभी नही होता—सुषुप्ति मे भी नही, जब उसका केवल व्यापार ही रुकता है और इसलिए वह वस्तुओं को प्रकट नही करता। ज्ञान से अलग जीव स्वतः अण्वाकार माना गया है। वह दिव्य प्रकाश का एक बिन्दु-मात्र है।—जहाँ वह है नहीं वहाँ उसका व्यापार, जैसे दूर की चीजो को देखने मे, उसके धर्मभूत-ज्ञान के विस्तार और सकोच

---

1. देखिए, वेदान्तदेशिक : रहस्यत्रयसार।
2. *P. N. Srinivasachari; Rāmānuja's Idea of the Finite Self* (Longmans), पृ० 62।

से सम्भव होता है। 'द्रव्य की दृष्टि से आणविक होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से वह असीम है।'[1] जीव ज्ञानस्वरूप ही नहीं है बल्कि आनन्दस्वरूप भी है। जीव के स्वरूप का यह पक्ष भी संसार में थोड़ा-बहुत अव्यक्त रहता है। केवल मोक्ष प्राप्त होने पर ही वह पूर्णत. व्यक्त हो पाता है। ज्ञान और आनन्द की उसकी क्षमता में कमी अस्थायी होती है। जब वह मुक्त हो जाता है, तब वह अपनी सर्वज्ञता और अपने शाश्वत आनन्द को पुनः प्राप्त कर लेता है। उसका भौतिक शरीर प्रकृति से उत्पन्न है और ईश्वर उसका अन्तर्यामी है। इस प्रकार उसे *भौतिक और दिव्य का मिलन-स्थल कहा जा सकता है* और यही वजह है कि मनुष्य की आदर्श की ईप्सा और उसके वास्तविक जीवन के मध्य प्राय: एक खाई दिखाई देती है। जीवों की संख्या अनन्त है। जो जीव बद्ध अवस्था में हैं या पहले ही मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं उनके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत में ऐसे जीव भी माने गए हैं जो कभी बन्धन में पड़े ही नहीं और जिन्हें 'नित्य' कहा गया है। वे उस तरह के जीव हैं जैसे विष्वक्सेन, जो अनादि काल से ईश्वर की सेवा में रहते आए हैं। प्रत्येक जीव वस्तुतः कर्ता और भोक्ता दोनों हैं, अर्थात् कर्म करता है और प्रयोजनवान् है। वह स्वतन्त्र भी है। यद्यपि ईश्वर उसका शाश्वत अन्तर्यामी है, तथापि यह मानना चाहिए कि ईश्वर उसकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किए बिना ही उसका नियन्त्रण करता है।[2]

(6) ईश्वर—*विशिष्टाद्वैत की ईश्वर की धारणा भी अब तक स्पष्ट* हो चुकी होगी और इसलिए आगे इस सिलसिले में अधिक कहना अनावश्यक होगा। ईश्वर भी चित्स्वरूप और अनन्त आनन्द-युक्त है।[3] जीव की तरह उसमे भी धर्मभूत-ज्ञान होता है और उसकी अनेक मानसिक अवस्थाएँ इसी के रूपान्तर हैं। लेकिन सर्वज्ञ होने के कारण वस्तुतः उसे इसकी सहायता की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इसे मानने का अभिप्राय केवल चित् को स्वरूपतः अपरिवर्तनशील बनाए रखना है। 'ईश्वर' शब्द का दो अर्थों मे प्रयोग हुआ है। एक अर्थ तो इसका सम्पूर्ण जगत् है, जिसमें सारे चेतन और जड़ तत्त्व शामिल हैं। इस अर्थ मे ईश्वर की दो अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—एक कारणावस्था और दूसरी कार्यावस्था। प्रलय में वह कारण-रूप में अवस्थित रहता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके अन्दर अव्यक्त रूप में रहता है। सृष्टि मे जो अव्यक्त था वह व्यक्त हो जाता है। सूक्ष्म भूत स्थूल हो जाते हैं और जीव अपने धर्म-

1. P.N. Sriumaasachari : पूर्वउद्धृत ग्रन्थ, पृ० 26।
2. वेदार्थसंग्रह, पृ० 139-42।
3. वेदार्थसंग्रह, पृ० 249।

भूत-ज्ञान का विस्तार करके अपने-अपने पिछले कर्मों के अनुसार भौतिक शरीरों से सम्बद्ध हो जाते हैं। कारण-रूप में ऐसी प्रत्येक चीज शामिल रहती है जिसकी सृष्टि के रूप में होनेवाले विकास के लिए ज़रूरत होती है। इस प्रकार ईश्वर सृष्टि का पर्याप्त और एकमात्र कारण है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर स्वतन्त्र है और ब्रह्माण्ड उसके अन्दर से किसी भी बाहरी साधन की सहायता के बिना अपने- आप विकसित होता है। विश्व की नाना वस्तुओं के रूप में विकसित होने के कारण ही ईश्वर 'ब्रह्म' कहलाता है (पृ० 53)। इससे ईश्वर विकारी हो जाएगा, जो कि उपनिषदों के प्रधान सिद्धान्त के विरुद्ध है; फिर भी रामानुज इस विरोध से बचने की कोशिश में यह कहता है कि इस विकारित्व को केवल गौण रूप में (सद्वारक) समझना चाहिए। ईश्वर मे स्वतः कोई परिवर्तन नहीं होता, बल्कि केवल उस साकल्य में शामिल वस्तुओ के द्वारा होता है जिसका वह अन्तर्यामी है। फिर भी, जब उसके अवियोज्य विशेषण परिवर्तनशील हैं तब उसके अपरिवर्तनशील बने रहने की बात का समझ में आना आसान नही है। यही ईश्वर जो परिवर्तनशील जगत् का स्वत. अपरिवर्तनशील केन्द्र माना गया है, इस शब्द का दूसरा अर्थ है। ऐसा ईश्वर निश्चय ही स्वतः पृथक् अस्तित्व नही रखता। फिर भी, ऐसा भेद करना उचित है, क्योंकि ब्रह्म का विशेष्यांश उसके विशेषणो की तरह ही सत्य और अन्तिम है। पहले अर्थ में ईश्वर रामानुज का परम तत्त्व है; दूसरे अर्थ में वह अन्तर्यामी है और जो कुछ भी अस्तित्व रखता है—चाहे वह जीव हो या भूतद्रव्य—उसके अन्दर निवास करता है।

मुख्यतः उपनिषदों पर आधारित यह ब्रह्मवाद विशिष्टाद्वैत में एक ऐसे ईश्वरवाद के अंशों से घुला-मिला है जो इतिहास की दृष्टि से पीछे के एक भिन्न स्रोत से निकला है। इस ईश्वरवाद में ईश्वर को पूर्णतः एक पुरुष माना गया है। उसे पापी मनुष्य पर दया करने वाले के रूप मे देखा गया है और इस इच्छा से प्रेरित माना गया है। वास्तव मे लोकोपकार उसका एक आवश्यक गुण है। उसे नारायण या वासुदेव कहा गया है। 'वासुदेव' नाम इस बात का सूचक है कि विशिष्टाद्वैत मे भागवत-धर्म से लिए हुए अंश मौजूद हैं। उसे 'पर' यानी सर्वोच्च भी कहा गया है। इस रूप में वह अपने लोक वैकुण्ठ मे निवास करता जिसे हमने नित्य-विभूति के क्षेत्र के एक भाग में स्थित कहा है। वह अपने ी सहायता करने के लिए विभिन्न रूपों मे स्वयं को प्रकट करता है। ख्य रूपो मे से एक 'व्यूह' है। यह चतुर्विध है : वासुदेव जो 'पर पान्तर है और इसलिए जिसे उससे भिन्न मानना चाहिए,

संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये सब उसकी आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं और वह इनमें विभिन्न वेशों में प्रकट होता है। 'पर' अवतारों के रूप में भी स्वयं को प्रकट करता है, जिनसे हम भली-भाँति परिचित हैं। इन सबको 'विभव' कहा गया है। एक अन्य अभिव्यक्ति को 'अन्तर्यामी' कहा गया है जो सब जीवों के अन्दर विद्यमान होता है और जो उनका मित्र की तरह पथ-प्रदर्शन करता है।[1] यह 'रूपवान्' है। इसे पूर्वोल्लिखित 'अन्तर्यामी' से अलग समझना चाहिए, जिसे बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में ईश्वर का स्वरूप कहा गया है।[3] अन्तिम अभिव्यक्ति को 'अर्चावतार' कहा गया है और इसे ही श्रीरंगम् इत्यादि तीर्थों में देवमूर्तियों के रूप में पूजा जाता है।

अब हम यह बताएँगे कि यहाँ इन दो प्रकार के सिद्धान्तों को मिलाने में सफलता कितनी प्राप्त हुई है। जहाँ तक इस प्रयत्न का लक्ष्य दर्शन के अन्तिम तत्त्व का धर्म के अन्तिम तत्त्व से अभेद करना है, वहाँ तक इसकी श्रेष्ठता में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु इन दो तत्त्वों को एक मानना अलग बात है और एक विशेष दार्शनिक मत को एक विशेष धार्मिक मत से संयुक्त करना बिलकुल दूसरी बात है। प्रस्तुत संयुक्त रूप में जो धार्मिक मत शामिल है उसमें अपने लंबे इतिहास के दौरान विस्तार की इतनी अधिक ठोस बातें विकसित हो चुकी थीं जो पर्याप्त तार्किक आधार के अभाव के कारण सब-की-सब दर्शन में नहीं मिल सकती थीं। दूसरी ओर उसमें शामिल दार्शनिक सिद्धान्त चिन्तन के पूरे क्षेत्र में एक अत्यधिक साहसी परिकल्पना का फल था और इसकी तत्त्व-विषयक धारणा सबसे कम पुरुषपरक थी। अतः इन दोनों के संश्लेषण से प्राप्त सिद्धान्त में कुछ असंगतियाँ आ गई हैं, जैसी वे जिनका हमने अन्तर्यामी और नित्य-विभूति के प्रत्ययों के प्रसंग में उल्लेख किया है। इसी असंगति का एक अन्य उदाहरण, जिसका अगले अनुच्छेद में उल्लेख किया जाएगा, यह है कि विशिष्टाद्वैत में मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब लोगों के लिए खुले हुए प्रपत्ति-मार्ग के साथ ही भक्ति को, जिसे कि मोक्ष के साधनभूत ज्ञान का ही एक रूप माना गया है, समाज के केवल कुछ विशिष्ट लोगों के लिए ही सीमित रखा गया है। तथ्य यह है कि वैष्णव-धर्म रामानुज के समय में अपने सर्वांगपूर्ण रूप में विद्यमान था। एक व्यावहारिक विश्वास के रूप में वह निश्चय ही मनुष्य की आवश्यकताओं की एक उत्तम ढंग से पूर्ति कर रहा था और अपने अनुयायियों

1. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० 88।
2. 2.7।
3. देखिए, रहस्यत्रयसार, 5, पृ० 283-4।

के समुदाय के अन्दर एक से अधिक ऐसे सन्त पैदा कर चुका था जो ऊँची आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न थे। परन्तु उसे उपनिषदों का समर्थन प्राप्त नहीं था और यह बात शंकर के उपनिषदों के विशेष ढंग से भाष्य कर चुकने के बाद और भी अधिक स्पष्ट हो गई थी। विशिष्टाद्वैत का लक्ष्य वैष्णव धर्म को यही समर्थन प्रदान करना था जिसकी जरूरत थी। इस प्रकार उक्त दो प्रकार के सिद्धान्तों का सश्लेषण इसलिए नहीं किया गया कि दोनों के मध्य कोई अंगांगि-सम्बन्ध था, बल्कि इसलिए किया गया कि इसकी व्यावहारिक आवश्यकता थी। इसके फलस्वरूप जो असंगतियाँ उत्पन्न हुईं उन्हें समझाने के लिए सबसे अच्छा विशिष्टाद्वैत की ब्रह्म की धारणा का उदाहरण देना होगा। रामानुज अनेक अन्तिम वस्तुएँ मानता है, परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि केवल एक ही सत्ता है जो विशेष्य की है और जितने भी विशेषण हैं उन सबकी सत्ता इसी पर आश्रित है।[1] यदि ये सब वस्तुएँ सत्ता की दृष्टि से एक हैं, तो यह समझ में आना मुश्किल है कि उनका अन्तर अन्तिम कैसे हो सकता है। स्वतन्त्र सत्ता का ठीक यही अभाव अद्वैती के इस कथन में अभिप्रेत है कि नानात्व का ब्रह्म में अस्तित्व नहीं रहता।[2] यदि उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए हम यह मानते हैं कि प्रत्येक विशेषण की अपनी पृथक् सत्ता है, तो ब्रह्म का ब्रह्मत्व समाप्त हो जाता है और तब उसकी एकता की बात सोचना मुश्किल हो जाएगा—एकता उसे केवल गौण अर्थ में ही कहा जा सकेगा। एकमात्र दूसरा विकल्प तब यह रह जाता है कि ब्रह्म के अन्दर समाविष्ट अनेक तत्त्वों के मध्य भेदाभेद-सम्बन्ध माना जाए। लेकिन यदि ऐसी व्याख्या तार्किक दृष्टि से निर्दोष भी हो, तो भी, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह रामानुज को कतई स्वीकार्य नहीं है। अपृथक्सिद्धि की धारणा भी, जिस पर रामानुज की ब्रह्म की धारणा आधारित है, उतनी ही दोषयुक्त है जितनी न्याय-वैशेषिक की समवाय की धारणा, जिसकी जगह पर इसे प्रस्तावित किया गया है। एकमात्र अन्तर यह है कि समवाय के द्वारा तो उन चीजों को एक करने की कोशिश की गई है जो पृथक् मानी गई है जबकि अपृथक्सिद्धि के द्वारा उन चीजों को पृथक् करने की कोशिश की गई है जिन्हें एक माना गया है। दोनों ही समानतः अप्राप्तव्य को प्राप्त करने की, अर्थात् अन्तर्भाव और बहिर्भाव के बीच की स्थिति को प्राप्त करने की कोशिशों के फल हैं। जहाँ तक विशिष्टाद्वैत वैष्णव-धर्म पर

1. देखिए श्रीभाष्य, 2. 2. 31। इस बात की चर्चा रंगरामानुज ने मुण्डक उपनिषद्, 1. 1. 3 के अपने भाष्य में की है।
2. देखिए, पृ० 351 की टिप्पणी सं० 1

आधारित है वहाँ तक वह जीव और प्रकृति दोनों को अन्तिम सत्ता प्रदान करने में सचेष्ट है; परन्तु उपनिषदों के प्रति निष्ठा उसे इसमें संशोधन करने के लिए प्रेरित करती है, जिससे परिणाम तार्किक दृष्टि से असन्तोषजनक रह जाता है।

: 4 :

जैसे अद्वैत में वैसे ही यहाँ भी व्यावहारिक साधना गीतोक्त कर्मयोग से शुरू होती है, जो हृदय को शुद्ध करता है और साधक के अन्दर सत्य को जानने की योग्यता लाता है; लेकिन इसके बाद जो कुछ होता है वह यहाँ बिलकुल भिन्न है। विशिष्टाद्वैत में विशेष रूप से जो साधना बताई गई है वह द्विविध है--

(1) ज्ञानयोग--इसका मतलब है श्रवण यानी किसी उपयुक्त गुरु की सन्निधि में शास्त्रों के अध्ययन से जीव का सच्चा स्वरूप जानकर उसका ध्यान करना। जो कर्मयोग में सफलता प्राप्त कर चुके हैं केवल वे ही इसमें प्रवेश कर सकते हैं। इसका उद्देश्य यह ज्ञान प्राप्त करना है कि मनुष्य शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ इत्यादि जिन अनेक उपाधियों से आत्मा का प्रायः अभेद करता है उनसे किस तरह आत्मा भिन्न है और कैसे इन उपाधियों के प्रति आसक्ति आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होती है। जब इस योग में सफलता प्राप्त हो जाती है तब साधना समाप्त नहीं हो जाती, क्योंकि रामानुज के मतानुसार जीव की सत्ता अन्तिम तो है पर जीव सर्वोच्च सत्ता नहीं है। साधक भले ही भौतिक पर्यावरण की तुलना में अपना स्वरूप पहचानने में सफल हो गया हो, लेकिन जगत् की सर्वोच्च वस्तु ईश्वर की तुलना में अपने स्वरूप को पहचानने का उसका काम अभी बाकी रहता है। रामानुज के मत से मनुष्य तब तक अपने स्वरूप का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता जब तक उसे ईश्वर का ज्ञान न हो जाए। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो उपाय निर्धारित किया गया है वह भक्तियोग कहलाता है।

(2) भक्तियोग—विशिष्टाद्वैत की साधना का यह अन्तिम चरण है। इसमें प्रवेश करने से पहले विशिष्टाद्वैत में बताये हुए ईश्वर के स्वरूप के बारे में तर्क पर आधारित आस्था का होना ज़रूरी है, और केवल वे ही इसका अभ्यास शुरू कर सकते हैं जो ऊपर समझाए हुए अर्थ में सफलतापूर्वक ज्ञानयोग का अभ्यास पूरा कर चुके हैं। यहाँ भक्ति को ध्यान से एक माना गया है और इसलिए इसे उपनिषदों में बताया हुआ उपासन माना जा सकता है, बशर्ते यह स्मरण रखा जाए कि इसमें प्रेम गर्भित होता है। यह तत्त्व में मन की भावशून्य

एकाग्रता मात्र नहीं है, बल्कि पुरुषरूप ईश्वर का प्रेमपूर्वक ध्यान करना है।[1] इसमें एक अन्य बात यह शामिल है कि साधक ईश्वर को जगत् की एकमात्र शक्ति मानकर स्वयं को पूरी तरह से उस पर आश्रित (शेषत्व) महसूस करता है, और यह बात भी समान रूप से जीव की विशिष्ट विशिष्टाद्वैती धारणा का फल है। इस प्रकार भक्तियोग में भी ज्ञानयोग की तरह ध्यान शामिल रहता है; परन्तु यह ध्यान प्रेम और आश्रितता के भावों से भरपूर होता है। साधना के इस चरण में सफलता तब मिलती है जब ईश्वर का दर्शन प्राप्त हो जाता है और मोक्ष आत्मा के शरीर से पृथक् हो जाने पर मिलता है। यह मरणोत्तर मोक्ष-प्राप्ति के प्राचीन आदर्श के अनुसार है। शंकर के अद्वैत में जिस तरह जीवन्मुक्ति मानी गई है उस तरह यहाँ नहीं मानी गई है।

अद्वैत से एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर इस बात में है कि कर्म करना केवल साधना के प्रारम्भिक चरण में ही आवश्यक नहीं बताया गया है। भक्तियोग में प्रवेश करने के बाद भी कर्म करते रहने का विधान किया गया है और इस प्रकार अद्वैत के कर्म-संन्यास का आदर्श यहाँ नहीं माना गया है। मनुष्य को नित्य-कर्मों का त्याग कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनके त्याग से उसे पाप लगेगा और वेद के नियोग की उपेक्षा करने से वह मोक्ष से वंचित हो जाएगा। यहाँ तक रामानुज का कुमारिल से मतैक्य है। परन्तु यहाँ प्रयोजन निश्चित रूप से यह है कि भक्ति, जिसे 'निर्माणाधीन मोक्ष'[2] कहा गया है, कर्म से बढ़ेगी और ईश्वर के अपरोक्षानुभव में उसका परिपाक होगा। अतः इस चरण में कर्म करते रहने का प्रयोजन आत्म-शुद्धि नहीं है, जैसाकि पिछले चरण में है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन में उत्तरोत्तर प्रगति करना है। और इस प्रकार बदले हुए प्रयोजन से किया जानेवाला कर्म बिलकुल अन्त तक चलता रहेगा, क्योंकि ईश्वर के अपरोक्षानुभव का होना मृत्यु से पहले के क्षण से पहले नहीं माना गया है। इस प्रकार मोक्ष की साधना में ज्ञान और कर्म दोनों शामिल हैं; लेकिन इसके बावजूद ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण माना गया है और कर्म को ज्ञान का समवर्गीय न मानकर अनुषंगी मात्र माना गया है। अतः आजीवन कर्म करते रहने पर जोर देते हुए भी विशिष्टाद्वैत अद्वैत की तरह ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद का समर्थक नहीं है।[3] इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हमें यह कह देना चाहिए कि विशिष्टाद्वैत में कर्म के क्षेत्र में विस्तार कर

1. स्नेहपूर्वं अनुध्यानं भक्तिः—श्रीभाष्य, पृ० 35 (टीका) में उद्धृत।
2. Indian Philosophy, जि० 2, पृ० 705।
3. श्रीभाष्य, 3,4.26।

दिया गया है। वेद में जो कर्म बताये गए हैं उनके अलावा वैष्णव-धर्म में विहित प्रार्थना और भजन-पूजन (क्रियायोग) भी उसमें शामिल कर दिये गए हैं।[1]

अन्य भारतीय दर्शनों की तरह यहाँ भी मोक्ष को संसार के झंझटों से मुक्त होना माना गया है। लेकिन इसके अतिरिक्त इसमें पृथ्वी से ऊपर किसी दिव्य लोक में पहुँचने और वहाँ ईश्वर की सन्निधि में परम आनन्द के उपभोग का विचार भी शामिल है। उस अवस्था में जीव इस दोषयुक्त प्राकृतिक शरीर के स्थान पर एक निर्दोष शरीर धारण कर लेता है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में मोक्ष कोई ऐसी विदेहावस्था नहीं है जैसी कई अन्य दर्शनों में उसे माना गया है। यह आदर्श लोक शुद्ध सत्त्व से निर्मित है। इसके सुन्दर वर्णन दिये गए हैं। वहाँ भगवान् विष्णु अपने शुभ्र आसन पर विराजमान रहते हैं और उनकी सहचारिणी लक्ष्मी, जो मनुष्य पर दया करने के लिए उनसे प्रार्थना करती है, तथा नित्य और मुक्त सभी जीव उनकी सेवा में रत रहते हैं। इस लोक में सर्वत्र पूर्ण शान्ति और पूर्णता के दर्शन होते हैं, और परमात्मा की इच्छा के पालन में सब आनन्द का अनुभव करते हैं। जब बन्धन में पड़ा हुआ जीव मुक्त होता है तब वह इस लोक में ले जाया जाता है, जहाँ सब उसका स्वागत करते हैं, और अन्त में स्वयं भगवान् उसे अपनी शरण में ले लेते हैं। मोक्षप्राप्त जीव की भगवान् के सिंहासन तक की यात्रा का वर्णन कौषीतकी उपनिषद् के प्रथम अध्याय में दिया हुआ है।

मोक्ष प्राप्त करने का यह सामान्य और नियमित उपाय है। परन्तु इसका अनुसरण करने के लिए व्यक्ति को हिन्दू समाज के तीन ऊँचे वर्णों में से किसी का होना चाहिए, क्योंकि केवल ऐसे ही व्यक्ति को वेद और उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है। इस प्रकार यहाँ तक जो साधना-मार्ग बताया गया है उसकी उपयोगिता बहुत घट जाती है। अतः विशिष्टाद्वैत इसके साथ-साथ एक अन्य मार्ग भी ईश्वर-प्राप्ति का बताता है, जिसका अनुसरण कोई भी व्यक्ति, उसका वर्ण या उसकी सामाजिक स्थिति चाहे जो हो, कर सकता है। इसका नाम प्रपत्ति है।[2] यह शब्द 'प्र'-उपसर्गपूर्वक 'पद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'शरण में जाना' या 'ईश्वर की इच्छा पर अपने को छोड़ देना' है। यह इस विश्वास की ओर संकेत करता है कि मोक्ष ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है। इसे शरणागति कहा गया है। इसमें पूर्ण आत्म-समर्पण होता है और साधक 'ईश्वर की इच्छा के अनुसरण का, उसकी इच्छा के प्रति-

---

1. देखिए, वेदार्थसंग्रह, पृ० 5।
2. देखिए, गद्यत्रय, 3।

कूल न चलने का, यह विश्वास करने का कि वह रक्षा करेगा, केवल उससे ही सहायता की याचना का और पूर्ण विनय के साथ आत्मा को उसके ऊपर छोड़ देने का' संकल्प करता है।[1] इसका एक रूप आर्त-प्रपत्ति बताया गया है, जिसके द्वारा तत्काल मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। गम्भीर ध्यान और अनन्य-भाव का एक ही क्षण पर्याप्त माना गया है। इससे विशिष्टाद्वैती की दृष्टि में आर्त-प्रपत्ति भक्ति से, जो कि साधना की एक लम्बी और श्रमसाध्य प्रक्रिया है, श्रेष्ठ है। रामानुज के द्वारा अपने सिद्धान्त में मोक्ष के एक सर्वसुलभ उपाय का शामिल किया जाना ही उस व्यापक लोकप्रियता का कारण है जो उसे प्राप्त हुई है। इसके फलस्वरूप निम्न वर्गों का जो सामाजिक उत्थान हुआ है, उसका भारत के इतिहास में अत्यधिक मूल्य है। लेकिन विशिष्टाद्वैत के इस पक्ष की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत प्रयोजन से बाहर होगी। रामानुज प्रपत्ति को इतना अधिक महत्त्व देता है कि इसे वह भक्ति के अन्तिम चरणों में आवश्यक बना देता है।[2] उसका मत है कि यह ज्ञान का ही एक रूप है और इसलिए उपनिषदों के इस सिद्धान्त से इसका कोई विरोध नहीं है कि ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है। यह स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक हो गया है कि प्रपत्ति वेदान्त के बजाय वैष्णव-धर्म की खास चीज़ है। विशिष्टाद्वैत में इसे जो प्राधान्य दिया गया है, वह इस बात को प्रकट करता है कि कोई व्यक्ति चाहे जिस साधना-मार्ग का अनुसरण करे, अपने अहम् को बिलकुल नीचे रखना उसके लिए जरूरी है। व्यक्तित्व के सदैव बने रहने का ज़ोरदार हिमायती होने के बावजूद भी रामानुज ऐसी अभिवृत्ति के अभ्यास का पक्षपाती है जिससे मनुष्य अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है और तदनुसार काम करता है। इससे रामानुज का तात्पर्य यह है कि सच्चे जीवन का शत्रु स्थायी आत्मा में विश्वास नहीं बल्कि स्वार्थपरता है।

---

1. आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
   रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा
   आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

2. देखिए, गीता-भाष्य, 18.66।

शब्दावली (हिन्दी-अंग्रेज़ी)

अंगीय एकता Organic Unity
अज्ञेयवाद Agnosticism
अधिनैतिक Super-moral
अधिमानसिक Supra-mental
अनवस्था Infinite regress
अनुप्रयुक्त Applied
अनुप्रयोग Application
अनुमान Inference
अन्तर्दर्शन Introspection
अपरत्व Priority
अपर सामान्य Lower universal
अपुरुषपरक Impersonal
अभिधान Assertion
अभिनति Bias
अभिप्रेरणा Motivation
अभ्युपगम Postulate
अर्थक्रियाकारित्व Efficiency
अर्थक्रियावाद Pragmatism
अवमानवीय Sub-human
अवलोकन Observation
अवश्यता Necessity
अवस्थिति Subsistence
अविभेदित Undifferentiated
अव्याकृत Undifferentiated
अहंमात्रवाद Solipsism
आकारी तर्कशास्त्र Formal Logic
आगन्तुक Adventitious
आगमन Induction
आत्म-लाभ Self-realisation
आत्मशुद्धि Self-purification
आत्मातिशय Self-transcendence
आयाम Dimension
आवर्ती Periodic
आशावाद Optimism
आस्तिक Orthodox
आस्था Conviction
इन्द्रिय-दत्त Sense-data
इन्द्रियपरायण आत्मा Sensuous self
ईश्वर-प्राप्ति God-realisation
ईश्वरवाद Theism
उत्परिवर्तन Mutation
उद्दीपन Stimulus
उद्देश्य Subject
उन्मज्जी Emergent
उपजाति Species
उपादान Material
उपादान-कारण Material Cause
उपाधि Condition
ऋजु वास्तववाद Naive realism
एकवाद Monism
एकाधिदेववाद Henotheism
एकेश्वरवाद Monotheism
औपाधिक Contingent
कर्मकाण्डवाद Pitualism
कोटि Grade
क्षणिकवाद Doctrine of momentariness
छद्म-प्रत्यय Pseudo-concept
जाति Genus
ज्ञातृसापेक्ष Subjective
ज्ञानमीमांसा Epistemology
तन्त्र System
तत्त्वमीमांसा Metaphysics
तर्कनावाद Rationalism
तादात्म्य Identity

दार्शनिक दुराराध्यता Philosophical fastidiousness
दोहन Exploitation
द्रव्य Substance
द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया Dialectical Process
द्वैतवाद Dualism
नास्तिक Heterodox
निमित्त-कारण *Efficient cause*
नियत साहचर्य Invariable concomitance
निरपेक्ष क्षण Absolute moment
निरपेक्षवाद Absolutism
निरसन Elimination
निराशावाद Pessimism
निरीश्वरवाद Atheism
निर्णय Judgement
निषेधवाद Negativism
निषेधात्मक पूर्णव्यापी तर्कवाक्य Negative universal position
निष्काम कर्म Disinterested action
निष्काम नियोग Categorical imperative
निष्पत्ति Achievement
नि:सत्त्व Unsubstantial
पदार्थ Categories
परमार्थवाद Absolutism
पर सामान्य Highest universal
परस्परव्याप्ति Overlapping
परिकल्पना Speculation
पर्याप्त कारण-नियम Law of Sufficient Reason
पारमार्थिक विज्ञान *Absolute idea*
पुद्गल Matter
पुद्गलजीववाद Hylozoism
पुरुषवाद Personalism
पूर्ववृत्ति Predisposition
प्रकृतिवाद Naturalism
प्रतिनिधान-सिद्धान्त Representative theory
प्रतिनिधि प्रत्ययों का सिद्धान्त Theory of representative ideas
प्रतियोगी Correlate
प्रतिस्थापन Substitution
प्रत्यक्षवाद Positivism
प्रत्यभिज्ञा Recognition
प्रत्ययवाद Idealism
प्रत्याहार Abstraction
प्रयोजक कारण Final cause
प्रयोजनवत् साकल्य Teleological whole
प्रयोजनाभासी Quasi-teleological
प्रस्तुति Presentation
प्राक्कल्पना Hypothesis
बन्धुता Affinity
बहुदेववाद Polytheism
बहुवाद Pluralism
बाध Sublation
बाह्यार्थवाद Realism
ब्रह्मवाद Absolutism
ब्रह्माण्डमीमांसा Cosmology
भवतृष्णा Will to be
भारोपीय Indo-European
भूत Elements
भूतद्रव्य Matter
भोगासक्ति Self-indulgence
भ्रम Error, Illusion
मनस्तन्त्र Subjective
मनस्तन्त्र प्रत्ययवाद Subjective idealism
मनस्तन्त्रवाद Subjectivism
मरीचिका Mirage
यदृच्छावाद Accidentalism
राद्धान्त Dogma
रुद्ध मानवत्वारोपण Arrested anthropomorphism
लोकोत्तरवाद Supernaturalism
वदतोव्याघात Contradiction in terms

वरेण्य युग Classical age
वास्तववाद Realism
विधेय Predicate
विपर्यय Error, Illusion
विभेदन Differentiation
वियोजक अनुमान Disjunctive syllogism
विश्वदृष्टि Whole view, World view
विषय Object
विषयभोगवाद Sensualism
विषयी Subject
वीथी Series
व्यक्तिगत तादात्म्य Personal identity
व्यक्तित्वारोपण Personification
व्यवच्छेदक Differentia
व्यष्टि Individual
व्याघात Contradiction
व्याघात का नियम Law of contra*diction*
व्याप्ति Inductive generalization
शब्दार्थविज्ञान Semantics
शून्यवाद Nihilism
संकेतित Conventional
संघात Aggregate
संचारण Transmission
संयोजक Copula
संवाद-सिद्धान्त Correspondence theory
संवेदन Sensation
सहतिवाद Syncretism
सकाम नियोग Hypothetical imperative
सत्यापन Verification
सन्तति Series
सन्तान Series
सन्निकर्ष Contact
समत्व Equanimity
समाजनिष्ठ नैतिकता Social *Morality*
सर्वेश्वरवाद Pantheism
सहास्तित्व Co-existence
साकल्य Whole
सातत्य Continuity
सापेक्षवाद Relativism
साम्यानुमान Analogy
सार्विकीकरण Universalization
सिद्धि Occult Power
सिनिकवाद Cynicism
सीमान्त-प्रत्यय Limiting concept
सुखवाद Hedonism
सृष्टिमीमांसा Cosmology
स्वतःप्रवृत्ति Spontaneity
स्वनिग्रह Self-suppression
स्वाग्रह Self-assertion
स्वातिगामी Self-transcending
हेत्वनुमान Syllogism

अनुक्रमणिका